श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

पद्मनन्दि पंचविंशतिका प्रवचन

१ व २ भाग

(श्री पूज्यपादपद्मनन्द्याचार्यविरचित पद्मनन्दिविंशतिकापर प्रवचन)

प्रवक्ता:—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:—
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

[लागत बिना जिल्द १०)
[जिल्दका पृथक् १।) रु०

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर
(४) श्रीमती शशिकान्ता जैन ध० प० श्री धनपालसिंह जी सर्राफ, सोनीपत
(५) श्रीमती सुदटी देवी जैन ध० प० चिरंजीलाल जी जैन सरावगी गिरीडीह

नवीन स्वीकृत सरक्षक

(६) श्रीमती जमना देवी जैन ध० प० श्री भवरीलाल जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(७) श्रीमती रहती देवी जैन ध० प० श्री विमलप्रसादजी जैन, मंसूरपुर
(८) श्रीमती श्रीमती जैन ध० प० श्री नेमिचन्द जी जैन, प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर
(९) श्रीमान् शिखरचंद जियालाल जी जैन एडवोकेट कुंजगली ,,
(१०) श्रीमान् चिरंजीलाल फूलचंद बैजनाथ जी जैन बड़जात्या नई मडी ,,

भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्यमदिरके सरक्षक

(१) श्रीमती राजो देवी जैन ध० प० स्व० श्री जुगमंदरदास जी जैन आड़ती) सरधना
(२) श्रीमती रूरलादेवी जैन ध० प० श्री ओमप्रकाश जी दिनेश वस्त्र फैक्टरी सरधना

—०—

सहजानन्द-साहित्य-उद्घोष

वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, द्रव्यपर्यायात्मक है। अतः स्याद्वाद द्वारा समस्त विवाद विरोध समाप्त कर वस्तुका पूर्ण परिचय कीजिए और आत्मकल्याणके अनुरूप नयोको गौण मुख्य करके अभेदपद्धतिके मार्गसे आत्मलाभ लीजिए। —एतदर्थ—

सहजानन्द-साहित्यका अध्ययन व मनन कीजिए।

सहजानन्द-साहित्यमे कुल ५५५ ग्रथ हैं, जिनमे करीब ३१० ग्रथ करीब २१५ पुस्तको मे प्रकाशित हो गये हैं। शेष ग्रंथ भी यथासमय प्रकाशित होगे। पूरा सेट मगाने वालोको अपना व स्टेशनका नाम स्पष्ट शब्दोमे लिखना चाहिये। यह सेट रेलवे पार्सलसे ही जा सकता है, क्योकि एक-एक पुस्तक रखनेपर करीब ३८ किलो वजन हो जाता है। शास्त्रवाली सस्था का आजीवन सदस्य बननेपर वर्तमान सब ग्रंथ मिलेंगे तथा भविष्यमे जो प्रकाशित होंगे वे भी भेंटमे मिलेंगे।

मासिक वर्णी-प्रवचनमे श्री सहजानन्दजी महाराजके प्रवचन प्रकाशित होते रहते हैं। वर्णीप्रवचनप्रकाशिनी संस्थाका आजीवन सदस्य होनेपर मासिक 'वर्णीप्रवचन' आजीवन भेंट-रूपमें मिलता रहेगा।

प्रकाशकीय

धर्मप्रिय पाठकवृन्द ! आपके करकमलोंमें जो ग्रन्थ आ रहा है उसके मूलग्रन्थकर्ता परमपूज्य श्री पद्मनन्दि आचार्य हैं जिसपर अध्यात्मयोगी गुरुवर्य पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराजने विस्तृत प्रवचन किये हैं। इस ग्रन्थके इस प्रथम अध्यायमे धर्मके स्वरूपको सर्वतोमुखी वर्णन किया गया है।

इस ससारी जीवको इस संसारमे अन्य कुछ भी वस्तु शरण नहीं है, मात्र अपने आत्माका धर्म ही शरण है। धर्मकी उपासनासे ही यह जीव अनन्त आनन्दका अनुभव कर सकता है। उसे धर्मका जैसे आचरण बने उस प्रकारके उपदेशपूर्वक धर्मके स्वरूपका परिभाषण इस ग्रन्थमे किया गया है। इसमे सर्वप्रथम धर्मका लक्षण चार प्रकारसे बताया गया है। जीवदया जहाँ नही है वहाँ चित्तमे इतनी पात्रता नही आ सकती वह परमार्थधर्मका पालन कर सके अतः सर्वप्रथम जीवदयाका इसमे अनुकरणीय वर्णन किया गया है। पश्चात् तीन प्रकारोंमें आत्मधर्मका वर्णन किया गया है।

धर्म आचरणीय है इस प्रसगको लेकर श्रावकधर्म व मुनिधर्ममे से श्रावकधर्मका बहुत ही विस्तारसे युक्तिपूर्वक वर्णन किया गया है जिसमे अष्ट मूल गुण, सप्त व्यसनत्याग, पञ्च अणुव्रत आदिका हृदयग्राही वर्णन है तथा मुनिधर्मका भी भले प्रकार दिग्दर्शन है। पाठकगण इसका स्वाध्याय कर धर्मलाभ लेवें।

—प्रकाशक

अपनी बातचीत

"अयि आत्मन् ! तू क्या है ? विचार। ज्ञानमय पदार्थ !! तेरा इन पदार्थोंके साथ क्या कोई सम्बन्ध है यथार्थ ? नही, नही, कुछ भी सम्बन्ध नही ! क्यो नही ? यो कि कोई किसीका कुछ भी परिणमन कर नही सकता।"

मैं ज्ञानमय आत्मा हू, हू, स्वयं हू, इसी कारण अनादिसे हूं, मैं किसी दिन हुआ होऊँ, पहिले न था यह बात नही। न था तो फिर हो भी नही सकता।

फिर ध्यान दे, इस नर जन्मसे पहिले तू था ही। क्या था ? अनंतकाल तो निगोदिया था। वहाँ क्या बीती ? एक सेकिण्डमे २३ बार पैदा हुआ और मरा। जीभ, नाक, आंख, कान, मन तो था ही नही और था शरीर। ज्ञानकी ओरसे देखो तो जडसा रहा; महाक्लेश ! न कुछसे बुरी दशा। सुयोग हुआ, तब उस दुर्दशासे निकला।

पृथ्वी हुआ तो खोदा गया, कूटा गया, ताड़ा गया, सुरगसे फोड़ा गया। जल भी तो तू हुआ, तब औटाया गया, विलोरा गया, गर्म आगपर डाला गया। अग्नि हुआ, तब पानीसे,

रखिसे, धूलसे बुझाया गया, खुदेरा गया। वायु हुआ तब पंखोसे, बिजलियोंसे ताड़ा गया, रबर आदिमे रोका गया। पेड़, फल, पत्र जब हुआ, तब काटा, छेदा, भूना, सुखाया गया।

कीड़े भी तुम्ही बने और मच्छर, मक्खी, बिच्छू आदि भी। बताओ कौन रक्षा कर सका ? रक्षा तो दूर रही, दवाइयाँ डाल-डालकर मारा गया, पत्थरोंसे, जूतोसे, खुरोसे दबोचा व मारा गया।

बैल, घोड़े, कुत्ते आदि भी तो तू हुआ। कैसे दुःख भोगे ? भूखे प्यासे रहे, ठंडो मरे, गर्मियो मरे, ऊपरसे चाबुक लगे, मारे गये। सूकर मारे जाते हैं चलते फिरतोको छुरी भोक कर। कही तो जिन्दा ही आगमे भूने जाते हैं।

यह दूसरोकी कथा नही, तेरी है। यह दशा क्यो हुई ? मोह बढाये, कषाय किये; खाने-पीने, विषयोकी धुन रही, नाना कर्म बांधे; मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यसेवन किये। बडी कठिनाईसे यह मनुष्यजन्म मिला, तब यहाँ भी मोह राग द्वेष विषयकषायकी ही बात रही। तब जैसे मनुष्य हुए, न हुए बराबर है।

कभी ऐसा भी हुआ कि तूने देव होकर या राजा, सम्राट, महान् धनपति होकर अनेक संपदा पाई, परन्तु वह सभी सपदायें थी तो असार और क्लेशकी कारण !! इतनेपर भी उन्हे छोडकर मरना ही तो पड़ा। अब तो पाया ही क्या ? न कुछ। न कुछमें व्यर्थ लालसा रखकर क्यो अपनी सर्व हानि कर रहे हो ?

आत्मन् ! तू स्वभावसे ज्ञानमय है, प्रभु है, स्वतन्त्र है, सिद्ध परमात्माकी जातिका है। क्या कर रहा ? उठ, चल, अपने स्वरूपमे बस। तू अकेला है, अकेला ही पुण्य पाप करता, अकेला ही पुण्य-पाप भोगता, अकेला ही शुद्ध स्वरूपकी भावना करता, अकेला ही मुक्त हो जाता।

देख ! चेत ! पर पर ही है, परमे निजबुद्धि करना ही दुःख है, स्वयमे आत्मबुद्धि करना सुख है, हित है, परम अमृत है। वह तू ही तो स्वयं है। परकी आशा तज, अपनेमे मग्न होनेकी धुन रख।

सोच तो यही सोच—परमात्माका स्वरूप, उसकी भक्तिमे रह। लोगोको सोच, तो उनका जैसे हित हो उस तरह सोच। बोल तो यही बोल—शुद्धात्माका गुणगान····इसकी स्तुतिमे रह। लोगोसे बोल, तो हित, मित, प्रिय वचन बोल। कर तो ऐसा कर जिसमें किसी प्राणीका अहित न हो, घात न हो। अपनी चर्या धार्मिक बनाओ।

तू शुद्ध चैतन्यस्वभावी है; सहजभावका अनुभव कर। जप, जप 'ॐ शुद्धं चिदस्मि।'

पद्मनन्दिपंचविंशतिका प्रवचन

प्रथम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

कायोत्सर्गायिताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा,
मध्या यस्य भास्वानुपरि परिणतो राजते स्मोग्रमूर्तिः ।
चक्रं कर्मेन्धनबनामति बहु दहलो दूरमौदास्यवात्
स्फूर्जत्सद्ध्यानवह्नेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिङ्गः ॥१॥

कर्मभूमिके प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेवका जयवाद—भगवान श्रीऋषभदेव जयवन्त होवो। प्रभु ऋषभदेव कब हुए ? कब मोक्ष गए ? जिसके लिए अगर वर्षोंका हिसाब लगायें तो अनगिनते वर्ष पहले हुए। गिनतीमे न आ सकें इतने वर्ष पहले हुए, वे ऋषभदेव, उनका जयवाद कहा जा रहा है कि जयवन्त हो, उसका तात्पर्य यह है कि प्रभु ऋषभदेवके उस पवित्र परमात्मत्वके ध्यानसे हमारा विकास हो। ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। वेदोमे लिखा वे अष्टम अवतार थे। ऋषभदेवसे पहले इस क्षेत्रमे क्या परिस्थिति थी उसे कहते हैं भोगभूमि। भोगभूमिके अन्तमे जब चद्र, सूर्य दिखने लगे, पहले न दिखते थे। वहाके कल्पवृक्षोकी इतनी कांति थी कि चन्द्र, सूर्य नजर न आते थे। भोगोपभोगकी बडी सुगमता थी। कल्पवृक्षोके पास गए और जो चाहा सो प्राप्त कर लिया, ऐसा भोगभूमि थी, जहाँ खेती, व्यापार आदि करनेकी जरूरत नही, बस भोगोपभोगमे ही सारा जीवन व्यतीत होता था, ऐसा समय था पहले। भगवान ऋषभदेव नाभिराजाके पुत्र थे। १४ मनु हुआ करते हे, इसे अन्य लोग भी मानते हैं। तो नाभिराज १४वें मनु (कुलकर) थे याने जब गडबडी हुई भोगभूमिके मिटनेसे तो उस समय ऋषभदेवने प्रजाजनोको सान्त्वना दी, उनकी घबडाहट मिटायी, इस

सबके लिए मनु होते है, तो अन्तिम मनुनाभिराज हुए, उनके पुत्र ऋषभदेव हुए। कितने वर्ष व्यतीत हो गए उनको हुए ? तो यो अदाज लगाओ कि यह है आज पचमकाल। इससे पहले था चतुर्थकाल और चतुर्थकालसे कुछ ही माह पहले वे उत्पन्न हुए थे याने चौथे काल का समय है उनका। चौथे कालकी स्थिति है कुछ कम एक कोडाकोडी सागर याने ४२ हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर याने २१ हजार वर्षका पचमकाल है। इसके आगे २१ हजार वर्षका ही आयगा छठा काल। यह काल है धर्मके ह्रास होनेका। इसमे लोगोकी वुद्धि, उम्र, शरीर इन सबकी हानि होती जा रही है। फिर भी यहाँ बडे सुयोगसे सव कुछ जो श्रेष्ठ समागम पाया वह भी बहुत श्रेयकी है। तो अपनी-अपनी बात विचारो। बाहरमे यह न देखो कि ये लोग कैसा धर्मके विरुद्ध चल रहे है ? फलाने यो चल रहे। अरे धर्मके ह्रास का समय ही है। ऐसे-ऐसे अवसर तो होते ही हैं, क्या करना ? अपने आपको ऐसा विचार करना कि मेरे आत्माका कैसे हित हो ?

श्री ऋषभदेवके तीर्थका समय—हाँ श्री ऋषभदेवको हुए कितने वर्ष हो गए ? बयालिस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर। एक सागर कितनेका होता ? सो इस उपमासे समझते चलें। माप तो है नही। करोड वर्ष हो गए, अरव, खरब, शख, महाशख हो गए, उसके बाद भी समयकी और गिनती है और फिर काल तो है ना बहुत ऊपर तक। तो बहुतसे कालको कैसे समझें ? तो इसके लिए आचार्योंने उपमा बतायी कि मानो दो हजार कोशका लम्बा चौडा गहरा गड्ढा हो और उसमे उत्तमभोगभूमिमे जन्मे मेढेके अत्यन्त कोमल बालोके टुकडे कतरनीसे काटकर ठसाठस भर दिए जाये, यह सबकी जाने वाली बात नही, किन्तु समझनेकी बात है। उस गड्ढेपर हाथी फिरा दिये जायें ताकि गड्ढा ठसाठस भर जाय। अब प्रत्येक १०० वर्षमे से उन तुच्छ रोमोमे से एक-एक टुकडा निकाला जाय। इस तरह करते-करते बालोके सारे टुकडे निकालनेमे जितना समय लगे उसका नाम है व्यवहार-पल्य और उससे अनगिनते गुना होता है उद्धारपल्य, उससे अनगिनते गुना होता है अद्धा-पल्य और एक करोड अद्धापल्यमे एक करोड अद्धापल्यका गुणा करके जो लब्ध हो उसे कहते है एक कोडाकोडी अद्धापल्य, ऐसे ऐसे १० कोडाकोडी अद्धापल्यका एक सागर होता है, ऐसे एक करोड सागरमे एक करोड सागरका गुणा करके जो लब्ध हो उसे कहते हैं एक कोड़ाकोडी सागर। यह कालकी बात इसलिए कह रहे कि प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव कितने वर्ष पहले हुए उससे पहले धर्मकी प्रवृत्ति न थी याने एक प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकरके द्वारा धर्मकी प्रवृत्ति हुई। उस समय सारा विश्व ऋषभदेवके द्वारा चलाये हुए शासनमे था। दूसरा

कुछ न था। सब अहिंसाधर्ममे लगे थे, सब रागद्वेषोंको जीतनेके उपायमे चल रहे थे। कोई विवाद न था, पर बादमें कुछ विवाद खडे हो गए अहंकारके कारण, बुद्धि कम होनेके कारण, मगर एक अहिंसामयी शासन था श्रीजिनेन्द्रदेवके बताये हुए मार्गके अनुसार। तो अब समझ लीजिए कि जैन धर्मका प्रकाशन प्रारम्भ कितने बर्षोसे चल रहा है ? करोड अरब खरब वर्ष नही, अनगिनते वर्ष पहलेसे जैन शासनके तीर्थकी प्रवृत्ति चली आ रही है।

निष्पक्ष शासनके प्रकाशक—देखो लोग कहते है ऐसा कि पक्षरहित (निष्पक्ष) एक धर्म होना चाहिए। तो निष्पक्षके मायने क्या ? देखो लो रागद्वेष जीत चुके हो, जिनको तीन लोक तीन कालका अब ज्ञान हो चुका हो, भगवान हुए हो, ऐसे सर्वज्ञको कहते है जिन। जिस किसी व्यक्तिका नाम नही, जो रागद्वेषादि कर्मशत्रुओंको जीते सो जिन। ऐसे जिनके द्वारा बताया गया जो मार्ग सो जैन धर्म। यह मजहबसे सम्बन्ध नही रखता। यह तो वीतराग सर्वज्ञदेवके शासनकी परम्परासे चला आया हुआ जो मार्ग है सो यह कितना हो निष्पक्ष हो, चाहे उसका नाम निष्पक्ष धर्म रख दो, मगर जब कुछ लोग मानते, कुछ लोग नही मानते तो निष्पक्ष नाम भी एक पक्षका पड जाता है। तो यो लोकदृष्टिमे मजहब कहलाने लगा, मगर यह तो प्राणिमात्रका धर्म है। सम्यग्दर्शन तो पशु, पक्षी, मनुष्य, नारकी इन सभीको हो सकता। और जहाँ सम्यक्त्व है सो ही धर्मका मूल है। अब यह बतलावो कि यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह कोई आत्मीय चीज है या कोई पक्षगत बात है ? यह तो आत्मीय चीज है, पर आजकल यह पवित्र शासन प्रकाश नही पा रहा है जो कितना पहले से चला आ रहा, एक बात। दूसरी बात—जैनधर्मके मायने क्या हैं कि जगतमे पदार्थका जो स्वरूप है उसे बताये सो जैन धर्म। भगवान वीतराग सर्वज्ञदेवने, जिनेन्द्रदेवने वस्तुका स्वरूप बताया, तो वस्तुका स्वरूप क्या किसी दिनसे तैयार हुआ, जिस दिनसे ऋषभदेव हुए ?वस्तु तबसे है जबसे वस्तुका स्वरूप है, और वस्तुका जो स्वभाव है सो धर्म है। यो धर्म कबसे है ? अनादिसे है। पर उस धर्मका प्रकाश सर्वप्रथम ऋषभदेव तीर्थंकरसे हुआ। उस समय मे ये ऋषभदेव महात्मा कितना लोकपूज्य और महनीय थे कि आज उनके नामपर कितने ही नाम चल उठे। कोई ब्रह्मा कहते, कोई शकर कहते, कोई महादेव कहते तो कोई आदिम बाबा कहते। जरा आदिमका अर्थ तो लगाओ— आदम आदिमसे बना। जो सबसे आदिमे हो सो आदिम। वे कौन ? ऋषभदेव। शंकर कौन ? जो उत्तम सुखको बताये, करे, स्वय पाये सो शंकर। वह महादेव शकर कैलाशपति। वह कैलाशपर ही तो निवास करते थे। वहाँसे ही तो उन्होने निर्वाण प्राप्त किया। और ब्रह्मा यो कहलाये कि उस समय जमाना ऐसा था कि

एक नई सृष्टि जैसी हुई थी।

श्री ऋषभदेवके ब्रह्मा नामकी प्रसिद्धिका कारण—इस अवसर्पिणी कालमें जब भोगभूमि खतम हो चुकी थी, लोगोंको भय उत्पन्न हो रहा था। लोगोको सूर्य चन्द्र दिखने लगे, अपने पुत्र दिखने लगे। पहले पुत्र पुत्री न दिखते थे, जुगुलिया पैदा होते थे। उनके पैदा होते ही माता पिता मर जाते थे। न माता पिता संतानको देखते थे और न सतान माता पिताको देखते थे। ऐसी स्थिति हो तो संसारके सुख अच्छे कहलाते। ऐसा तो कोई आज कल न पसंद करेगा, मगर सांसारिक सुखका एक समय था, वह इसी पद्धतिमे चलता था। तो तिर्यंचोके रोष व पुत्र पुत्री के दर्शन आदिमें सबको डर लगने लगा, यह क्या होने लगा, यह क्या मामला आया? बच्चा-बच्चाका दिखना लोगोको हौवा जैसा लगने लगा, ऐसो अनेक बातें थी तो १४ कुलकरोंने उनकी बातोका समाधान किया और सबसे बडा कार्य हुआ १४ वें मनुके समयमे। जब कुछ खाने पीनेका साधन न रहा, भूख प्यास तो लगती ही है, तो जब उस समय कुछ उपाय न दीखा तो प्रजाके लोग ऋषभदेवके पिताके पास आये। ऋषभदेवका नाम क्या है? नाभिज, और लोग क्या बताते हैं कि नाभिसे कमल निकला और उससे ब्रह्मा पैदा हुए, वह हुए नाभिराजा, न कि किसीकी टुंडी, उससे पैदा हुए ब्रह्मा। ऋषभदेव नाभिराजासे उत्पन्न हुए, ये नाभिज कहलाते है। आये लोग नाभिराजाके पास, बिनती किया कि महाराज हम लोग कैसे खायें, पियें, कैसे क्या करें? कुछ उपाय बताओ। तो उन्होने इशारा किया कि आप लोग ऋषभदेवके पास जाइये। आखिर पहुचे प्रजाके लोग ऋषभदेवके पास। वह ऋषभदेव जन्मसे ही मति श्रुत अवधि तीन ज्ञानके धारी थे, तो उन्होने उन प्रजाजनोको षट्कर्मकी व्यवस्था बतायी। उस समय वे घरमे थे। असि, मसि, कृषि, शिल्पी, सेवा, वाणिज्य आदि षट्कर्म लोगोको बताया। असि—क्षत्रियोका धर्म याने तुम प्रजाकी रक्षा करो, सेनामे भर्ती होवो। मसि-मायने तुम स्याहीका काम हिसाब किताब लिखनेका काम करो। कृषि—मायने तुम खेती करो, सिल्पी मायने तुम कारीगरीका काम करो, सेवा—याने तुम सेवा करो, जैसे धोबी नाई वगैरह और वाणिज्य-मायने व्यापार करो। यो षट्कर्म प्रजाजनोको ऋषभदेवने बताये। उस समय लोग कुछ काम करना जानते ही न थे कि किस तरहसे क्या किया जाय। तो यह सब व्यवस्था जबसे ऋषभदेवने बताया तबसे चली। तो यह एक नवीन सृष्टि जैसी बात हुई। ऐसा नही कि कुछ था नही और रचा गया हो। जो था ही नही उसे रचा कैसे जायगा? कुछ था ही नही तो रचने वाला कौन था और रचा तो रचने वाला शरीरधारी था या विना शरीरका? यदि शरीरधारी था तो

सब रचा नही जा सकता और यदि शरीररहित है तो फिर वह रचना कैसे करेगा ? और वर्तमानमे जब देख रहे कि चीज ही अपने मे अपना परिणमन करती है, उपादान अपनेमें अपनी परिणति करता है और जो विरूप कार्य देखे जा रहे है तो ये पदार्थ स्वयं अपने स्वभावके ही कारण स्वभावतः ही नही कर रहे। सामान्य परिणमन तो स्वभावतः चल रहा, मगर जो विशिष्ट परिणमन है वह किसी निमित्तके सन्निधान होने पर चल रहा, तब हम ऐसी सारी व्यवस्था आज देख रहे। उपादान निमित्त रूपसे सब व्यवस्था है, तो इसमें सृष्टि का प्रश्न ही क्या है, सब चल रहा। तो ये भगवान ऋषभदेव सृष्टा भी कहलाते है, ब्रह्मा भी कहलाते है, चतुर्मुख भी कहलाते है। चतुर्मुख कैसे कहलाते कि जब ऋषभदेवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तो समवशरणमे तो पशु, पक्षी, मनुष्य, देव आदि सभी पहुंचते हैं, समवशरणकी अद्‌भुत रचना होती है, १२ सभायें भी होती हैं, तो वहां लोग गोल गोल बैठते थे। भगवान ऋषभदेव गंधकुटीमे विराजमान थे। चारों ओर उनके लभा थी तो भगवानका मुख अगर एक ही तरफ दिखता होता तो वहाँ तो आपसमे बडा झगडासा मच जाता, मुख की ओर ही सब लोग बैठना पसंद करते। पीठ पीछे कौन बैठता ? मगर भगवानका ऐसा अतिशय था कि उनका मुख चारो ओर दीखता था, इसी कारण वे चतुर्मुख कहलाये। सो वह ऋषभदेव ही ब्रह्मा है। अब समझिये कि ऋषभदेवका इस लोकमें कितना महत्त्व और प्रभाव है ?

कायोत्सर्गायताङ्ग प्रभु—यह पद्मनन्दिपंचविंशतिका नामका ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भ मे भगवान ऋषभदेवका स्मरण किया जा रहा है। अच्छा और किस शक्लमे, कैसी मुद्रामें अन्तः ज्ञान द्वारा दर्शन करते हुए स्मरण किया जा रहा है, उसके लिए बताया—कायोत्साङ्गो—भगवान ऋषभदेव विरक्त होकर मुनि हो गए, ध्यानमे लीन है, कायोत्सर्गमे खडे है। तो कायोत्सर्गके कारण जिनके अङ्ग आयत है, लम्बे है, बहुत विशाल अवगाहना है। अभी जो १०० वर्ष पहले लोग होते थे, उनकी अवगाहना देखी होगी, आजकलके लोगोसे बड़ी होती थी। आजकल खोज करने वाले लोग बताते है कि जो हजार वर्ष पूर्वमें लोग होते थे उनकी अवगाहना ८-६ हाथकी होती थी। उनके अस्थिपंजर भी कही-कही देखनेको मिलते है। यहाँ कोई शका कर सकता कि यदि ८-६ हाथकी अवगाहनाके लोग होते थे तो फिर हम आपके जैसे घरोमे किस तरहसे रहा करते थे ? तो भाई यह समझो कि जब जैसी अवगाहना होती तब तैसी बात बनती है। इसमे कोई आश्चर्यकी बात नही है। तो भगवान ऋषभदेवके शरीरकी अवगाहना ५०० धनुषकी बतायी है। तो इतना लम्बा शरीर जिसका

था यह नाभिसूनु था महान आत्मा, खडे हैं, ध्यानमे लीन है।

प्रभुकी तपोमूर्तिताका संकेत—गर्मीके दिन थे, धूप जुदा, सिरके ऊपर सूर्य, ऐसी स्थितिमे यहाँ ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा अलकारमे कहते है कि भगवानने इतना ऊँचा ध्यान लगाया कि जिस ध्यानाग्निके प्रतापसे यह अष्टकर्मका ईंधन जल जायगा। कहते है ना लोग कि ध्यानरूपी अग्निके द्वारा कर्मोंको जला डाला। तो अग्निको बढावा देनेके लिए हवा तो चाहिए। तो जो परमउदासीनता समता है वह एक ऐसी हवा थी जिसके द्वारा बहुत प्रचण्ड हुई मायने उस ध्यानअग्निकी एक किरण निकलकर इस सूर्यके रूपमे दिख रही है। उत्प्रेक्षा अलकारमे ग्रन्थकार कह रहे हैं, ऐसा एक चित्रण करते हुए ग्रन्थकार नाभिके पुत्र श्री ऋषभदेवका स्मरण कर रहे है। ऋषभदेवके सम्बन्धमे वेदोमे जो कथन आता है कि वह बडे पवित्र थे, ब्रह्मज्ञ थे और उनके वेदोमे तो यहाँ तक कहा है कि ऋषभदेवके शौचमे इतनी सुगन्ध थी कि वह जहाँ-जहाँ महक जाय तो वहाँ वहाँका वातावरण सुन्दर हो जाय और लोगोंके दु.ख दूर हो जायें, राग दूर हो जायें। जैनशासनमे तो इस तरहसे नही बताया गया, क्योकि तीर्थंकर मलरहित होते है, कुछ भी हो, एक महनीयताके साथ उनका वर्णन आया है, और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती हुए। और-और भी बहुत ऊँचे-ऊँचे शब्दोंमे ऋषभदेवका वर्णन आया है। तो हम आप सब उन ऋषभदेवकी सन्तान है। सन्तान कहते उसे हैं जो उनके द्वारा बताये गए मार्गपर चले। सन्तान तो सबको कह लीजिए——महावीरकी सन्तान। ऋषभ मायने क्या ? तो ऋष या वृष कहते हैं धर्मको और जो धर्मको चलाये वह ऋषभ।

प्रभुके दिव्योपदेशमें पदार्थपरिचयके सम्यक् उपायका संदेश—कर्मभूमिके आदिमे जो तीर्थंकर हुए ऐसे आदिनाथ तीर्थंकर भगवानके दिव्य उपदेशसे सारभूत अपनेमे कौनसी बात निरखनी है ? देखो एक तो तत्त्वज्ञानके उपायमे उन्होने स्याद्वाद, अनेकांतवादका प्रकाश किया। वस्तुका ज्ञान करें, स्याद्वादके द्वारा जानें, क्योकि प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक होता है याने बने बिगडे यह तो हुई पर्यायकी बात और सदा बना रहे यह है द्रव्यकी बात। यह बात प्रत्येक पदार्थमे होती है कि अगर पदार्थ है तो उसमे नई अवस्था बनती, पुरानी अवस्था विलीन होती और फिर भी वह बना रहे, तो जब वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है तो हमे वस्तुमें सब चीजें दो दृष्टियोसे सोचनी होगी——द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि। इसीके आधारसे पर्यायका निर्माण हुआ।

जीव नित्य है, किस दृष्टिसे देखा ? द्रव्यदृष्टिसे। और अनित्य है किस दृष्टिसे देखा ? पर्यायदृष्टिसे। परस्पर विरुद्ध दो धर्म हो गए पदार्थमे। जो परस्पर विरुद्ध धर्मोंका एक वस्तुमे

रहना बताये सो स्याद्वाद । कैसे ? द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है । अच्छा दृष्टि को मुखसे न बोले तो क्या बोलेंगे ? जीव नित्य है, जीव अनित्य है । अब कोई द्रव्य व पर्यायकी दृष्टि न करें और यो ही बोलता जावे कि जीव नित्य है, अनित्य नही है । तो इन दोनोका तो एक ही अर्थ है । इस तरह अगर अनेकान्तवादी मानें तो सब सिद्धान्त अनेकान्तवादी हुए । वेदान्ती भी तो कहते है कि ब्रह्म पदार्थ नित्य है अनित्य नही । साख्य भी तो कहते है कि पुरुष (आत्मा) नित्य है, अनित्य नही है, तो इसे एकान्तवाद कहा जाय कि अनेकान्तवाद ? इसे अनेकान्तवाद नही कहा जा सकता, यह सब एकान्तवाद है । अरे द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि—इन दो दृष्टियोसे कोई बात उतरे तो स्याद्वाद है, क्योकि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है । तो एक सबसे बडा प्रकाश दिया है तो वह अनेकान्तने, स्याद्वादने प्रकाश दिया कि जिसके द्वारा बढ़ते चलो, वस्तुकी परीक्षा करते जाओ, समझते जावो, जिससे पहिचान बने कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नही, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, परसे नही । अपनी परिणतिसे प्रत्येक वस्तु परिणमती, परकी परिणतिसे नही परिणमती ।

भैया ! सबका सत्त्व निराला-निराला समझमे आना चाहिये । जिससे कि इस मोह का विध्वंस हो । यह मोह ही तो संसारमे दुःखका हेतु है । यहाँ दुःख नामकी कुछ चीज नही । यदि मोहका विध्वस हो जाय तो फिर दु.ख काहेका ? और इस मोहका विध्वंस होता है वस्तुस्वरूपका परिचय करनेसे । इस जीवको मोह होता है धन वैभवमे कि यह मेरा है, तो इसका निपटारा स्याद्वादसे करें । चित्तमे यह बात घर कर जावे कि ये कोई भी परद्रव्य मेरे नही । धन, मकान, शरीर आदिक समस्त परपदार्थोंकी सत्ता न्यारी-न्यारी है, मेरा सत्त्व न्यारा है, वे मेरे सत्त्वमें नही है इसलिए वे जुदे हैं । अच्छा बतलावो मेरेमे जो ये कषायें जगती हैं ये मेरी है कि नही ? ये भी मेरी नही है । ऐसा समझनेका उपाय है औपाधिक भाव । यह जीवके कर्मोका अनुभागका प्रतिफलन हुआ । यहाँ तो अपना अनिवारित निमित्त-नैमित्तिक योग है । जैसे दर्पणके सामने कोई चीज आयी तो प्रतिबिम्ब होना यह अनिवारित बात है ।

अब इसके बाद अगर ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, एक अपने स्वरूपका अभ्यास है तो उसका निश्चय है इस अपने उपयोगको प्रतिफलनमें न लाऊँगा । अगर वेग अधिक है तो लग जायेंगे तो भी प्रतीति सच्ची रखें । यह जाने कि ये कषायें कर्मका सन्निधान पाकर आयी है, ये मेरे स्वरूप नही । इन कषायोसे हटकर अपने स्वभावका आश्रय प्राप्त करें । इस कर्म कीचड़को कर्मसिद्धान्तसे सही पहिचानकर, भिन्न जानकर दूर करें । अनेकान्तसे बढ़कर ज्ञान

प्रकाशमे आयें। हम आप इस शासनमें अपनी-अपनी योग्यतानुसार धर्ममार्गमें लग रहे हैं। ऐसा ऋषभदेव भगवानका यहाँ स्मरण किया जा रहा है।

नो किञ्चित्करकार्यमस्ति गमन प्राप्य न किंचिद् दृशो-
र्दृश्यं यस्य न कर्णयो: किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न।
तेनालम्बितपाणिरुज्झितगतिर्नासाग्रदृष्टीरहः,
संप्राप्तोऽतिनिराकुलो विजयते ध्यानैकतानो जिनः ॥२॥

भगवान ऋषभदेवकी आलम्बित पाणि मुद्रासे उपलभ्य शिक्षा—इस ग्रन्थके मंगलाचरणमे कल यह बताया था कि भगवान ऋषभदेव जो कायोत्सर्गमे खडे हैं और जो सहध्यान मे लीन हैं, मध्याह्नमे तपश्चरणमे रत हैं वे जिनेन्द्र जयवन्त हो। अब यह बतला रहे हैं कि प्रभुकी जो ध्यानमुद्रा है वह ध्यानमुद्रा हम लोगोको क्या शिक्षा देती है? जैसे लोग कहते हैं ना कि सतोके साथ बैठें तो उपदेश मिले। उससे तो शिक्षा मिलती है, किन्तु उनकी उठन बैठन, रहन सहन, उनकी मुद्रा, उनके व्यवहारको निरखकर भी कोई शिक्षा मिलती है, फिर तो यह भगवानकी बात है। भगवानकी जो मुद्रा है उससे हमे क्या शिक्षा मिलती है? वे जिनेन्द्र हमारी रक्षा करें, जिनकी मुद्रासे हमको तत्त्वबोध होता है वे एक जगह खडे अथवा बैठे हैं, हाथ पर हाथ धरे बैठे है या खडे हैं, हाथ मुक्त हैं, ऐसी मुद्रा हमको क्या शिक्षा देती है कि मानो यह जाना प्रभुने कि इस जगतमे कुछ भी कार्य करने योग्य नही है इसलिए हाथ को यहाँ ही छोडें। हाथपर हाथ रखे हुए हैं। जगतमे कुछ भी काम करने योग्य नही है।

अब जरा इसको विस्तारसे समझें। जगतमे कौनसी परवस्तुमे ऐसा कार्य है कि जिसे मैं कर सकता होऊँ, अथवा किसी तरह मान लो कर ली कल्पना सही तो उस करनेके फलमे हमको कोई अलौकिक लाभ होता है। दो बातो पर विचार करना है। पहली बात तो यह है कि जगतमे हम किसी परद्रव्यमे कुछ परिणति नही कर सकते। केवल कल्पना ही करते है कि हमने इसको यो कर दिया। हो रहा यह विषमपरिणमन उपादान निमित्त और आश्रयभूत कारण योगसे, लेकिन वहाँ एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ परिणमन नही करता। जब तत्त्वज्ञान जग जाता, सम्यक्त्व जग गया और उस सहजस्वभावमे उपयोग लग गया तो कहते हैं कि उसको सर्वसिद्धि हो गई। यह है चिन्तामणि रत्न। जो विचारें सो मिल जायगा नियमसे। कौनसा चिन्तामणि मिले तो वस्तुकी स्वतंत्रताका सम्यक्बोध हो? यह तत्त्व मिला तो फिर चाहेगा ही कौन? उसे तो सर्वसिद्धि हो गई। जगतके अणु-अणु प्रत्येक जीव सब अपनी-अपनी सत्तामे है, सभी अपने अपने स्वरूपमें है, तब ही तो आज तक

सत्ता है इनकी। आज तक जो पदार्थोंकी सत्ता बनी हुई है वह यही प्रमाण करता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे ही अपना सत्त्व रखता है। कोई किसीकी कृपासे अपनी सत्ता नही रखता, और जब स्वय सत् है तो अपनेमें अपना परिणमन करते है। अब यह व्यवहार होना तो निमित्तनैमित्तिक योगकी बात है। जैसे एक व्यावहारिक मोटा दृष्टान्त लो—रेलका इंजन चलता ना तो चलाने वाला (ड्राइवर) क्या करता है? वह तो बस इजनको चलाता रहता है, जोरसे चलाये या धीरे चलाये और इंजन जो मुडा सो जो नीचे पैटमैन होता उसने जो पटरी बदली, बस जैसी उसको पटरी प्राप्त हुई उसका निमित्त पाकर इंजन उस ओर चल देता है। तो पदार्थोंमे उत्पाद व्ययकी कला है। यह पदार्थका स्वभाव है कि वे नियमसे प्रतिक्षण उत्पन्न हो और प्रतिक्षण विलीन हो याने नई अवस्था उत्पन्न करें, पुरानी अवस्था विलीन करें यह पदार्थमें उत्पाद व्यय होना स्वभावकी बात है, लेकिन विकार किसका? कोई पदार्थ रागद्वेषरूप परिणम गया तो यह कोई निरपेक्षतया जीवके सत्त्वकी बात नही है, उत्पाद व्यय सब तो निरतर हैं। मगर जैसा कर्मानुभागका उदय है उसका प्रतिफलन है, इस ही के अनुरूप अपनेमे विकार परिणमन करता है। वस्तुस्वातंत्र्य व निमित्तनैमित्तिक योग, इनका सही परिचय करने पर ही जीवको एक शान्तिमार्ग प्राप्त होता है। परवस्तुओंमे कुछ कार्य नही है मेरा, क्योंकि वे भिन्न हैं और भीतरमें भी कोई कषायादिक विकारका कार्य नही है, क्योकि वे परभाव हैं, नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं। होते है मेरी ही योग्यतासे, मेरी परिणतिसे, मगर विभाव कोई निरपेक्ष होकर मेरे सत्त्वसे परिणम जायें तो विकार क्यो कहलायें? वे तो स्वभाव कहलायेंगे। तो बात यहाँ यह कही जा रही है कि परवस्तुमे करने योग्य कुछ भी नही है इसलिए बस एक आसनसे पद्मासनसे प्रभु बिराजे है। तो देखा होगा हाथपर हाथ रखे है। मानो कुछ करना ही नही है।

भगवान ऋषभदेवकी उज्झित गतिमुद्रासे उपलभ्य शिक्षा—देखो यह मुद्रा कुछ और भी सकेत करती है। कैसे बैठे? पैरपर पैर है, हाथपर हाथ है, देखो स्पर्शका बोध सुगमतया मनुष्यको कैसे होता? वह हाथकी हथेलीसे छुवे अथवा पैरके पञ्जेसे छुवे या अन्य अंगसे छुवे तो स्पर्शका अधिक वेदन होता है, मगर पद्मासनकी मुद्रा देखा—पैरके तलवा किसी को नही छू रहे, वे उल्टे लगे है जांघपर, जिससे कि स्पर्शके परिचयकी तीव्र वेदना नही होती। ऐसी ही हाथको स्थिति है। तो कुछ ऐसी प्राकृतिक मुद्रा है पद्मासनकी कि इसमे ध्यानके योग्य जो बात चाहिए वह सब बात यहाँ गर्भित है। पद्मासनसे बिल्कुल सीधी रीढ़ हो जाती है, श्वांसकी सीधी नली रहती है। कही उसमे भी दबाव नही पड़ा। प्राकृतिक

श्वांस निकलते जाओ और ध्यानमे श्वासकी सुध नही रहती। कितनी मद होती है कि उसका वेग कुछ अनुभवमे नही आता। ऐसे आसनमे जो जिनेन्द्रदेव बिराजे है उसने पहले यह शिक्षा दी कि जगतके कुछ भी कार्य करने योग्य नही है। इस कारणसे प्रभु हाथपर हाथ रखे बैठे है। प्रभुकी मुद्रा देकखर एक बात यह ध्यानमे लायें कि मेरेको जगतमे कुछ भी करनेके लिए नही है। ऐसी मुद्राको देखकर एक बार खुदमे विचार होना चाहिए कि मुझे भी ऐसा ही करना चाहिए।

अच्छा दूसरी बात देखो कायोत्सर्गसे खडे हो तो पैर स्थिर एक ही जगह अवस्थित है और पद्मासनसे बैठे हैं तो पैरपर पैर फसे है, ऐसी मुद्रा यह शिक्षा दे रही कि जगतमे कही जाना योग्य नही है। कहाँ जाना, किस क्षेत्रमे जाना ? अब जानेको कही कुछ रहा नही। अपने आपमे ही अपना विहार करना बस यही योग्य है। तो यह मुद्रा यह शिक्षा दे रही है कि कही जाना योग्य नही। ऐसा जानकर प्रभु यो बिराजे हैं। यह लोक ३४३ घन-राजू प्रमाण है। दुनियाकी बात कह रहे कि दुनिया कितनी बडी है ? आजकलके वैज्ञानिको को गति नही है कि वे सारी दुनियाको समझ जायें। तो जितना उनके अल्प ज्ञानमे आता वही उनके लिए सर्वस्व है, समय-समयपर हुआ ऐसा। जब जो द्वीप मिलता गया बस उतनी बडी दुनिया समझी। अमेरिकाका पता बादमे पडा, तो उनकी दृष्टिमे उतनी ही बडी दुनिया है, लेकिन कितना बडा है लोक ? और इस लोककी रचना कैसी है, सो तो देखो। यह लोक बहुत बडा है। इसको अगर एक आकारमे जानना है तो एक ऐसा चित्रण उपस्थित करें कि ७ बालक एक समान कदके एकके पीछे एक खडे हो जायें और वे सभीके सभी पैर फैलाकर कमरपर हाथ रखकर खडे हो जायें तो लोकरचना बन जाती है। पीछे ७-७ राजू सब जगह है, आगे कही ज्यादह कही कम। यह तो है एक लोकरचना। और फिर इसके अन्दर सब स्थावर भरे पडे हैं व्यक्त अव्यक्त, बादर सूक्ष्म। अब उनमे जो चौथे नम्बरका बालक है उसे ऐसा सोचें कि जितना गन्नेकी मोटाई है उतनी मोटाईके चारो विदिशामे चार रेखायें नीचे जमीन तक लगा दें उतना ही चौकोर, किन्तु लम्बा, उतना बडा जितना कि नीचे ऊपर क्षेत्र है यानी १४ राजू है उसमे त्रस जीव रहते है। उसके बीचमे जो नाभिका स्थान है वहाँ समझिये मध्यलोक है। उसमे उतने क्षेत्रमे पशु पक्षियोका निवास है जिसमे असख्याते द्वीप समुद्र है। उसीमे जितना प्रथम ढाई द्वीप तक है वहाँ ही मनुष्य हैं, जिसमे एक जम्बूद्वीप, सबसे छोटा इसमे भरत क्षेत्र, उसमे भी आर्यखण्ड, उसमे भी बहुत कम स्थान हैं जिसमें आजकी यह सारी दुनिया मिलती है। इतना बडा लोक है। इस लोकमे यह जीव कहाँ-कहाँ

नही पैदा हुआ, कहा कहा नही मरा ? हर जगह अनन्त बार उत्पन्न हुआ, मरा । तो अपने आपके प्रति विचार करें कि आज जो कुछ धन वैभव मिला है, इज्जत प्रतिष्ठा मिली है, परिवार समागम मिला है ये सब मरण होनेपर इस जीवके साथ जायेंगे क्या ? अरे ये कोई साथ न जायेंगे । अबसे पिछले भवोंमे इससे अनन्तगुना अधिक ये सब चीजें प्राप्त हुईं, पर उनका आज कुछ आपके काम आया है क्या ? जो गुजर गया उसमेसे कुछ भी तो हाथ नही है । ऐसे ही समझिये कि आज जो कुछ समागम मिले है ये भी मरण होनेपर सब छूट जायेंगे, जीवके साथ कुछ भी चीज न जायगी । यहाँ कोई भी स्थान ऐसा नही जो जाने योग्य हो, बसने योग्य हो, अपनाने योग्य हो । इसलिए प्रभुने सब जगहका गमन त्याग दिया और एक आसनसे विराजे हैं ।

भगवान ऋषभदेवकी नासाग्रदृष्टि मुद्रासे प्राप्य शिक्षा—प्रभुकी यह मुद्रा हमको क्या शिक्षा दे रही है ? तो देखो प्रभुकी दृष्टि नासाग्र है । वे बाहर कही कुछ देख नही रहे । तो हमे उससे शिक्षा यह मिल रही कि जगतमें कुछ भी देखने योग्य नही है । लोग बेहतासा दौड़ लगाये भागे जा रहे है । अमुक नुमायश है, अमुक सनीमा है, अमुक थियेटर है, जाते, देखते, पर अंतमें उससे फायदा क्या मिलता है सो तो विचार करो । सनीमा देखने वाला दो तीन घंटे तक टकटकी लगाये देखता रहता है, पर अन्तमे होता क्या है कि उसे आँखें मीचनी पडती है । रात अधिक हो गई तो कुछ उसके प्रति सोचेंगे, नींद न आयगी, कुछ विचार करेंगे उससे अन्तमें फायदा क्या मिलता है सो तो बताओ ? कुछ भी तो फायदा नही मिलता । देखो इन विषयोमे सुख मानकर जितना सुख भोगा, वह सुख जोडकर आपकी गाँठमे है क्या आज ? यह जोडनेकी चीज नही है कि हम अगर ४० वर्षोसे सुख भोगते आये तो यह जुड कर एक सुखकी निधि बन जायगी । निधि बनना तो दूर रहा, मगर सुख मिलनेके एवजमे दुःख अधिक गुना मिलता है । तब ही तो लोग कहते है कि संसारमें सुख तो राई बराबर है और दुःख मेरूसमान है । जगतमे कोई भी वस्तु दर्शनीय नही है । प्रभुकी मुद्रा क्या शिक्षा देती है ? उनकी जो नासाग्र दृष्टि है वह यह शिक्षा देती है कि किसी भी पदार्थकी ओर क्या दृष्टि देना ।

आत्माकी वृत्तिका दिग्दर्शन—अब अन्दरकी बातपर और ध्यान दें । जब प्रभुको केवलज्ञान हुआ तो वे क्या जान रहे, किसीको जान रहे ? अपने आपको जान रहे । वह मुद्रा ही सिखा रही है । यह तो अपने आपमे अपने आपको जान रहे हैं और हम आप अपनेमे अपने आपको जानते है या बाहरकी चीजको जानते है ? अपने आपको जान रहे । यो अगर

अपनी बात बनायेंगे कि हम बाहरी चीजोको जानते हैं तो कितना बाहरकी जानते, कितना दूर की, कितना पहले की ? अरे भगवान तो तीन लोक तीन कालकी सब बातोको जानते है, इससे अनन्तगुना जानते ।

इतना सब कुछ जानकर भी अपनेमे अपना सब कुछ जान रहे । और हम आप इतना सब कुछ जानकर भी अपनेको नही जान रहे । हमारा ज्ञान हमारा स्वभाव है कि नही ? आत्माका स्वरूप, आत्माका कोई भी गुण, आत्माकी कोई भी पर्याय आत्माके प्रदेशो से बाहर मिलता है क्या ? तो कोई भी पदार्थ हो, मेरा गुण, मेरी पर्याय, मेरा प्रभाव सब कुछ मेरा अपने आपमे है, अपनेसे बाहर नही है, अपनेमे ही अपना सब कुछ है । तब फिर हमने क्या किया ? हमने यह किया कि यह आत्मा, यह मेरा जीव यहां ही विराजा हुआ, यहाँ ही परिणमता हुआ इस सबको जान रहा है । तो सबमे जा जाकर नही जान रहा, किन्तु अपने आपमे बैठा हुआ जान रहा । एक मोटा दृष्टान्त लो—हम एक दर्पणको सामने रखे हो तो पीछेकी चीजें दिखती हैं ना दर्पणमे ? कोई बालक पीठ पीछे खेल रहे तो कोई सिर मटकाता, कोई जीभ निकालता, कोई हाथ-पैर चलाता । जो-जो भी क्रियायें वहाँ की जा रही है वह हम केवल दर्पणको देखकर बता देते है । यद्यपि हम उन्हे देख तो नही रहे, देख तो रहे दर्पणको, मगर वहा उन बालकोका प्रतिबिम्ब पडनेसे उनकी सारी बात बताते जाते हैं । यह ही बात आत्माकी है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है, दर्पणवत् है, यह सब कुछ झलक रहा है तो यह झलकको ही तो जान रहा । यह रहस्य अज्ञानीने नही समझा, इसलिए वह अपने उपयोगमे ऐसा ही जान रहा है कि हम बाहर बाहरमे देख रहे हैं, अपनेमे नही । जब कि वस्तुस्वरूप यह बताता है कि अज्ञानी भी, सम्यग्दृष्टि भी अपनेको जान रहा है, मगर अज्ञानी अपनेको जान रहा है अन्य-अन्य रूप । यह अन्तर आया । बाहरमे कुछ जाननेकी बात नही है, जाना ही नही जाता । बस अपने आपको अज्ञानी अन्य रूपमे जान रहा है । मैं गृहस्थ हूं, व्यापारी हू पडित हू, अमुक हू, तमुक हू, यो कितने ही रूपोमे अपनेको जान रहा, पर ज्ञानी केवल एक चैतन्यस्वरूपमात्र अपने को जान रहा ।

प्रभुकी ध्यानमुद्रासे प्राप्य शिक्षा—प्रतीति श्रद्धा गृहस्थ ज्ञानीकी ऐसी है जैसी कि सेठकी दुकानमे रहने वाले मुनीमकी रहती है । वह मुनीम बडे जोर जोरसे कहता कि तुम्हारा हमपर इतना आया, हमारा तुमपर इतना गया, हमको तुमसे अभी इतना मिलना है, यो लेन देनके सम्बन्धकी सारी बातें करता, खूब जोर जोरसे सब कुछ हमारा-हमारा करता और उतना कहता जितना कि मालिक भी हमारा हमारा नही करता, पर उसकी श्रद्धामे यह बात

बसी है कि यह मेरा है कुछ नही। मुझे तो जो १००—१५० रु० माहवार मिल जाते है बस वही मेरे है, बाकी रंच मात्र भी मेरा नही। ठीक ऐसी ही प्रतीति ज्ञानी पुरुषकी रहती है। व्यवहारमें रहकर वह मेरा-मेरा भी करता है, सारे काम-काज भी करता है, पर उसकी प्रतीतिमे यह बात रहती है कि मेरा यह कुछ नही है। इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नही। ये सब पौद्गलिक चीजें है, छाया है, माया है, यह मेरा कुछ नही है। हाँ गृहस्थीमें करना सब पडता है। किए बिना गुजारा नही चलता। परिस्थितिवश उसे करना सब कुछ पडता है, पर उसकी प्रतीतिमे सदा यह बात रहती है कि यह मेरा कुछ नही, यह सब कुछ करनेका मेरा कर्तव्य नही। ज्ञानीने अन्त:स्वरूपका परिचय किया है, इस कारण वह कभी भी पर-पदार्थको व परभावको स्व मान ही नही सकता। यह सब दर्शन प्रभुकी ध्यानमुद्रामे होती है। ऐसे अन्तर्बाह्य धर्ममूर्ति भगवान ऋषभदेव परमात्मदेव जयवन्त होओ।

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्तसगग्रहात्,
अस्त्रादः परिवर्जनान्न च बुधैर्द्वेषोऽपि संभाव्यते।
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणा,
नानन्दादिगुणाश्रयस्तु नियत स ऽर्हन् सदा पातु वः ॥३॥

प्रभु आप्तदेवकी नीरागताका वर्णन—भगवान जिनेन्द्र अरहंत देवके स्मरणमे कह रहे है कि वे अरहत जिनेन्द्र सदा मेरी रक्षा करें। ये रक्षा करने अपना धाम छोडकर यहाँ नही आते, लेकिन उनका जो स्मरण करता है उसमे इतनी पवित्रता जगती है कि स्वयं इसके आत्माकी रक्षा होती है। कैसे हैं ये अरहत जिनेन्द्र कि जिनके राग नही। कैसे जाना कि राग नही भगवानमे? अरहत कहते है पूज्यको। अर्ह पूजायां धातु है, अरहंत कहो, अर्ह्य कहो, सबका एक अर्थ है। तो ये अरहत भगवान, ये सशरीर परमात्मा इनके राग नही है। कैसे समझा कि राग नही है? यो समझा कि समस्त प्रकारके संग परिग्रहका यहाँ त्याग है। राग होता तो कुछ चीज तो रखते पासमे। न स्त्री है, न पुत्र है, न वस्त्र है, न कोई झोंपडी है, न भस्म है, केवल गात्र मात्र है। इससे सिद्ध होता कि प्रभुके राग नही है। जितना भी संगका परिग्रह बनता है, चीजें रखते है वे रागवश रखते, कोई मोहवश भी करते। कोई यह कहते कि यह मेरा वैभव है, परिग्रह है तो क्या हुआ? चक्रवर्तीके भी हुआ, और वे ज्ञानी हुए तो ऐसेमे भी ज्ञानी हुए। ऐसा यदि कोई कहे तो खुद अपने आपमे मनन करे कि मै अपने आपको धोखा दे रहा हू या वास्तविक बात है यह। वास्तविकता तो तब होती कि आये उसका हर्ष नही, जाये उसका गम नही, तब समझिये कि हाँ बाह्य परिग्रहका इसके राग

नही, मोह नही । राग तो तब भी है । यदि वाह्य पदार्थके रखनेमे हर्ष विषाद न हो तो भी राग तो है ही अन्यथा जो कुछ रख रहे सो क्यो रख रहे ? यह कह सकते कि मोह नही है । मोह उसे कहते है कि जहाँ वाह्य वस्तुमे, यह मेरा है, इसमे मै हू, इससे ही मेरा हित है, इस प्रकारकी भीतरमे श्रद्धा होनेका नाम है मोह और राग मायने परिस्थिति है, प्रीति करनी पडती है उसके बिना गुजारा नही, वह है राग । तो प्रभुके न मोह है, न राग, क्योकि समस्त संगका वहाँ परिहार है । परीक्षायें कर लो, कोई कहे कि हम कपडे पहने है और हमको इन कपडोमे कुछ भी राग नही, तो आप उसी समय उसके कपडे फाड दीजिये, फिकवा दीजिए, वस उत्तर हो जायगा । अरे इस तरहसे तो वह चिल्ला उठेगा कि यह क्या कर रहे ? अब न हो राग तो वह कैसे बाह्य पदार्थोको रख रहा है ? कैसे ग्रहण कर रहा है ? तो बाह्य पदार्थो का जो सग है वह रागका अनुमान कराता कि इसके राग है । प्रभुके राग नही क्योकि वे प्रभु एकाकी है, केवल है ।

प्रभुस्वरूपकी पावनता—देखो प्रभुका जो स्वरूप है वह कैवल्यस्वरूप होता है । ऐसा नही है कि भगवान उसे माना जाता हो जिसके साथ स्त्री भी हो, पुत्र भी हो, नटखट भी करता हो, अनेक लीलायें भी करता हो सो नही । भगवान नाम है ऐसे शुद्ध आत्माका कि जिसका ज्ञान परिपूर्ण है और आनन्द भी परिपूर्ण है । आनन्दमे जिसके कमी है सो ही चेष्टा करता है, मगर यहाँकी, वहा जो चेष्टा करे, किसीकी रचना करे, किसीको दुःखी करे, किसीको सुखी करे, किसी पर नाराज हो, दड दे, नरक भेजे, ये सारी बातें करता कोई नही है और करता हो कोई तो यह समझो कि उसके अन्दर आकुलता है । आकुलता बिना कोई चेष्टा नही करता । यहाँ जाना, वहा जाना, दौडधूप करना, प्रवृत्ति करना—यह राग बिना नही होता । तो प्रभुके राग नही है । जैसे कि कल प्रभुकी मुद्राका स्वरूप बताया था, जहाँ केवलपना ही है वहाँ रागकी सम्भावना नही है और प्रभुके द्वेष भी नही है । कैसे समझा कि प्रभु के द्वेष नही है ? यो समझा कि वे कोई तलवार, बरछी, चाकू त्रिशूल आदिक किसी प्रकार का शस्त्र नही रखते । क्या है उनके पास ? केवल आत्मा है । शरीर अभी साथ लगा है । अरे जिनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और आनन्दआनन्द प्रकट हो गया है उनको किसका भय ? किसलिए शस्त्र रखना ? न भय है, न आशा । यह सारा जगत दो बातोंके वशीभूत है–भय और काम । इच्छाके वशीभूत होकर बहुत-बहुत चाह बनाते हैं, मगर चाहसे कोई सिद्धि भी है क्या ? और मिल भी गया चाहसे उसके अनुकूल तो उससे कोई आत्माकी सिद्धि हो गयी क्या ? यह तो कुछ दिनोका स्वप्न है । घर है, वैभव है, कुटुम्ब

हैं, ये सब किसी दिन छूट जायेंगे, ये कोई साथ न जायेंगे। उनसे इस आत्माको ने क्या लाभ मिलेगा ? साथ जायगा कुछ नही। बस जो उनके प्रति भले बुरे सस्कार वे ही साथ जायेंगे।

सर्व जगत परिणमनोंकी विनश्वरता जानकर स्वपदमें रमनेका अनुरोध—यहाँ कौन मदद देना ? किसी सेठने ६-७ खण्डकी ऊची हवेली बनवायी और उसका उद्घाटन ठसे कराया। उसके उपलक्षमें जीमनवार भी कराया, एक बहुत बडी सभा जुडी। उस सभी लोगोने बडी बडी प्रशसायें की। देखो सभामें कोई अहकारकी वाणी नही बोल । भले ही उसके चित्तमे अहंकार भरा है, पर जो कुछ बोलेगा वह बडी नम्रताके साथ ा, जिससे कि अहकारकी पुष्टि न हो। तो वह सेठ बोला—आप सब लोगोकी कृपासे वेली बन गई है, अब आप लोग इसमें कही कोई गल्ती हो तो बतला दीजिए। भले वेली गिरानी पडे, पर गल्ती अवश्य दूर की जायगी। तो सभी लोगोने बडी-बडी प्रश- की। किसीने कोई गल्ती न बतायी, पर उस सभामे एक बुद्धिमान व्यक्ति भी बैठा उसने कहा सेठ जी आपकी इस हवेलीमे २ गल्तियाँ है। बताओ कौनसी गल्तियाँ है ? ीनियरोसे) देखो—जो गल्तियाँ ये भाई बतावें उन्हे ठीक करना है। बताओ गल्तियाँ ? एक गल्ती तो यह है कि इस मकानका बनवाने वाला सदा न रहेगा। इस बातको सुन- सभी लोग बड़े आश्चर्यमें पड गए। भला बतलाओ यह गल्ती कैसे मिटे ? सेठ बोला— ा, अब दूसरी गल्ती बताओ···अच्छा सुनो, दूसरी गल्ती यह है कि यह मकान भी सदा हेगा। क्या रहे किसीके मकान सदा ? श्रीकृष्णके रहे क्या ? श्रीरामके रहे क्या ? डवोके रहे क्या ? महावीर स्वामीके रहे क्या ? अच्छा तबकी तो बात छोड़ो, हजार दो ार वर्ष पहलेके भी मकान दिखते हैक्या ? भले ही कुछ दिन पहले ऐसे मकान बनते थे २००-३०० वर्ष तक चलते थे, पर आजकल जो लिफाफा जैसे मकान बन रहे है उनको इजीनियर लोग १०० वर्ष तकके लिए ही बताते है। तो यहाँका कुछ भी अपने साथ नहीं नेका, मरनेके बाद ये कोई साथी न होंगे। एक अपना धर्मसस्कार ही अपना साथी है। स्त परद्रव्योसे, परभावोसे भिन्न जो आत्माका सहजस्वरूप है, एकत्वभाव उसमे अनुभव रे कि मै यह हू। तो सारी गल्ती यही होती है कि लोग 'यह मैं हू,' ऐसा किसमें बताते ? जब कभी किसी को बड़ा तेज क्रोध आता है तो वह कैसे शब्द बोलता है ? मै ऐसा रुस हूं, मैं वह हू कि इसका यो कर दूंगा, कितना अधेरा है ?

आत्मनिर्णयपर भविष्यकी निर्भरता— भैया ! मैं क्या हूं, इसकी गल्ती खानेसे संसार

मे रुलना पड़ता है और 'मैं क्या हूं' इसको सही जान लेनेसे संसारका सकट दूर होता है। सारा दुःख एक मोहका है, दूसरा कोई दुःख नही। आपका मकान एक छोटासा हो और पास ही किसी सेठकी बहुत बडी और बहुत सुन्दर हवेली हो तो क्या आपको उस सुन्दर हवेलीमे मोह आता है ? नही आता। हाँ उस झोपडीमें मोह बसा है। अरे तुम्हे अच्छी चीजोसे अगर मोह करना है तो इन बडे-बडे मकानोंसे मोह कर लो। करता ही नही कोई। जिनको अपना मान लिया कि ये मेरे है बस उनसे मोह करता है। कोई बूढा व्यक्ति हो, जिसके गाल पिचक गए हो, हड्डियाँ निकल आयी हो, यदि उससे कहा जाय कि बाबाजी अपने इस रद्दी शरीरसे मोह न करो, यह जो जवान, हट्टा कट्टा सुन्दर व्यक्ति बैठा है इससे मोह करलो तो क्या वह करेगा ? नही कर सकता। जिसको माना कि 'मैं यह हूं' उसमे मोह करता है। और देखो मोही है सब। यह शरीर तो खैर बहुत घनी घनिष्ट चीज है, मगर धन वैभव आदिक परपदार्थोमे यह जीव मोह करता है। यही एक घटना सुना था कि पजाबमे कोई किसान गल्ला बेचकर घर आया। उसके हाथमे एक हजार रुपयेकी गड्डी थी। जाडेके दिन होनेसे वह भट्टीके पास बैठा ताप रहा था, वही उसके बच्चे भी थे। उस किसानके बच्चेने अपने हाथमे रुपयोकी गड्डी पा ली और उसे आगमे डाल दिया, रुपये जल गए। तो वहाँ उस किसानको इतना क्रोध उस बच्चेपर उमडा कि उसे भी उसी आगमे पटक दिया। वह बच्चा उसीमे जलकर मर गया। तो यह क्या है ? परद्रव्यमे कितना ममत्व और अहकार का भाव। बस उसका ही दुःख है। जितना भी हम आपको दुःख है वह कुबुद्धिका दुःख है। बाहरसे कभी कष्ट नही आता, यह निश्चित बात है। उनका परिणमन उनमे है, उनका उत्पाद व्यय उनमे है, वे अपने आपकी योग्यतासे परिणम रहे हैं, उनसे मेरेमे क्या कष्ट आ सकता है ? कष्ट आता है मेरे ही मिथ्या भावोसे, मेरे ही विकल्पोंसे, दूसरा मेरेको कोई कष्ट नही देता। प्रभुके सम्यग्ज्ञान बना तो सम्यग्ज्ञानके मार्गसे चले आत्मध्यानमे रत हुए, रागद्वेष उनके मूलसे उखड गए, प्रभु हुए। प्रभुके द्वेष नही है। कैसे समझें कि प्रभुके द्वेष नही है ? इसलिए कि उनके पास तलवार, बर्छी, चाकू आदिक कुछ भी शस्त्र नही है। आत्मबलका एक ऐसा अनुपम बल है कि जहाँ यह आत्माका अनन्तबल प्रकट हो जाता। वहाँ तीनो लोकोके इन्द्र और की तो बात क्या, सेवा करते, नमस्कार करते, वदन करते, रचना बनाते। प्रभुमे न राग है, न द्वेष है, क्योकि उनकी मुद्रा ऐसी है कि कोई परिग्रहका लपेट नही और हथियार लिए नही। वहा समता प्रकट हुई है।

सर्वोपरि परिचय अन्तस्तत्त्वके अनुभवमे—रागद्वेषसे हटनेका नाम समता है। उस

ा फल क्या है ? आत्मबोधन होना, आत्मविकास होना। देखो आत्माको जानो जानो ब कहते, पर असलमे जाना किसने ? जिसके रागद्वेष मिटकर साक्षात् अतस्तत्त्वका हो रहा, बोधन हो रहा। अनुभव सबसे बढकर चीज है। लोग कहते है कि यह तो कही बात है इसलिए झूठ है। कही बात भी तो सच होती, सर्वथा झूठ नही होती। देखी बात सच भी होती और झूठ भी होती, पर अनुभवकी बात झूठ नही होती। य होती है, सर्वोपरि प्रमाण है अनुभव। कही बात झूठ, सुनी बात झूठ, आँखो देखी झूठ, पर अनुभवमे आयी हुई बात यथार्थ कहलाती है। आपको ऐसी कितनी ही घटनायें कि सुना कुछ है और घटना कुछ है, दिखा कुछ है और बात कुछ है, मगर अनुभव त सही होती है। कही झूठ, सुनी झूठ, इसके लिए तो कोई बात कहनी नही है, एकने सुना, उसने तीसरेसे सुना, चाहे बात मूलमे कुछ न हो पर बतंगड कुछसे कुछ बन। कुछ दिन पूर्वकी आपके इस सहारनपुरकी ही घटना है। जब कि हिन्दू मुस्लिम झगडे चल रहे थे तबकी घटना है। किसीके घर एक खोटी चवन्नी थी। उसे ले लिया उसके लडकेने। उस चवन्नीको कोई न ले। अब वह बालक उस चवन्नीको लेकर एक ईकी दूकानमे पहुचा। एक आनेको मिठाई ली, तीन आने हलवाईने फेर दिए, तो उस ीके चल जानेसे मारे खुशीके वह उछलता फाँदता और चिल्लाता हुआ चला जा रहा रे चल गई, चल गई, चल गई। अब क्या चल गई यह कुछ न कहे। सो हिन्दू म झगडेका समय था ही सो लोगोने समझा कि गोली चल गई, लड़ाई चल गई। लो दुकानदार दूकानें बद कर-करके अपने अपने घरोमे घुस गए। तो देखो मूलमे बात कुछ बतगड इतना बडा बन गया।

(१८) अनुभवसे ही आत्मतत्त्वका सम्यक् परिचय—सब जानते, कही सुनी बात भी झूठ है। अब इसका दृष्टान्त देखो कि आँखो देखी बात भी झूठ। एक नौकर राजाका पलग ाया करता था। बहुत दिन हो गए। एक दिन उसके मनमे आया कि इस पलगपर लेट देखना चाहिए कि कितना आराम मिलता है। सो ज्यो ही वह चद्दर तानकर उसपर कि दो-चार मिनटमे ही सो गया। अब थोडी देरमे आयी रानी, तो रानीने उसे राजा झकर प्रतिदिनकी भाँति सो गई। इतनेमे आया राजा तो वह रानीको किसी दूसरे पुरुष ाथ सोते देखकर बडा क्रोधमे आया। सोचा कि तलवारसे इन दोनोका गला साफ कर र ख्याल आया कि बिना विचारे कोई काम न करना चाहिए, पहले उसे देख भालकर की परीक्षा कर लेना चाहिए। सो पहले रानीको जगाया। रानी राजाको विस्तरसे बाहर

देखकर दंग रह गई और यह कौन दूसरा सो रहा, यह देखकर आश्चर्यमे पड़ गई। रानीने बताया कि मै तो प्रतिदिनकी भांति आपको समझकर इस पलगपर सो गई थी फिर उस नौकरको जगाया तो नौकर सामने राजाको देखकर कांपता हुआ उठा। उसे यह पता न था कि रानी मेरे पास सोई, किन्तु इस गलतीसे कांप रहा था कि मैं राजाके पलगपर क्यो सो गया? मेरा तो पलग बिछानेका काम है न कि पलगपर सोनेका। आखिर राजा द्वारा पूछे जानेपर सब बात सही सही बता दिया। तो देखो देखनेमें कुछ कसर तो न थी पर आंखों देखी बात भी झूठ निकली। अच्छा अब अनुभवकी बात देखो। एक पुरुषके दो स्त्रिया थी। एक बार उनमे झगडा हुआ, छोटी स्त्री कहे कि यह मेरा बालक है और बडी कहे कि मेरा है। आखिर इसका मामला राजाके पास पहुचा। राजाके सामने दोनो स्त्रियोने बयान दिया—देखो जो पतिकी सम्पत्ति होती है उसपर स्त्रीका अधिकार होता है अतः यह बालक मेरा है। दोनोने यही बात कही तो राजाने कहा—अच्छा इसका न्याय कल होगा। दूसरे दिन राजाने सिपाहियोसे कहा—देखो इस बालकके तलवारसे बराबर दो टुकडे कर दो, एक टुकडा इस स्त्रीको दे दो और एक उसको। तो वहाँ छोटी स्त्री जिसका लडका था वह बोली—महाराज ऐसा न करो। यह बालक मेरा नही है, इसीको दे दो। यदि यह जीवित रहेगा तो चाहे कही रहे, मै इसे कभी कभी देख तो सकूंगी, बस देख देखकर प्रसन्न रहूगी, और यदि यह जिन्दा ही न रहा तो मेरा तो सब कुछ मिट गया। बस हो चुका न्याय। अनुभवने फैसला दे दिया। तो इसी तरह आत्मा क्या वस्तु है, आत्माका क्या स्वरूप है? इसका सच्चा भान तो शब्दोसे सब कहते है मगर भान है उसे जो इस ज्ञानमात्र अतस्तत्वके अनुभवका रसास्वादन कर रहा हो याने एकरस होकर सहज आनन्दका अनुभव कर रहा उसने जाना आत्मतत्त्व।

(१६) आत्मानुभवका सुगम प्रारंभिक यत्न—

आत्मतत्त्वके अनुभवको बात कैसे मिलेगी? समतापरिणामसे। समता कहते है रागद्वेष न करनेको। प्रभुने साधकदशामे कही भी रागद्वेष नही किया, समताभाव जगा, उससे बढा आत्मबोधन, आत्माका ज्ञान। और आत्मबोधन होनेसे आत्मरमण, आत्मसयमन निर्विकल्प होकर अपने आपके स्वरूपमे समा जाना, ऐसी वृत्ति होनेसे हुआ कर्मोका क्षय। कर्मोका क्षय यह जीव करता नही है कि मैं इसको मिटा दू, नष्ट कर दू, पर ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि जीव यदि आश्रयभूत पदार्थोमे न फसे और अपने आपके स्वरूपमे रमे तो कर्म अपने आप क्षयको प्राप्त होते है। हो गया यो कर्मोका क्षय। ये प्रभु अनन्त आनन्दके

आश्रयभूत है। आनन्द इनका अलौकिक है, तब क्या स्थिति हुई ? सकल ज्ञेयज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन। "जगमग दशा। सकल ज्ञेयज्ञायक, यह तो है जगरूप दशा याने घन विकसित दशा व निजानन्दरस लीन, यह है मगकी दशा। मग्न हो रहे। अच्छा अपनेमे भी खोज करके देख लो—सुख दु:ख जो कुछ यहाँ होता है सो यहाँ ही अनुभव होता ना ? ऐसा लगता ना कि भीतरमे है कोई वेदना, भीतरमे ही है कोई बात, और जब पदार्थको जानने चले तो बडे उमगसे खूब दूर दूर आँखें लगाते, दूर दूर बुद्धि लगाते। तो ज्ञानका काम होता है यो, और आनन्दका काम होता है यो। यह ही जगमग दशा है इस आत्मामे। यद्यपि ज्ञान का भी काम होता है अपने ही प्रदेशोमे, मगर उसके प्रदेशोमे यह उत्प्रेक्षा की जा रही है कि ज्ञानसे तो फैल गए लोकालोकमे इसीलिए विष्णु कहते हैं। जो समस्त जगमे व्याप जाय सो विष्णु, ऐसा कौन है ? ये भगवान, जिन्होने कर्मोंका क्षय किया है, वीतराग हुए है, क्यो है ये विष्णु कि इनका ज्ञान लोकालोकमे फैला है मायने लोक अलोक सबको इन्होंने जाना। और फिर है कैसे ? निजानन्दरस लीन, अपने आनन्दरसमे लीन है। तो इन प्रभुके कर्मोंका क्षय हुआ है तो ये आनन्दके आश्रयभूत हुए।

(२०) भगवानका स्वरूप ज्ञान और आनन्दकी पराकाष्ठा—

भगवानका जब ध्यान करें तो यह ही तो ख्याल करते है कि प्रभु क्या है ? बस ज्ञान और आनन्दकी पराकाष्ठा। जब समन्तभद्राचार्यने युक्त्यानुशासनमे प्रभुकी स्तुति की तो कहते हैं कि आपके गुण अपार हैं किसीमे ऐसी सामर्थ्य नही जो आपका गुणानुवाद कर सके। लेकिन मै तो एक बहुत सीधी बात कह सकता हूँ क्या, कि प्रभु ज्ञान और आनन्दकी शक्ति है और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए हैं, मायने ज्ञान और आनन्दकी जो उत्कृष्ट दशा है उसे आपने पाया। इससे अधिक मै कुछ कह नही सकता, क्योकि आपके गुण इतने अपार है कि उनका कुछ वर्णन नही किया जा सकता। कही तो यह जरासी बात, पर इसीमें सारा गुणानुवाद हो गया। इस विषयमे कृपा करके अपनेमे निरखें कि मैं तो ऐसा हू। मेरा स्वरूप ऐसा है, मुझमे भी प्रभुकी ही भाँति प्रभुता विद्यमान है। यह हू मैं। जैसे कोई बड़ा आदमी हो, मान लो कोई करोडपति है तो उसके सामने कोई हजार पाँच सौ रुपयेकी समस्या रख दे तो वह उसपर कोई खास दृष्टि नही देता सोचता, हटावो, दे दो। ऐसे ही जब अपनेमें यह भाव भर जायगा कि मैं तो प्रभुवत् सिद्धकी शक्तिकी पराकाष्ठाका स्वभाव रखने वाला हूं, ज्ञान और आनन्दका अनुपम निधान हू तो यह भी संसारकी इन साधारण समस्यावोमे न फंसेगा। होने दो क्या है, परिणति है परकी। तो प्रभुने कैसे यह अनन्तबल पाया ? प्रारम्भमे

हुआ यह कि प्रभुने अन्त.स्वरूपका दर्शन किया। अपने आपके आत्माको कैसे बल प्राप्त होता है इसका प्रारम्भ होता है प्रभुगुणस्मरणसे।

(२१) प्रभु अन्तस्तत्त्वके गुणस्मरणके प्रसादसे आत्मरक्षाकी भावना—

जो प्रभु ज्ञान और आनन्दकी पराकाष्ठाको प्राप्त है ऐसे वे प्रभु हम आप सबकी रक्षा करें। रक्षा करनेका भाव यह ही है कि निरन्तर उनका स्मरण रहे जिससे अपने आपमे एक शान्तिका मार्ग मिले और शान्ति प्राप्त हो। तो क्या कर्तव्य है,अपना मूलमे ? पहले यह समझ लो कि मैं सहज चैतन्यस्वरूप मात्र हू। मैं अमुकचद, अमुकलाल, अमुकप्रसाद आदि नही, मैं पुरुप, स्त्री आदि नही, मैं व्यापारी सर्विस करने वाला आदि नही, मैं परिवार वाला नही, समाज वाला नही, देश वाला नही। यह सब पौद्गलिक छाया माया है। यह मैं नही हू। मैं तो एक सहज चैतन्यस्वरूप मात्र हू। भीतर ऐसी श्रद्धा आये तो वह बडा पवित्र आत्मा है। उसने सर्वसकटोपर विजय प्राप्त कर लिया। जिसने भीतरमे यह भाव भरा कि क्या करना है सारे जीवनमे ? धर्मके प्रसगमे क्या काम करना है, इसी बातका दृढ-तम अभ्यास बने कि मैं सहज चैतन्यस्वरूप मात्र हूं। देखो इस अभ्यासके फलमे इतना तो प्रेक्टिकल सब कर ही सकते हैं। हम यह बात नही कह रहे कि किसीको १०५ डिग्री बुखार हो जाय फिर भी वह बुखारका दु.ख न माने। और न माने दु ख वह तो अच्छा है। हम तो इतनी बात कहते है कि इस चैतन्यस्वरूपमे यह मैं हू, ऐसा निर्णय करें उसकी प्रतीति रखें, किसीसे घृणा न करें, कोई निन्दा करे अथवा प्रशंसा, उसमे हर्ष-विषाद न मानें। इतना तो करके देख सकते है। अगर इतनी बात नही कर सकते तब तो फिर सब उनकी गप्प है। सब जीवोको देखकर सबमे परमात्मत्वका दर्शन करें। कोई अगर विरुद्ध परिणमता है तो मानो इसने जबरदस्ती की अपने प्रभुपर, इसके अज्ञान छाया है। यह सब पौद्गलिक कर्म की छाया है फिर भी वह अन्दरमे यह सहज परमात्मस्वरूप है। किसी जीवसे घृणा न करें, विरोध न करें, यह बात कोई कठिन है क्या ? यहाँ कोई सोचता होगा कि बात तो ऐसी की जा रही जिसमे मानो बज्र सा गिराया जा रहा हो। भैया! ऐसा चिन्तन तो अज्ञानमे ही रहता यह तो ज्ञान कर लेनेकी बात है। दूसरेके द्वारा मेरी निन्दा की जा रही हो तो वहाँ यह समझे कि यह परपदार्थ है, इसका इसमे परिणमन हो रहा, इससे मेरेमे कुछ नही आया, इतनी बात तो प्रेक्टिकल होनी चाहिए तब समझो कि हमने चैतन्यस्वरूपका अनुभव किया और उसे ही मान लिया कि यह मैं हू।

(२२) आत्मशुद्धि होनेपर हर्षविषादका अनवसर—

देखो यह सब अपने अपने अपने हितके लिये बात बतायी जा रही है और सुनना चाहिए इसे इसी ध्यानसे कि हमे अपने आपमे शुद्ध बनना है। शुद्ध बनेंगे इसी भावके बलसे कि वह मैं क्या हू ? इसका यथार्थ निर्णय हो। जो मिट जाने वाली चीजें है उनमे आत्मीयताकी बुद्धि न करें। जो मैं हू वह कभी मेरेसे अलग नही होता। किसीको भले ही क्रोध मान माया लोभ उमडा, मगर क्रोध आदि कषाय कही सदा तो नही रह सकता। क्रोध कोई दिन भर तो नही रख सकता। तो यह क्रोध मेरा नही। वह भी मिट जाने वाला है, मान मेरा नही, वह भी मिट जाने वाला है। दर्पणमे जो प्रतिबिम्ब हुआ वह प्रतिबिम्ब दर्पणकी चीज है क्या ? नही, क्योकि वह मिट जाने वाली है। हाथ हटाया तो प्रतिबिम्ब मिट गया। वह हाथका सन्निधान पाकर प्रतिबिम्ब हुआ था। वह दर्पणकी चीज नही। ये कषाय ये विषय, ये विचार, ये विकल्प, ये छुटपुट ज्ञान ये सब निजकी चीज नही, ये मिट जाने वाले है। जो कभी न मिटे मेरेमे ऐसा जो भाव है सो मैं हू। वह भाव क्या है ? स्वभाव, चैतन्यस्वरूप, अन्य कुछ मैं हू ही नही। लोग जब गाली देते या निन्दा करते तो यह कब बुरा मानता ? जब कोई दो चार लोग सुन रहे हो तब इसको बुरा लगता, इन लोगोके सामने और इस मुझको इसने गाली दी, और इतने लोगोके सामने हमको अपमानित कर दिया, पर जो अपनेको अपनेमे एकान्तवासी देखेगा वह तो किसीके बीच भी नही है वह क्या खेद करेगा अटपट वचनोका। यो हर्षविषाद न करके स्वयमे तृप्त रहनेमे कल्याण है।

इन्द्रस्य प्रणतस्य शेखरशिखारत्नार्कभासा नख-
श्रेणीतेक्षणबिम्बशुम्भदलिभृद्दूरोल्लसत्पाटलम्।
श्रीपद्माङ्घ्रियुग जिनस्य दधदप्यम्भोजसाम्य रज-
स्त्यक्त जाड्यहर पर भवतु नश्चेतोऽर्पितं शर्मणे ॥४॥

(२३) प्रभु चरणकमलकी भक्तिके प्रसादसे पापक्षय व आत्मरक्षाकी भावना—

इस ग्रन्थमे जो व्यवहारमे आसके, जो लक्ष्यमे ले जाय ऐसे धर्मका वर्णन होगा। यह धर्म किसीका धर्म नही, किन्तु जीवका धर्म, आत्माका धर्म, प्राणियोका धर्म है। जो इस पर चलेगा, वह ससारके सकटोसे छूटेगा। उस धर्मकी व्याख्यासे पहले मंगलाचरणमे शेष तीन छद और रह गए है; इसके बाद धर्मका बहुत ही उपयोगी वर्णन होगा जो कि श्रावकोके लिए उपयोगी, साधकोके लिए उपयोगी है। निश्चय और व्यवहारका समन्वय, अध्यात्म और क्रियाकलापका समन्वय प्रसिद्ध करने वाले ग्रन्थकी प्रस्तावनामे तीन और मगलाचरण रह गए है, जिनमे इस छदमे अलंकारके ढगसे यह कह रहे हैं कि प्रभुके ये चरणकमल जिनमे हमने

चित्त अर्पित किया है वे सुख शांतिके लिए होवें। कैसे है प्रभुके चरणकमल, जिनके चरणोंमे इन्द्रोने नमस्कार किया, तो नमस्कार करते समय उनके मुकुटोंकी शिखामें जो रत्न लगे थे, उनकी आभा उदित सूर्य जैसी कुछ लाल कुछ श्वेत, ऐसी जो वहाँ तेज आभा थी उस आभाके द्वारा जिसके चरणकमल कमलकी तरह पद्मवर्णके हो गए, जिसे पद्मलेश्या बोलते है और जिनके चरणकमलोमे इन्द्रने किया ना नमस्कार तो इन्द्रके नेत्र वहाँ झलके प्रतिबिम्बित हुए, सो ऐसा मालूम होता था कि जैसे कमलपर भंवरा आ गया हो। आँख होती ना कृष्णवर्णकी और वे चरणकमल थे पद्मवर्णके, वहाँ आँख झलकी तो ऐसा मालूम पडा कि जैसे भ्रमर आ गया हो। केवल अंतः आनन्दमग्न होकर, प्रभुकी भक्तिमें ओतप्रोत होकर एक प्रशंसा कर रहे है कि प्रभुके चरणकमल श्रीनिवास होनेसे कमलवत् है। इस प्रकार अलकारमे कह रहे हैं, जैसे कमलमे श्रीका (लक्ष्मीका) निवास होता है—बताया है जम्बूद्वीपके पद्मादि ह्रदोंके मुख्य कमलपर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी ये निवास करती हैं, तो उनको देखकर इस वनस्पतिकायके कमलोमे भी लोगोंकी आस्था है कि यहाँ लक्ष्मीका निवास है, मायने वे कमल श्रीके घर है। तो जिसके चरणकमल कमलकी उपमाको धारण कर रहे, वे हम आप सबकी रक्षा करें याने उनमे हमने अपना चित्त आकर्षित किया है, जिसके प्रसादसे हमारे पाप दूर हो। तो देखो कमलकी तरह बताये प्रभुके चरणकमल, लेकिन दो विशेषतायें हैं कमलसे अधिक, क्या कि कमलके साथ कीचड लगा रहता, पर ये चरणकमल रजसे दूर है, और दूसरी बात चरणकमल जड होता है पर प्रभुचरण जडताको हरने वाले है। ऐसे प्रभुके चरण कमलमे जिसने चित्त आकर्षित किया है उसके सर्व पाप समाप्त होते है, सो मेरे भी सर्व पाप समाप्त होवें।

(२४) प्रभुभक्तिमें अध्यात्म व व्यवहारभक्ति—

देखिये—भक्ति अध्यात्मकी की जा रही थी। प्रभुके जो भीतरी आत्माके गुण हैं महान् ज्ञान होना, आनन्द होना, शक्ति होना आदि उनका वर्णन तो किया ही जा रहा था, मगर भक्ति विशेष जहाँ होती है वहाँ अध्यात्मका स्तवन होता है और बाह्य भी स्तवन होता है। जैसे कोई गुरुपर तो खूब प्रसन्न हो, बडी भक्ति करे, उनसे उपकार भी ले, उपदेश भी ले और उनके आध्यात्मिक गुणोका चिन्तवन भी करे, किन्तु उनके शरीरकी सेवा न करे तो वह गुरुसेवा नही कहलाती है, किन्तु जो भक्त है वह अध्यात्मकी सेवा भी करता और बाह्य सेवा भी करता। जैसे कभी-कभी कोई महिलायें कहने लगती कि महाराज जी हम लोगोंका तो ऐसा दुर्भाग्य है कि आप सब साधु-संतोकी कोई सेवा नही कर सकती। न कुछ तेल मल

सकें, न छू सकें, न कुछ वैयावृत्ति कर सकें, तो हम (प्रवक्ता) तो उनसे कहते है कि तुम लोगोकी सेवा पुरुषोसे अधिक है। मान लो पुरुष लोग शरीरको बहुत-बहुत दाबें, पर आप लोग यदि भोजन बनानेकी हडताल कर दो तो क्या हम लोग जीवित भी रह सकेंगे। शरीर को दाबनेकी सेवा न हो, इसके बिना तो जीवित रह जायेंगे, पर भोजन बिना कैसे जीवित रह सकेंगे तो बताओ किसकी सेवा बडी कहलायी ? माताओकी।

(२५) आध्यात्मिक और बाह्य भक्तिका एक उदाहरण—

जैसे आप अपने किसी मित्रके पास बैठे है और उस मित्रके कुर्तापर चढ़ जाय खटमल, तो आप उसे पकड़कर बाहर फेंकते कि नही ? तो वह किसकी सेवा है ? मित्रकी या उस कुर्ताकी ? मित्रकी ही सेवा है। अब कोई कहे कि आपको इस कुर्तासे, इस खटमलसे क्या मतलब ? आप तो दोस्तसे बात करो। तो भाई भीतरी सेवाके साथ साथ ऊपरी सेवा भी करनी पडती। यह अन्तर्बाह्य सेवा तब तक है जब तक निर्विकल्प स्थिति न हो। तो प्रभुके स्तवनमे कह रहे कि प्रभुके चरण-कमल। देखो चरणकमलकी सेवा क्यो करते, मस्तककमलकी सेवा क्यो नही करते ? यह मस्तककमल तो सबसे ऊँचा है ? क्यो भाई मस्तक बडा कि चरण बडे ? मस्तक बड़ा, फिर नमस्कार मस्तकका क्यो नही करते; पैरोका क्यो करते ? यहाँ भी तो जैसे कोई त्यागी या मुनिजनोके प्रति अपनी भक्ति दिखाते तो मुनिके मस्तकमे हाथ लगाकर तो कोई नमस्कार नही करता, पैरोमे ही सभी लोग नमस्कार करते। तो पैर बडे कि मस्तक ? बडा तो मस्तक है। उत्तम अग तो सिर कहलाता है। मगर भक्ति यह बतलाती है कि जो सारे शरीरका तुच्छ अग हो उसका नमस्कार हुआ तो सबका नमस्कार हो गया। शरीरमे पैर सबसे तुच्छ अंग है याने उसमे और क्या बात है ? वहाँ पैरोमे तो केवल एक स्पर्शनइन्द्रिय है और शिरमे तो पचेन्द्रियाँ पायी जाती और मनसे भी काम होता है और प्रभाव भी होता है और पैरोमे कुछ भी बात नही, मगर वह भक्ति यह बतलाती है कि जब हल्के अङ्गका, छोटेसे छोटे अगका नमस्कार किया तो उसमे भक्ति-विशेष समझना चाहिए कि नही। तो मगलाचरणमे चरणकमलकी बात आती है। भगवान के चरणकमल मेरे चित्तमे विराजें। मैंने अपने चित्तको भगवानके चरणोमे अर्पित किया, वह मेरे सुखके लिए होवे।

जयति जगदधीशः शान्तिनाथो यदीयं स्मृतमपि हि जनानां पापतापोपशान्त्यै।
विबुधकुलकिरीटप्रस्फुरन्नीलरत्नद्युतिचलमधुपालीचुम्बित पादपद्मम् ॥ ५ ॥

(२६) जगन्नाथ शान्तिप्रभुकी उपासना—

कहते है कि जगतके अधीश शान्तिनाथ भगवान जिनके चरणकमलका स्मरण भी हो तो स्मरण होते ही पाप तापकी शान्ति हो जाती है। यहाँ एक विशेषण कितना महत्त्वशाली दिया है—शान्तिनाथ भगवान जगतके नाथ है याने जगन्नाथ है। शान्तिनाथका दूसरा नाम है जगन्नाथ। क्योकि ये चक्रवर्ती थे अर्थात् छहखण्डके ये अधिपति थे। तो वे जगतके नाथ कहलाते थे, जगन्नाथका मन्दिर बना है उडीसा प्रान्तमे, जिसे जगन्नाथपुरी कहते है। वह जगन्नाथका ही मन्दिर है, शान्तिनाथका ही मन्दिर है। उसको देखने जायें तो वीतरागता व निर्ग्रन्थताके कुछ चिह्न अब भी मिलेंगे। आज वह जिन लोगोके अधिकारमे है वे भक्ति कर अपनेको धन्य मानते है। बद्रीनाथमे भी भगवान आदिनाथका मदिर है। जो लोग देखकर आये वे बताते है कि वहाँ आदिनाथ भगवानकी मूर्ति है, भक्तोंने उसके ऊपर एक और ढाचा चढा रखा है। चारो धामकी बात देख लो, गुजरातमे सोमनाथ मदिर है वह भी चंद्रप्रभुका मन्दिर है। बताते है कि जब उसको दुबारा बनानेके लिए कोई नीव खोदी गई तो उसमे जो शिलाखड मिला उसके अनुसार पता चला कि यह चन्द्रप्रभुका मन्दिर है। देशमे सभी जगह कभी दि० वीतरागधर्मकी बडी प्रभावना थी, पर ये अहिंसाके पुजारी इतने सरल बन गए कि अन्याय करने वालोका अन्याय देखते रहे और चुप रहे। अपना उपास्य अपने अधिकारमे न रहा। खैर जो हुआ सो हुआ, मगर उसकी सच्ची जानकारी जब हो जाती है तो इस वीतरागशासनकी महत्ताका पता पडता है।

(२७) जैनशासनमे एक मजहबका न होकर सभी मजहबोंका समावेश—

यह जैनशासन कोई एक मजहबका शासन नही है कि वैश्योका हो या ब्राह्मणोका हो या क्षत्रियोका हो या शूद्रोका हो। यह तो एक आत्मशासन है। जिन्हे संसारके सकटोसे छुटकारा पाना है उन्हे सोचना पडेगा अपने आपका सत्य स्वरूप। उसका ज्ञान करें, उसमे रम जायें, बस ससारके सकटोसे छुटकारा मिलेगा। बस यह प्रमुख उपदेश है जिनेन्द्र देवका याने रागद्वेषको जीतने वाले वीतराग प्रभुका। तो जिनका भवितव्य अच्छा होता है, जिनकी मुक्ति निकट होती है वे वस्तुस्वरूपको बताने वाले इस शासनके मार्ग द्वारा अपने आपके कर्मोंका विनाश करते है। देखो ज्ञानकी दिशा स्याद्वादने बतायी है और चारित्रकी दिशा अहिंसाने। यो हुआ आत्मसम्बन्धित श्रद्धान ज्ञान आचरण। आत्मसम्बन्धित जो सत्य है सो मानो। जो कहा सो मानो, ऐसी बात नही, किन्तु जो सत्य है उसको मान लो। अच्छा देखलो जगतमे जितने पदार्थ हैं वे सारे पदार्थ सत् है ना ? है। तो जो है उसे किसीने बनाया नही। है, तो सब अपने आप हैं। तब ही तो भगवद्गीतामे लिखा है—"नासतो विद्यते

भाव: नाभावो विद्यते सत:" याने जो सत् है उसका कभी अभाव नही होता और जो असत् है उसका कभी सद्भाव नही होता। जब कोई चीज अनादिसे है तो यह भी नजर आ रहा कि इसमें परिणतिया नई बनती है, पुरानी विलीन होती है। दृश्य पदार्थोंमे तो स्पष्ट उत्पाद व्यय होता नजर आ रहा।

(२८) जैनशासनके मुख्य दो सूत्रोंकी व्याख्या—

जैनशासनमे मुख्य दो सूत्रोसे आप सब समझ लेंगे—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:"। ससारके दुःखोसे छूटनेका उपाय आत्माका श्रद्धान, आत्माका ज्ञान और आत्मा मे रमण है। दूसरा—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् जगतमे जो कुछ भी है वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। कही भी रचमात्र भी इसमे अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदिक कोई दोप नही आते। उस वस्तुस्वरूपके आधारपर अपने कल्याणका रास्ता अपनाओ। इसमे किसीके कुछ भी पक्षकी बात रच भी नही है। आप अपने आत्माको सोचो। आत्माको देखो आत्मामे रहो, आत्मामे तृप्त हो बस आपने धर्म पाया। तो प्रभु शान्तिनाथ जो जगतके अधीश है, जिनके चरणकमलका स्मरण भी हो तो पापसंतानोकी शान्ति होती है। कैसे है वे चरण-कमल कि जिन्हे बडे-बडे देवेन्द्रोने नमस्कार किया, उनके मुकुटोमे लगे हुए नील रत्न थे उनकी द्युति ऐसी थी जैसे मालूम होता कि भ्रमरोके समूह द्वारा चरणकमल छुवे जा रहे है, एक अलकारमे कवि कह रहा कि ऐसे हैं प्रभुके चरणकमल जिनका स्मरण करनेसे पाप दूर होते है, वे शान्तिनाथ प्रभु हमे शान्ति प्रदान करें।

स जयति जिनदेव सर्वविद्विश्वनाथो वितथवचनहेतुक्रोधलोभादिमुक्तः।
शिवपुरपथपान्थप्राणिपाथेयमुच्चैर्जनितपरमशर्मा येन धर्मोऽभ्युदायि ॥६॥

(२९) विश्वनाथ सर्वज्ञ जिनदेवका जयवाद—

कहते हैं सर्वज्ञ विश्वनाथ जिनदेव जयवन्त हों। कैसे है वे कि मिथ्यावचनके हेतु-भूत कषायसे मुक्त है। मिथ्या वचन कहनेके कारण क्या होते ? क्रोध, मान, माया, लोभा-दिक। क्रोध आये तो कोई झूठ बोल सकता, लोभ हो तो झूठ बोल सकता, तो इसका तो प्राय. सभीको अनुभव होगा। क्रोधमे झूठ बोल आता कि नही। लोभमे भी, मानमें भी और मायाचारमे भी झूठ बोल आता। तो कहते है कि झूठ बोलनेके कारणभूत जो कषायें हैं ये प्रभुमे नही रह गयी। जो अकषाय हो गए ऐसे वे विश्वनाथ सर्वज्ञदेव जयवन्त हो, जिन्होने आत्माके उद्धारका साधन यथार्थ धर्म बताया। देखो वीतराग हुए, सर्वज्ञ हुए, उनके द्वारा जो उपदेश हुआ, दिव्यध्वनि निकली उसमे मिथ्यापनकी सम्भावना नही हो सकती, क्योकि

झूठ बोलनेकी बात दो कारणोसे होती। एक तो ज्ञान कम होनेसे वह झूठ बोलेगा। दूसरे कषायें होगी तो वह दूषित अभिप्रायसे झूठ बोलेगा याने समझते हुए भी कि यह बात ठीक नही है, फिर भी बोल उठेगा। मानो जिसके कषाय तो नही है, मगर ज्ञान नही है, अज्ञान छाया है तो वह अज्ञानवश मिथ्या बोलेगा। तो जहाँ कषाय नही, अज्ञान नही याने जो सर्वज्ञ है, वीतराग है, उसने जो बताया है उसमे मिथ्यापनकी सम्भावना नही है। उस परम्परासे चला आया हुआ जो धर्मका उपदेश है वह कहा जायगा, बडी अच्छी युक्तिसे कहा जायगा। उस धर्मका स्वरूप समझकर हम आपको उसपर चलना चाहिए। और, कोई थोड़ा भी सोच ले कि इस ससारमे विभाववश जिंदगी बितानेसे क्या लाभ है ? आहार, निद्रा, भय, मैथुन, परिग्रह आदिक खोटे अभिप्रायोमे जिन्दगी बितानेसे क्या लाभ है ? इन 'खोटी बातोसे विरक्त हो और अपने आपकी ओर आयें, ऐसी जिसकी भावना हो जाय उसके लिए ये सब कर सकने योग्य बातें हैं जो बतायी जायेंगी। इसी कारण इसमे श्रावकधर्मका व्याख्यान बहुत ही उपयोगी व्याख्यान है। यहाँ अध्यात्ममे सावधान कराते हुए बताया है कि श्रावकोको, सद्‌गृहस्थोको कैसी प्रवृत्तिसे चलना चाहिए। विश्वनाथ जिनेन्द्र जयवन्त हो जो कषायोसे मुक्त है, जिस कारणसे उनके उपदेशमे मिथ्या बात आनेकी सम्भावना ही नही है। और कैसा है वह धर्म ? इसका स्मरण मोक्षनगरीके मार्गपर चलने वाले पुरुषोके लिए पाथेयकी तरह है।

(३०) **विश्वनाथ सर्वज्ञ जिनदेवके जयवादका एक उदाहरण**—जैसे कोई मुसाफिरी करता है तो सगमे कुछ खाने-पीने, पहिनने-ओढने आदिकी आवश्यक चीजें साथमे रख लेता है तो वह अपनी मुसाफिरी अच्छी तरहसे कर लेता है इसी तरह धर्मका उपदेश यदि साथ है तो मोक्षमे जानेके लिये भली प्रकार उस शिवपथपर चल सकता है। तो ऐसे है ये जिनेन्द्रदेव जो बडे उत्कृष्ट रूपसे परम आनन्दको प्राप्त कर चुके हैं। देखो कोई मुसाफिर कही जा रहे और बीचमे पडी नदी, तो कुछ मुसाफिर नदीके उस पार भी पहुच गए, सो जो नदी पार कर चुके उन मुसाफिरोको यह अधिकार है कि उस दूसरी पार रहने वालोको रास्ता बता दें कि देखो इस इस तरफसे आना। और जो नदीके इसी किनारे खडा हो जिसे उस पार जाना है उसका उपदेश कोई प्रमाणीक मानेगा क्या कि यहाँसे जावो। हाँ, जो चलकर उस पार गया है और प्रयोजनवश इस किनारे आया तो इस किनारे खडेकी बात थोडी बहुत मानी जायगी। मगर जो इस समय पहुच गया दूसरे किनारेपर वह समझाता है कि इस इस रास्ते से आवो तो उसकी बात पूर्ण प्रमाणित है। यो ही ससार एक नदी है, इसको पार कर

लिया है भगवानने । तो उनको यह अधिकार है कि वे संसारनदीके तटपर या मझधारमे रहने वाले लोगोको उपदेश देते है कि तुम इस रास्तेसे आवो तो तुम संसारके दूसरे किनारेपर, मुक्तिके किनारेपर पहुंच जावोगे । तो भगवान वीतराग है और उन्होने अनन्त आनन्द प्राप्त किया है तो उनका जो सहज उपदेश चलता है, दिव्यध्वनि चलती है, जिसे गणधर, बडे-बडे ऊंचे ज्ञानी पुरुष समझाते है और यो मुनियोंका जो उपदेश है वह उपदेशपरंपरा जगतके जीवो को सच्चाईका मार्ग बताती है कि इस रास्तेसे चलो । तो इसी परंपरासे समागत धर्मका व्याख्यान चलेगा । आगे धर्म क्या है, धर्मको कैसे निभाना चाहिए । व्यवहार्य और प्रयोज्य शैलीसे इसमे वर्णन है तो उस धर्मके उपदेशका अधिकार प्रभुको है ।

(३१) विश्वनाथ सर्वज्ञदेवके जयवादका स्पष्टीकरण—

प्रभुत्व स्पष्टतया बतानेके लिए इस मंगलाचरणमें ये दो तीन विशेषण दिये कि प्रभु कषायोसे मुक्त है और उन्होने अनन्त आनन्द प्राप्त कर लिया है, इसी कारण इनके बताये हुए धर्ममे यथार्थता है और उस प्रकारसे जो चलेगा वह पार हो जायगा । देखो कुछ नामसे काम न बनेगा कि कोई सोचे कि किसीको जैन बना लिया और जैनोकी सख्या बढी तो उद्धार हो जायगा । नामकी कोई बात नही है वस्तुत: यह बात सोचना चाहिए कि जगतके जीवोको वस्तुका यथार्थस्वरूप ज्ञात हो जाय और उस स्वरूपके अनुसार फिर वे अपने आपमे अपने स्वरूपको प्रयोगमे लें, उसको जानें, उसमे रमण करें, यह बात प्राप्त होगी तो उनको मोक्षमार्ग मिल जायगा । अब उसका नाम कुछ भी रख लो । चूंकि व्यवहारमे कुछ न कुछ नाम रखे बिना काम नही चलता इसलिए कुछ तो नाम रखना ही पडेगा, पर जो भी नाम रखा जायगा कुछ समय बाद वही पक्षका नाम कहलाने लगेगा । धर्म तो वास्तवमे आत्मव्यवहारसे सभीके लिए है । जो यथार्थ है पक्षरहित है जरा कुछ विचार करके उसका नाम तो धरो । मान लो नाम धरा आपने निष्पक्ष । तो उस निष्पक्ष धर्मके मानने वाले कुछ होगे कुछ नही होगे, कुछ तो अज्ञानतावश उसे समझेगे ही नही तो वह निष्पक्ष धर्म भी एक सम्प्रदाय जैसा बन जायगा । यह ही बात तो यहाँ घटित होती ।

(३२) जैनशासनका अर्थ—

जैन शासनके मायने क्या है ? जो रागद्वेषादिक कर्मशत्रुओको जीतें उनका नाम है जिन । जयति इति जिनः । इसमें कोई व्यक्ति नही आया और ऐसे जिनेन्द्र याने जो वीतराग हो चुके ऐसे आत्मा जो ससारके उपकारके लिए मार्ग बतायें उसका नाम है जैनशासन । यह शब्द निष्पक्ष है, लेकिन यह भी अब एक मजहबके रूपमें माना जाने लगा । वस्तुत जैन-

शासन कोई अलगसे किसी वर्णका धर्म नही है, किन्तु जो आत्महित चाहे उसका शासन है।

(३३) आत्महितकी भावनासे धर्मतत्त्व सुननेमे लाभ—

भैया ! जो अब वर्णन आयगा उस वर्णनको एक आत्महितके नातेसे सुनना है। यह पक्ष न करें कि यह मेरे ग्रन्थमें लिखा है, यह मेरे धर्मके आचार्यने कहा है, इस नातेसे न सुनना, किन्तु यह आत्माके हितकी बात, उपदेशकी बात कही जा रही है उसे हमें अपने आपके आत्माके हितके लिए सुनना है ऐसा भाव रखकर उसको सुनियेगा। सुनकर उसे अपने हृदयमे धारण करें और जीवनमें उसको कुछ न कुछ अपनानेकी प्रवृत्ति बनायें। तो इससे जीवन अच्छा बीतेगा। और इसमें कोई कष्ट नही होता, बल्कि आनन्द आयगा। भाव की ही तो बात है, जिसके भाव बढिया बन गए उनको बाह्य प्रवृत्ति कोई कष्टकारी न लगेगी ये व्रत, तप, सयम कुछ भी कष्टकारी न लगेंगे। वृत्ति एक रूटीन जैसी बन जायगी। भावना प्रधान है। भावना ही तो बनाना है, उस ज्ञानसे ही कषायोको जीतना है, उस ज्ञानसे ही प्राणियोमें एक अनुग्रहबुद्धि रखना है इसमें ही सहज परमात्मस्वरूपके दर्शन करना है। सब भावनाप्रधान बात है, अपने भाव विशुद्ध बनावें। और यहाँ भावकी बात है और सच्चाईकी भी बात है, वैसे कोई-कोई खेल ऐसे होते कि जिनमे भाव भावकी बात रह जाती और सच्चाई कुछ नही रहती, मगर यह धर्मभावकी बात है और सच्चाईकी भी बात है, जहाँ दोनो ही बातें है वह केवल भावको ही करनेकी बात है तो फिर उस भावको करनेमें कजूसी क्यो करते ? क्यो नही करते विशुद्ध भाव ? क्यो नही करते उदार भाव ? ऐसे उत्तम भाव बनानेका पौरुष करें तो अपने जीवनमें एक अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा। देखा होगा कि ये छोटे छोटे बच्चे जब पगतका खेल खेलते हैं तो वे कुछ पत्तियां परोसते है और कहते हैं लो रोटी, कुछ ककड परोसते तो कहते लो गुड। अरे बच्चो जब तुम्हे भाव ही बनाना है तो वहाँ भाव बनानेमें कंजूसी क्यो करते ? पत्तियोको रोटी क्यो कहते ? उन्हे पूडी कचौडी अथवा खजला कह कर क्यो नही परोसते ? अथवा ककडोको गुड न कहकर रसगुल्ला, पेडा, लड्डू आदि कह कर क्यो नही परोसते ? वहाँ एक भावोकी ही तो बात है, तो वह तो उन बच्चोका एक खेल है। यहाँ यथार्थता है। देखो जब भावोसे ही धर्म मिलेगा, भावोंसे ही आत्माकी उन्नति होगी तो फिर उन भावोके बनानेमें क्यो दीन बनते ? क्यो न उत्कृष्ट भाव बनायें, क्यों न कषायोको दूर करें, क्यो न सबपर दया करें, क्यो न सबके प्रति वात्सल्यभाव बनायें, क्यो न अपने अन्दरसे घृणाका भाव मिटा दें। आप धर्मकी व्याख्यामें ये सब बातें पायेंगे जो हम आप सबको अपने जीवनमें कर सकने लायक बाते हैं, ऐसे धर्मका व्याख्यान

इस प्रकरणसे प्रारम्भ होगा।

धर्मो जीवदया गृहस्थयमिनोर्भेदाद् द्विधा च त्रयम्,
रत्नाना परम तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्तत ।
मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता वागङ्गसगोज्झिता,
शुद्धानन्दमयात्मन परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ।। ७ ।।

(३४) धर्मकी प्रथम परिभाषा जीवदया—

प्राय· सभी लोग कहते है कि धर्म बिना कोई नही अपना, धर्म ही अपना शरण है, धर्मसे ही सुख प्राप्त होता है। धर्मसे ही मुक्ति मिलती है। तो धर्म क्या चीज है ? उसके विषयमे यहाँ इस ढगसे वर्णन कर रहे है, जो प्राथमिकतासे लेकर अन्त तक निभे। धर्म नाम है जीवदयाका। सर्वप्रथम शब्द आचार्यदेवने यह दिया—धर्मो जीवदया। सोचो जो पुरुष जीवदयाके भाव नही रखता और क्रूरताके भाव रखता है उसमे कभी भी निर्मलता आ सकती क्या ? कि जो निश्चयधर्मका पात्र बन सके। जो वर्णन धर्मके विषयमे चल रहा है, ध्यानसे समझनेकी बात है। भावुकतामे आकर इस प्रकारका प्रारम्भ करना कि जीवकी दया करना विकल्प है, पाप है, हिंसा है, यह एक बेतुका वर्णन होता है। यद्यपि एक दृष्टि यह है कि धर्मकी पूर्णता और निश्चयसे धर्मकी परिणति मोहक्षोभरहित आनन्दमय परिणति होती है, लेकिन तीर्थका बिगाड देना, जिससे लोगोमे स्वच्छंदता आये ऐसे वचनोका प्रयोग आचार्योने तो कही नही किया है। समझ लेना चाहिए और समझकर आगे बढना चाहिए। जैसे हिंसा अशुभभाव है। जीवदया शुभ भाव है, उससे बढकर और चलना चाहिए। शुभ अशुभसे परे होकर मोहक्षोभरहित आनन्दमय परिणति हो, मगर शब्द इतने कटु न होना चाहिए कि जिसे आचार्योने वीतराग सत महर्षियोने न पसद किया न कही प्रयोग किया।

(३५) आचार्यदेवके उपदेशके अनुसार धर्मका प्रथम अर्थ—

सर्वप्रथम आचार्यदेव यह कहते है कि धर्म जीवदया है। देखिये ससारके सभी प्राणियोको तो उपदेश है कही भगवानको उपदेश नही है, यदि सर्वको उपदेश देनेमे एक निश्चयकी ही बात रटनमे हो, तो फिर और लोग कैसे धर्ममार्गमे आ सकेंगे तीर्थप्रवृत्ति कैसे बनेगी, वह क्या क्रमभग नही है। यहाँ धर्मकी परिभाषाओमें सर्वप्रथम बात कही है जीवदया धर्म है। देखना क्रम कितना अच्छा है जिसके बिना सब सूना है। दयाशून्य कोई पुरुष हो क्रूर चित्त हो तो उसका नाम लेना भी कोई नही पसद करता, उसे असगुन माना जाता है।

और बताया गया कि कोई पुरुष अगर दयासे सहित है और कदाचित् व्रती भी न बने तो भी उसको स्वर्गमे उत्पन्न होने से कोई निवारण नही कर सकता। और कोई पुरुष व्रत पालन भी करता है मगर दयारहित हृदय है तो उसे स्वर्ग मिलना बहुत कठिन है। एक तीर्थप्रवृत्तिके लिए जो बात चलती है उसका प्रारम्भ किया जा रहा है। धर्म क्या है ? जीव दया और इसी कारण सभी आचार्य संतोने भी जीवदयाको प्रधानतासे धर्म कहा।

(३६) धर्मकी द्वितीयपरिभाषा गृहस्थधर्म व मुनिधर्मका सदाचार—

अच्छा, जीवदया धर्म है। इस ही धर्मको अब आगे और बढायें तो किस तरह बढायें ? बात तो कही जा रही है कि वह धर्म दो प्रकारका है—(१) गृहस्थधर्म और (२) मुनिधर्म। गृहस्थधर्मकी प्रवृत्तियोमे भी जीवदया मिलेगी और मुनिधर्मकी प्रवृत्तियोमें भी जीवदया मिलेगी, इसलिए उसके बाद तत्काल ये दो भेद बताये—गृहस्थधर्म और मुनिधर्म याने जो घरमें रहते है लोग उनकी कैसी प्रवृत्ति होनी चाहिए, कैसा भाव होना चाहिए, कैसा हृदय होना चाहिए, यह सब वर्णन आगे आयेगा। और जो मुनिजन है उनकी कैसी प्रवृत्ति और कैसी वृत्ति और कैसा भाव होना चाहिए, यह भी वर्णन आगे आयेगा। लोग दो भागोमें बटे हुए है—गृहस्थ और मुनि, श्रावक और मुनि, यो कहो। तो उन सबको किस ढगसे अपना प्रवर्तन करना चाहिए वह सब इस धर्ममें कहा जायगा।

(३७) धर्मकी तृतीय परिभाषा रत्नत्रयात्मक धर्म—

इससे अब और आगे बढें तो रत्नत्रय धर्म है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र यह धर्म है। इतनी अद्भुत अनुकम्पा है आचार्य संतोकी कि वे अपने अपने पदके अनुसार, परिस्थितिके अनुसार वे क्या पालन करें और किस तरहसे धर्ममें बढें, वह बात ढगसे कही जा रही है। रत्नत्रय क्या ? अपने आत्माके सहजस्वरूपका श्रद्धान। मैं यह हू चैतन्यस्वरूप, केवल परसम्बन्ध बिना अपनी ही सत्ताके कारण जो मेरेमें नित्यभाव है तद्रूप मैं हू। यह हू मैं। निषेध रूपमें चलें तो देह मै नही, कषाय मैं नही, कर्म मैं नही, परिवार मैं नहीं, घर मैं नही। देखो कोई अगर थोडा भी विवेक करके शब्दोका अर्थ जाने तो यही उत्तर मिल जायगा। लोग कहते हैं कि यह मेरा पुत्र है, कोई यह तो नही बोलता कि यह पुत्र मैं हू। मेरा घर है, कोई यो तो नही कहता कि यह घर मैं हू। तो उनकी ही बात यह बतलाती है कि घर घर है मैं मैं हू, घर मेरा है। यह ही तो अर्थ निकला कि घर मैं हो गया ? पुत्र पुत्र है, मैं मैं हू, पुत्र मेरा है, तो उसके ही बोलनेमे कमसे कम इतना बचाव तो हो गया कि उस परवस्तुको आत्मारूपसे नही मानता, लेकिन बचाव कुछ नही है। ममकार

करे कोई तो और परको आत्मारूपसे माने तो वह सब एक ही परिस्थितिकी बात है। मिथ्याभाव है। यह हठ थोडे ही चाहिए कि इन परिजनोसे या इस घरसे मैं अपने को अलग समझ लूं, पृथक् अपना अनुभव करूं। बाह्य पदार्थोंमे आत्मबुद्धि रखना मिथ्यादर्शन है और आत्माके सहज स्वभावमे यह मैं हू इस प्रकारकी प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है और ऐसा ही ज्ञान बनाये रहिए बस यह ही ज्ञान और चारित्र है यही है रत्नत्रय धर्म।

(३८) धर्मकी चतुर्थ परिभाषा उत्तमक्षमादिक दशलक्षण धर्म—

इससे और विस्तारमे चलें तो जो क्षमादिक १० प्रकारके परिणाम है सो धर्म है, क्षमा—क्रोध न आना, मार्दव-घमड न होना, आर्जव—छल कपट न होना, शौच-शुचि-पवित्रता जगना याने लोभ न होना, सत्य—सच्चाई आना, संयम—प्राणिसयम और विषयविरति इन्द्रियसयम प्रकट होना, तप—इच्छाओका निरोध, त्याग—परका त्याग, आकिंचन्य—मेरा कही कुछ नही, इस प्रकारका श्रद्धान होना, ब्रह्मचर्य—आत्मस्वरूपमे स्थित होना, ये १० प्रकारके भाव, ये धर्म है। ये अलग-अलग धर्म नही है। धर्म एक ही है। तब ही तो तत्त्वार्थ सूत्रमे जो सूत्र आया है "उत्तम क्षमा मार्दवार्जव, शौच सत्य सयमतप त्यागाकिञ्चन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः" यहाँ प्रथमपदमे तो बहुवचनका प्रयोग है और धर्म, यह एक वचनका प्रयोग है। तो कषाय न होना धर्म है सीधे बात यह आयी। अहकार न हो, कषाये न हो तो वह धर्म है। सब जानते है कि कषाय अधर्म है, क्रोध अधर्म है। क्रोधसे अशान्ति पैदा होती है। मान, माया, लोभसे अशान्ति पैदा होती है। तो कषायोका परित्याग धर्म है।

(३९) धर्मकी अन्तिम परिभाषा मोहक्षोभरहित शुद्धानन्द परिणतिरूप धर्म—

चार प्रकारसे धर्मकी व्याख्या बताकर और आगे बढे, तो क्या समझे कि जो मोहसे विकल्प उठा करते है वे विकल्प जहाँ न हो, मोह न हो और मन, वचन, काय इनका सयोग जहाँ नही, इनका सग नही, परिग्रह नही, इनका उपयोग नही, ऐसी शुद्ध आनन्दमय जो आत्माकी परिणति है सो धर्म नामसे कहा जाता है। चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्धिट्टो। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो। मोह और क्षोभसे रहित आत्मामे जो एक निष्कम्प, निश्चिन्त, निर्विकल्प ज्ञाता द्दष्टाकी स्थिति होती है वह धर्म है।

(४०) धर्ममार्गमे चलने वालोंका पदानुसार प्रायोगिकरूप—

धर्म तो निर्विकल्प समाधि है निश्चयतः मगर लोग किस किस प्रकारसे प्रवृत्तिमें क्या क्या बढते जाते उस क्रमसे बताया प्रारम्भमे कि जीवदया धर्म है और देखो जीव दया करनेके लिए लोगोको जीवकी समझ बनाना जरूरी है। जीव कहाँ कहाँ होते, किस किस

जगह होते, तब तो जीवदया कर सकते। कहते हैं ना—"दया दया सब कोई कहे, दया न जाने कोय। जीव जाति जाने बिना, दया कहाँ ते होय।।" कहाँ कहाँ जीव होते है, यह समझ बनाना जरूरी है। पृथ्वी जीव है, यह ऊपरकी पृथ्वी नही, किन्तु जो खान है, जमीन है, भीतर है वह पृथ्वी जीव है। इस पृथ्वीको मुनिजन कभी नही खोदते और गृहस्थजनोको इसको आवश्यकता पडती है। चूँकि गृहस्थधर्म एक अणुव्रत वाला धर्म है, छोटा देश व्रत है तो उनको यह उपदेश है कि इसकी खास जरूरत हो और उस नातेसे ही प्रयोजन बनता हो तो अपने प्रयोजनवश खोद लो। बिना प्रयोजन मत खोदो। जलमे जीव है। कौनसा जीव? एकेन्द्रिय जोवको बात कह रहे, वहाँ जो उसमे और कीडे मकौडे वगैरह है वे सब त्रस जीव है। वे तो जीव है ही। वे भी होते है और जल भी स्वय एकेन्द्रिय जीव है। लोग कहने लगते जिनको मास खानेकी आदत है, वे बडी युक्ति देते है कि देखो इन गेहू, चना, वगैरह अनाजोमे भी तो जीव होता है, उन्हे तुम भी तो खाते हो हम भी जीवका शरीर खाते, तुम भी जीवका शरीर खाते। मगर अन्तर बहुत है। एकेन्द्रिय जीवमे मास नही होता सर्वत्र देखलो और मासमे सतत् जीव पैदा होते रहते है। कच्चा मास हो तो, पक्का हो तो, उसमे निरन्तर जीव उत्पन्न होते रहते है। तो जो मासभक्षी लोग है वे जीवघाती होते हैं, और एकेन्द्रिय जीवका जो त्यक्त देह है, शरीर है वह एकेन्द्रिय न रहा, वह तो अत्यन्त निर्जीव है। काय है, वह तो पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय जो प्रयोगमे आता है, प्रासुक जल एकेन्द्रिय रहित है तो वह तो एक अजीव है, वहाँ तो क्या। जो सचित्त है, जो हरी वनस्पति है वहाँ भी मासका दोष नही होता। तो जीव जाति जाने बिना दयाका पालन कहाँसे हो? अब नही सधता गृहस्थोमे। वायु भी तो जीव है, पखा चलाते तो उसमे भी तो जीवका, वायुका घात है। अग्निमे जीव है। अग्नि स्वय जीव है, एकेन्द्रिय जीव और वनस्पति, पेड-पौधे, पत्ते, फल, फूल वगैरह ये भी जीव है। तब ही तो गृहस्थोको बताया है कि वे बिना प्रयोजन स्थावरका घात न करें। जैसे बहुतसे लोगोकी यह आदत होती है कि चले जा रहे, रास्तेमे कोई छोटे मोटे पेड पडे तो कही उनकी पत्तियाँ तोडते, कही डालियाँ, कही फूल आदि। तो गृहस्थोको बताया कि वे बिना प्रयोजन किसी जीवकी हिंसा न करें। गोभीका फूल तो सीधा मासरूप ही है, उसके अन्दरके जो छोटे छोटे कीटाणु हैं वे दूर नही किए जा सकते। बहुत दिनके पुराने सडे गले अचार उनमे भी जीव उत्पन्न हो जाते हैं। बाजारकी सडी गली चीजें, उनमे भी कीटाणु भरे होते हैं। बाजारमे बिकने वाली सडी गली चीजें सभी माँस दोष वाली है, क्योकि वे सब सस्ते सडे गले आटा, बेसन, मैदा आदि

से बनती है। जब गृहस्थोके कामके ये नही रहते, सड गल जाते तो उन्हे सस्ता मदा बेच देते, उनसे ये बाजारमे बिकने वाली चीजें बनती और फिर उनमे कोई स्वाद (रसीलापन) भी नही रहता। ऐसी ऐसी चीजें बनाई जाती है। तो जीव जाति पहिचानना चाहिए कि कहाँ-कहाँ किस-किस स्थितिमे है। जीवकी जाति पहचाननेके लिए जैनशासनमे बहुत विस्तारसे वर्णन है मार्गणा और गुणस्थानो द्वारा, जिसपर बहुत बडे-बडे शास्त्र रचे हुए है कि जीव कहाँ कहाँ हैं, किस ढगमे है। जीव किस तरहका है, क्या उसका अन्तर्भाव है, कैसी उसकी परिस्थिति है, मार्गणा और गुणस्थानो द्वारा जीवका वर्णन है। जीवन जाति जानें तो दया करनेका अधिकार बन पाता है। यह तो बात हमारी सबकी प्रवृत्तिमे होनी चाहिए, क्योकि यह तो प्रारम्भिक बात है, पर वास्तविक धर्म क्या है ? तो निश्चयसे तो मोह और रागद्वेष दोनो परिणाम जहाँ नही, मन, वचन, कायका जहाँ परिग्रह नही, ऐसी जो एक शुद्धआनन्दमय परिणति है, ज्ञाता दृष्टा रहनेकी परिणति है वह धर्म नामसे कही जाती है।

(४१) धर्मकी परिभाषाओमे सर्वप्रथम जीवदया कहनेका तथ्य—

इस छन्दमे जीवदया प्रथम रख रहे है और उसका कुछ छदो तक वर्णन चलेगा। जिसके हृदयमे जीव जीव सब एक समान है, सबका एक स्वरूप है, ऐसी बात चित्तमे बैठी हो तो उससे जीवदयाकी बात बनती है अन्यथा हृदयमे कोई भाव नही जीवदयाका और एक आदत या कुछ बात चल रही तो उसमे कितनी ही परिस्थितियाँ बन जाया करती है। पहले समयमे घर गोबरसे लिपा करता था। आजकल भी देहातोमे यह प्रथा चल रही है। तो लीपनेकी दो पद्धतिया हुआ करती है—एक तो नीचे गोबर रख दिया गया, उसमे थोडा थोडा पानी डालते जाना और लीपते जाना, दूसरा—किसी बडे हाडेमें गोबर या मिट्टीको पानीमें घोलकर लीपना। तो इस दूसरी विधिके अनुसार एक बुढिया अपना घर लीप रही थी। वह कुछ धार्मिक प्रकृतिकी थी। सो लीपते हुएमे वह कहती जाती थी "चीटी चीटी चढो पहार, तुम पर आयी गोबरकी धार। तुम न चढो तो तुम पर पाप, हम न कहे तो हम पर पाप।" अपनी एक रूटीन बना लिया, समझ लिया कि हमें दोप नही बनता। हमने कह दिया कि ऐ चीटियो तुम चढ जावो, कही छुप जावो देखो हम कह रहे है। अगर हम न कहे तो हमपर पाप लगेंगे और तुम न चढोगी तो तुमपर पाप लगेंगे। तो भाई जीव दया ऐसी सस्ती चीज नही होती। उसके लिए तो बडे अच्छे भाव भीने भाव चाहिए। और देखो—जीवदयाका आधार परमार्थत क्या है ? किसी जीवका किसी एक्सीडेन्टमें घातमें, दब जानेमें, किसी प्रकारकी बातमें उसका प्राणघात हो जाय तो वह सक्लेशसे मरेगा कि

नही। और सक्लेशसे जो जीव मरता है तो जिस गतिमे जीव है, जिस पर्यायमे जीव है उससे हल्की पर्याय वह पाता है। संक्लेश परिणामका यह ही फल हुआ करता है। तो मानो तीनइन्द्रिय जीव किसीसे कुचलकर मरा तो वह सक्लेशसे मरा तो तीनइन्द्रियसे दोइन्द्रिय बन गया, एकेन्द्रिय बन गया तो देखो वह अपने विकाससे पीछे हट गया ना ? तो पहला बिगाड तो यह हुआ और जो उसको तडफन हुई वह तो व्यवहारमे देखते ही है।

(४२) दयालुताका जयवाद—

जीवदयासे अपना चित्त भर लो, अन्यथा धर्मका ढोंग कहलायगा। जब बढ जावोगे विशेष और निर्विकल्प समाधि योग्य हो जावोगे तो सभी विकल्प हट जायेंगे, मगर जब तक ऐसी परिस्थिति है कि हम कितना ही अपनेमे मायाचार रखते, लोभ कषाय रखते तृष्णा रखते, परनिन्दा, आत्मप्रशसा आदिक कितने-कितने ही प्रसग रखते और वहा यह कहते कि दया करना तो अधर्म है, पाप है यह कहना कैसा प्रलाप है। यद्यपि दया आत्माका स्वरूप नही, स्वभाव नही, शुद्ध परिणति नही तो भी पाप तो नही है। अरे भाई सब अपनी अपनी स्थितिकी बात है। एक मुनि महाराजके सामने एक भील आ गया, उसने नमस्कार किया, कुछ अनुनय विनय किया और कहा—महाराज हमारे लिए भी कोई हित की बात बताओ। तो मुनि महाराज बोले—भाई तुम मास खाना छोड दो। तो वह भील बोला—महाराज यह तो मेरा जातीय पेशा है। इसके बिना तो मेरा गुजारा नही चल सकता। यह व्रत तो मेरे लिए बहुत कठिन है। हाँ मैं सब प्रकारके मास खाता हू। एक कौवेका मांस नही खाता तो उसका मास न खानेका नियम मेरे से चल सकता है और नही। तो मुनि महाराज बोले—अच्छा भाई तुम यही नियम रखो कि हम कभी कौवेका मास नही खायेंगे। ठीक है महाराज, यह तो मेरेसे निभ जायगा। एक बार वह भील बडा जटिल बीमार हो गया और डाक्टरोने उसे बताया कि यदि तू कौवाके मासका सेवन करे तो बच सकता है नही तो नही बच सकता। आखिर उस भीलने अपने लिए हुए नियमको नही तोडा, मरणको प्राप्त हुआ। मरकर वह अत्यन्त खोटी गतियोके बजाय किसी हल्की पर्यायको प्राप्त हुआ। तो सब लोगोके लिए आचार्य सतोकी करुणा है। यह कैसे धर्ममार्गमे लगे, कैसे आगे बढे, कैसे उस सिलसिलेसे, उस उपदेशसे अपना चित्त भरे। भाई दयाहीन मत बनो बस तृष्णाके वश होकर दूसरोपर दया न रखना, तो यहाँका सग कब तक साथ देगा और दयारहित जो चित्त है उसका फल आगे बहुत काल तक भोगना पडेगा। मानके वश होकर भी जीव दया नही करते। एक बहुत विकट कषाय है दूसरोको तुच्छ समझना। दूसरोको

तुच्छ समझे बिना मानकषाय कैसे बनेगा ? जो घमंड करता है उसकी दृष्टिमे अवश्य यह है कि ये सब कुछ नही है । मैं ही सब कुछ हू । तो आप सबको किस तरह देखें ? दूसरोको तुच्छ देखना यह तो दयाहीन हृदय वाले पुरुषोकी बात है । तो भाई अपने जीवनमे दयाशून्य न बनना चाहिए । दयालु बनो, कृपालु बनो । देखो विकास होगा । जो सही बात है, जो निश्चयधर्मकी बात है वह भी प्राप्त होगी । यहां सर्वप्रथम उपदेश आचार्य सतजन दे रहे है कि धर्मोजीवदया । अब जैसे १० सीढी चढ करके ऊपर जहां कही भी पहुचना है, मानो वह पहुच गया और उसने समझ लिया कि इस इस तरहसे सीढियोपर चढ-चढकर और छोड छोडकर हम ऊपर आये । अब वह ऊपर पहुचा हुआ व्यक्ति नीचे वाले लोगोसे कहे कि देखो सीढ़ी छोडनेसे हम ऊपर आये है । सीढी छोडनेका फल है कि ऊपर आ गए । तुम लोग भी सीढी छोड रहो । तो सुनने वाले सोचेगे कि यह तो बडी अच्छी बात कही—हम लोग तो पहलेसे ही सीढी छोडे हुए है, यो ही ऊपर पहुच जायेंगे तो भला बताओ वे चढ़ सकेंगे क्या ऊपर ? अरे उस बेचारेको तो यो बोलना चाहिए था कि देखो हम तो सीढियोपर क्रमश चढ–चढकर, फिर छोड छोडकर,क्रमशः ऊपर ऊपर चढ चढकर, उसे भी छोड़ छोड कर इस तरहसे ऊपर आये स्थिति तो यह है उसकी इस प्रकार आचार्यसत जीवोपर करुणा का भाव रखते है, जैसे भी जीवोका भला हो, जैसे भी अज्ञानदशासे निकलकर ज्ञानदशामे आयें, इसी बातका क्रमश वर्णन होगा ।

> आद्य सद्व्रतसचयस्य जननी सौख्यस्य सत्सपदाम्,
> मूल धर्मतकोरनश्वरपदारोहैक नि श्रेणिका ।
> कार्या सद्भिरिहाङ्गिपु प्रथमतो नित्य दया धार्मिकै· ।
> धिङ्नामाप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिश ॥८॥

(४३) व्रत सयम आदिकी जननी जीवदया—

आद्या अर्थात् जीवदया धर्मकी बात बतलाते हुए पद्मनदि आचार्य धर्मको चार रूपो मे पहले बताकर फिर निश्चयधर्मकी बात बतला रहे है । वे चार रूप क्या है ? प्रथम तो जीवदया, दूसरा रूप गृहस्थधर्म मुनिधर्म, तीसरी बात सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, चौथी बात—उत्तम क्षमा आदिक १० प्रकारके परिणाम और ५वी बात कह रहे है कि मोह और क्षोभसे रहित जो आनन्दमय परिणति है सो धर्म है । इन ५ का क्रमसे वर्णन चलेगा । प्रथम जीवदया धर्मके सम्बन्धमे कहते है कि यह जीवदया उत्तम व्रत सयम की, सचयकी माता है । जो पुण्यहीन पुरुष हैं वे व्रत, संयमके भाव कैसे ला सक्ते है । क्रूर,

कषायवान, दयाहीन प्राणी जीवोकी रक्षाके लिए या सयमके लिए भाव चित्तमे कैसे लायेंगे ? सो जीवदया उत्तम व्रतके सचयकी माता है । देखो—अपनी-अपनी शक्ति माफिक त्याग करना, नियमसे रहना, सयमसे रहना यह हर स्थितिमे फायदेमद हैं । कैसे ? मानो नही भी हुआ सम्यक्त्व और मदकषाय है, व्रतसयमरूप प्रवृत्ति करता है, आखिर मदकषाय होनेके फलमे अगला भव तो ऐसा पायगा कि जहाँ धर्मका सम्बन्ध मिले, फिर आगे वढ लेगा, फिर आगे सही वात पा लेगा और जिसको ज्ञान है, सम्यक्त्व है वह तो ऐसी उमग रखता है कि मैं कव सयम पालू । उसे अपना अव्रतरूप प्रवृत्ति पमद ही नही है । वह तो बहुत ही जल्दी व्रत सयममे वढ लेता है । तो इन सब वातोकी जननी है जीवदया । हमारी प्रवृत्तिमे जीवदयाका स्थान रहना चाहिए । रास्तेमे चले जा रहे तो किसीको गिरा हुआ देखें तो उसे उठा दें, कोई दु खी दीखे तो अपनी सामर्थ्य अनुसार उसकी सेवा करें । कोई अपने पास पड़ौसमे दु·खी है, या किसीकी वडी दयनीय स्थिति है तो अपनी सामर्थ्यमाफिक उसके पीछे कुछ धन खर्च कर दें । जीवदयासे जिसका चित्त वासित है वह अपना विकास कर सकता है, जीवदयारहित पुरुष अपना विकास नही कर सकता । जीवदया सद्व्रत सचयकी जननी है । जिसके हृदयमे दूसरोके प्रति घृणा रहे, स्वभावकी आस्था न रहे ऐसा दयाहीन पुरुष जो दूसरोको दुःखी देखना चाहता, यह यो मेरे, इस तरहसे इसका नुक्सान हो, ऐसा सोचने वाला अपने सक्लेश परिणाम बनाता जिससे वह स्वयं दु खी होता । यदि सुख चाहिए तो दूसरोको सुखी होनेकी भावना करो । कोई अपने स्वभावमे कब टिकेगा जब कि दूसरे जीवोके प्रति दया हो, सबके प्रति करुणाका भाव हो । अब कोई किसीकी प्रशसा करने खडा हो जाय तो उसका चित्त बडा प्रसन्न रहता है और जब वह किसीकी निन्दा करने खडा ही जाय तो उसको पहले अपने परिणाम बडे सक्लेशमयी बनाने पडते है तब कही वह दूसरेकी निन्दा कर पाता है । उसे अपने चित्तमे बडी हिम्मत बनानी पडती है, उसके चित्तमे भय रहता है जिससे उसे बोलनेमें बडी कठिनाई होती है । निन्दा करनेमे बडी कठिनाई होती और प्रशसा करनेमे चित्तमे प्रसन्नता रहती है । जो दूसरोके सुखी होनेकी भावना करता है वह वर्तमान मे भी सुखी रहता है और आगे भी सुखी रहेगा और जो दूसरोके दु खी होनेको भावना करता वह वर्तमानमे भी दु खी रहता और आगे भी दु·खी रहेगा । इस छदमे सर्वप्रथम जीवदया धर्मकी बात कहा । जीवदया सम्पत्तिका मूल है, सम्पत्तिकी जननी और धर्मरूपी वृक्षका मूल है । जैसे वृक्ष जड बिना नही ठहर सकता ऐसे ही वास्तविक जो धर्म है वह भी जीवदया बिना नही ठहर सकता । तो जो पुरुष जीवदयाके अभ्यासी नही जीवदयासे जिनका चित्त

नम्रीभूत नही हुआ वे धर्मके मार्गमे आगे बढ नही सकते । जो बात जिस तरह होती है वह उसी तरह हुआ करती है, तभी जीवदया यह सम्पत्तिका मूल है और धर्मरूपी वृक्षकी जड है ।

(४४) आत्मविकासमे प्रथम सहयोगी प्रयोग जीवदया—

हम आपका सार परिणाम एक आत्मानुभव है । जगतमे कुछ भी इस जीवको सार नही है । देख लो, ये जीव किस तरहके अनुभव कर रहे है । इस जीवको शरण केवल आत्मानुभव है । वह आत्मानुभव कैसे मिलता है ? तो उस ही का उपाय चल रहा है प्रारम्भसे, क्रम-क्रमसे बढ़-बढकर उपायकी चर्चा चल रही है । धर्म ही एक ऐसा परिणाम है जो आत्मानुभवरूप बनता है । धर्म क्या है ? हम धर्मको किस तरह पहिचान लें ? तो सर्वप्रथम बात कही जा रही है जीवदया । जिसमे जीवदयाका भाव नही वह तो कुछ कर ही नही सकता । जिसमे क्रूरता और कषाय जगी है, अभिमान, पक्ष-राग द्वेष भरा है, जिनको न अपनी दया है न दूसरोकी दया है ऐसे प्राणी कैसे धर्ममे प्रवेश कर सकते है ? तो उस ही जीवदया नामक धर्मकी बात चल रही है कि यह जीवदया नामक धर्म अविनाशी पदपर चलानेके लिए एक सीढ़ी रूप है । जैसे सीढीके बिना ऊपर नही चढ सकते ऐसे ही जीवदया के बिना आत्माका विकास प्राप्त नही हो सकता । वैसे भी सोचो, जिसका चित्त क्रूर है, जो प्राणिघात करता है, जो किसी जीवको कुछ नही समझता है ऐसे चित्तमे क्या धर्मका, देव, शास्त्र, गुरुका, वास्तविक श्रद्धान हो सकता है ? नही हो सकता । क्रूरता न होनी चाहिए चित्तमे । जीवदया यह है अविनाशी पदपर चढनेके लिए सीढीरूप । तो जीवदया यह है कि इन समस्त प्राणियोपर करुणाबुद्धि रखें, किसीको मेरे द्वारा दुःख न उत्पन्न हो, ऐसा परिणाम रखें तो एक रास्ता मिलेगा मदता होनेसे पात्रता मिलेगी और हम वास्तविक धर्म के अधिकारी हो सकते है । देखो जो दयाहीन पुरुष है उनका नाम भी धिक्कारके योग्य रहता है । कभी सभा सोसाईटीमे किसी अच्छे कामके सगुनके प्रसगमे अगर कोई निर्दयी पुरुष का नाम ले ले तो लोग कहते अरे किसका नाम ले लिया ? ऐसी असगुन की बात न बोलो । तो दयाहीन पुरुषका नाम भी धिक्कारके योग्य है, उसके लिए सारी दिशायें सूनी है । उसका कोई रक्षक नही, अब भी रक्षक नही आगे भी रक्षक नही । तो जीवदया नामक जो पहले ५ परिभाषायें की है उनमे से प्रथम परिभाषाका यह वर्णन चल रहा है ।

ससारे भ्रमतश्चिर जनुभृतः के के न पित्रादयो,
जातास्तद्वधमाश्रितेन खलु ते सर्वे भवन्त्याहताः ।

पुसात्मापि हतो यदत्र निहतो जन्मान्तरेषु ध्रुवम्,
हन्तारं प्रतिहन्ति हन्तः बहुश सस्कार तो नु क्रुध ॥६॥

(४५) किसी जन्तुका बध करनेमे उस ही के परिजनके बधका निर्णय—

देखो ससारमे भ्रमण करते हुए हम आप शरीरधारी जीवोको ये सब जीव और प्राणी माता पिता बंध भाई बहिन सब अनेक बार मिल चुके हैं, क्योकि यह ससार कब से है ? जिसका कोई आदि अन्त नही, अनादिकालसे है । और जीव भ्रमण करते करते कभी कोई जीव मिले कभी कोई जीव, यो कितने ही परिवार बने, जो जीव दिखते हैं पशु पक्षी कीडा मकोडा ये सब अपने माता पिता भाई बंधु अनेक भवोमे हो गए । तो जब कोई पुरुष किसी प्राणीका बध करता है तो मानो वह अपने माता पिता बंधुका ही बध करता है जीव तो वह है जो कभी पिता बना था, माता बना था, भाई बना था, कुछ भी था, वही जीव था, आज किसी भवमे मनुष्य बना है या पशु बना या पृथ्वी है तो वही बना न ? तो उसका घात होनेके मायने है कि उसने अपने परिवारका घात किया । जीवदया कितनी आवश्यक बात रही । इससे खिलाफ चलने वाले को कितना दोष लगा । बात तो एक भव बदलनेपर ही तो है । कोई अगर अपने ही भवके माता पिता भाई बहिनोका बध कर दे तो उसके प्रति लोगोकी क्या दृष्टि होती है । उसका मुख देखने लायक नही रहता । उसके लिए सभी दिशायें शून्य हो जाती है, फिर और प्राणियोको जो मारा गया वे भी तो माता पिता थे कभी । तो जो जो भी जीवका समागम है वे सब अनेक बार अपने माता पिता परिवार आदिक हो गए । तो किसी भी प्राणीको कोई मारता है तो उसका अर्थ यह है कि वह अपने ही परिवारको मारता है । ऐसा करना योग्य है क्या ? यदि योग्य नही है तो इसका अर्थ यह निकला कि जीवदया करना चाहिए ।

(४६) दूसरेका बध करनेमे बधकके स्वयंका घात—

और भी देखो जो मारने वाला है उसने दूसरेको मारा सो तो ठीक है मगर अपने को भी मार डाला । मारने वाले कसाईने, दूसरेका बध करने वाले जीवने अपना भी बध कर डाला । आप कहेगे कि दिखता तो नही है वह तो अच्छी तरहसे खडा है, खूब जी रहा है, हँस रहा है, पर यह पता है कि यहा जीवको मारा तो प्रायः ऐसा ही कर्मबंध होता कि जो जीव मारा गया वह मरकर अगले भवमे हुआ बलवान और जिसने मारा वह हुआ अगले भवमे निर्बल तो वह बलवान इस निर्बलको मारेगा । एक जगह किसी भाईने हमसे प्रश्न किया कि महाराज जी लोग यह कहते हैं कि इन मुर्गा, मुर्गी, सूकर, भेड, बकरी आदिक

जीवोको मारना न चाहिए, इससे देशका बडा नुक्सान होता है, मगर देखते तो यह हैं कि जितने जीव मारे जाते उससे कई गुना अधिक पैदा होते जा रहे है, तो इसमे जीवोके मारे जानेसे टोटा क्या पडा ? और मोटे रूपसे वहा भी पाप न पडा। उनको मारनेसे क्या नुक्सान ? फिर उनको मारनेसे क्यो मना किया जाता ? तो अब उसके प्रश्नका उसी ढगसे उत्तर होना चाहिए। अब और और बातें कषायोकी, विभावोकी, और और भी बडी बड़ी बातें करनेसे उसके लिए उनका क्या महत्त्व ? वह क्या समझे ? तो उसे बताया गया कि देखो भाई बहुतसे लोगोने इन जीवोको मारा तो इतना तो निश्चित है कि जितने जीवोको कायदेसे ये मुर्गा मुर्गी सूकर आदि जीव बनना था वे तो बनेंगे ही, पर मारने वाले भी जीव ये जीव बार बार बन बनकर संसारमे दुःख भोगते रहते है, इसलिए इन सब जीवोकी संख्या अधिक बढती हुई दिखाई देती है। तो जो जीव दूसरे जीवोका प्राणघात करता है तो मानो वह अपना ही प्राणघात करता है। आज नही किया तो कुछ साल बाद होगा और निश्चयसे देखो कि जो कषाय करना है उसने अपना बध तो किया ही किया।

(४७) जीवदया स्वयंकी दया—

जीवदया वही पुरुष कर सकता जो दूसरे जीवोका स्वरूप समझता, महत्त्व जानता है। जैसे हम वैसे सब और देखो समता तो है ही, तब ही तो दुःखी जीवोको देखकर ऐसा चित्त बन जाता जैसे कि यह खुद ही दुःखी हो रहा हो, और ऐसा हुए बिना कोई किसीको कुछ कपडा, भोजन आदि दे नही सकता। कोई जाडेके मारे अथवा भूखके मारे बड़ा दुःखी पडा है तो उसे देखकर आपके चित्तमे भी एक वेदना उत्पन्न होती है, उस वेदनाको शान्त करनेके लिए आप उसे भोजन देते, वस्त्र देते है। वहांपर भी वास्तवमे आपने अपनी वेदना मिटायी। जो दूसरेकी दया करता है वह मानो अपनी ही दया कर रहा है। एक ऐसी घटना हुई कि एक कोई जज साहब अपनी कारमे बैठे हुए कचहरी जा रहे थे, रास्तेमे क्या देखा कि सडकके किनारे कीचड़मे एक सुअर फँसा हुआ चिल्ला रहा था। उसे देखकर उसके चित्तमे दया आयी सो कार रोककर स्वय ही उस सूअरको कीचडसे निकालने गये। यद्यपि साथके सिपाहियोने कहा कि आप रहने दो, हम लोग निकाले देते है पर वह न माने, स्वयं ही निकाला। अब उस प्रसगमे कपडोमे छीटे भी काफी आ गये, शरीर भी कीचडसे भर गया। उनके पास इतना समय न था कि कपडे बदलनेके लिए पुन लौटे सो सीधे उसी पोशाकमे कचहरी पहुचे। वहां जज साहबको कीचड़ भरी दशामे देखकर लोग आपसमे कानाफूसी करने लगे। अजी यह क्या मामला है ? जज साहब की ऐसी दशा आज क्यो हुई ?

तो वहाँ साथके सिपाहियोने बताया कि अजी यह जज साहब बडे दयालु हैं, इन्होंने आज कीचडमे फसे हुए सूकरको अपने हाथो निकाला। तो वहाँ जज साहब बोले अजी हमने सूकर पर दया नही किया, हमने तो अपने आपपर दया किया। यदि मैं उसे न निकालता तो यहा कचहरीमे बैठकर भी उसकी तडफन याद आती और मुझे दु'खी होना पडता। तो वास्तव मे मैंने अपने आपपर दया की, सूअरपर नही। और देखो जब ठडके दिनोमे ४ बजे सुबह भिखारियोके ठडसे कपकपे स्वरमे उन्हे चिल्लाता हुआ देखते हैं तो आप उन्हें वस्त्र दे डालते है। महिलायें तो विशेष करके दया करके उनको अपनी पुरानी धोतिया दे डालती है। तो वहा आप लोग कहीं उन भिखारियोपर दया नही करते, बल्कि आप लोगोके चित्त मे जो एक वेदना उत्पन्न हो जाती है उस वेदनाको मिटानेके लिए वस्त्र दे डालते हैं। वहा आप अपने आपपर ही दया करते है। तो यह जीवदया क्या है ? वह भी अपने आपकी दया है। जो पुरुष दूसरे प्राणियोका बध करता है वह मानो अपने आपका ही बध करता है, क्योकि वहा क्रोधका संस्कार बनाया। एकने दूसरेको मारा, उसने अगलेको मारा, इस तरह मार पिटाई चलती रहती है।

(४८) अदया और दयाका एक ज्वलंत उदाहरण—

क्रोधका सस्कार देखो—मरुभूतिका जीव जब पार्श्वनाथके भवमे था तो वहां पार्श्वनाथपर मुनि अवस्थामे कमठने उपसर्ग किया था। मरुभूति तो था सीधा सादा और कमठ था दुराचारी। बात क्या हुई कि मरुभूति और कमठके पिताके मरनेके बाद राज्य पद मिला मरुभूतिको। उसमे वह योग्यता थी। कमठको वह पद कैसे मिले ? उसमे कोई गुण हो तब तो वह पद मिले। खैर, कुछ समय बाद क्या घटना घटी कि मरुभूति कही बाहर गया हुआ था तो कमठने मरुभूतिकी स्त्रीपर कुदृष्टि डाली। यह बात मालूम हुई राजाको तो राजाने कमठको देशसे निकाल दिया। जब मरुभूति लौटकर घर आया और अपने बडे भाईको घरमे न पाया तो अपने बडे भाई कमठको मनाने गया। उस समय कमठ तपस्वी बनकर ऐसा तप कर रहा था कि अपने सिरपर बहुत बडी शिला रक्खे खडा था। मरुभूति वहां पहुचा और कमठके चरणोमे गिरकर अनुनय विनय किया। कहा—भैया, हमे क्षमा करो, हमारा कोई अपराध हो तो माफ करो। उस समय कमठको ऐसा क्रोध उमडा कि वह शिला मरुभूतिके ऊपर पटक दिया। मरुभूति वही मर गया। खैर कई भवो तक मरुभूति का जीव जो भी बना वह भला ही बना और कमठका जीव जो भी बना वह बुरा ही बना। यहां तक कि पार्श्वनाथके भवमे भी उस कमठके जीवने उनपर घोर उपसर्ग किया, वहा

धरणेन्द्र पद्मावती यक्ष यक्षणियोने उन्हे बचाया। तो बात यह कही जा रही है कि कर्मोदय का संस्कार बन जाय तो वह नुक्सान देता है। यह क्रोध बडा भारी शत्रु है इस क्रोधको अपने चित्तमे न बसाना चाहिए। क्रोध आये तो अपनेको समझा लो कि इससे मेरी बरबादी है कि दूसरेकी ? क्रोधका सस्कार होनेसे जिसने जीवोको मारा वह मारा जायगा उन जीवोके द्वारा या अन्य प्रकार बरबाद होगा ही यह ही रीति प्राय ससारमे चली आ रही है। संसार यद्यपि बहुत बडा है, पर कर्मबध ऐसा विचित्र होता है कि जिस भावको लेकर कर्मबध हुआ, वह वैसे ही क्षेत्रमे उत्पन्न होता, वैसे ही संयोगमे उत्पन्न होता और वैसा ही सुख दु:ख पाता तो किसी भी प्राणीका बध तो दूर रहा, दिल भी न दुखाना चाहिए। देखो कितने दिनकी जिन्दगी है जो आप किसी जीवका चित्त दुखाये ? जो क्रूर हृदय बनकर दूसरोका चित्त दुखाते है वे स्वय दु:ख रहते है जब खुदमे बहुत वेदना होती है तब दूसरे को दु:ख उत्पन्न करनेका भाव कर पाता है।

(४६) सबके सुखी होनेकी भावनाकी महिमा—

सबके सुखी होनेकी भावना भावो और इतनी हिम्मत बनाओ कि किसी प्रसंगमे मुझको सुख न मिले यह मजूर है। पर मेरेमे ऐसा चिन्तन न बने कि जिसमे किसी दूसरेको दु:ख हो। देखो इस संसारमे जब इतना विकट फस गए, बधनमे आ गए, बडी विडम्बनामे, बडी विपत्तिमे पड गए तो इनसे सुलझना विधिपूर्वक ही बन पायगा। क्रोधसे इसका सुलझना न बनेगा, समतासे बनेगा। अध्यात्मज्ञान करें, आत्माका ज्ञान करें, अपने आपमे अपने आपको लखें, अपने आपमे अपने आपको रमायें, इसके लिए जो कुछ व्रत तप संयम करना पडे सो करें, क्योकि पूर्वभवके संस्कार विषयोके लिए उखड बैठते है। तो तप करें, व्रत करें सयम करें। जैसे भी हो, यह रत्नत्रयरूप धर्म ही इस जीवको संकटसे बचाता है। वह काम करें। तो उसके लिए हमारी प्रारम्भिक तैयारी यह है कि किसी भी प्राणीको मेरे द्वारा चोट न पहुचे। ऐसा अपने आपमे अपना निर्णय बनाया है, अपनेको देख रहे है कर रहे है। अपना ऐसा कर्तव्य करें कि जो दूसरे प्राणियोके प्रति घृणा, द्वेष, विरोध, ईर्ष्या, दिल दु:खाना झूठ बोलना आदिके काम किए जा रहे है उनका त्याग करें। उनसे विकट पापका बध होता है। क्रूर भाव आये विना ये विडम्बनायें नही बन पाती। इससे इस क्रूरताको तजे और जीवदयाका प्रोत्साहन दें।

त्रैलोक्यप्रभुभावतोऽपि सरुजोऽप्येक निज जीवितं,
प्रेयस्तेन विना स कस्य भवितेत्याकाक्षतः प्राणित ।

निःशेषव्रतशीलनिर्मलगुणाधारात्ततो निश्चितम् ।
जन्तोर्जीवितदानतस्त्रिभुवने सर्वप्रदान लघु ॥१०॥

(५०) प्राणरक्षाका महत्त्व—

देखो एक उदाहरण—कोई पुरुष रोगी है, उसको बडी वेदना है और उसके चित्त मे आता है कि कही ऐसा न हो कि मेरी आयु मिट जाय, मरण हो जाय, ऐसा कठिन रोग है किसीके और उस रोगीसे कोई यह कहे कि भाई हम तुमको लाखोकी सम्पत्ति देते हैं अथवा राज्य दिए दे रहे है, तुम अब इस रोगकी कुछ चिन्ता न करो, घबडावो नही। तो भला बताओ उस मरणासन्न दशाको प्राप्त रोगीको वह सारा वैभव प्यारा लगेगा क्या ? अरे उसे तो उस अवस्थामे जीवनदान, प्राणदान प्यारा है। वह तो यही कहेगा कि मुझे यह सब वैभव न चाहिए, मुझे तो प्राणदान दे दो। मैं मरनेसे बच जाऊ, चाहे फिर गरीबीमे ही मुझे अपना जीवन बिताना पडे, पर मैं अभी जीवित रह जाऊँ। तो यह जीवन सभीको कितना प्यारा है। इस जीवनसे बढकर किसीको कुछ प्यारा नही। तीनो लोकके वैभवसे भी अधिक प्यारा है यह जीवन ऐसे प्रिय जीवनका (प्राणका) जो हरण करते है याने जो जीवो की निर्मम हत्यायें करते हैं—जरा सोचो तो सही कि वे कितना बडा अन्याय कर रहे है। एक कथानक बहुत अधिक प्रसिद्ध है कि एक बार एक राजपुत्र देवदत्त नामका शिकारी जगलमे शिकार खेलने गया था। उसने अपने तीरसे एक हस पक्षीका शिकार किया। बाणसे बिंधा हुआ वह हस पक्षी कुछ हिम्मत करके उडा तो वहा पहुचा जहा राजपुत्र गौतम घूम रहा था। वह हस गौतमकी गोदीमे जा गिरा। गौतमने उस हस पक्षीके हृदयमे बिंधे हुए तीरको निकाला, उसका घाव पोछा, उसके प्राणोकी रक्षा की। इतनेमे वह देवदत्त आया, बोला— ऐ गौतम ! यह मेरा शिकार है, मुझे दे दो। अरे तुम्हारा कैसे है, यह तो मेरा है ? नही नही तुम्हारा नही हो सकता। देखो इस हसपर मैंने तीर चलाया, मैंने इसे मारा, इस पर अब मेरा अधिकार है, मुझे दे दो। नही भाई इसे मैं नही दे सकता, इसके हृदयसे तीर मैंने निकाला, इसका घाव मैंने धोया, इसके प्राणोकी रक्षा मैंने की। इसके ही दिलसे पूछो कि यह किसका अपनेको स्वीकार करता है। आखिर इसका न्याय होनेके लिए राजा शुद्धोदन के पास पहुचे। वहा राजा शुद्धोदनने यह न्याय किया कि मारने वालेसे बचाने वालेका अधिकार ज्यादह होता है अत॰ यह हस गौतमका है। देवदत्त बडा लज्जित हुआ। कथानक तो ऐसा ही है न, और बात भी लोग ऐसी ही बोलते हैं और आजके समयमे ऐसी ही बात है। मान लो कोई व्यक्ति मछलियोका शिकार कर रहा हो, कुछ मछलिया जालमे फांसकर उसने

बाहर निकाला। अब कोई दूसरा दयालु पुरुष आये और उन मछलियोको पकड पकडकर पानीमे फेंके तो वह मछली पकडने वाला आकर लडता है, अरे भाई तुम मेरी मछलिया क्यो पानीमे फैंक रहे ?···अरे तुम्हारी कैसे ? अरे मैने ही इन्हे जालमे फासा, मैंने ही इनका शिकार किया, ये मेरी है। अन्य लोग आते तो वे भी ऐसा ही न्याय देते कि हां ठीक तो कह रहा, इसीने उनका शिकार किया, ये इस ही की तो है। यह तो अज्ञानी जनोका न्याय है, मगर ज्ञानियोका न्याय यह है कि मारने वालेसे बचाने वालेका अधिकार ज्यादह होना है। इस जीवनमे प्राणदान, जीवनदान सबसे बढकर दान है। जो इन प्राणोका हनन करता है याने निरपराध जीवोकी निर्मम हत्यायें करता है वह कितना बडा अन्याय करता है। तो जो रोगी पडे है वे क्यो नही चाह रहे लाखो करोडोका वैभव ? इसलिए कि वे जानते है कि यहासे मरण होनेके बाद फिर यह सब कुछ मेरेसे छूट जायगा। जीवन न रहने के बाद फिर किसका क्या वैभव कहलायगा ? जब जीवन ही न रहा तो चीज क्या ? यो जीवन, प्राण सब जीवोको अत्यन्त प्रिय होते है और उन प्राणोकी जो विराधना करता है वह धर्म नही करता वह तो अधर्म है, पाप है। अत्याचार है।

(५१) जीवदयासे जीवोद्धारकी समवता—

देखो भैया ! इस जीवदयाके महत्त्वको। मनुष्यका जीवन रहे तो वह व्रतपाल सकता है, शील, सयम, तप इनके आधारभूत ही तो है जिदगी और व्रत, तप आदिक संयम ये पूज्य है और इनके प्रति आस्था है लोगोको, इनके प्रति भक्ति है तो इनका आधार है यह जीवन। तो फिर जो निश्चित हुआ कि सब कुछ भी दो वह न कुछ है और जीवनदान दो तो वह सब कुछ है। जीवनदानसे सब चीजें छोटी है। तो ऐसा सब जीवोके प्रति भाव बनाइये देखो अब समय ऐसा आया है कि लोगोका चित्त डावाडोल है। ससारमे सबको खोटा बना दिया है ! भाव अनेक प्रकारके उठा करते है, इसपर भी जो अपने प्रजा जन हैं, जनता है, अपने लोग है इनमे अन्याय न हो सके, इतना ध्यान तो रखो, क्योकि देखो जीवनदानसे सब चीजें छोटी है। तो अनेक उपाय करके दूसरोकी प्रगति हो, दूसरोका विकास हो, सब जीव सुखी हो, सब लोगोका परमात्मस्वरूप दिखे। मगर उनमे बिगाड़ आया है तो वह उप-द्रव है, यह तो निरपराध है स्वरूप। हो गया ऐसा, मगर जीव अपने आपमे जिस रूप है वैसा निरखो। अनेक लोग तो जैसे हर एकको राम-राम रूपमे देखते है। राम एक व्यक्ति हुए है श्री रामचन्द्र जी मगर उनका आत्मा ही तो भगवान हुआ तो व्यक्तिके नातेसे किसीको न देखो। आत्माके नातेसे हर एकको देखो। महावीरको श्रीरामको अथवा हनुमान आदिको जो

भगवान बने उन्हे एक व्यक्तिरूपमे न देखो उनके आत्मगुणविकासको देखो, उनका जो ब्रह्म-स्वरूप है उस रूपसे देखो। हालाकि वे व्यक्ति थे श्रीराम, महावीर, हनुमान वगैरा अनेको लोग भगवान बने हैं, पर उनमेसे किसीका भी नाम लेकर पुकारनेके बजाय अच्छा तो यह है कि हम उन्हें चैतन्यमहाप्रभुके रूपसे पुकारें, क्योकि महिमा है सारी गुणविकासकी। किसी व्यक्तिमे वे सब गुण प्रकट हुए तो कही व्यक्तिके नातेसे उनको नमस्कार नही किया गया, किन्तु गुणविकासके नाते उनको नमस्कार है। सर्व प्राणियोमे दृष्टि दोडावो उस प्रभुताको। सबको नजरमे लें, यह भी प्रभु, यह भी प्रभु। कुछ ठेका तो नही है। आज जो लोग कुछ बडेसे जन रहे हैं, अगुवा बन रहे हैं, जो धर्मके ठेकेदार बन रहे हैं, नेता बन रहे है, बडे-बडे उपदेश भी कर रहे हैं। कहो वे मरकर कीडा मकोडा बन जायें, और जिन्हे तुच्छ, नोच, मूर्ख, अज्ञानी समझा जा रहा वे कहो यहाँसे मरकर उत्कृष्ट मानवजीवन पायें जिसमे बडा विशाल ज्ञान उत्पन्न हो। तो बताओ कहाँ रही महत्ता ? कहाँ रही वह शान। यहाँ तो कहो राजा भी मरकर कोडा बन जाय और कीडा भी मरकर राजा बन जाय। तो यहाँ गर्व करने लायक कोई बात नही है, अपने भावोको सम्हालो, क्योकि अपना भविष्य सुधारनेकी कुञ्जी अपना भाव है। भाव सम्हालनेके मायने धर्म करें। तो धर्ममे क्या करना ? तो निश्चयसे तो सहज आत्मस्वरूपका श्रद्धान करना और उसमे रमण करना धर्म है। इतनी ऊँची बात ससारी जीवोंसे किस तरह बनेगी ? उसके लिए यहाँ परिभाषाओमे धर्मकी बात बतायी गई है, जिसमे पहली परिभाषामे धर्मका स्वरूप कहा जा रहा है कि जीवदया धर्म है।

स्वर्गायाव्रतिनोऽपि साद्रमनस. श्रेयस्करी केवला,
सर्वप्राणिदया तया तु रहित पापस्तपस्थोऽपि वा।
तद्दान वहु दीयता तपसि वा चेतश्चिर धीयताम्,
ध्यान वा क्रियता जना न सफल किञ्चिद्दयावर्जितम् ॥ ११ ॥

(५२) अव्रती दयालु हृदय वाले जीवके भी स्वर्गगतिलाभकी सुगमता—

धर्मकी चार परिभाषायें की गई थी—प्रथम तो जीवदया जीवोकी दया, प्राणियोपर कृपा करना, अनुग्रह करना सो धर्म है। दूसरी बात कही गई थी कि धर्म दो प्रकारके हैं—गृहस्थधर्म और मुनिधर्म। तीसरी बात कही गई थी—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म है। चौथी बात कही गई कि उत्तम क्षमा आदिक दसलक्षण धर्म है और ५वी बात कही गई कि निश्चयसे मोक्ष क्षोभरहित सहज आनन्दमय जहाँ स्थिति होती है, ऐसी जो एक निर्विकार परिणति है सो धर्म है। इन ५ परिभाषाओमे से पहली परिभाषाका

वर्णन चल रहा है । जीवदया धर्म है, उस प्रसंगका यह अन्तिम छन्द है । देखो कोई व्रत भी नही पाल रहा ऐसा पुरुष, किन्तु दयासे गीला हृदय है, दयालु चित्त है तो उस पुरुषके यह केवल प्राणिदया ही, जीवदया ही स्वर्गप्राप्तिके लिए समर्थ है । व्रत न होकर भी दयावान है तो उसको देव आयुका बध हो जाता है और व्रत भी पाले, किन्तु दयारहित चित्त है, प्रथम तो यह बात है कि जो दयारहित चित्त वाला है उसके व्रत कहाँ ठहरता, फिर भी जो बाह्य व्रत है उसे कर रहा है और दयाशून्य उसका चित्त है तो उसका व्रत भी स्वर्ग ले जानेमे समर्थ नही है याने व्रत भी है और दया करके हीन है तो उसको स्वर्गकी गति मिलना कठिन है । जीवदयाका महत्त्व बताया जा रहा है । जीवदयामे अपने आपकी भी दया सम्मिलित है, क्योकि जीवदयाका भाव न हो तो उसके हृदयमे होगा क्रूर चित्त तो उसका फल बुरा ही है । तुरन्त भी दुःख और बादमे भी दु ख । देखो जाना कुछ नही है साथ, है किसीका कुछ नही यहाँ, लेकिन जिसका दयासे भाव भीगा है और सर्व प्राणियोपर दयाका भाव रखता है उसके लिए स्वर्ग गति सरल है, इसीको कहते है वात्सल्यभाव । कोई जीव दुःखी है, कोई परिवार दुःखी है, जिन लोगोके घरकी परिस्थिति अच्छी नही है, कठिन कोई पड रही है तो पहले लोग कैसा उदार चित्तके होते थे कि किसीको यह भी मालूम न करने देते थे कि किसको क्या दिया ? किसीको कोई चीज भेजी तो उसके साथमे मोहर रख दी । कैसे-कैसे उपायोसे दुःखी जीवोपर करुणाका वातावरण था पहले और अब भी अपने हृदयसे सोचो कि अगर आपका पडौसी रात दिन दुःखी रहता हो, कोई दुःखसे रोता रहता हो और आप उसे रोज देखते जायें तो देख नही सकते । आपका चित्त पसीज जायगा । उसका दुःख निवारण करेंगे ।

(५३) सर्व प्राणियोमे दुःखानुत्पत्तिकी भावनाका तकाजा—

भैया ! आखिर यह जीव भी अनेक भवोमे हमारा पिता, भाई, पुत्र, माता आदि हो गया है । जैसे हम इस भवके परिवारको अपना मानते है ऐसे ही परिवारके लोग है सब । वे पहले भवके है, ये इस भवके हैं । बस इतना ही तो कालका अन्तर आया लेकिन इस भवके परिवारजनोके प्रति यह भाव बन जाता है गृहस्थजनोके कि ये सदा सुखी रहे, इनको ७ पीढी तक दु ख न हो, ये कभी भी दु खी न हो और दु खी होते चले जाते है, गुजर जाते हैं । मगर स्वप्न देखते हैं कि ये सदा सुखी रहे और मरकर भी सुखी रहे, अगला भव अच्छा मिले । मगर दुःखी होते है । कभी कोई घरका आदमी गुजर गया तो उसके बारेमे घरके लोग प्रशसा करते हैं कि अजी उसके मरणका क्या कहना, ऐसा मरण तो बडा मुश्किल

है । बोलते-बोलते गया, णमोकार मंत्र पढते-पढते गया, सब कुछ त्याग कर दिया था उसने तो उसे नियमसे स्वर्ग मिला होगा । तो अपने परिजनोके प्रति तो इस तरहका भाव रहता है कि मरण करके भी यह जीव सुखमे रहे, अगले भवमे तो क्या ऐसी बात पडौसके लोग जब कुटुम्बी थे तो उनके प्रति न भावना रखते थे ? वही आज दूसरे भवमे है, तो जगतके सब जीव मिले है, अपनेको अनुग्रह करें दूसरोका दु:ख दूर करें अपनी शक्ति प्रमाण और नही है सामर्थ्य तो मनमे भाव रखे कि कुछ इनके काम आना तो चाहिए था, हमसे अगर इनकी कुछ सेवा हो जाती तो अच्छा था । भाव रखे दूसरोके प्रति दयाका जीवदया एक इस आत्माको विकासकी ओर ले जानेमे प्रथम साधन है । अच्छा जीवदयाके सम्बन्धमे यह अंतिम छंद कहा जा रहा है कि कोई पुरुष अगर दयालु है तो उसकी यह केवल प्राणिदया अव्रती होनेपर भी स्वर्गके लिए समर्थ है, परन्तु जीवदयासे रहित हुआ कोई पुरुष चाहे तपस्वी हो, तपमे आदर रखता हो तो भी सद्गतिका पात्र नही वह तो पापिष्ठ है । दूसरे जीवोको जो अपने समान समझता हो वही तो दया कर सकेगा, और जो अपनेको बडा मानता और दूसरोको ऐसा मानता कि ये कुछ भी नही हैं, ये तो शायद ऐसे ही हैं और जो अपनेको नीच समझे, घृणा योग्य समझे उसके चित्तमे दया कहासे आयगी ? निर्दयता रहेगी । और निर्दयताका प्रभाव कई प्रकारसे होता है । कई चाणक्य नीति जैसे खेल खेलता है कि किसी को जडसे मिटा दें, किसीको पता न पडे । दयाहीन पुरुषोका सहवास भलेके लिए नही होता । तो जो दयाहीन पुरुष है वे चाहे तप भी करते हो तो भी पापिष्ट है और इस पापके फलमे इनको शुभगति मिलना कठिन है । तो चाहे कोई बहुत दान भी दे, चाहे कोई बहुत तपश्चरणमे चित्त लगाये, चाहे कोई खोटा ध्यान बनाये और चाहे कोई बडा प्रसन्न होकर आत्माकी गप्पकी बात कहे वाह क्या कहना, आनन्दनिधान है आत्मा । जिसके चित्तमे दया की बात नही है वह सब ढोंग है और जहा जीवदया है प्राणियोपर कृपा करना, विरद है वह तो आराध्य पुरुष है । जो दयाहीन पुरुष है उसका जीवन सफल नही होता ।

(५४) ज्ञानियोके विरदताका विरद—

देखो जीवका सहज ढलाव दयाकी ओर होता है, तभी तो इसके प्रकृत्या दयाके भाव हो ही जाते है सभामे अपने आप । किसी दूसरेको दु खी देखकर मनमे दया उपजती कि नही ? महिलावोके तो और भी अधिक दया उपजती है, क्योकि उनका तो बडा ही कोमल हृदय होता है, पुरुषोके भी जिसके प्रति दया उपजती ? उसका बहुत भला कर देते है । अब देखो हमारे गुरु (गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज) को क्रोध न आता था और कभी किसीपर

क्रोध आ जाय तो उससे उसका भला हो जाता था याने बडे पुरुषोको किसीपर क्रोध आये तो वह भी उसके लिए बहुत अच्छी चीज है। कैसे ? एक घटना है—एक पचमलाल नामका कोई त्यागी था ब्रह्मचारी भेषमे, वह शायद काछी या ग्वाला जातिका था। तो उसे जब जैनसमाजके लोग भोजनके लिए बुलाते तो वह चौकेमे भी ठाठसे बैठकर भोजन करने लगा, अपने जूठे बर्तन भी न माँजे। यह सागरकी बात है। पहले तो अपने जूठे बर्तन भी माँज दिया करता था, पर सागरमे वह काम भी बद कर दिया। अब लोगोने गुरुजी से उस बात की शिकायत की तो गुरुजी उस त्यागीपर बडे नाराज हुए। उस नाराजगीमे उसे कोई अपशब्द तो कह न सकते थे। देखिये बडे पुरुषोका क्रोध भी देखने लायक चीज होती है। तो गुरुजी गुस्सामे आ गये और उस गुस्सा करनेका फल क्या हुआ कि समाजके लोगोसे १०-१०, २०-२० रुपये दिलवाकर उसकी भोजन-व्यवस्था अलग करवा दिया ताकि वह खुद बनाये खाये और विद्यालयमे उसके पढनेकी व्यवस्था भी कर दी। तो देखो गुरुजीका क्रोध उसके भलेके लिए बन गया। देखिये और लोगोमें यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि रावणकी मृत्यु श्रीरामके द्वारा हुई, इसलिए रावणका मोक्ष हुआ, पर ऐसी बात नही है। नारायणके द्वारा ही प्रतिनारायणकी मृत्युका नियोग है। रावणकी मृत्यु लक्ष्मणके द्वारा हुई। खैर बात यहाँ यह देखना है कि जो लोग ऐसा मानते है कि श्रीराम के द्वारा रावणकी मृत्यु हुई, इसलिए उसे बैकुण्ठ मिला तो वहाँ भी यही बात मिली कि बडा पुरुष अगर किसीपर क्रोध भी करे तो वह उसके भलेके लिए है। जब वह बडा पुरुष क्रोध करेगा तो उसके प्रायश्चित्तरूपमे उसके प्रति दयाका प्रवाह उमडेगा, जिससे उसके भलेके लिए ही होगा। जिस जीवमे दयाका भाव नही है वह कुछ भी करे, उसके जीवनमे सफलता नही है। इस प्रकार धर्मकी परिभाषा मे जो प्रथम बात बतायी गई थी—'धर्मो जीवदया' उसका वर्णन इस छदमे समाप्त होता है। आगे कथन चलेगा गृहस्थधर्मका। दो भेद कहे गए—गृहस्थधर्म और मुनिधर्म। तो इनमे गृहस्थधर्मकी बात चलेगी, जिसे इस प्रथम छदमे कहते है।

सन्तः सर्वसुरासुरेन्द्रमहित मुक्ते पर कारण,
रत्नाना दधति त्रयं त्रिभुवनप्रद्योति काये सति।
वृत्तिस्तस्य यदन्नत. परमया भक्त्यार्पिताज्जायते,
तेषा सद्गृहमेधिना गुणवता धर्मो न कस्य प्रिय· ॥ १२ ॥

(५५) गृहस्थधर्मके प्रेयस्त्वका कारण—

कहते है कि सद्गृहस्थका धर्म किसे प्यारा न होगा याने कुलीन, अच्छे, कर्तव्य-

शील, जैनशासनकी परम्पराके अनुसार शुद्ध आचार-विचार रखने वाले गृहस्थोका धर्म किसे प्यारा न होगा । कैसे हैं वे गृहस्थ ? आप इस छन्दमे एक बडे महत्त्वकी बात सुनेगे । किसे गृहस्थोका धर्म प्रिय नही होता ? तो गृहस्थके धर्मकी विशेषता बतानेमे कहते हैं कि देखो सत पुरुष, मुनीश्वर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका पालन करते हुए अपना जीवन सफल करते है । कैसा है वह रत्नत्रयधर्म ? सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके समस्त सुर और असुर इन्द्रोके द्वारा पूज्य है । देव भी जिसकी पूजा करते है, और जो रत्नत्रयधर्म मुक्तिमार्ग का उत्कृष्ट कारण है, ऐसे रत्नत्रयको जो कि तीन लोकका प्रकाश करने वाला है उस रत्नत्रय को मुनीश्वर धारण करते है, पालन करते है और अपने जीवनको विकसित करते है, भव-रहित बननेके उपायमे वे लग रहे हैं यह किस बलपर ? जब शरीर टिक रहा तब ना ? और ऐसे उन मुनीश्वरोको, जो जीवनका हेतुभूत है, प्राण टिकानेका कारण है उन मुनिराजोको जो गृहस्थ भक्तिपूर्वक पात्रदान, आहारदान करते हैं, ऐसे गृहस्थोका धर्म किसे प्रिय नही है ? आप देखो गृहस्थधर्मका ही वर्णन चल रहा है और शुरू-शुरूमे कहाँसे प्रारम्भ किया ? उससे यह बात समझनी चाहिए कि श्रावक जनोका मुख्य कर्तव्य दान और पूजा है । कुन्दकुन्दाचार्यने रयणसारमे बताया है—दाणं पूजा मुक्खो । अब देखो भावुकतामे कितने ही लोग ऐसे हो गए जो यह कहते है कि हमे तो सम्यग्दर्शन हो गया है, हमे साक्षात् परमात्मा दिखता है । ऐसी दृष्टिमे पूजा भी गई और दान भी गया । होडकी जा रही है मुनिसे और रह रहे है गृहस्थीमे । तो ढगसे रहना चाहिए था, किन्तु गृहस्थधर्मकी मर्यादाको लाघ गये तो क्या हाल होगा ? कहते है ना कि कोई अगर सीमाका उल्लघन करके कूदे तो वह चोट खायगा । व्यवहारधर्मका अविरोध होते हुए निश्चयधर्मका आश्रय करना छठे गुणस्थान तक कहा गया । व्यवहारनय, निश्चयनय, शुद्धनय, इस प्रकार पूर्व-पूर्वके प्रसादसे उत्तरोत्तर बढ-बढकर नयातीत बने, यह मगल क्रम है, उस क्रमसे अपना-अपना विकास करके आत्मानुभव करें । गृहस्थ भी आत्मानुभव कर सकते । आत्मानुभव ही लोकमे सार है, बाकी सब बेकार है । लोगोसे प्रीति की, मोह जुटाया, और, और भी किस्सा कहानी बने, आरम्भ बना, परिग्रह बना, लोक मे यश फैलाया, बडे-बडे ठाठ बनाये । इससे कोई जीवको सार बात मिलेगी क्या ? जीवका सार तीन लोकमे क्या है ? रागद्वेषरहित सहज ज्ञानस्वभावका आश्रय याने आत्मानुभव । तो आत्मानुभव एक मुख्य कर्तव्य है, मगर गृहस्थ पडा है एक पकमे, उसके सामने परिग्रहके प्रसगका काम बडा टेढा पडा है । आजीविका सम्बन्धी काम करे तो वहाँ भी अनेको तरहके ददफद विकल्प ।

(५६) पात्रदानका महत्त्व—

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे समतभद्राचार्यने कहा, जिनको कि आचार्योंने कलिकाल सर्वज्ञके नामसे सम्बोधित किया याने इतने ऊँचे ज्ञानी पुरुष थे समंतभद्राचार्य कि दर्शन-शास्त्रमे, व्याकरणमे, छंदमे, अध्यात्ममें बडी ऊँची विद्वता थे। जो लोग उनके दर्शनशास्त्र पढते है वे उसमे जब एक अध्यात्मकी लहर पाते हैं तो वह इस ढंगकी लहर होती है कि जिससे अध्यात्मका तत्त्व पानेपर बडा मजबूत अध्यात्म बनता है। तो उन समंतभद्राचार्यको अन्य आचार्यजनोंने कलिकाल सर्वज्ञ कहा। उन समन्तभद्राचार्यने कहा है कि गृहस्थीके कार्यों से जो पापबध किया उसको धोनेका उपाय है पात्रदान। उससे प्रारम्भ कर रहे कि जो मुनीश्वरोको पात्रदान करते है वे तीर्थप्रवृत्तिके विशिष्ट प्रवर्तक है। पात्रदान बिना कैसे मुनीश्वरोका शरीर टिका रहेगा और वे रत्नत्रयमें कैसे बढ सकेंगे ? यदि ऐसे ही अपमृत्यु हुई तो उनका कल्याण न होगा। तो जिस शरीरके टिकनेपर वे अपने आत्मकल्याणमे बढते हैं ऐसे शरीरकी रक्षा जो करते है ऐसे गृहस्थ जनोका धर्म किसे प्रिय न होगा। कहते है कि शरीर के रहनेपर भी तीनों लोकको प्रज्वलित करने वाले रत्नत्रयको मुनीश्वर धारण करते है उनका काय कैसे टिकेगा ? अन्नसे। अन्न खाये मायने आहार करे तो उससे शरीर टिकेगा भक्तिपूर्वक दिए हुए उस पात्रदानसे, आहारपानसे मुनियोका शरीर टिकता है तो इतना बडा कार्य होनेमे, इतना ऊंचा सयोग होनेमे गृहस्थका, जो रत्नत्रयधारी मुनिजनोकी सेवामे लग रहा उसको क्या अध्यात्ममे प्रेम न आयगा ? क्या रत्नत्रयके प्रति उसके प्रीति न जगेगी ? उसका भी भला हो रहा है, तो इस प्रकार जिन गृहस्थजनोके द्वारा किये गये दान विधिसे मुनिधर्म टिक रहा है ऐसे सद्गृहस्थका धर्म किसे प्रिय नहो है ? इस छंदमे श्रावकोंके पात्र-दानके कर्तव्यकी मुख्य बात कही गई है।

> आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैः,
> पात्रेभ्यो दानमापन्निहत जनकृते तच्च कारुण्यबुद्धया।
> तत्त्वाभ्यास स्वकीयव्रतरतिरमल दर्शनं यत्र पूज्यं,
> तद्गार्हस्थ्य बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः ॥ १३ ॥

(५७) गृहस्थके गुणोंकी चर्चा—

गृहस्थधर्मकी ही बात चल रही है, कई छदोमे चलेगी और जैसा कि प्रयोग होना चाहिए व्यवहार होना चाहिए उस ढगसे यहा वर्णन चल रहा है। पद्मनन्दि आचार्य अध्यात्म के बहुत ऊँचे विद्वान थे। जैसे इस ही ग्रन्थमे अध्यात्म विषयके बारेमे स्वतंत्र स्वतत्र परिच्छेद

इतने ऊंचे लिखे हैं—एकत्व सप्तति, जिसमे करीब ७०-७२ श्लोक है अध्यात्मके बारेमे कि वह अंतस्तत्त्व कारण समयसार क्यों है ? इसके बारेमे जो उन्होने वर्णन किया बहुत प्रयोगात्मक व्यवहार्य और पालन करनेके योग्य वर्णन किया वह बहुत अच्छा ऊँचा समीचीन वर्णन है उसपर गत चातुर्मासमे जो प्रवचन हमने दिये थे वे करीब ७० दिन चले थे। उन श्लोकोमे कितना विधिसे अतस्तत्त्वका दिग्दर्शन कराया। यह ग्रन्थ मुख्यतया गृहस्थोंके लिए है और उन्होने समय समयपर अध्यात्म प्रेरणा दी है, मगर शुष्क वर्णन नही है। व्यवहार कैसा होना चाहिए उनका जिसमे उनका भला हो ? अच्छा एक बात और मानलो कि सभी गृहस्थ अगर मोक्षगामीकी शान बगराने लगें और सभी यह कहने लगें कि अजी हम तो बडे ऊँचे हैं, हमे यह पात्रदान करना बेकार है, यह तो छोटे लोगोका काम है, वे साधुको पानी को भी न पूछें तो फिर क्या हाल होगा साधुजनोका ? आजके समयमे बहुतसे लोग इस तरह के भी हो गए है जो ऐसे भाव रखते, पर जो निष्पक्ष जिनवाणीके भक्त लोग है वे तो मुनि-जनोकी भक्ति करते ही हैं। जो निश्चय एकान्तवादी लोग हैं वे भी मुनिजनोको आहार पानी देना मिथ्यात्व समझते और जो व्यवहार-निश्चयवादी है वे भी उसे मिथ्यात्व समझते, कैसी एक दुर्दशा है मुनिजनोकी मगर जो स्याद्वादके प्रेमी भक्त जन है, जिन्हे जिनवाणीपर यथार्थ श्रद्धा है वे तो मुनिजनोकी रक्षा करते ही है। वैसे तो अब पचमकाल है, आखिर इस पंचम कालके अन्त तक धर्मका अन्त होगा तो कैसे होगा ? उसका कुछ रूपक अभीसे दिखना चाहिए न ? दिन प्रतिदिन धर्मका ह्रास हो रहा है। लोग तो कहते है कि छठे कालमे प्रलय होगी, पर उसको लक्षण तो अभीसे दिखाई देने लगे ना ? ये जो ऐटम बम, अणुबम आदिक बन रहे हैं ये और है क्या ? इनका आखिर होगा क्या ? ये एक न एक दिन फूटेंगे, देशके देश गर्त होगे। इस पचमकालके अन्त तक कुछ न कुछ धर्म रहेगा, मुनि, श्रावक श्राविका इस पंचमकालके अन्त तक मिलेंगे मगर थोडे मिल पायेंगे। तो उस धर्मके मिटनेके लक्षण तो अभी से दिखना चाहिए न ? इसीलिए तो विश्वमे नाना प्रकारके दर्शन (मजहब) बढ रहे है, धीरे धीरे इस जैनधर्मके नामका भी लोप होगा मगर वस्तु तो कभी नही मिटती। जो वस्तुका स्वरूप है सो ही तो जैनधर्मकी बात है। फिर कोई इस वस्तुस्वरूपकी बात बताने वाला आयगा, फिर प्रथम तीर्थंकर होगे फिर स्याद्वादकी बात चलेगी। तो वे सद्गृहस्थ जहाँ पर जिनेन्द्र देवकी आराधना हो रही है, जैसे पहले समयमे जिनेन्द्र पूजाका वातावरण रहता था, बडे-बडे लोग स्वय उस पूजाके प्रेमी होते थे, बडे ठाठ बाटसे सब पूजा विधान चला करता था और अब भी चलता है कही कही, मगर इस कलिकालकी ऐसी ही महिमा है कि

इसी तरहके लोग पैदा हो रहे है, जिनमे से कोई तो प्रमादवश जिनपूजा नही करते, कोई अपनेको भगवानसे भी बडा मानकर नही करते। तो धीरे धीरे जिनेन्द्रपूजा कम होती जा रही है मगर सद्गृहस्थ वे है जहा जिनेन्द्रदेवकी आराधना की जा रही हो।

(५८) गृहस्थोंकी धर्मस्थिरताके आधार गुरुजन—

गुरुवोके प्रति विनयभाव होना गृहस्थका मुख्य भाव है। पहले समयमें कोई जान भी जाय कि यह गुरु, यह मुनि सदोष है तो भी अन्य लोगोंके सामने वे बड़े विनयभावसे ही अपना प्रवर्तन करेंगे, क्योकि समाजकी, धर्मकी रक्षा करना उनकी जिम्मेदारी है। समाजमे गुरुविनय हीनताका वातावरण न हो। जिस समाजमें गुरु नही होते वह समाज चल नही सकता। छोटे समाजसे लेकर बडे समाज तक देख लो। जिसके यहां जैसे गुरु माने जाते हो। अब जैनशासनमे तो गुरु निरारम्भ निष्परिग्रह माने गए है और देखो जो मुनि है वे भी तो एक साधक हैं। किसीके दोषोपर नजर डालें तो दोष ही दोष दीखेंगे, किसीके गुणों पर नजर डालें तो गुण ही गुण दीखेंगे। एक बात और भी समझ लेना कि यह है हीन-सहनन वाला समय। मुनि होनेका निषेध तो इस कालमे भी नही है मगर मुनियोके २८ मूल गुण कहे गए हैं, बाकी और उत्तर गुण होते है। तो दोष देखने वाले लोग उत्तरगुणों की चर्चा करके उनको दोषी बतलाते, उनसे घृणाका वातावरण फैलाते है कहते कि अरे ये काहेके गुरु हैं, ये तो जाडेके दिनोंमे पुराल ओढते हैं। अरे तो जाडेसे बचना, संयमकी विराधना न होने देना यह क्या हीन संहनन वालोको जरूरी नही? और फिर यह कहां लिखा है कि जो ठढ गर्मीकी भीषण परीषह सहे सो मुनि। अरे यह तो उत्तरगुणकी बात हैं, मूल गुणकी बात नही है और यहां भी बताया गया कि २२ मूल गुणोमे कदाचित किसी मूलगुण मे कमी आ जाय तो भी वहां मुनिपना नही बिगडता। केवल एक नग्नत्व ऐसा है कि जिस मे बिगाड करे तो मुनिपना नही रहता। बाकी मूल गुणोमें कदाचित् कमी आ जाय तो भी वहा मुनिपना नही बिगडता। पुलाक मुनि कौन? भावलिङ्गी मुनि। क्या वे पूज्य हैं? भावलिङ्गी मुनिके भेद हैं—पुलाक, व पुरु तो ऐसे गुरुजनोके प्रति विनयका भाव आये तो उससे आपको लाभ है कि हानि? गुरुजनोकी जो बात है उसे गृहस्थ न समझ पाये या कुछ भी बात हो मगर जहा नम्रता है, विनयका भाव है, प्रणयन है, इतना तो है अवश्य। जो मुनिजनोका विनय करता है उसको सयममे प्रीति है और फिर देखो—तीर्थप्रवृत्ति करना, समाजका चलाना, एक ऐसा वातावरण बनाना कि आगे भी जो नई परिपाटी चलेगी वह उसीका आधार लेकर चलेगी। इसीको कहते है तीर्थप्रवृत्ति। उस तीर्थप्रवृत्तिकी ओर ध्यान

दें, यह हम आपका एक बहुत बडा जिम्मेदारीका काम है, यह एक बहुत कुछ सोचने विचारने की बात है।

(५९) गुरुजनोंके प्रति भक्ति व साधर्मी जनोंमें वात्सल्यसे गृहस्थधर्मकी स्वच्छता—

यहाँ यह बतला रहे है कि सद्‌गृहस्थजनोका गुरुवोके प्रति विनयभाव रहता है, वह है गृहस्थका धर्म। धर्मात्मा जनोंमें परस्परमे बडी ऊँची प्रीति होती है, अगर धर्मात्मा कोई दिखे ज्ञान वाला, श्रद्धान वाला, व्रती अव्रती कोई तो उसे देखकर हृदय इतना प्रफुल्लित हो जाय कि जितना अपने बाल बच्चोको अथवा परिजनोको देखकर न प्रफुल्लित होता हो। अगर इस वात्सल्यके बजाय कोई घृणा करे। ईर्ष्या करे, द्वेष करे, मुह फेरकर चले तो वह धर्मात्मा नही कहा जा सकता। भैया! एक बार हम (प्रवक्ता) गुजरात प्रान्तमे तलौद गाव गए तो वहा निश्चयएकान्त मानने वालोका बडा प्रभाव देखनेको मिला वहां तो आजकल भी बडी कठिन स्थिति चल रही है। हम जब वहां पहुचे तो क्या देखा कि कुछ बुढिया श्रद्धा भक्तिवश हमारे पासमे तो आना चाहती, मगर उनको निश्चय एकान्तवादियोका इतना भय था कि वे इधर उधर देखने लगी कि कही कोई देख तो नही रहा। आखिर वे वहांसे मुख फेर कर चली गई। उन बुढियोकी तो बात क्या, छोटे-छोटे बच्चोको भी यह सिखा रखा है कि किसी भी पीछी धारीको नमस्कार न करना, उनसे मुख मोड लेना, आखिर वहा की ऐसी दशा देखकर हमारे अश्रु आ गए। तो भला बतलावो वहां कहा रही धर्मात्मापनेकी बात जहा एक धर्मात्मा दूसरे धर्मात्माको देखकर इस तरहसे ईर्ष्याका भाव करे। अरे धर्मात्माओमे एक दूसरेके प्रति बडी उच्च प्रीति (वात्सल्य) होना चाहिए यह तो सद्‌गृहस्थका धर्म है। जिस गृहस्थका जिस श्रावक चर्यामे पात्रके लिए दान होता है उस गृहस्थधर्मकी बात इन विशेषताओको बतानेके लिए कह रहे हैं। जो आपत्तिमे पड गया हो, फस गया हो उसके प्रति करुणाबुद्धि होना, गृहस्थकी विशुद्ध प्रकृति है। गृहस्थ गृहस्थोचित प्रकृति रखकर शास्त्रका, तत्त्वका अभ्यास देखिये। तत्त्वाभ्यास उन्नतिका बिल्कुल सीधा उपाय है, आत्मानुभव का एक सीधा उपाय यह है कि आत्माको मैं ज्ञानमात्र हू, केवल ज्ञानमात्र हू, ज्ञानस्वरूप हू ऐसा मनन करें। मात्र ज्ञानस्वरूप, मैं जानता हूं, अन्य विकल्प न लाइये, अन्य कुछ न सोचिये, सोचिये अपनेको और अपनेको भी ज्ञानमात्रके रूपमे। बस ज्ञानमात्र चैतन्यप्रकाश है अन्य कुछ नही है मेरा। वही वही बात, ज्ञानमात्र, ज्ञानमात्र तो ज्ञानद्वारा जब केवल सहज स्वरूपकी ही बात आयगी, स्वरूप आयगा, ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही आयगा तो उसे आत्मानुभव अवश्य होगा। चाहे आत्मानुभव कहो चाहे ज्ञानानुभूति कहो। अध्यात्मशास्त्रने स्पष्ट किया

है कि चाहे शुद्ध आत्मानुभूति कहो चाहे ज्ञानानुभूति कहो, आपको बडा सुगम मार्ग मिलेगा। अपने आपको इस तरह अगर परखा कि मै ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं सो ऐसा सहज ज्ञान-स्वरूप हूं, जिन जानकारियोके द्वारा हम पहिचानते हैं, जानते है, किन्तु सब प्रकारकी ज्ञान पर्यायोमे निरन्तर रहने वाला जो ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वभाव है उस रूप अपनेको माना तो आपको सर्वसिद्धियां हो जायेंगी। अन्य कुछ विवाद उसमे है ही नही। ज्ञानमात्रका अनुभव करें, मैं ज्ञानमात्र हू।

(६०) विभावोंसे असहयोग और स्वभावका सत्याग्रह जीवोद्धारका मूल तन्त्र—

देखिये ज्ञानमात्र अपनेको अनुभव करनेके लिए दो बातें चाहियें—एक तो असहयोग और दूसरा सत्याग्रह। देखिये जब यह भारत देश अंग्रेजोंका गुलाम था उस समय उनसे आजादी पानेके लिए गांधी जी ने दो उपाय उठाये थे—(१) सत्याग्रह और (२) असहयोग। याने देशकी आजादीके लिए सच्चा आग्रह होना और विदेशी चीजोको न लेना, उनका असहयोग करना। उन्हे औपाधिक समझना, नैमित्तिक चीज समझना। तो यहां भी दो चीजें चाहिए सत्याग्रह और असहयोग। असहयोग किसका? कषायोंका। और सत्याग्रह किसका करना? अपने आत्माके स्वरूपका। देखिये वस्तुस्थिति अडिग है, प्रत्येक वस्तु अपने आपका ही परिणमन करेगी, किसी दूसरेका परिणमन न करेगी। यह त्रिकाल अकाट्य बात है, नही तो वस्तुका स्वरूप ही मिट जायगा। एक पदार्थ दूसरे पदार्थकी पर्यायरूप कभी परिणाम हो नही सकता। ऐसे होते हुए भी जो विकार आया है तो क्या मात्र निरपेक्ष अपने आपसे ही आया है? उसके लिए तो समयसारमे बहुत स्पष्टतासे अलग परिच्छेद बनाकर कहा है कि ये पुद्गल कर्मके उदयसे निष्पन्न भाव है जो परनिमित्त पाकर होने वाले है। बस हैं, मात्र हैं जीवकी परिणति मगर वे विभाव हैं, वे परदेशी है अथवा लावारिस है, कितने लावारिस हैं, कैसे लावारिस हैं? कर्मकी परिणति तो है नही इसलिए कर्म उसे सम्भालेगा ही क्यों और जीवके स्वभावकी बात है नही, जीवकी कषाय कुछ लगती नही। तो ज्ञानीका निर्णय है कि विभावसे मेरा नाता क्या, विभावके प्रति रंच भी लगाव नही ज्ञानीका। सो लावारिस विभावोको मिटना ही पडता है।

(६१) तत्त्वाभ्यासका आवश्यक मुख्य कर्तव्य—

यहा गृहस्थधर्मकी चर्चा चल रही है। जो भव्य सद्गृहस्थ है उनका क्या कर्तव्य है, यह बतलाया जा रहा है। तत्त्वाभ्यास बनाते रहना यह कल्याणी पुरुषका मुख्य कर्तव्य है पदार्थका कैसा स्वरूप है इसका अभ्यास होना बहुत आवश्यक है, क्योकि सुख दु:खका शमन

होना और आत्मीय सत्य आनन्दका उदय होना यह तो जिस तरह होगा सो ही होगा। यहा किसी की जबरदस्ती नही चल सकती। हर बातकी विधिया होती हैं। तो तत्त्वाभ्यासमें सारांश मुख्य बात यह है कि यह समझ पाना कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र सत् है। किसी सत् का कोई दूसरा सत् कुछ है नही। बिल्कुल भिन्न चीज है, जिस समय यह निर्णय रहता है चित्तमे कि मेरे आत्माका तो यह मैं आत्मा ही हूं, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही हू, यह जब यथार्थ प्रकाशमे आता है तब बहुत-सी विपत्तिया आपदायें सब दूर हो जाती हैं। जीवको दु ख क्या लगा है यहा मनुष्यको कि देशमे, समाजमे राष्ट्रमे कुछ अपना नाम होना, कुछ विशेषता लोगोके चित्तमे मेरे प्रति आयें, मैं दुनियामें अच्छा कहलाऊँ, लोग मेरेको बहुत उच्च उच्च पदसे देखे, ऐसा जो ध्यान है जो मोह भरा ख्याल है यह इस जीवको दु खी करता है। तब यह ख्याल मिटे कैसे ? बस जब यह जाना कि सब स्वतंत्र स्वतंत्र सत् हैं, कोई मेरा सुधार न कर देगा, और कोई मेरे बारेमे कुछ अच्छा समझ जाय तो उससे मेरेको कुछ नही मिलनेका। यहा तो जितनी दृष्टि अपने आपके स्वरूपकी ओर होगी, जितना हम अपने आपको परखेंगे, अपने आपके स्वतंत्र चैतन्यस्वरूपमें मग्न होगे बस वही एक मात्र सार है, वही हित पथ है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मेरे लिए हितका मार्ग नही, पर मैं सबसे निराला हू, ज्ञानमात्र हू।

(६२) संसारकी विकट संकटरूपता—

'देखो यह संसार बडा विचित्र है, इस संसारमे दुःख और सुख चकेकी तरह परिवर्तित होते रहते हैं, जैसे चकेमे आरे होते है तो वे ऊपर नीचे आते जाते रहते है इसी तरह ससारी जीवोका सुख दु ख भी आता जाता रहता है। कभी एक जैसी स्थिति नही रहती तब समझो कि इस सुखके बाद क्या आयगा ? दु.ख और इस दुःखके बाद ? सुख। तो भला बतलाओ जिसके बाद दु ख मिले वह अच्छा है या जिसके बाद सुख मिले वह अच्छा है ? तो हर एक कोई यही कह देगा कि जिसके बाद सुख मिले वह अच्छा है। तो इस सुखकी अपेक्षा दु·ख अच्छा है। यहां कोई कितना ही सुखी दिखता हो, मजेमे दिखता हो मगर किसीको भी निरन्तर सुख ही सुख नही मिलता। जो कल्पित सुख है उसकी बात कह रहे औरकी तो बात क्या, तीर्थंकर भी जब तक गृहस्थावस्थामे थे, केवली न हुए थे, तब तक वे भी सदा सुखी नही रहे, आप सोचते होगे कि उनको दुःखकी क्या बात थी ? गृहस्थीमे भी बालापनसे बडे तक इन्द्र सेवामे रहते थे, उनको दु खकी क्या बात थी ? पर बात ऐसी

है कि यह तो अपने उपयोगकी बात है। यह उपयोग कुछ न कुछ सोचता रहता है, तो बाहर में जब कही राग है तो उसकी कल्पनायें भी अनेक प्रकारकी उठतीं रहेगी और वहीं दु खका कारण है। तो तीर्थंकरको भी गृहस्थावस्थामें सदा सुख रहा हो, ऐसा कोई नही कह सकता। चक्रवर्ती आदिक जो बडे बडे पुण्यवान जन है उनको सदा सुख रहा हो यह नही कहा जा सकता। रह ही नही सकता, क्योकि संसार है और यह कल्पनाके आधारपर चलता है, मगर जिसको सुख बहुत होता हो, सुखमें समय अधिक गुजरता हो उसे सुख ही कहते हैं। ऐसे जीव कोई है नही ससारमे कि जो प्रभुत्व पानेसे पहले छद्मस्थ अवस्थामें, प्रमत्त दशामें एक सुख ही सुख सदा रहे, ऐसा बन नही सकता चाहे साधु भी हो। छठे गुणस्थानमें साधु हैं, अब देख लो सबसें देखनेमें यो लग रहा कि साधुको कोई प्रकारका कष्ट नही, उसके पास कोई चीज नही, कुछ ममता नही, ऐसे बैठे है कि जैसे मात्र शरीर है, कुछ चिन्ता नही है, कुछ व्यापार नही है; कोई शल्यकी बात नही है, उनको दुःख किसी समय क्यों आयगा ? लेकिन नही, यह तो उपयोगकी बात है। उपयोग परिवर्तित होता है। अभी चर्या भी करना है, अब आहार करके आये, कुछ उपदेश किया, कुछ शिष्योके बीच बैठे, उनकी बातें सुनी, कुछ गुरुके सामने गये अपने प्रायश्चित्तकी बात किया, तो बताओ ये सब उस साधुकी सुखकी अवस्थायें हैं क्या ? नही वहां कष्ट नही आता क्या ? आता। तो इस संसारमें बडे बडे चक्रवर्ती तकका किसीका पुण्य ऐसा नही होता जो सदा सुख ही सुख प्रदान करे। फिर हम आप जैसे छोटे लोगोकी तो बात ही क्या है ? कुछ भी बात नही। तो ऐसा जान कर इस ससार को दु.खदायी जानकर इससे तो उपेक्षा करना ही योग्य है।

वस्तुस्वरूपके अनुकूल ज्ञानप्रकाशमे शान्तिका लाभ—

देखो भीतरमें ज्ञान प्रकाश है वह आत्मा पवित्र है। उसकी धीरता है, शान्ति है, उसका जीवन सफल है जिसने यह जाना कि अन्य सब जीव और सभी पौद्गलिक पदार्थ मेरे आत्मस्वरूपके सिवाय अन्य सब मुझसे अत्यन्त जुदा है, मेरा उनमें अत्यन्ताभाव है। तीन कालमें भी उन सबमें से कुछ भी मेरा हो नही सकता, मैं किसीका हो नही सकता। सब निमित्तनैमित्तिक योग है। मगर प्रत्येक पदार्थ परिणमता खुद ही खुदमें तो जब ऐसा प्रकाश रहना है गृहस्थके और घरमें रह रहा है सो काम करना पडेगा सब कुछ दूकान भी जायगा, घर भी रहेगा, लोगोसे बात भी करेगा, किसीका मन भी बिगाडेगा कभी प्रतिकूलता है कभी अनुकूलता है। सब बाते आयेंगी, मगर जिसे तत्त्वाभ्यास है, जिसे तत्त्वज्ञान है उसको कभी अधीरता नही हो सकती। तो गृहस्थके कर्तव्यमें एक कर्तव्य है तत्त्वाभ्यास। गृहस्थधर्म

की बात चल रही है। गृहस्थकी शोभा, गृहस्थका विकास, प्रसन्नता, संतोष किन किन बातों में हो सकता है वही सब बात कही जा रही है। उनका कर्तव्य है कि अपने व्रतोंमें प्रीति रखना अर्थात् व्रतोसे उदासीनता, उपेक्षा याने दोष लगाना, अतिचार करना ये सब बातें नही होती गृहस्थमे। आप सब भी गृहस्थ हैं जो नियम लेते है उस नियमको आप लोग निभाते है। किसीका मानो रात्रि भोजनका त्याग है, रात्रिको पानी भी नही पीता। अब कदाचित् उसका मरण होने वाला है तो वह पहलेसे ही दूसरोसे कह देता है कि मेरी इस स्थितिमे मुझे कोई रात्रिको जल या औषधि कुछ न देना। तो यह व्रतके प्रेमकी ही तो बात है। अगर कोई माने कि यह व्रत है, यह मेरा स्वरूप है, यह मेरी स्वरूपवस्तु है, मेरा सर्वस्व है, इस रूप मैं हू तब तो वह गल्तीपर है, क्योकि उसे शुद्ध चैतन्यस्वरूपका भान नही है, लेकिन शुद्ध चैतन्य-स्वरूपका भान होनेसे जिसे सम्यक्त्व जगा है और उसके राग चल रहा है तो उस रागके फलमे अपने लिए हुए व्रतमे प्रीति उसे रहेगी। मैं इसका भग क्यो करू ? गृहस्थके विकासमे जीवका विकास कैसे हो, इस प्रसगमे बतला रहे है कि जहां पूज्य निर्मल दर्शन होता है मायने सम्यग्दर्शन, वहा व्यग्रता नही आती। देखिये सम्यग्दर्शनमे भीतरमे श्रद्धान बना क्या ? कि सबसे निराला ज्ञानमात्र मैं आत्मतत्त्व हू इस प्रकारकी प्रतीति बाहरमे क्या ? जिन वचनोमें भक्ति, जिनेन्द्रके वचन अन्यथा नही हो सकते। जिन वचनमे शका नहीं उत्पन्न हो सकती। धर्म धारण करनेके एवजमे भोगोकी आकाक्षा नहीं जगती। धर्म सनिदान मत करें। भले ही वह दूकानमे जाता है तो सोचता है कि आज कुछ फायदा होना चाहिए वह बात अलग है मगर धर्मधारण कर उसके एवजमे धन वैभव आदिक भोग सामग्री चाहनेकी बात आवे तो उससे ससार सकट ही मिलेगा। ज्ञानी गृहस्थके निदानपरिणति नही रहती।

(६४) कुगुरु आदिकके किसी चमत्कारसे आकर्षित न होकर प्रसन्नचित्त हो गुरुसेवा करनेका कर्तव्य—

साधु पुरुषको देखकर घृणाका भाव न हो। यह सद्गृहस्थके कर्तव्यकी बात चल रही है, कोई साधु पुरुष किसी रोगसे पीडित है उनकी सेवा हो रही, तो उनके मुखसे लार भी निकलती, मलमूत्रादि भी वही पर करते, फिर भी सद्गृहस्थ उनकी सेवा करते हुएमें ग्लानि नही करता। इस बातमे आप कोई अचरज न करना। अभी आपके बच्चेके नाक निकल आये तो कोई मा अपने बच्चेकी नाक पोछनेमे घृणा तो नही करती, साडीके एक पल्लेसे उससे रति करके नाक पोछती है। जिसको समझा कि यह मेरा है ऐसा कुछ भी अनुराग हो तो घृणा तो नही आती। तो जिसके ज्ञान जगा और जिसका नाता साधुसतोसे

लेगा उसका इतना नाता लगता है साधु संतोसे कि जितना नाता उसके परिजनोसे नही लगता, तो भला उनकी सेवा करते हुए वे घृणा करेंगे क्या ? सद्गृहस्थकी बुद्धि इतनी स्वच्छ होती है कि कभी किसीके चमत्कारको देखकर, किसी कुगुरुके चमत्कारकी बात क्या कहें ? जो पैसा मांगने वाले मदारी लोग होते है वे भी बडा चमत्कार दिखाते है जो चीज कहो सो वे निकालकर दिखा देते हैं । ऐसी एक घटना मैंने स्वयं ग्रांखो देखी । एक जगह मदारीका खेल हो रहा था तो बडी भीड लगी थी । मदारीने कहा—कहो भाई तुम लोग क्या चीज खाना चाहते ? जो कहो वही निकाल दें । तो किसीने कहा—करमकल्ला । अब मैं जानता ही न था कि करमकल्ला क्या चीज होती है ? क्या ग्राप लोग जानते है ? हां करमकल्ला बंद गोभीको कहते है । अच्छा तो उस समय उसकी ऋतु भी न थी, पर उसने निकालकर सबके सामने रख दिया सबने देखा, हमने भी देखा । तो ऐसे ऐसे चमत्कारके बहुतसे खेल आप लोगोंने भी देखे होंगे । तो इस प्रकारकी चमत्कारकी बातोंका वहाँ मोक्षमार्गसे तो सम्बन्ध नहीं । याने शरीरसे, कर्मसे विभावोसे छुटकारा मिले, इसका पंथ तो नही है यह तो ऐसे बहुत-बहुत चमत्कार देखे तो भी ज्ञानी गृहस्थका मन उनसे चलित नही होता । वहां अपनी श्रद्धा छोडकर उस ग्रोर लगता नहीं । एक सद्गृहस्थकी विशेषता है, क्योंकि उसने तो यह ठान लिया कि अब हमारा मार्ग होगा सारे जगसे ही निराला । उसके चित्तमें कोई दूसरी बात नहीं है इसलिए कुदेव कुशास्त्र कुगुरुकी कोई चमत्कार बनाये तो उससे वह बहकता नही है । सद्गृहस्थकी शोभा सद्गृहस्थका एक भीतरी पौरुष किया ढगसे चल रहा है ।

(६५) ज्ञानीकी एक विशेषता उपगूहन और उपवृंहण—

सद्गृहस्थ उपगूहन अंगका पालक है । आज समाज छिन्न भिन्न है और समाजमे कोई पार्टी तो ऐसी हो गई है कि वहा लोगोने तो शर्म, लाज भी तज दी है हाल क्या होगा सो सब देख रहे है और हालत क्या होगी सो सब जानते हैं । देखो गुरुजन मनुष्य है, भगवान तो नही हैं साधुजन साधक है कि सिद्ध ? साधक है, तो साधकका अर्थ है कि उनमे अवगुण हैं, कमी है, राग द्वेष है, उन्हें मिटाते है और आत्मतत्त्वकी साधना करते है, अपने पदके अनुसार चलते है, मगर जो दिगम्बर जैनत्वके द्वेषी है वे दिगम्बर जैनका नाम बनाकर दोषके रूपसे बोलेंगे । जैसे इटावामे एक निश्चय एकान्तवादी भाई बोले कि आज कलके मुनिजन तो चूहे की तरह पुरालमे छिप जाते हैं । दूसरे एकान्तवादी बोले कि हमारी पार्टी का सकल्प है दिगम्बर परंपरा मिटाकर देवें तो भला बतलाओ यह भी कोई शोभा की बात है । कितना दु:ख हुआ वहांके लोगोको यह बात सुनकर । अरे श्रावक तो सोचे अपनी बात

कि वे अपने कर्तव्यमे कितना अच्छा कर रहे है। हालाकि गुरुजनोका बहुत उत्तरदायित्व है, लेकिन वह हीन सहनन है जिससे शीतके दिनोमे पुरालमे पड गए तो इससे तुम्हारे कोई दुसाले तो नही मागे, कपडे तो नही लिये, भला पुराल (घासफूस) मे रहकर ठडसे बचे, तो निमोनिया जैसी बीमारियोसे तो बचे असमय मरणसे तो बचे। कुछ भी हो मगर वैसा कहना शोभाकी बात तो नही है। मतलब यह है कि गुरुजनोमे थोडी कमीकी बात हो तो भी जनता मे घोषणा न करें, आखिर उपगूहन अंग नाम किसका है ? आपने देखा होगा कि जब जिनेन्द्रभक्तके यहा मदिरमे कोई ब्रह्मचारीके भेषमे ठग रहता था। सेठको उसपर विश्वास हो गया था। एक दिन सेठ कही बाहर गया हुआ था, उसी बीच मौका पाकर वह ब्रह्मचारी ठग मदिरमे जो छत्रमे रत्न थे वह चुराकर ले गया। उन रत्नोकी चमक देखकर सिपाहियोंने समझ लिया कि यह रत्न चुराकर लिए जा रहा है सो उसका पीछा किया। आखिर पकड भी लिया, कही सेठ भी इतनेमे आ गया। सिपाहियोने सेठसे कहा कि देखो यह तुम्हारे रत्न चुराकर लाया है तो वहा जिनेन्द्रभक्त बोला—अरे भाई इन रत्नोको तो हमने मँगाया है, इसने चुराया नही है। वहा उस सेठने धर्मकी अप्रभावना बचाया, पीछे कुछ कहा हो, डाँट दिखायी हो जो भी बात कही हो, मगर जनतामे यह बात न आ सके कि इस धर्ममे ऐसे लोग होते हैं, यह सोचकर वैसा कहा। अभी जल्दीकी ही ललितपुरकी एक घटना है, वहा मदिरमे कोई ब्रह्मचारी आया था, तो वह मदिरकी धोती उठाकर ले गया। वहांके मालीने उसका पीछा किया, कुछ दूर जाकर पकड लिया। वही थी एक सेठकी दूकान। तो उस सेठने अपने धर्मको अप्रभावनासे बचानेके लिए कहा—अरे, यह धोती तो मैंने मगायी थी, वहा मालीके दो एक तमाचे भी लगाये। आखिर बादमे फिर वह सेठ मालीके पास जाकर क्षमा मागता है, कहता है कि तुम बडे ईमानदार सेवक हो, तुम्हे ऐसा ही करना चाहिए, मगर उस जगह स्थिति ऐसी थी कि अपने धर्मको अप्रभावनासे बचानेके लिए हमने तुम्हे मार भी दिया था, सो क्षमा करो तो मतलब क्या है कि जनतामे यह उमग बनी रहे कि यह शासन पवित्र है, इस शासनमे कोई कलककी बात नही है, यह बात अगर पब्लिकमे न रखी हो तो कितने ही जीव धर्मकी स्वच्छतामे आस्था रखकर अपना उद्धार कर सकते हैं। रही एक शोधबीनकी बात तो वह अपने आपकी एक अतरग कमेटीमे अतरगमे जो खास खास जिम्मेदार लोग है विचारार्थ रखे यह उनसे सम्बन्ध रखने वाली चीज है फिर दोषीको समझावे प्रतिक्रिया करे समस्त जनतासे अगर धर्मके अपवादकी बात कह दी जाय तो लोग धर्मके उन्मुख न होंगे बल्कि धर्मसे अलग हो जायेंगे।

(६६) ज्ञानीकी धर्ममें अद्भुत प्रीतिका दिग्दर्शन—

सद्गृहस्थकी वृत्ति देखो भीतरमे जो यह भावना जगती है कि निर्मल दर्शन होना सम्यग्ज्ञान होना भीतरमे तो और सबसे विविक्त एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभवन होना यह जीवके उद्धारका अंतरंग साधन है । तब फिर बाहरमे वृत्ति कैसी होती है ? कोई धर्मसे चलित हो गया हो या धर्मसे चलित हो रहा हो तो उसको धर्ममे स्थिर कर देना; शरीरसे सेवाके, वचनोसे योग्य बोलकर और धनसे भी मदद करके उसको धर्ममे स्थिर कर देना, धर्मसे चलित न होने देना खुदको भी दूसरोको भी । वात्सल्य तो सद्गृहस्थका खास गुण है, उसके बिना न समाज चैनसे रहेगी न व्यवस्था रहेगी, न खुद भी खुश रहेगे इसलिए साधर्मी जनोंमे और साधारणतया प्राणिमात्रमे वात्सल्यभाव रहे स्वरूपको निरखकर । अगर साधर्मी जनोको एक दूसरेको देखकर भीतरमें ईर्ष्या जग जाय, सुहाये नही; उपेक्षा हो जाय तो यह बात जो है वह कैसे कह सकते कि उसके अन्दर ज्ञान जगा ? उसे तो बडा प्रमुदित होना चाहिए । तो वात्सल्यभाव साधर्मी जनोमे गोवत्स सम होना चाहिए । कैसा उदाहरण दिया है गाय बछडेका । भला बतलाओ गायको बछडेसे कोई आशा तो नही रहती कि मैं बूढी हो जाऊँगी तो मेरा यह बच्चा मुझे घास खिलायेगा । उसे तो वर्तमानमे भी उस बच्चेसे सुख की आशा नही, लेकिन निष्कपट होती है । बछडा अगर पानीमे गिर जाय तो गाय भी गिर जाती है । निष्कपट प्रीति है गाय बछडेकी, ऐसे ही साधर्मी जनोंमे परस्परमे निष्कपट प्रीति होनी चाहिए और फिर अपना आचार-विचार, बोलचाल, व्रत, नियम, सयम, तपश्चरण, दान विधि सभी तरहकी बातें ऐसी योग्य होती रहनी चाहियें कि जिससे जैनशासनकी प्रभावना बनी रहे । सद्गृहस्थका कर्तव्य बताया जा रहा है कि यह बात जिस गृहस्थमे होती है उसे धर्ममे श्रेष्ठ बताया है । और इससे कोई भिन्न स्थितिमे जाय तो उसे मोहजाल ही रहता है । दुःख ही रहता है । देखो यह मानव जीवन बडी मुश्किलमे पाया । मुनि होते बनता नही । रहते गृहस्थी बसाकर है तो फिर ऐसी योग्य चर्या, ऐसा योग्य आचार, ऐसा योग्य विचार होना चाहिए जिससे कि बाहरमे भी प्रभावना हो और स्वयके अन्दर भी बड़ा प्रसन्नता रहे ।

आदौ दर्शनमुन्नत व्रतमित सामायिक प्रोषध-
स्त्यागश्चैव सचित्तवस्तुनि दिवाभुक्तं तथा ब्रह्म च ।
नारम्भो न परिग्रहोऽननुमतिनोद्दिष्टमेकादश,
स्थानानीति गृहव्रते व्यसनितात्यागस्तदाद्य. स्मृत ॥१४॥

(६७) मोक्षमार्गमे चलनेपर प्रथम कदम —

श्रावक रहते हुए अपने आचरणमे किस प्रकारसे क्रमश ऊँचा पहुचता है, कितनी जल्दी पहुचता है वह सब वर्णन आपको ११वी प्रतिमाओके क्रमिक वर्णन मे मिलेगा। और देखो अनेक लोगोको जैनशासनमे श्रद्धा होनेका एक यह भी कारण बना, जो उन्होंने ११ प्रतिमाओका स्वरूप देखा और यह समझा कि यह कैसा क्रमश आचारमें उन्नत होनेका उपाय और एक स्थिति बताया है उसमे तो आप कही भी देख लो—गृहस्थका क्या व्रत है। यहाँ मनमाना कोई प्रवर्तन नही। कैसा क्रम है कि इस पदमें इतना त्याग इतना बढ जाय कि निवृत्ति उपेक्षा और आत्मरमणकी बात बने तो उसका यह पद है। तो इस प्रकार जो ११ पद हैं श्रावकके वे बताये गए हैं गृहस्थधर्ममे या श्रावकधर्ममे रहते हुए उनकी उन्नतिके क्रम हैं—पहिला है दर्शनप्रतिमा। देखो—सम्यग्दर्शन तो चतुर्थगुणस्थानमे है पर सम्यग्दर्शनके साथ यदि निरतिचार अष्ट मूल गुणोका पालन निरतिचार जो भी व्रत लिया, अष्ट मूल गुण निभे, विषयोका त्याग, दोष एक भी न लगे, ऐसे मूल गुणोंमे ऐसी वृत्ति बनती है तो उसे कहते हैं दर्शनप्रतिमा। आचारमें अभी आया ना, और मोक्षमार्गमें इसका प्रयोगात्मक कुछ कदम बढने लगा। कदम क्या है ? परसे उपेक्षा करना, निजके अभिमुख होना। तो देखो जितनी परपदार्थोसे निवृत्ति होगी, परका प्रसंग न रहेगा उतना ही इसको अपने आपके स्वरूपमें उतनी ही सुविधा बढेगी।

(६८) द्वितीय प्रतिमामे अहिंसाणुव्रतका निर्देश—

दूसरी प्रतिमा हैं व्रतप्रतिमा, ५ अणुव्रतका पालन, साथ ही शीलका पालन। ५ अणुव्रतमे अतिचार और उस सप्तशीलका दृढतम अभ्यास होना, नियम रखना, ऐसे १२ व्रत श्रावकके होते हैं, ५ अणुव्रत क्या ? हिंसाणुव्रत—त्रस जीवोकी हिंसा न करना और ... भी निष्प्रयोजन घात न करना। अहिंसाणुव्रतमें देखो त्याग है संकल्पी हिंसाका, यह उद्यम करता है, रोजिगार करता है, आरम्भ करता है घरमें रसोई वगैरहका और कोई प्रतिकूल पुरुष धन हडपने आये और शील हडपने आये या अन्य कुछ बात हो तो यह लडाई भी ठानता है और इतना होनेपर भी स्वपरहितकी भावना है इसीलिए व्रत है अहिंसाणुव्रत।

(६९) गृहस्थका सत्याणुव्रत—

सत्याणुव्रत—सत्य वचन बोलना, दूसरोको दुःख न पैदा करना। दूसरोको हित ... ले जायें ऐसे सभले हुए सत्य वचन बोलना यह सत्याणुव्रत है। ये गृहस्थके अणु-

व्रत मूलगुणमे भी बताये गए और अणुव्रत व्रतप्रतिमामे भी बताये गए। वहाँ दर्शनप्रतिमा मे अभ्यासमे है अणुव्रत, अतिचार नही टलते। यहा निरतिचार अणुव्रत होता है। निन्दा करना आदिक दुर्वचनोका प्रयोग ज्ञानी नही करता, मुजफ्फर नगरमे एक गोष्ठी है जो हर वृहस्पतिवारको लगती है। उसके सदस्य वे लोग है जो उसके नियमोके अनुसार चलते है। और फिर हर वृहस्पतिवारको जब बैठक होती है तो वहाँ क्या काम होता है ? पहले तो मंगलाचरण पढते, फिर कुछ भजन कीर्तन बोलते, फिर सभी लोग अपना कोई न कोई पाठ सुनाते चाहे कथानक रूपमे हो चाहे अन्य किसी रूपमे हो। उसके बाद थोडा थोडा अभ्यास रूप धर्मकी बात पढाई जाती है। उसके पश्चात् ७ दिनके लिए सभीको कोई न कोई नियम दिए जाते है। उन नियमोका सभी लोग पालन करते है। जिस दिन उस नियममे कुछ त्रुटि आयी उस दिनकी वह त्रुटि नोट कर लेते है। सबके पास छपी हुई कापियाँ होती है। अब सप्ताहमे एक दिन वे सब गल्तियाँ गोष्ठीमे देशको जाती हैं, फिर उन गल्तियोको त्रुटियोंको सुधारनेकी कोशिश करनेके लिए उन्हे प्रेरणायें दी जाती हैं, इस संस्थासे उन लोगोको बडा लाभ मिला। उसके सचालक है भाई सुमेरचन्द जी। तो उस संस्थामें हमने देखा कि एक नियम कई महिनोसे चल रहा है—क्या ? किसी की निन्दा न करना। यद्यपि कभी कभी दूसरेके प्रति निन्दात्मक भाव उमड पडते है, कुछ निन्दात्मक शब्द बोलनेके लिए थोडा जीभ भी उठ जाती है, मगर फिर झट सभल जाते हैं तो सत्याणुव्रत याने किसी की चुगली न करना, निन्दा न करना, इससे मिलता क्या है सो बताओ ? इस जीवनको यदि बडा ऊँचा बनाना है तो जीवनमे एक गुण यह लावो कि हमे किसी दूसरेकी कभी निन्दा नही करना है। आखिर निन्दा वचनसे फायदा क्या मिलता ? बल्कि उससे अपना उपयोग और बिगडता और जो निन्दात्मक वचन सुनने वाला है वह भी बडे असमंजसमें पड जाता है, बल्कि अगर वह बलवान हुआ तो बदला भी लेनेकी सोचता है। तो निन्दा करनेसे रंच लाभ नहीं, बल्कि उपयोग और बिगडता है, बजाय इसके यदि गुणानुवादकी दृष्टि रहे तो कमसे कम इस उपयोगमे गुणका आकार तो आया। गुणाकार तो हो गया उपयोग। उस समय कुछ व्रत की आभा तो उपयोगमे आयी। दूसरी बात दूसरोके गुणकी बात कहनेमे यहाँ कोई कष्ट, कोई सक्लेश नही करना पडता और दूसरेकी निन्दाकी बात बोलनेमे कुछ भीतरमें कष्ट उठाना पडता है। तब जाकर निन्दाकी बात बोली जा सकती है। तो जीवनमे कोई यह गुण ले ले कि हमे तो प्रिय वचन बोलना है, निन्दाके वचन नही बोलना है, कम बोलना है। विवेकसे बोलना है। किसीको कष्ट न पहुचे ऐसी बात बोलना है, यह बात अगर जीवन

मे लाये तो बहुत भला है। अच्छा देखो बात तो चलती है हर जगह ऐसी कि जो बड़े मित्र है परस्परमे वे आपसमे ऐसी मजाककी बात करते कि सुनने वाले यह सोचते कि इनका कितना आपसमें विरोध है। और है नही विरोध, मगर बात कुछ ऐसी चल बैठती है तो ऐसी बात चलना योग्य नही है। यह भी क्यो चले ? क्यो न एक उदार, धीर, गम्भीर बनें, क्यो ऐसी फिजूलकी बात हो ? यह फिजूलकी बात कभी-कभी तो एक विरोधका रूप ले लेती और कभी कभी तो इसका रूपक बहुत अधिक बिगड सकता है, इसलिए जो ये तू तू मैं मैं की बातें हैं ये फिजूल बातें है।

(७०) हितमित प्रिय वचन बोलकर जीवनको कष्टरहित बनानेका अनुरोध—

जो अपने वचन सभालकर बोलेगा वह व्यग्र न होगा। वचनोंसे ही तो मनुष्य की कीमत जानी जाती है जिसके वचन गए उसका सब गया, जिसके वचने अनुचित निकले उसकी अनुचितता जाहिर होगी। तो वचन ही एक ऐसा धन है जिससे मनुष्यकी श्रेष्ठता आकी जाती है। वचनोकी दरिद्रता ? अरे इन वचनोकी क्या दरिद्रता करना ? क्या मिलता है सो बतलावो। अब देखो जैसे खानेकी बात है तो इसके कितने ही शब्द हो सकते, जीमिये, भोजन कीजिए आहार करिये, खाइये भखिये ठूंसिये आदि मगर सभी शब्दोकी महिमा देखो इन शब्दोसे ही तो सतोष हो जाता है और इन शब्दोसे ही चित्तमें बडा खेद हो जाता है। जैसे किसीने आपको खाना खिलाया तो उसके इन शब्दोके प्रयोगसे ही शान्ति और अशाति की बात प्रकट हो जाती है। उन शब्दोके हेर फेरसे ही उसके भीतरकी बात जाहिर हो जाती है। सुना है कि दिल्लीमें कुछ ऐसी ही प्रथा है कि वहा आने वाले मेहमानसे लोग पहले ही पूछ बैठते कि साहब आप कब आये और कब जायेंगे ? तो इन वचनोसे ही हृदयकी सब बात जाहिर हो जाती है। तो एक बात यह निर्णयपूर्वक अपने जीवनमें प्रयोग बनाओ कि किसी की चुगली नही करना, निन्दा नही करना और हित, मित, प्रिय वचन बोलना। एक बार किसीसे किसीने शिकायत की कि भाई आपको अमुक व्यक्ति इस तरहसे अपशब्द कह रहा था तो उन्होने उत्तर दिया कि वह कहता हो या नही, पर आप तो कह ही रहे हो। बस वह चुप हो गया। तो फिर उसने कभी कोई बात नही कहा। तो वचन एक ऐसी चीज है कि जिससे इस गृहस्थकी शोभा है। इस गृहस्थको निर्विघ्नता रहे, इस पर कोई उपद्रव न आये अर्थात् सुविधामें रहे उसके लिए वचनकी प्रमाणीकता और वचनोका प्रयोग यह बहुत खास जरूरी चीज है। हां फिर अचौर्याणुव्रत है। चोरीका परित्याग। फिर ब्रह्मचर्याणुव्रत है अन्तिम अणुव्रत परिग्रहपरिमाण व्रत है। मनमें बहुतसे लोग सोच रहे होंगे कि यह कैसे

निभाया जाता है, कैसे बनता है ? देखो इतनी बात तो अनिवार्य रूपसे होनी ही चाहिए सभी सद्गृहस्थोमे भाव बने बाद फिर कोई कठिन न लगा।

(७१) गृहस्थधर्ममें प्रारंभसे ब्रह्मचर्याणुव्रत तकका विवेचन—गृहस्थके कर्तव्यमे, श्रावकके कर्तव्यमे, उन्नतिकी दिशामें ११ प्रतिमाओकी बात कही जा रही है। इस ग्रन्थमें मंगलाचरणके बाद धर्मका वर्णन करनेका सकल्प किया गया था और धर्मको ५ परिभाषाओमे बताया था कि जीवदया धर्म है, गृहस्थ और मुनिधर्मके भेदसे दो प्रकारका धर्म है, रत्नत्रय धर्म है, उत्तम क्षमा आदिक दसलक्षण धर्म है और निश्चयत मोह, क्षोभरहित निज आनन्दमय जो परिणति है वह धर्म है। इन ५ परिभाषाओमे से एक जीवदया धर्म है इसके सम्बन्धमे वर्णन हो चुका। अब गृहस्थधर्मका वर्णन चल रहा है। गृहस्थधर्ममे ११ प्रतिमायें कही है, मगर उन प्रतिमाओमे मूलमे पहले सप्त व्यसनोका त्याग होना आवश्यक बताया है, उन ७ व्यसनोके बारेमे वर्णन आगे आयगा। प्रतिमाओमे पहली प्रतिमा तो दर्शनप्रतिमा है याने सम्यक्त्वके साथ-साथ उतनी विरक्ति आयी कि वह निरतिचार अष्ट मूल गुणका पालन करे, सप्त व्यसनोंका त्याग करे, विरक्ति आये वहाँ दर्शनप्रतिमा हुई। जब और कुछ विरक्ति आती है तो श्रावकके १२ व्रतोका आचरण करता है जिसमे ५ अणुव्रत है, तीन गुणव्रत है और चार शिक्षाव्रत हैं। अहिंसाणुव्रत—त्रस जीवोकी हिसाका तो सर्वथा ही त्याग है और बिना प्रयोजन स्थावर जीवोकी हिंसाका भी त्याग है, सत्याणुव्रत—सच बोलना, हितकारी वचन बोलना, चुगली, निदा आदिकके वचन न बोलना। अचौर्याणुव्रत—किसीकी चीज (धन) न चुराना, क्योकि धनको लोग ११वाँ प्राण समझते है। जिसका धन हर लिया जाय मानो उसका प्राण ही हर लिया गया। कही धन प्राण नही है, मगर मजाकमे कह देते हैं। प्राण तो १० ही होते है, मगर धनमे लोगोको इतनी ममता होती है कि उसे ११वाँ प्राण बतलाते है। चौथा है—ब्रह्मचर्याणुव्रत। परस्त्रीका तो सर्वथा त्याग होता ही है इस गृहस्थको, पर स्वस्त्रीमे भी सतोष व्रत होता है और इतनी आशक्ति नही की जाती कि उसके पीछे ही रहे। हाँ जब कभी एक वेग होता, परिस्थिति आये तो गृहस्थ उस भावसे प्रवृत्त होता और स्वदार सतोष वृत्ति होती। उसमे भी बहुत त्याग है। किसीके तो नियम रहता कि महीनेमे २० दिन या २५ दिन ब्रह्मचर्यसे रहेगे। ब्रह्मचर्याणुव्रतमे स्वदार सतोष वृत्ति होती है।

(७२) गृहस्थधर्ममे सुख शान्तिके आधारभूत परिग्रह परिमाणाणुव्रतका विवेचन—परिग्रह परिमाणाणुव्रत। परिग्रहका परिमाण करना। आज जो घर-घरमे लोग दुःखी है, जहाँ जावो धनी है तो भी वह दुःखकी बात सामने रखता, निर्धन है तो वह दुःख

की बात सामने रखता ही है। आज घर घर क्यो दुःखी हो रहा है ? इस परिग्रहका परिमाण नही रखा और परिग्रहका परिमाण नही रख रहे तो सरकार परिग्रहका परिमाण कराती है, अगर मनसे करते प्रजाजन तो यह नौबत न आती। कानून बनते है—परिग्रहका परिमाण करा देनेके। अभी बना नही, मगर बन जायगा, तो जो नियम बनायेगा वह तो अपना पक्ष करके अपना धन बढायेगा और पब्लिकपर दाँत कटकटाये जायेंगे, पर ससारमे यह ही बात होती चली आयी है, लेकिन वे भी सुखी न रह सकेंगे। जिनके परिग्रहका परिमाण नही है उनको भीतरमें निराकुलताका कोई अवसर नही आ सकता। परिमाण तो हो। जिसकी जितनी हैसियत है वह उससे ड्योढा दूना रख ले मगर परिमाण अवश्य रखे। इससे अशान्ति न बढेगी। मान लो किसी चीजका भाव बढ जानेसे आमदनी काफी हो गई, परिमाणसे अधिक धन अपने पास हो गया तो उसे तुरन्त धर्मायतनोमें खर्च कर दें। उसको अपनी अवधिमें न शामिल करेंगे। वैसे तो अपनी कमाईका छठा हिस्सा, ५वाँ हिस्सा अथवा चौथा हिस्सा जो जितना करना चाहे वह उतना धर्मार्थ दान करता है, पर परिमाणसे अधिक जो कुछ आये, कदाचित् जानकर नही करता, हो ही जाता, भाव बढ गया, आ गया तो वह पूरा का पूरा धर्मार्थ दे देता है, उसे अपने पास नही रखता। परिग्रहका परिमाण होनेसे कितना लाभ है ? स्वयकी तृष्णा नही बढ़ती, दूसरे धनिकोको देखकर ईर्ष्या नही होती कि मैं क्यो ऐसा न बन गया, अरे जो बना है वह क्या बना है, बाहरी पदार्थ हैं, जो इन बाहरी पदार्थों मे ममता करता है उसके तो दुःख ही दु ख है। मोह हो तो दु ख है। परिग्रह परिमाणसे खुदमे संतोष होता, दूसरोसे ईर्ष्या नही होती, अपने आपमे तृष्णाका भाव नही आता, ये सब गुण अपने आप आते हैं। यो गृहस्थके ५ अणुव्रत होते हैं।

(७३) गृहस्थधर्ममे अणुव्रतके पूरक तीन गुणव्रतोका विवेचन—गृहस्थधर्ममे अणुव्रत के पूरक तीन गुणव्रत होते हैं। गुणव्रत उसे कहते जो अणुव्रतमे गुण कर दे याने कुछ अतिशय कर दे वे हैं दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत। आप इन प्रतिमावोका स्वरूप समझकर इस ओर ध्यान दें कि देखो किस क्रमसे वर्णन किया गया। मनुष्य अगर क्रमसे बढना चाहे तो किस तरहसे बढ़ते हैं ? यह तो वर्णन एक जैनशासनकी रुचिका भी कारण हो गया है अनेक पुरुषो को कि यहाँ किस तरहसे एक क्रमिक त्याग सयमकी बात कही गई। दिग्व्रतमे पहला है दिग्व्रत गुणव्रत याने जन्मपर्यन्तके लिए सर्व दिशाओ मे व्यापार सम्बन्धी क्षेत्रका नियमकर लेना। हम हिन्दुस्तानसे बाहर व्यापार न करेंगे, हम इस प्रान्तसे बाहर व्यापार न करेंगे, किसी प्रकारका नियम जीवनभरको रख लेवे, उससे होता क्या है कि उसकी तृष्णा नही

बढती । दूसरा है देशव्रत याने जीवन भरके लिए जितने क्षेत्रका नियम लिया उसके भीतर और नियम ले लेना कि मै १० दिन तक इस शहरसे बाहर सम्बन्ध न रखूंगा या दो घंटे तक मैं इस कमरेसे, मदिरसे बाहर सम्बन्ध न करूँगा। एक ऐसा संयम किया कि जिससे इसका मन और फँसे नही। यह हुआ देशव्रत। अब देखिये अनर्थदण्ड व्रत। इस पर खास ध्यान देना है सबको। बिना प्रयोजन जिन कामोमे पाप होता है उन कामोका त्याग करना। देखो आजीविकाका भी कोई प्रयोजन नही अथवा हो और अनुचित हो तो वह कोई प्रयोजन नही कहलाता और आत्मोद्धारका कोई प्रयोजन नहीं, ऐसे बहुतसे काम होते हैं जैसे पाप भरा उपदेश करना। अब इसमे उपदेशकको भी क्या मिलता और जिनको बताया जाता उनको भी क्या मिलता ? किसीका भरोसा है क्या, मगर किसी किसीकी आदत होती है ऐसी कि ऐसी ही बात कहते। जिनमे जीवोको बाधा हो, क्लेश हो वैसा उपदेश करना—एक जिनधर्मके पुरुषोके लिए नही बताया गया। हिंसादान — हिंसाकी चीजोको देना, जैसे चाकू, बर्छी, तलवार, आग आदिक किसीको देना। तो उसमे उस लेने वालेका अभिप्राय जानना चाहिए कि किस अभिप्रायसे यह मांग रहा है। अगर किसीके प्राणघात करनेका अभिप्राय है, किसीका घर फूँकनेका अभिप्राय है, दूसरोंका अनर्थ करनेका अभिप्राय है तो उसे वे चीजें मागनेसे न देना चाहिए। अब कोई साधर्मी भाई मानो लकडी काटनेको कुल्हाडी माँगे तो क्या उसे भी न देना चाहिए ? अरे वहाँ तो उसका अभिप्राय जान लेना चाहिए कि कही यह किसीका प्राणघात तो नही करना चाहता ? किसीका खोटा चिन्तन करना, बुरा विचार करना यह बहुत बुरी कषाय है। अपध्यान करना, बुरा चिन्तन करना कि अमुकका नुक्सान हो, घात हो, बरबादी हो तो इस ध्यानसे जीवको मिलता क्या है ? देखिये—सद्गृहस्थको किस प्रकार रहना चाहिए और ज्ञान वैराग्यकी उन्नतिके समयमे किस किस तरहकी उसकी वृत्ति बनती है, यह प्रकरण चल रहा है। गृहस्थधर्ममे १२ व्रत बताये गए हैं जो व्रत प्रतिमा मे कहे गए है। निरतिचार पालन ५ अणुव्रतका है, शेष ७ शीलोका पालन है। ७ शीलोमें अनर्थदंडव्रत तककी बात कही गई थी और अन्तमे बताया गया कि अपध्यान नामक अनर्थदण्डव्रत है याने प्रयोजन कुछ नही और अपनेको दण्ड है, दूसरोको दण्ड है। किसीका बुरा विचारना, किसीका काममे विघ्न डालना, ये सब अपध्यान कहलाते है। क्या जरूरत है अपध्यान करनेकी ? भावना यह भावें कि सब जीव सुखी हो, सब उन्नतिशील हो। यदि सब के सुखी होनेकी भावना रहेगी तो खुदका आत्मा भी प्रसन्न होगा, उपयोग भी ठीक चलेगा और उसे भी सुख होगा। इसलिए अपध्यान एक बडा अनर्थ है। यह गृहस्थको न चाहिए।

सद्गृहस्थको ही दया किसीको न चाहिए। जहाँ एक गृहस्थको मना किया है वहाँ मुनियोंको तो मना वैसे ही है।

(७४) गृहस्थके चार शिक्षा व्रतोंमें प्रथम शिक्षाव्रतका लाभ—

गृहस्थधर्ममें चार शिक्षाव्रतोंमें पहला है सामायिक, समतापरिणाम बनानेका अभ्यास करना। गृहस्थको चूँकि आरम्भ लगा, परिग्रह लगा, अनेक प्रकारकी बातें घटनायें, परिस्थितियाँ बनती है, उनके समतानेका अवसर बहुत कम है, इसलिए गृहस्थको, श्रावकको ३ समय नियत किए गए—प्रात., मध्यान्ह और सायंकाल। सामायिक करे, मंत्रकी आराधना करे, भगवानके स्वरूपका ध्यान करे, बारह भावनाओंका चिन्तन करे, आत्मचिन्तन, आत्ममनन करे, ये सब कार्य जहाँ किए वहाँ कुछ समय ऐसा व्यतीत होना चाहिए कि किसी भी परपदार्थका ख्याल न करे, विकल्प न करे, मात्र एक ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्त्वका आश्रय ले। कैसे ले? जानकर ले अथवा विकल्प न करे। आरामसे बैठ जाय तो अपने आप यहाँको प्रभुका दर्शन देगा। सब जीवोंके अन्दर सहज आत्मस्वरूप है, सबके अन्दर प्रभुता है, मगर विकल्पने, विषय कषायकी भावनाने अन्तःप्रभुके दर्शनपर आवरण डाल दिया। जहाँ कोई ख्याल न करे, विषय कषाय आदिककी भावना चित्तमें न रखे तो अपने अन्तः बसा हुआ प्रभु अपना दर्शन देगा, अनुभव बनेगा। अतएव सामायिक तीन समय करता। जिसके प्रतिमा नहीं है वह दो समय करे। और नहीं तो एक बार तो सामायिक करे ही करे। जिसको कुछ भी अपनी उन्नतिका भाव है तो एक साधारण सभी गृहस्थोंके लिए कह रहे—बैठो, प्रभुभक्ति करो, चिन्तन करो, संसारके स्वरूपका चिन्तन करो, आत्माके स्वरूपका मनन करो और सबको असार जानकर, इन बाह्य प्रसंगोंको असार अहित जानकर ऐसा चित्त बनायें कि किसीका भी ख्याल न करें। देखो परवस्तुका ख्याल भुला देना निर्मोहका काम है, मोहीका काम तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसका संस्कार ऐसा रहता है कि चित्तसे अज्ञानवासना अलग हो नहीं सकती। तो बहुत-बहुत ज्ञान करके अपने आपको केवल अपने आपका जिम्मेदार जानकर अपनेपर दयाका भाव रखो। जो-जो बाह्य संगमें पदार्थ हैं वे सब है, स्वतंत्र सत् है। जैसे सब जीव वैसे घरके ये जीव। न मेरे परिणमनसे गैर माने गये अथवा घरके माने गये, अन्य जीव कुछ परिणमते है और न उनकी परिणतिसे हम परिणमते। सब पृथक्-पृथक् जीव है। स्वतंत्र-स्वतंत्र अस्तित्व ध्यानमें लाकर इसका अभ्यास करके मोहका रोग मिटायें। घरमें रहना पड़ता है, रहे, रहना होगा और उतना राग रहेगा जिससे कि गृहस्थी चलेगी, व्यवहार रहेगा, विवाद न होगा, झगड़ा न होगा, सब बात सही रहेगी,

पर मोहभाव यह खुदको खा डालेगा । आत्माका बध करेगा मोहभाव । जो मोहमे लिप्त है वह किसी दूसरेका घात नही करता बल्कि अपने ही आत्मप्रभुका घात करता है । तो अपने आपपर दया करके इतनी बात तो काट ही दो इस जीवनमे कि मेरा तो सहज ज्ञानस्वरूप चैतन्यस्वरूपके सिवाय अन्य कुछ नही है । सब बातें बाहरी है, सब प्रसग हैं, सब घटनायें है, ऐसा एक दृढ निश्चय बना लें और ऐसा एक ज्ञान बना लें, यह किसी पर ऐहसान करने की बात नही है । यह तो आपको सुरक्षित करनेकी बात है ।

(७५) शुद्ध अन्तस्तत्त्वके उपयोगसे आत्माकी रक्षा व प्रगति—

भैया ! अपनेको आगे धर्ममार्गमे बढ़ना है, अपनेको आगे धर्ममार्गमे चलाना है तो उसका उपाय यही है कि अपनेको निर्मोह बनावें । किसीका मोह ममत्व न रहे । प्रतीति मे यह रहे कि मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं । अध्यात्मप्रसगमे जब जब शुद्धकी बात आये तो कभी रागद्वेष परिणतिकी बात न समझना । अध्यात्ममे जब एक शुद्ध अंतस्तत्त्वके स्वरूपकी दृष्टि करनेकी बात आती है उस शुद्धका अर्थ है कि अन्य सब परभावोंसे रहित अपने आप अपनी सत्तासे अपनेमे जो भाव रहे उसे कहते है शुद्ध । यह अध्यात्म प्रसगमे शुद्धकी परिभाषा बोलते हैं । अपनेको देखो—मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं, यह बडी दया है, बडी रक्षा है, यह बात अगर पालें तो बताओ इसकी कीमत तीन लोककी सम्पदा भी चुका सकती है क्या ? नही चुका सकती । अपने आपमे अपने सहज परमात्मतत्त्वका अनुभव जगे । बोध हो जाय, जो आनन्दनिधान है, ऐसी बात यहां मिल जाय तो त्रिलोककी सम्पदा भी इसका मूल्य चुका नही सकती । क्या धरा है इन बाह्य बातोमे ? ये बाहरी चीजें प्रकट पर डले हैं, पौद्गलिक मायापिण्ड हैं, इनसे जीवमे शान्ति कहा आती है ? कोई वैज्ञानिक सिद्ध तो कर देवे कि पर-पदार्थोंसे इस आत्मामे शान्ति घुसती है ? कहांसे आती, कैसे आती, क्या होता ? अनहोनी बात है, कभी हो नही सकती । त्रिकाल असम्भव बात है कि परपदार्थसे मुझमे शान्ति सुख आ जाय । अपने मे खोजना होगा, अपने निधानको देखना होगा । अपना स्वरूप अपनेको दिखे सबसे निराला केवल चैतन्यमात्र । जिनको कल्याण करना है उनको बधनरहित, भार-रहित अनुभव करना है और ऐसा निरखना है कि जिसमे सबके अन्तःस्वरूपपर दृष्टि जाय और किसी जीवसे घृणा न उत्पन्न हो सके । क्या करना घृणा करके ? कोई बुरा है तो उसके कर्मका उदय है, इस प्रकारका यह कर्मका नाच चल रहा है । यह तो अपने स्वरूपमे सहज परमात्मतत्त्व है, ऐसा निरखो । कोई जीव मेरा विरोधी नही, ऐसी बात दृष्टिमे रहे, ऐसी बात भीतर जिसके निर्णयमें आ सकता है उसका आत्महितकी पात्रता होती है । हां तो सद्गृहस्थ

के कर्तव्य बताये जा रहे है कि वह एक समय, दो समय तीन समय सामायिकका पुरुषार्थ करें, अभ्यास करें, बैठे। कुछ तो समझना होगा अपने आपके लिए। अब रोजका तो चलने लगे, दो तीन बार सामायिकको बात चलने लगी और उस सद्गृहस्थको एक धुन लग गयी कि हाँ हमारा कर्तव्य है कि हम तीन समय प्रभुका ध्यान, आत्ममनन और कुछ समताका अभ्यास विशेष रूपसे बनाया।

(७६) श्रावकधर्ममे द्वितीय शिक्षाव्रत प्रोषधोपवासका महत्त्व—

अब इसके बाद एक बात और उसके चित्तमे आती है। कमसे कम ७-८ दिनमे एक दिन तो पूरा ऐसे सुन्दर वातावरणमे बिताये कि जिसमे आरम्भ परिग्रह क्रोध कषायादिककी घटना न उपस्थित हो सके, उसके लिए किया प्रोषधोपवास नामका शिक्षाव्रत। बताया है कि अष्टमी चतुर्दशीको पूर्ण उपवास करें अथवा एकाशन करें, गृहव्यापारका त्याग करें। मदिरमे पूजा पाठ स्वाध्याय, सत्संग आदिक कार्योंमे अधिक समय रहे। यह सब कह रहे है अपने आत्मगुणोके विकासकी बातें। मान लो कोई प्रतिमा नही है। एक साधारण गृहस्थ है और कहे कि हमसे तो यह बात बन नही सकती तो यह कहना ठीक नही। यह बात हर एकसे बन सकती है तभी तो यह बात कही जा रही है। मगर किस पदमे बन सकती है ? वह तो ज्ञान और वैराग्यकी उन्नति होते-होते जब कुछ बढता है तब उसमे ये बातें चलने लगती है। आप कहेगे कि अष्टमी चतुर्दशीका ही दिन इसके लिए क्यो नियत किया, कोई दूसरा दिन क्यो नही नियत किया ? तो भाई आप ही लोग प्रस्ताव करके बताओ कि उसके लिए कौनसा दिन नियत किया जाय ? जो भी दिन बताओगे उसमे भी यही प्रश्न खडा हो जायगा कि यही दिन क्यो नियत किया गया, बाकी दिन क्यो नही नियत किए गए ? अच्छा तो एक वैज्ञानिक दृष्टिसे समझो—चतुर्दशी और अष्टमीके दिन तो पूर्णिमा और नवमीके पहलेके दिन है, ये दोनो दिन एक पर्वके जैसे दिन माने गए तो कुछ ऐसी ही विशेषता है इन दोनो दिनोके एक दिन पूर्वके दिनोमे कि जिनमे साग सब्जी जैसे खाद्य पदार्थ लेना उपयुक्त नही समझा गया। या कुछ भी बात हो मगर सप्ताहमे एक दिन प्रोषधोपवास करना और अधिकाधिक धर्मसाधनामे रहना, यह सद्गृहस्थका कर्तव्य बताया गया है। इस तरहसे यह गृहस्थ अपने आचार विचारमे आगे बढता जाता है, ज्ञान और वैराग्यकी दिशामे बढता जाता है।

(७७) श्रावकधर्ममे तृतीय शिक्षाव्रत भोगोपभोगपरिमाणव्रतका प्रभाव—

तीसरा है शिक्षाव्रत है भोगोपभोगपरिमाणव्रत मायने अपने भोगोपभोगमे आने

वाली चीजोंका परिमाण करें, उसमे सब परिमाण हो जाता। कितने खेत रखना, कितने मकान रखना, कितना अनाज रखना, सोना, चाँदी, बर्तन, वस्त्र आदिक सबका परिमाण हो जाता है। अपने खानेकी चीजोका भी परिमाण हो जाता है, कितनी हरी लेना, कितना क्या खाना, बाकी सबका त्याग कर दिया। यह सब अभ्यासमें बढ रहा है सद्गृहस्थ और आप ऐसा अनुभव भी करते होंगे कि जितनी-जितनी आवश्यकताये कम होती जाती उतनी उतनी आकुलता कम होती जाती और जितनी जितनी आवश्यकतायें बढती जाती उतनी उतनी आकुलता बढती जाती। तो अपने लिए जो खास जरूरी चीजें हो, जिनके बिना काम नही चलता ऐसी उचित कुछ चीजें रखलें, बाकी चीजोका त्याग कर दें। अगर मान लो भाव बढ जानेसे आपके पास परिमाणसे अधिक धन हो गया तो उस अधिक धनको परोपकारमे लगा दें, धर्मायतनमे खर्च कर दें। जिनके परिमाण नही वे भी विचार करें कि यदि ऐसा नही करते तो होगा क्या ? विशेष खा खायेंगे बीमार बन जायेंगे। वकील, अधिकारी, डाक्टर लोग ले जायेंगे, चोर डाकू हडप जायेंगे, खुद शल्यसहित मर जांयेंगे। सद्गृहस्थका यह एक मुख्य गुण है कि वह अपनेको बडा सात्विक रखे। कही यश, प्रतिष्ठा, कीर्तिकी आसक्ति न रहे कि फलाने ऐसे बडे आदमी है, उनके पास इतनी मोटरें है, इतने आराम है, ऐसा ठाठ है। वह तो अगर काम है उसका इस तरहका तो व्यापारसे वह नाता तो रखेगा, व्यापार करेगा, मगर अपने आपके उपभोगके साधनोमे सात्विकताकी वृत्ति रहेगी।

(७८) श्रावकधर्ममें चतुर्थ शिक्षाव्रत अतिथिसंविभागव्रतका महत्त्व—

चौथा शिक्षा व्रत है अतिथिसम्विभागव्रत। देखो जो सद्गृहस्थ होते है वे किसी त्यागी व्रती साधुको आहारदान देकर ही भोजन करते। उनका ऐसा नियम होता है। अब मान लो कोई प्रश्न करता है कि रोज-रोज तो अशुद्ध खाते, आज शुद्ध बनाया तो वह किसी उद्देश्यसे ही तो बनाया। उसका प्रश्न अज्ञानपूर्ण है। मान लो न खाये साधु तो आखिर परिवारके लोग तो खाते ही, चलो और दिन तो अशुद्ध विधिसे बनाते थे आज शुद्ध विधिसे बनाया, हिंसा टालकर बनाया, तो वह तो गुणकी ही बात हुई। और दिन तो जैसा चाहे बना लेते थे, न शुद्ध आटा, न शुद्ध घी, न शुद्ध विधि, जैसा चाहे बना लेते थे। आज अहिंसात्मक विधिसे सब काम किया तो वह तो भली बात हुई। दूसरी बात यह है कि केवल उस पात्रके लिए ही अगर भोजन बने और खुदके लिए अलगसे अशुद्ध विधिसे भोजन बने तो वह उद्दिष्टकी बात है और अगर सबके लिए शुद्ध विधिसे एक ही जगह भोजन बना तो उसमे उद्दिष्टकी कोई बात नही। वह बात भी साथ है कि वह पात्र यदि विधि न मिले तो छोड

देगा, दूसरी जगह देखेगा, न मिलेगा तो उपवास कर लेगा, पर उस भोजनमें उद्दिष्टका दोष नही है। इटावामे हमने एक निश्चयएकान्तवादीके मुखसे यह बात सुनी कि हम लोगोकी पार्टी तो इसी लिए है कि इस दिगम्बर जैन परम्पराको मिटाना है। उस भाई ने यह बात अनेक लोगोंसे कही। तो वहाँ यह बात सुनकर सभी लोग दंग रह गए। ठीक है, आखिर इस दिगम्बर जैन परम्पराका लोप तो होना ही है, उस ही के तो ये लक्षण दिख रहे। जिस समाजमे गुरुजनोके प्रति भक्ति नही वह समाज स्वच्छद बन जाता है, चाहे छोटा समाज हो, चाहे, वडा। जहाँ लोगोके मनमे यह बात आ गई कि बस मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही त्यागी, मैं ही पडित हू और बाकी लोग तो सब मूर्ख हैं, तो फिर न जाने उस समाजकी क्या स्थिति होगी ? इस अतिथिसम्विभागमे दान और पूजा मुख्य हैं। श्रावकोको बताया है कि उनमे शुभोपयोगकी मुख्यता है और शुद्धोपयोगकी मुख्यता है मुनियोमे। स्पष्ट शब्दोमे कुन्दकुन्दाचार्य ने बताया है "दाण पूजा मुक्खो" ये चार शिक्षा व्रत हुए।

(८९) श्रावकधर्ममे व्रतप्रतिमासे आगे श्रावकधर्मकी अन्तिम अवस्था तकका संक्षिप्त वर्णन—

यहाँ व्रतप्रतिमा पूर्ण हुई है। व्रतप्रतिमाके बाद आगे बढनेपर जो व्रतप्रतिमामे सीख रहा था बस उसकी ही निर्दोषता और उसकी ही विशेषता आगेके भावोंमे है। जैसे श्रावक अब तक सामायिक कुछ दोष लगाकर करता था जो उसका अतिचार बताया गया। अब वहाँ निर्दोष सामायिककी प्रतिज्ञा लेता है, उसके बाद चलकर प्रोषधोपवासका ऐसा नियम लेता कि इसके अतिचार न लगेगा, सप्ताहमे एक दिन प्रोषधोपवास करके धर्मध्यानमे रहेगा। इससे आगे बढता है तो सचित्तका त्याग करता है मायने कच्चा जल नही पीता, कच्चे फल नही खाता, सचित्त भोजन नही करता और अभी तक तो दूसरोको रात्रिमे भोजन भी करा देता था, मुखसे भी कह देता था कि इनको भोजन कराओ, मगर छठी प्रतिमा होने पर किसीको रात्रिभोजन करायेगा नही और न करनेकी आज्ञा देगा। ७वी प्रतिमा है ब्रह्मचर्य प्रतिमा। अब उसे अपनी स्त्रीसे भी ब्रह्मचर्य हो गया। घरमे रह रहे मगर भाई बहिन जैसे। ऐसे बहुतसे लोग हमने खुद देखा है जो घरमे एक साथ भाई बहिन जैसे रहते है। एक बार हमारे गुरुजी ने एक घटना सुनायी थी—कि एक पडित ठाकुरदास जी थे। उनकी दूसरी शादी हुई तो दूसरी शादी होनेपर प्राय. दूसरी पत्नीसे लोग अधिक स्नेह करते है, यो ही वह पडित जी अपनी उस स्त्रीमे बडे अनुरक्त थे। खूब पैसा देते थे, जेवर देते थे और अच्छे-अच्छे वस्त्र भी ला लाकर दिया करते थे, मगर वह स्त्री थी सात्विक

वृत्तिकी। जो कुछ उसके पास अपनी जरूरतसे अधिक होवे उसका वह गरीबोको दान कर दिया करती थी। बताओ इससे उस स्त्रीकी शोभा कम थी क्या ? एक बार पंडित जी ने बहुत कीमती साडी लाकर दिया। उस सस्ते जमानेमे शायद वह २००) की थी। आजकल के जमानेमे तो उसे हजार रुपयेकी चीज समझो। अब वह स्त्री अपने मनमे सोचने लगी कि यह साडी तो मेरे पास ४–६ माहमे ही फट जायगी, अच्छा होगा कि किसी गरीबको दान कर दें, सो उसने अपनी नौकरानीको दे दिया और यह कहा कि इसे पहिनना नही, इसे बेचकर अपने घरका काम चलाना। अब कुछ दिन बादमे वह पडित जी बोले उस अपनी स्त्रीसे कि देखो हम तुम्हे बहुत-बहुत रुपये पैसे भी देते, गहने भी देते और अच्छेसे अच्छे कपडे भी देते, मगर तुम दूसरो-दूसरोको ही दे दिया करती, अपने पास क्यों नही रखती ? तो वह स्त्री बोली—देखो कोई भी चीज आपने हमको दे दिया, हमने उसे अपने पास रख लिया, अब बताओ वह चीज हमारी रही कि आपकी ? वह तो हमारी हो गई ना ? अब हम उसका चाहे जो करें। हमे जिस बातसे संतोष होता वह काम करती। और आपकी उम्र कोई ६०-६५ वर्षकी हो चुकी, आपका हम पर बहुत अधिक अनुराग है, मोह है, तो इस मोहसे आपको चैन न पडेगी, आपको बडा दुःख उठाना पडेगा इस मोहसे। इसलिए आप तो अब ब्रह्मचर्यका नियम ले लो। तो वह पडित जी जरा चुपसे रह गए और झट वह स्त्री पडित जी की गोदमे आकर बैठ गई और बोली—हम तो आजसे आपकी बेटी है, आज से हमारा तो ब्रह्मचर्यका नियम है, तो फिर उन्होने भी ब्रह्मचर्यका नियम लिया। तो ब्रह्मचर्य याने अपनी स्त्रीसे सम्भोगके त्यागका नियम लेना। इसके बाद जब श्रावक और ऊँचे बढता है तो आरम्भका त्याग करता है। दुकान नही करता, व्यापार धंधा नही करता, जो कमा रखा हो उससे ही गुजारा करता और ऊपर चढता है तो सब परिग्रहका त्याग कर देता है, कुछ वस्त्र रख लेता है। १०वी प्रतिमामे अनुमति तकका त्याग हो जाता है। व्यापार धधा सम्बन्धी कोई अनुमति नही दे सकता। ११ वी प्रतिमामे निमन्त्रण तकका भी त्याग। तो बढता हुआ यह सद्गृहस्थ श्रावकके उच्च दर्जेपर पहुच गया। इस पदमे केवल एक लगोट और एक चादर रह जाता। इसके बाद ऐलक की स्थिति होती है जिसमे केवल एक लगोट मात्रका परिग्रह रह जाता है। इस पदमे स्त्रियोका ऊँचासे ऊँचा पद आर्जिकाका होता है। यहा तक इस छदमे श्रावकके व्रत बताये गए। इस छदमे प्रतिमाओका सकेत करते हुए आचार्य महाराज यह बात बतला रहे कि ये सब व्रत व्यसनत्यागमूलक है याने सबसे पहले इन सप्तव्यसनोका त्याग होना चाहिए तब वह आगे बढ़ सकता है।

यत्प्रोक्तं प्रतिमाभिराभिरभितो विस्तारिभि सूरिभिः,
ज्ञातव्यं तदुपासकाध्ययनतो गेहिव्रत विस्तरात् ।
तत्रापि व्यसनोज्झनं यदि तदप्यासूत्र्यतेऽत्रैव यत्,
तन्मूल सकलः सतां व्रतविधिर्याति प्रतिष्ठां पराम् ।।१५।।

(८०) श्रावकके सकल व्रतोंकी व्यसनत्यागमूलकता—

इन ११ प्रतिमाओके सम्बन्धमे जो पहले छदमे संकेत किया, आचार्यदेव बतला रहे कि इसका विशेष वर्णन उपासकाध्ययनमे आप पायेंगे। सक्षेपसे यहां कुछ बात बतायी गई है। तो यह समस्त श्रावकका व्रत इससे पहले व्यसनोका त्याग होना आवश्यक है। व्यसन किसे कहते है ? आपत्तिको। आपत्ति किसमे है ? बुरी आदतमे, इसलिए खोटी प्रकृतिको ही व्यसन संज्ञा दी गई है। तो देखिये कितनी ही चीजें हैं ऐसी कि जिनसे इस शरीरका काम अटका नही, बल्कि बिगाड है, मगर जब आदत खोटी हैं तो छूटती नही, तो यह ही तो बुरी आदत है। कहते हैं कि शरीरका काम नही बनता, उससे शरीरका बिगाड ही रहा सब कुछ, मगर त्याग नही कर सकते। जैसे शराब पीने की जिसे आदत हो गई उसकी वह आदत छूटती नही। यद्यपि शराबसे शरीरका स्वास्थ्य नही बनता, बल्कि हानि होती है, मगर छोडने मे समर्थ नही होते। कोई विवेक बनाये, साहस जगाये और छोडे। तो धीरे-धीरे छोडनेसे नही छूट सकता। जिस दिन हिम्मत करके सोच लिया कि हमे तो छोडना ही है तो बस छोड दिया, छूट जायगा। ऐसी कई घटनायें हुई हैं। जब पहले गुरुजी भी यहां (सहारनपुर) आये थे और हम भी आये थे तो उस समय लोगोने बताया था कि चिलकानाके त्रिलोकचद रईस और झब्बनलाल, इन दोनो व्यक्तियोको सिगरेटका व्यसन था। मगर एक दिन दोनो लोग एक दूसरेसे बोले कि अगर तुम सिगरेट पीना छोड दो तो हम भी छोड दें। आखिर दोनोने उसी दिनसे सिगरेट पीना छोड दिया और पासमे जो रखे थे उन्हे भी तोड ताडकर नालीमे फेंक दिया। किसी-किसीको ताश खेलनेका व्यसन हो जाता, मगर उस ताशके खेलनेसे फायदा क्या हुआ ? मान लो कुछ पैसे किसीमे जीत लिए तो वह भी एक खराब चीज है। कोई-कोई लडके तो ताश खेलनेमे इतने दिवाने हो जाते है कि उन्होंने अभी कुछ खाया पिया भी नही, मां जबरदस्ती खाना खिलानेको लाती है मगर वे जल्दी जल्दीमे थोडासा ही खा कर भाग जाते, क्योकि उनकी धुन लगी होती है उस खेलमे। तो जिस बानसे शरीरको लाभ नही, आत्माको लाभ नही, आत्मामे अशान्ति उत्पन्न करें, वे सब बातें व्यसन बन जाती हैं। इन व्यसनोका त्याग होनेपर यह आगे बढ पाता है। ऐसा आचार्य महाराज इस छदमे सकेत

दे रहे है। वे ७ व्यसन क्या-क्या है जिनको त्यागना चाहिए, उन ७ व्यसनोंको कहते है।

द्यूतमांस सुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः ।
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥१६॥

(८१) सप्त व्यसनोंका निर्देश—

जुवा खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्रीसेवन करना ये ७ महापाप है, व्यसन हैं, इनको बुद्धिमान् जन छोड देते हैं। सबसे पहला नाम किसका लिया ? द्यूतका। द्यूत खेलना अर्थात् जुवा खेलना यह व्यसन महाभयंकर व्यसन है। इस व्यसनसे सभी व्यसन आ जाते हैं। दूसरा व्यसन है मांस खाना, मांस प्राणिवधसे प्राप्त होता है, अतः इसमे हिंसा है तथा मांसमे सदैव अनंत जीव उत्पन्न होते रहते है, मांस खुद अपवित्र वस्तु है। यह व्यसन निन्दनीय व्यसन है। तीसरा व्यसन है मदिरापान करना। शराब पीनेसे हिंसाका पाप तो है ही, इसके पानसे मनुष्य बेहोश हो जाता है, धर्मकर्म सब भूल जाता है। चौथा व्यसन है वेश्यासेवन। वेश्याको नगरनारी कहा है। इसका सभी लोग मोही लोग, तुच्छ जातीय आदि भोग करते है। इसमे मोही हुए जन धर्मश्रवणके भी पात्र नही हो पाते। पाँचवां व्यसन है शिकार खेलना—निरपराध बनमे घास खाकर विचरने वाले, कंकण अनाजकण खाकर मौज मानने वाले पशुपक्षियोके प्राण हरना बडी निर्दयताका काम है। इसमे पापका तीव्र बध होता है जिसका फल दुर्गति है। छठवा व्यसन है चोरी। चोरी करना दूसरोके प्राण हरनेके समान है। चोर सदा चिन्तातुर रहते है। यह व्यसन भी खोटा है। सातवां व्यसन है परस्त्रीसेवन—पराई स्त्रीके साथ कुचेष्टा करना धार्मिक और सामाजिक दृष्टिसे अन्याय है, पाप है। ये सात व्यसनोके नाम कहे, इनका वर्णन आगे चलेगा।

भवनमिदमकीर्तेश्चौर्यवेश्यादि सर्व व्यसन पतिरशेषापन्निधिः पापबीजम् ।
विषमनरकमार्गेष्वग्रयायीति मत्वा क इह विशदबुद्धिर्द्यूतमङ्गीकरोति ॥ १७ ॥

(८२) अकीर्तिधाम, आपन्निधान द्यूतनामकव्यसनकी आलोचना—

गृहस्थकी उन्नतिके साधनोमे पहले यह साधन आचार सम्बन्धी कह रहे हैं कि व्यसनोका त्याग करना चाहिए। जीवन है, जीवन क्षण-क्षण जा रहा है। जैसे पर्वतसे गिरने वाली नदीका वेग कभी ऊपरकी ओर तो नही उठता, नीचेकी ओर जाता रहता है, ऐसे ही यह आयु क्षण-क्षण ह्रासकी ओर ही जा रही है, ऊपर नही लौट सकती। कोई जवान या वृद्ध पुरुष कहे कि हे प्रभो ! मैंने अपने इस जीवनमे बडी-बडी भूलें की। अब तो तुम हमारी

इस उम्रको मिटाकर बचपनकी उम्र कर दो तो बताओ कैसे कर दे ? या कोई वृद्ध कहे कि हे प्रभो मुझे तो अब तुम जवान कर दो तो कैसे कर दे ? अरे जीवनके बीते हुए क्षण एक क्षण भी पीछे नही हो सकते । तो इस क्षणिक जीवनमे कर्मके आचार विचार सत्य श्रद्धान मे समय गुजरे तो इस समय भी शान्ति, आगे भी शान्ति और जो दूसरे लोगोको देखकर होडसी मचा कर तृष्णा करके यहाँ वहाँ बहुत बडा प्रलाप कर डाला तो उससे लाभ क्या है ? तो व्यसनोमे प्रथम व्यसन है जुवा । यह जुवा अपकीर्तिका घर है । जुवा खेलने वाले का कोई अधिक विश्वास भी नही करता । सोचता है कि इस सट्टाखोरका क्या विश्वास ? आज कुछ है, कलका मालूम नही । तो यह जुवा अपकीर्तिका घर है और फिर देखो सर्व आपत्तियोका निधान है यह जुवा । जो जो आपत्तिया हैं धीरे-धीरे सब आ जानी । कई घर ऐसे बरबाद हुए, जुवा या सट्टेका लोभ लग गया और उसमे मानो सब कुछ खोया, बादमे स्त्रीके जेवर भी खो दिये, अन्तमे जो बात न होनी चाहिए, सो भी हो जाती । ऐसी ऐसी विपत्तियां आती है और उसका भविष्य खराब हो जाता है । उसकी वर्तमान शान्तिकी बात देखो तो वर्तमानमे भी उस जुवारीको शान्ति मिलती है क्या ? कोई सा भी जुवा हो । अच्छा एक तो यह हुआ बाहरका जुवा, अब एक भीतरका जुवा बतला रहे, जो बाहरसे दिख तो नही रहा और भीतरसे खेल रहे याने कोई बडे अच्छे ढगसे रह रहा, उसमे कोई प्रकार का व्यसन नही है और बडी अच्छी तरहसे अपने घरमे रहता है, न्याय नीतिसे कमाई करता है, दूसरोपर दया भी करता है, दूसरोके लिए कुछ त्याग भी करता है । इतना होने पर भी जुवारी हो सकता है भीतरसे । वह क्या कि पुण्यके फलमे तो हर्ष मानना और पापके फलमे विषाद मानना । यह आन्तरिक जुवा तो लगा ही हुआ है । अगर कुछ पुण्यका फल मिला, धन सम्पदा पर्याप्त मिली, परिवार अच्छा मिला, लडके बच्चे अच्छे मिले, समाजमे इज्जत भी है तो उससे एक सनोष माना कि हमारी तो बडी अच्छी स्थिति है और कदाचित कोई पापका उदय आया और किसी प्रकारकी आपत्ति आयी, तकलीफ होवे, आखिर होती ही है कोई न कोई तकलीफ । यह संसार तो पुण्य पापका घर है । कोई मनुष्य ऐसा नही कि निरन्तर पुण्य ही पुण्य पाता रहे । बीच-बीचमे पापके भी उदय आते । जब पापका उदय आता तो यह खेद मानता । तो यह आन्तरिक जुवा इस मोहभावके कारण जीवोको लगा ही हुआ है । तो भीतरी जुवा पहले मिटायें तो बाह्य आपदा भी दूर होगी ।

(८३) पापबीज विषममार्गाग्रयायी द्यूत व्यसनकी परिहार्यता—

मद्यादि व्यसनोके पति द्यूतके सम्बन्धमे चर्चा चल रही है । द्यूत कहते हैं उसे

जो मूलमे न कुछ जैसी बात मिले, मगर उसका परिणाम बहुत फैला होता है। अन्न आदिक के द्यूतमे यह ही तो होता है। एक बीज बोया तो उसके फल करीब ३५० (साढे तीन सौ) हो जाते हैं। चाहे गेहूं हो या धान हो। मान लो गेहू बोया तो बीज तो एक है, मगर उसमे से अंकुर ७—८ निकलते है और हर एक अंकुरमे एक बाल होती और एक बालमे करीब ४० दाने निकलते। देखिये कितना विस्तार होता है ? ऐसे ही यह द्यूत है। जुवा एक ऐसा ताप है कि पहले तो लगता है कि यह तो कुछ खराब बात नही है। न किसीको मारते हैं, न पीटते है, बस आरामसे बैठे ताश खेल रहे, मगर वह ऐसा द्यूत बनता कि पहले थोडे थोडे से पैसोसे हार जीत शुरू होता, फिर उसमें फंसाव बढता जाता। फिर उसमे फसाव होनेसे ये सब आपत्तियां आ जाती है। फिर धीरे-धीरे सभी व्यसन उसमे लग जाते है। तो जुवा तापका बीज है और यह तो नरक जानेके मार्गमे अग्रायी है अर्थात् आगे आगे ले जाने वाला है। ऐसे इस द्यूत नामके व्यसनको निर्मल बुद्धि वाले जन कैसे सेवन कर सकते हैं ? यह द्यूत बुद्धिको बिगाड़ता, हृदय बिगाडता, सम्बन्ध बिगाडता, पडौस वालोको विश्वास नही रहता, लोगोमे कुछ इज्जत नही रहती, इसलिए द्यूत व्यसनका जिसके त्याग है वही तो धर्मका अधिकारी है, वही पूजन करनेका, अभिषेक करनेका अधिकारी है। और फिर जो एक आत्मधर्मकी बात है सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, इनमे बढवारी व्यसनी पुरुषमे कैसे हो सकती है ? लाभ भी नही है, बढवारीकी बात जाने दो।

क्वाकीर्तिः क्व दरिद्रता क्व विपदः क्व क्रोधलोभादयः,
चौर्यादिव्यसनं क्व च क्व नरके दुःखं मृताना नृणाम्।
चेतश्चेद्गुरुमोहतो न रमते द्यूते वदन्त्युन्नत—
प्रज्ञा यद्भुवि दुर्णयेषु निखिलेष्वेतद्धुरि स्मर्यते ॥ १८ ॥

द्यूतव्यसनसे विमुख पुरुषोंकी निरापदता—

जिन विवेकी पुरुषोका द्यूतमे मन नही रमता, आत्मतत्त्वकी रुचि धर्मकी प्रीति होनेके कारण द्यूतमें मन थोडा भी अभिमुख नही होता उन पुरुषोके अकीर्ति कहां याने जो अधिकाधिक अपमान है, नुक्सान है वह घात, व्यसनके त्यागपर नही होता। उसे अकीर्ति कहां, दरिद्रता कहा ? भले ही निर्धन हो। जो धर्मसाधनासे चलता है, व्यसनोसे दूर रहता है, लेकिन दरिद्रता नही है उसके। दरिद्रता तो उसके कहलाती है जिसका चित्त विक्षिप्त हो जाता, धीर नही रहता, यत्र तत्र डोलता रहता है। तो जो द्यूत व्यसनका त्यागी है उसके दरिद्रता नही है, विपत्ति कहांसे हो ? और लोभ, क्रोधादिक कषायें भी कहांसे हो ? देखो

जब चित्त ठिकाने नही रहता तो वह अनेक विपत्तियोको आमन्त्रण करता रहता है। सब विपत्तियोका मूल है व्यसन द्यूत। इसी तरहसे और भी सब पाप हैं। उसकी बुद्धि ठिकाने नही रह सकती और जिसकी बुद्धि ठिकाने न रही उसीको तो कहते है मूर्ख। जिसकी बुद्धि ठिकाने नही रहती उसके लिए तो पद पदपर विपत्तियाँ है। जो द्यूतसे दूर है, जिनकी बुद्धि निर्मल है उनको विपत्ति कहाँसे हो ? क्रोध, लोभादिक भी नही हो सकते। जिनको ज्ञान से आदर नही, अज्ञानमे बाह्य बातोमे, इनमे ही जो रमा करते उन्हे पद-पदपर क्रोध आयगा, जरा-जरासी बातोमे उन्हे लोभ आयगा। तो क्रोध, लोभादिक भी आते जिनका द्यूतमे चित्त नही रमता। और जो जुवासे परे है उसको चोरी आदिक व्यसन नही लगते, क्योकि जो हार गया वह फिर चोरी करेगा, दूसरोंको दगा देगा। तो यह जुवा समस्त व्यसनोका एक सिरताज है। जो जुवासे दूर रहते हैं वे नरकोके दु:ख नही सहते। समस्त व्यसनोका मूल जुवा है, द्यूत क्रीडा है। यह बात चल रही है गृहस्थधर्मकी। कही गई थी न धर्मकी ५ परिभाषायें, जीवदया धर्म है और दूसरे नम्बरमें कहा था, गृहस्थधर्म और मुनिधर्म। और मुनिधर्म और उसी गृहस्थधर्मकी बात यहाँ चल रही है। गृहस्थधर्म ११ प्रतिमाओमे मिलता है, पर उन प्रतिमाओसे पहले व्यसनत्याग आवश्यक है। इन व्यसनोके कथनमे यह द्यूतका वर्णन चल रहा है। दूसरा व्यसन है मास खाना। अब उसके सम्बधमे कहते हैं—

वीभत्सु प्राणिघातोद्भवमशुचि कृमिस्थानमश्लाघ्यमूल।
हस्तेनाक्ष्णापि शक्य यदि न महता स्प्रष्टुमालोकितु च।
तन्मास भक्ष्यमेतद्वचनमपि सता गर्हित यस्य साक्षात्
पाप तस्यात्र पुंसो भुवि भवति क्रियत्का गतिर्वा न विद्म॰ ॥१६॥

(८५) मासकी अनेक खोटोका निर्देश—

मास वीभत्सु (भयानक) है, मासका आकार ही कितना बुरा लगता है ? तभी तो उस मासपिण्डके सामने लोग कपडा लगाते है। वे खुद घृणाकी दृष्टिसे उसे देख सकते है। जानते सब हैं, मगर मांसके प्रति इतनी लिप्सा बढी है कि वे उसे छोड नही पाते। चाहे कभी भीतरसे जी न चाहे खानेका फिर भी कुछ ऐसी आदत हो जाती है कि उसे खाये बिना रहा नही जाता। मास को कोई बच्चा नही खाता, मगर जब उसे बरबस खिलाया जाता तो चाहे वह शुरू शुरूमे कम भी कर देता हो, मगर जबरदस्ती खिलानेके कारण धीरे-धीरे उसकी आदत बन जाती है। तो यह मास वीभत्सु (भयानक) है, घृणाको उत्पन्न करने

वाला है और प्राणियोंके घातसे उत्पन्न होता है। अरे जैसा अपना जीव वैसे सब जीव। सब जीव एक समान है और देखो एक दुराग्रह कि लोगोने उसमें भी ऐसा भेद कर डाला एक दुनियामे अपनेको बडा अच्छा साबित करनेके लिए। कोई कहता है कि सूकरका मांस न खाना चाहिए, कोई कहता कि गायका मांस न खाओ, शेष सब खाओ, लेकिन मांस किसी का भी खाओ सब अपवित्र है। मांस तो प्राणियोंके घातसे उत्पन्न होता है। जो लोग मांस खाते है वे निर्दय हैं, उनके चित्तमे दया नही है। यह मांस अपवित्र है और इसमे कीडे भरे होते है। साथ ही यह निन्दनीय है, इसकी जड निन्दनीय है, इसकी बात भी निन्दनीय है। जिसको लोग हाथसे छूना भी नही पसद करते, जिसका लोग मुखसे नाम लेना भी नही पसद करते, जिसका नाम भी लोग सुनना नही पसद करते वह कितनी निन्द्य चीज है? अभी कुछ वर्ष पहिले लोग मासका नाम न लेने पाते थे। यदि कोई मासभक्षण करता भी हो तो कहते थे कि अमुक पुरुष तो मिट्टी खाता है। जिसको जीव जातिका पता नही वह जीवदया कहांसे पा लेगा?

(८६) अज्ञानता हटाकर जीवदयासे हृदयको ओतप्रोत किये बिना कल्याणकी पात्रताकी असंभवता—

यह न समझे कोई कि जिसे मालूम नही उसको पाप न लगता होगा। अरे जो नही जानता उसको तो डबल पाप लगता है। एक तो क्रियाका पाप लगता और एक अज्ञान का पाप लगता। इसको यो समझो—जैसे कही खूब आग पडी है और एक आदमीको उसका पता है कि यहाँ आग पडी है और एकको पता नही है। अब दोनोसे कहा जाय कि जरा यो ही खडे खडे पीछेको ओर थोडा चलना। अब वहाँ पडी थी आग। तो जिसे आग का पता था, ज्ञान था वह तो बडी जल्दी जल्दीसे पैर रखकर पीछे निकल जायगा, तेज न जल पायगा, और जिसे आगका पता नही, ज्ञान नही वह तो पैर गड़ाकर धीरेसे आरामसे निकलना चाहेगा। फल क्या होगा कि वह तेज जल जायगा। तो यहाँ अज्ञानताका दुःख सहा न। तो ऐसे ही यहाँ समझो कि जिसे ज्ञान है वह तो दुःखसे बच लेगा पर जिसे ज्ञान नही वह क्रियाके फलके साथ-साथ अज्ञानताका दुःख और सहेगा। सबसे बडा पाप है अज्ञानता का। इससे जानना चाहिए कि जीव कहाँ कहाँ होते? मार्गणा गुणस्थानमे सब जीवके बहुत परिचयके साधन होते है। चार गतियोमे ससारी जीव हैं, ५ प्रकारकी इन्द्रिय वाले है, ऐसे ऐसे कायके होते है, इन सबसे जीवोकी पहिचान होती है ताकि जीवदया पाल सकें। देखिये जैनियोंके मुख्य तीन चिन्ह होते है—जल छानकर पीना, देवदर्शन करना और रात्रिभोजन न

करना। आजकल तो इसका विशेष आदर न रहा, पर कभी जरूर ऐसा था। लोग तो कलेण्डरोंमे इस बातको लिखा करते थे। अब तो वह बात मिट गई, और-और बातें लिखी जाने लगी तो उन सब बातोमे ही एक जीवदया करनेका ही सकेत है। हाँ अभी एक गनीमत है जैन समाजमे कि मासभक्षण करने वाले लोग इसमें नही मिलते। कुछ अन्य लोगो द्वारा कभी कभी सुननेमे आता कि आजकल कुछ नई पार्टीके लोग ऐसे देखनेमे आये हैं कि जो लुके-छिपे होटलोमे जाकर माम, अडा आदिका प्रयोग करते हैं। तो यदि ऐसी बात है तो यह तो उनके लिए एक अहितकी बात है, समाजके, धर्मके ऊपर कलक लगाने वाली बात है। भला बताओ ऐसा पवित्र जैनशासन पाकर भी यदि कोई ऐसा निन्द्य कार्य करे तो उसे मुक्तिका मार्ग कहासे मिलेगा? तो समाजके लोगोका यह कर्तव्य है कि यदि वे किसीको ऐसा जान पायें तो उसकी वह वृत्ति छुटानेकी कोशिश करें। उसे किसी गुरुके पास ले जाकर उसका प्रयोग न करनेका नियम करायें। यो ही उसकी उपेक्षा न करें कि अरे वह ऐसा करता है तो करने दो, हमे उससे क्या मतलब? अरे यह तो एक प्रभावना अगकी बात है, उसके छुटानेका पूरा प्रयत्न करना चाहिए। तो यह मास प्राणियोके बधसे प्राप्त होता है। सदाचारी पुरुष हाथमे उसे छूना भी नही चाहते, आखसे देखना भी शक्य नही है। मास भक्ष्य है, यह वचन भी जहा निन्दनीय है। फिर जो साक्षात् घात है कहते है कि हे प्रभो, उनकी क्या गति होगी, इसको हम क्या जानें? अरे इतना तो स्पष्ट ही है कि इस भवसे खराब भव मिलेगा। तो मासभक्षण यह दूसरा व्यसन है। यह बहुत निन्दनीय व्यसन है। इसके रहते हुए धर्म धारण करनेकी पात्रता नही आती। सद्गृहस्थीमे या श्रावक धर्ममे जो बढना चाहता है वह तब बढ सकता है जब कि व्यसनोका पूर्णतया त्याग हो।

गतो ज्ञातिः कश्चिद्बहिरपि न यद्येति सहसा,
शिरो हत्वा हत्वा कलुषितमना रोदिति जनः।
परेषामुत्कृत्य प्रकटित मुख खादति पलं,
कले रे निर्विण्णा वयमिह भवच्चित्रचरितैः ॥ २० ॥

(८७) कलिकालमे महाकलिपनका चित्रण—

देखो अपने घरका, अपने परिवारका कोई पुरुष बाहर गया हो और कह गया हो कि हम ५–७ दिन बादमे आ जावेंगे, मगर उसके आनेमे दो चार दिनकी लेट पेट हो जाय, मान लो गाडिया बंद हो जानेसे या कही दगा फिसाद हो जानेसे तो ये घर वाले लोग सिर कूट कूटकर रोते है। तो भला बतलाओ जिसको दो चार दिनकी लेट हो जाय

उसके बारेमे तो यह जीव सिर पीट पीटकर रहता है और वही पुरुष जब प्राणियोका मांस-भक्षण करे तो वह कितनी बेतुकी बात है ? यह मांसभक्षियोकी बात कह रहे । उनके कोई घरका आदमी दो चार दिन न आ पाये तो उनको बडा कष्ट होता है, इसमे तो बडा कष्ट मानते और दूसरे जीवोके गले कटें कसाईखानेमे तो यह कितनी बेतुकी बात है कि अपने घर वालेके लिए तो दो-चार दिनकी प्रतीक्षा भी असह्य हो गई और यहां कितने ही प्राणियोका वध किया जा रहा और मांस खाने वाले लोग उन प्राणियोंका मांस बडे शौकसे खाते है, यह कितनी एक लज्जाकी बात है । अच्छा तो यह था कि सब जीवोमे सहज परमात्मस्वरूपका ध्यान लावें । सब जीवोमे वह परमात्मतत्त्व है, हम भगवानका वध न करें । भगवान ही तो हैं सब जीव । स्वरूपदृष्टिसे देखो, प्रभु तो है सब जीव । उस प्रभुपर आक्रमण न करो, किसी जीवको मारनेका अर्थ है कि प्रभुपर आक्रमण करना । इतना बडा जो अन्याय करे तो वह कैसे सुखपूर्वक रह सकता ? मांस-भक्षण एक बहुत बडा भारी अन्याय है । सो कहते हैं इतनी बेतुकी बात देखकर कि उनके घरका आदमी दो-चार दिन न आ पाये तो बड़ा कष्ट मानते है और जिन प्राणियोका वध करता है उनके प्रति दया नही उपजती । तो ऐसी जो विचित्र लीला है उसको देखकर बुद्धिमान् पुरुष ससारसे विरक्त हो जाते है । यह ससार कितना ऊधमसे भरा हुआ है ? यह रहनेका स्थान नही है । यह तो अंधेरनगरी है, ऐसा जानकर कहते है कि हे कलिकाल ऐसा जो कुछ हो रहा है तेरे जमानेमे सो हम समझते हैं कि इसे देखकर जिसमे कुछ विवेक है, कौन पुरुष विरक्तचित्त न होगा ?

सकलपुरुषधर्मभ्रंश कार्यत्र जन्मन्यधिकमधिकमग्रे यत्पर दुःखहेतु ।
तदपि न यदि मद्य त्यज्यते बुद्धिमद्भि. स्वहितमिह किमन्यत्कर्म धर्माय कार्यम् ॥२१॥

(८८) मद्यपानकी खोटोंका निर्देश—

तीसरा व्यसन है मद्यपान करना, शराब पीना । देखिये—मुख्यतया तो शराब है मद्य, मगर अफीम, गांजा, चरस, भांग, तम्बाकू आदिक अनेक चीजें और भी होती है, तो ये सब उसके अग है । तो जो मद्यपान करते हैं उनके लिये सबसे अधिक नशीली चीज है मद्य । तो इन मद्यपायी जीवोकी क्या हालत है ? गृहस्थको बताया है कि वही अच्छी तरह निभता है, जो तीन वर्गका साधन करे—धर्म, अर्थ, काम । धर्म—कुछ प्रभुकी भक्ति करें, गुरुवोकी सेवा करें, विनयशील रहे अथवा दान, पुण्य आदि करें, तीर्थयात्रापर जायें, ऐसे धर्मके कार्य को कोई करता रहे तो वह सद्गृहस्थपना है । और अर्थ—याने धन कमाये, गृहस्थ हो र आजीविकाका काम तो करना चाहिए न । अब गृहस्थ होकर कोई आजीविकाका काम तो करे

नही तो गृहस्थी निभ नही सकती और वह सद्गृहस्थ नही बन सकता । तो धन कमानेकी भी बात होनी चाहिए । और फिर काम—याने परिवारका पालन-पोषण करना, एक दूसरेका ख्याल, भोगोपभोग, जीवोका उपकार आदिक ये भी बातें चाहिएँ । घरके कुटुम्बके दुःख सुनें उनका दुःख दूर करना, इसीसे तो सद्गृहस्थपना होता है, मगर मद्य पीने वालेके ये तीनो ही बातें खतम हो जाती है । धर्म कहाँ, पुण्य कहाँ, तीर्थयात्रा कहा ? कहां दान, कहाँ सत्सग, कहा गुरुसेवा ? वह तो बिल्कुल बेहोश है । उसे होश कहां है ? तो देखो उसने धर्मपुरुषार्थ भी नष्ट कर दिया और अर्थपुरुषार्थ भी नष्ट कर दिया । वह कुछ आजीविकाका काम भी तो नही कर सकता । वह पद पदपर दुःखी होगा । कभी देखा होगा दो मद्यपायी एक साथ जा रहे हो तो वे दोनो आपसमे कैसी अटपट चेष्टायें करते है—हाथ कही जा रहे, पैर कही लडखडा रहे, गर्दन कही जा रही । वह मद्यपायी तो कहो घर भी लुटा दे, घरके गहने जेवर भी बेचकर कहो ऐबोमे लगा दे । तो वह मद्यपायी पुरुष अर्थपुरुषार्थ भी नही कर सकता और कामपुरुषार्थ भी नही कर सकता । वह तो अपने खाने पीनेसे गया, भोगोपभोगसे गया, घर गृहस्थीकी कुशल क्षेम पूछनेसे भी गया । तो धर्म, अर्थ, काम—इन तीनो पुरुषार्थोंको नष्ट कर डालता है । मद्यपायी पुरुष इस जन्ममे भी अधिकसे अधिक दुःख प्राप्त करता है और अगले भवमे भी दु खका कारण है । उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई ज्ञान नही जग रहा, उपदेश ही क्या दिया जाय, वह आत्मा अनात्माकी बात ही क्या समझ सकेगा ? भेदविज्ञान उसमे कैसे जगेगा, अपने आपके स्वरूपपर क्या दृष्टि कर सकता ? मद्यपायी पुरुष ने तो जीवन निष्फल कर दिया । देखनेमे तो ऐसा लगता है कि मद्य पीने वाले लोग बड़े तगडे होते, उनमे बडी ताकत होती होगी, पर यह बात हमने खुद अनुभव कर लिया कि उनमे ताकत नही रहती । और ताकत हो भी, पर मद्यके नशेमे वह ऐसा कायर हो जाता कि अपना बल चला नही सकता । यह बात हमने तब जानी जब अपने गुरु जी के साथ आपके इस प्रान्तमे (मेरठ शहरमे) आये थे । वहा एक दिन गुरुजी के साथ हम वहां स्टेशनके पार तक घूमने गए थे । एक भाई और भी साथमे थे । तो वहा एक मद्यपायी पुरुष आया और हमारे गुरुजी का कमण्डल उनसे छीनकर चल पडा । तो हम कब सहन कर सकने वाले थे ? पहुचे उसके पास और उससे कमण्डल छीनकर ले आये । हमने क्या देखा कि उसमे तो कुछ भी ताकत नही थी तो मद्यपायी लोगोमे मनोबल नही, वचनबल नही, कायबल नही, जिन्दगी उनकी बिल्कुल बेकारसी होती है ।

(८६) मद्यपायीके धर्मपात्रपनेकी असंभवता—

इस मद्यपानमे बडे-बडे ऐब हैं जो कि इस भवमे भी दु:खका कारण और अगले

भवमे भी दुःखका कारण है। शराब पीनेकी आदत अच्छी नही होती, पर आजकल तो बडे-बड़े घरोंमें भी लोग बडे शौकसे पीते है। और उसका ऐसा शौक हो जाता कि फिर छूटता नही। आजकल तो एक शौक यह हो गया कि जब कभी कोई जलसा मनाते, कुछ झाकी सी निकालते तो बडे-बडे जवान लोग भी शराब पीकर बाजोके साथ-साथ उछलते फांदते, नाचते कूदते, हाथ पैर मटकाते चलते रहते हैं तो उनका वह नाचना कूदना कितना अशोभितसा लगता है? भला बताओ वह कोई कुलीन लोगोका काम है क्या? अरे फिर इसी तरहसे उनमे मद्यपान करने का व्यसन बन जाता है। और-और भी तमाम खुराफात उनमें आ जाते है। उनका सारा जीवन जुदा दुःखमे रहना, स्त्री जुदा दुःखी होती, लडके जुदा दुखी होते, रिश्तेदार लोग जुदे दुःखी होते और उनके कोई हितू हो तो वे जुदे दुःखी होते। खुद की भी बरबादी करते, दूसरोके भी दुःखका कारण बनते। सो ऐसा यह मद्यपान नामक व्यसन जो करता है बताओ वह अपना हित कैसे कर सकता है? मद्यपायी तो एक बेहोश पुरुष है, उसे कुछ होश नही। इस जीवनमे क्या करना, अगले भवमे क्या करना, धर्म क्या चीज है, यह कुछ उसे पता नही। यह बात आप लोग ध्यानमे रखना कि अगर अपनी समाजमे कोई इस प्रकारका व्यसन वाला बने और आपको उसका पता हो जाय तो आपका कर्तव्य है कि उसके उस व्यसनको दूर करवानेकी पूरी कोशिश करे। जहां आप मेढक या चूहा आदिको कोई सता रहा हो तो उसपर दया करके उसे आप बचानेका पूरा प्रयत्न करते और यदि उसके प्राण बचा दिये तो आप अपने मे एक गौरव अनुभव करते कि हमने इस जीवकी रक्षा किया, वहां आप इसे भी अपना कर्तव्य समझें कि यदि कोई गदे व्यसनमे लग रहा हो अथवा लगा हो और आप भली भांति जानते है तो उसको उस व्यसनसे छुटानेका पूरा प्रयत्न करें और जब तक वह छोडे नही तब तक चैन न मानें, यह भी एक प्रभावना अग है। इसमे भी एक जैनशासनके प्रभावनाकी बात है।

आस्तामेतद्यदिह जननी बल्लभां मन्यमाना,
निन्द्याश्चेष्टा विदधति जना निस्त्रपाः पीतमद्याः।
तत्राधिक्यं यदि निपतिता यत्किरत्सारमेयात्
वक्त्रे मूत्रं मधुरमधुर भाषमाणाः पिबन्ति ॥२२॥

(६०) मद्यपायीकी निन्द्य चेष्टाओंका दिग्दर्शन—

मद्यपायियोकी दशा तो देखो, कभी वे अपनी जननी (माता) को स्त्री कह कर पुकारते और उसे अपनी स्त्री मानते हुए निन्द्य चेष्टायें भी कर डालते है। उन्हे होश क्या

कि यह मेरी जननी (माता) है। तो जो मद्यपान करने वाले है वे उस मद्यमे मतवाले बनकर जननीको (माताको) स्त्री (पत्नी) मानते हुए निन्दा चेष्टाओको कर डालते हैं, वे लज्जारहित पुरुष है। और की तो बात क्या कहे, अधिक मदिरा पीकर बेहोश होकर नालीमे गिर पडते हैं और उसी बेहोशीमे मुह खुला होता है उस मुहमे कुत्ते भी मूत जाते है।

या खादन्ति पल पिबति च सुरा जल्पन्ति मिथ्या वचः,
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठक्षतिम्।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते
लालापानमहर्निश न नरक वेश्या विहायापरम् ॥ २३ ॥

(६१) वेश्यासेवन व्यसनकी खोटोंका निर्देश—

श्रावकधर्मके विकासकी ११ प्रतिमायें है। उन प्रतिमाओसे पहले सप्त व्यसनोका त्याग होना अत्यन्त आवश्यक है, और वैसे भी सुखमय-जीवन चाहने वालोको व्यसनोका त्याग होना चाहिए। व्यसनमे आपत्ति साथ है जिसमे द्यूत, मास, मदिरा, इन व्यसनों का वर्णन हो चुका। अब वेश्यासेवन नामक व्यसनका वर्णन किया जा रहा है। वेश्याको तो सब लोग जानते ही हैं, जिसका कोई पति नही है और ऐसे आवारा काम करती है वह वेश्या है। उनके साथ अपना सम्बध रखना, बोलचाल रखना उनके घर आना जाना ये सब व्यसन हैं। उन वेश्याओका कैसा चारित्र है ? जो मांस खाती है, शायद ही कोई ऐसी वेश्या हो जो मांस-भक्षण न करती हो, क्योकि उनका वातावरण गन्दा, उनकी वृत्ति गदी, उनके विचार गदे, तो वहाँ मास-त्यागकी बात कैसे आ सकती है ? वे वेश्यायें मदिरापान करती हैं। मदिरा तो उनका एक पानी जैसी चीज है, क्योकि वे दूसरोको मदिरा पिलायें, स्वय भी मद्य पियें, बुद्धि भ्रष्ट करें, यह उनका एक काम है। तो जो मदिरा पीती है और जिनका मिथ्या वचनव्यवहार है, उनमे सच्चाईकी बात कहाँ रखी है ? जैसे चाहे मिथ्या वचन बोल दिया अपना धन कमानेके लिए, जिनका कोई विश्वास नही। जो वेश्यायें धनके लिए ही पुरुषोसे सम्पर्क करती है। इसकी एक कथा आगे आयगी। जब तक पासमे धन है तभी तक वे उस पुरुषसे स्नेह दिखाती और जब पासमे धन नही रहता तो उस पुरुषको ठुकरा देती हैं। ये वेश्यायें उस पुरुषके धनकी हानि किया करती हैं याने वेश्यासेवन करने वाला पुरुष धनिक नही रह सकता। निर्धन हो जाता, गरीब हो जाता। और वेश्यासेवनकी आदत रखने वाला पुरुष कितनी ही उम्रका हो जाय, मगर उसका मन वेश्यासम्बधका ही बना रहता है।

गुरुजी एक घटना सुनाते थे कि सागरमे कोई एक पुलिसका सिपाही था।

उसका किसी वेश्यासे सम्बन्ध था। तो उसमे बाधा आयी जब ड्यूटीसे तो सर्विस छोड़ दिया और जब तक धन रहा पासमे तब तक तो सब ठीक था और जब पासमें कुछ न रहा और वह भी वृद्धसा हो गया तो उस वेश्याने उसे बुरी तरहसे ठुकरा दिया, निकाल दिया जैसे कि घी मे मक्खीके गिर जानेपर लोग उस मक्खीको बाहर फेंक देते है। उस वेश्याने घर आनेसे मना कर दिया। अब वह वृद्ध सिपाही उस सडकपर नीचे बैठा रहे, और उस वेश्या के मकानकी ओर देखता रहे। आखिर कुछ लोग पूछ बैठे कि भाई तुम यहाँ सडकपर इस तरहसे क्यो बैठे रहा करते हो ? तो उसने बताया कि हम इसलिए यहाँ बैठे रहते हैं कि जब कभी उस सामने वाले मकानको वेश्या अपने घरका दरवाजा खोले तो वह हमें दिख जाय बस उसको देखने भरके उद्देश्यसे मैं यहाँ बैठा रहता हूं। तो देखो कितनी विपत्ति सहनी पडनी है वेश्यागामीको ? वे वेश्यायें नीचसे नीच पुरुषोंसे भी अपना सम्बन्ध स्थापित करती हैं। तो आप समझो कि यह तो उनके लिए एक साक्षात् नारकीय जीवन है। वैसे तो अब यह रिवाज बहुत कम हो गया, नहीं तो कोई अबसे ४०–५० वर्ष पहले इसका बडा भारी रिवाज था। वेश्याओंके मौहल्ले होते थे, लोग उन्हें शादी व्याहमे नाचने गानेके लिए भी बुलाते थे। जब वे वेश्यायें नाच गाना करती हैं तो हाथ पैर सिर, कमर मटका कर करती हैं ना, खूब हाथ फैला फैलाकर गाती है ना ? तो उस समयका चित्रण एक कविने खींचा है। कोई एक वेश्याप्रेमियोका समूह था। उसमे वेश्या नृत्यगायन कर रही थी, वहाँ मिरदंग और मजीरा भी बज रहे थे, उस समयका चित्रण करते हुए कवि कहता है—"मृदंग कहे धिक है धिक है, मंजीरा कहे किनको किनको ? तब वेश्या हाथ पसारकर कहे, इनको इनको इनको इनको।" याने मृदंग कहता है धिक है, धिक है याने धिक्कार है, धिक्कार है, तो मजीरा कहता है—किनको किनको याने किन्हे धिक्कार है ? ऐसे ही तो बोलते हैं ना ये मृदंग, मजीरे। तब वह वेश्या हाथ फैला फैलाकर कहती है—इनको इनको इनको याने चारो ओर बैठे हुए इन लोगोको धिक्कार है। तो भला बताओ जिस वेश्याके पास बैठने वाले लोग धिक्कारके योग्य हैं उस वेश्याको तो फिर कितना धिक्कारके योग्य कहा जाय ? वह तो महाधिक्कारके योग्य है। तो यह वेश्यासेवन एक विपत्ति है। इन ७ प्रकारके व्यसनोका त्याग हुए बिना कोई श्रावक आगे बढ नही सकता।

रजकशिलासदृशीभि: कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः।
गणिकाभिर्यदि सङ्गः कृतमिह परलोकवार्ताभिः ॥२४॥

(६२) वेश्यासेवन व्यसनकी अतीव अनुचितता—

वेश्याकी उपमा दी है धोबीकी शिलासे। जैसे धोबीकी शिलापर छोटे लोगोंके भी कपडे धोये जाते, बडे लोगोके भी धोये जाते, गदे भी धोये जाते, अच्छे भी धोये जाते, ठीक ऐसे ही इस वेश्याके पास बडे लोग भी जाते, छोटे लोग भी जाते, अच्छे लोग भी जाते और नीच लोग भी जाते। तो यह वेश्या एक रजकशिलाकी तरह है और कुत्तेके कपालके समान जिसका चरित्र है। कपाल कहते हैं हड्डीको। जैसे कुत्ता कोई हड्डी अपने मुखमे दाबकर चलता है तो उसको छीननेके लिए अनेक कुत्ते उसपर टूटते हैं, उस हड्डीको वे कुत्ते कभी यहाँ फेंकते कभी वहाँ, ठीक ऐसे ही उस वेश्याके ऊपर अनेक लोग टूटते हैं। यहाँ हड्डीका दृष्टान्त है वेश्याके लिए और कुत्तोका दृष्टान्त है उसपर टूटने वाले लोगोके लिए। तो ऐसी वेश्याओसे जिन लोगोका सम्बन्ध है उनकी तो बुद्धि ही भ्रष्ट है, उनके लिए परलोककी बात का, धर्मका प्रसंग ही क्या है? देखो जीवन थोडा है, यह जीवन ऐसा व्यतीत होता जा रहा है जैसे कि पर्वतसे गिरने वाली नदी वेगपूर्वक बढती जाती है, इसी प्रकार यह आयु भी वेग पूर्वक बढती जाती है। यह मानव-जीवन पाना अत्यन्त दुर्लभ है। त्रस पर्याय कुछ अधिक दो हजार सागरको मिलती है बाकी तो स्थावरोमे जन्म होता। तो उस त्रस पर्यायमे मनुष्य तो बहुत ही कम हैं। और फिर उन मनुष्योमे भी अच्छे मनुष्योकी संख्या तो अत्यन्त अल्प है। भला बताओ ऐसा श्रेष्ठ मानव जीवन पाकर यदि आज न चेते तो फिर कब चेतोगे? इस जीवनके बीत जानेके बाद फिर क्या गति होगी सो तो विचार लो। मान लो यह से मरकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदिक एकेन्द्रिय जीव हो गए तो फिर क्या हाल होगा? तो इस दुर्लभ मानव जीवनको यो ही विषय कषायोमे, रागद्वेषादिक भावोमे अथवा देव, शास्त्र, गुरु आदिकके प्रति अविनय अथवा स्वच्छदता भरे भावोमे न गवा दें।

(९३) अविनय व अहकारका दुष्परिणाम—

देखिये आज अन्य समाजकी अपेक्षा दि० जैन समाजमे गुरुविनयकी बात बहुत कम हो गई है। अन्य समाजोमे देख लो, लोगोमे इतनी गुरुभक्ति है कि गुरुका जरासा इशारा मिला तो उधरको सारा समाज सगठित होकर चल उठा। देखिये जब तक गुरुजनोके प्रति यह विनयभाव चित्तमे न आयगा तब तक उन्नति नही हो सकती। भला बतलाओ जो देव, शास्त्र, गुरुके प्रति विनय रखता वह क्या दूसरोपर ऐहसान लादनेके लिए रखता? अरे वह तो अपने ही खुदके कल्याणके लिए रखता। देखिये—आज इस दिगम्बर जैन समाजकी अपेक्षा श्वेताम्बर जैन समाज कितना उन्नति (प्रगति) कर रहा है, उसका मुख्य कारण है गुरुभक्ति। आजकल जो महावीर स्वामीका २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव मनानेकी योजना

चल रही है, उसमें मुख्यता श्वेताम्बर जैन समाज की ही तो है। भले ही दिगम्बर जैन साधु सत भी साथ लगे है पर प्रभाव सब उन्ही लोगोका है। उसमे मुख्य कारण है गुरुभक्ति। गुरुने जो आदेश दिया, बस सारा समाज वह काम करनेको तैयार हो जाता। मानो सारा समाज गुरु आज्ञा पानेकी प्रतीक्षा करता रहता है, कितनी उन लोगोमे एकता है? तो ठीक ही है। यह तो इस कलिकालका प्रभाव है, आखिर हर तरहसे इस दिगम्बर जैन धर्मका लोप होना है। खैर यह समाजसेवा, धर्मसेवाका काम जो बने सो करो मगर अपने आत्माका श्रद्धान, ज्ञान आचरण विशुद्ध रखो जिससे अपना कल्याण होना है। जब समाजके बीचमें है तो ये परोपकार आदिके काम भी करने होते हैं पर स्वोपकारका विशेष ध्यान रहे। यह स्वोपकारका काम बनेगा भेदविज्ञानसे। जितने भी सिद्ध हुए वे इस भेदविज्ञानके बलपर ही हुए। भेदविज्ञान करनेका ढंग यह है कि इन समस्त परपदार्थोंसे अपनेको अत्यन्त भिन्न निरखें। उन परपदार्थोंकी सत्ता उनमे, मेरी सत्ता मुझमे। उनका स्वरूप उनमें, मेरा स्वरूप मुझमे और जो कर्मविपाकका एक प्रतिफलन होता है भीतरमे उससे सब व्यवस्था है। देखो जो बात जिस ढगसे हुआ करती है वह उस ढंगसे चलती ही है। उसे कोई कैसे मना करेगा? देखो—स्व आत्माके श्रद्धानसे मोक्षमार्ग चलता और परके श्रद्धानसे संसारमार्ग चलता, और जिसने अपनी कषायको आदर दिया मायने जो अपनेको एक धर्मका नेता मान रहा हो—मैं ठीक धर्म कर रहा हू, दूसरोका ठीक ठीक धर्मपालन करा रहा हू, इस प्रकारका जो अहंकार रखता है तो उसको उस अहकाररूप ही फल मिलेगा, कही उसकी बाहरी चेष्टाओके आधार पर नही।

(९४) निर्व्यसन निर्बन्ध सहज अन्तस्तत्त्वके आश्रय बिना कल्याणकी असंभवता—

भैया, एक बार ऐसा चित्तमे तो लावो कि मेरेको कुछ भी बधन नही। न परिवारका बधन, न समाजका बधन, न इस देहका बधन, मैं तो एक स्वतन्त्र आत्मतत्त्व हूं। समस्त परकी उपेक्षा करें क्योकि कोई परपदार्थ काम न आयेंगे। बतलावो इस परिवारका कोई व्यक्ति इसके काम आयगा क्या? ये धन, वैभव, इज्जत प्रतिष्ठा आदिक इसके कुछ काम आयेंगे क्या? न आयेंगे। तो फिर जो मेरे काम नही आनेके, उनके प्रति इतनी आसक्ति क्यो की जा रही है? उनसे तो उपेक्षा भाव होना चाहिए और जो मेरे काम आयगा, जो मेरा शरण है, जो मेरा रक्षक है, जो मेरा सर्वस्व है वह क्या है? अपना स्वरूप। बाकी सब कुछ तो बिखर जायगा, पर स्वरूप तो रहेगा साथमे। उस स्वरूपका श्रद्धान करें। वह मैं हू, ऐसी भीतरमे प्रतीति रहे उसका उत्थान होता है और जो अपनी कषायमे प्रीति करे उसका

उत्थान नही होता । देखो—किसीमें राग करनेके मायने कषायोमे प्रेम करना, किसीसे द्वेष करनेके मायने कषायमे प्रेम । यह तो आश्रयभूत पदार्थोमे जो हमारा उपयोग जाता है वह उपयोग तो मलिन है । तो एक बार तो अपने आत्माके भीतर स्वरूप सर्वस्व, उसका मिलन तो कर लीजिए, उसका अनुभव तो कर लीजिए और उस परमात्मतत्त्वकी अनुभूतिके लिए, मिलनके लिए, दर्शनके लिए इन विषयकषायोका, इन इष्ट अनिष्ट भावोका बलिदान करें । किसी भी प्रकार हो, एक बार इस निज सहज अतरतत्त्वका अनुभव तो करें । देखो यहाँ अन्य कुछ काम न आयगा । केवल यह निज अतस्तत्त्वका आश्रय ही काम आयगा । इसलिए सबसे निराला, अकेला अपने आपका अनुभव करें । लोग तो घबडाते है, ऐसा सोच लेते कि मैं तो अकेला पड गया, परिवारके सभी लोग मेरेसे अलग हो गए, मेरी उपेक्षा कर गए, कोई कही भाग गए कोई कही, मैं अकेला रह गया । अब न जाने मेरा क्या हाल होगा ? यो घबडाते हैं, पर उन्हे यह पता नही कि जो वास्तवमे अकेला रह जाय वही इस ससारसे पार होगा । जब तक इस अकेलेपनका (मात्र एक इस सहज अतस्तत्त्वका) अनुभव नही होता तब तक वह संसारमे रुलता है । हाँ तो ऐसा भेदविज्ञान होना, इसके बाद जिसको हमने जाना अनात्मा (पर) उसकी अपेक्षा करना और जिसे जाना आत्मा (स्व) उसका आलम्बन लेना, ऐसी ही धुन बने कि यह ज्ञान ज्ञानमे एकरस हो जाय, बाहरका सब ख्याल भूल जाय, ऐसा एक अतस्तत्त्वकी उपासना करें । यह बात जिसको प्राप्त होती है वहाँ व्यसन कहाँ रह सकेंगे ? वहाँ सब और गदे आचरण कैसे रह सकेंगे ? तो कर्तव्य यह है कि आत्मा अनात्मा का परिचय बनायें, सप्तव्यसनोका त्याग करें और जब जान लिया कि ये समस्त बाह्य पदार्थ मेरे लिए बेकार हैं तो उनका त्याग करें । उनकी प्रीति तजनेका ही नाम प्रतिमा है । प्रतिमा मे क्या है ? बाह्य पदार्थोंका त्याग, यही श्रावक व्रत है । जिनको समस्त वस्तुवोमे वैराग्य हो गया वे मुनि हो गए, उन्होंने सबका परित्याग कर दिया । तो इस व्रतप्रतिमाका मूल आधार सप्तव्यसनोका परित्याग है । जिनमे वेश्यासेवन नामक व्यसनका यहाँ वर्णन हुआ ।

या दुर्देहैकवित्ता वनमधिवसति भ्रातृसबन्धहीना,
भीतिर्यस्या स्वभावाद्दशनधृततृणा नापराध करोति ।
बध्यात्न सापि यस्मिन् ननु मृगवनितामांसपिण्डप्रलोभात्,
आखेटेऽस्मिन् रतनिमिह किमु न किमन्यत्र नो यद्विरूपम् ॥२५॥

(८५) निरपराध दीन पशुवोंके शिकारकी खोटका चित्रण—

द्यूत, मास, मदिरा, वेश्या, इन चार व्यसनोके वर्णनके बाद अब यहाँ शिकार

नामक व्यसनका वर्णन किया जा रहा है। शिकारको कहते है आखेट। शिकारमे लोग क्या करते है ? वनमे जाते हैं, वहाँ पशुओका बध करते है। उन पशुओका खोटा देहमात्र ही धन है, उनके पास एक घासका पूरा तक नही रहता। जिधर गए, बस शरीर ही उनके साथ रहता। तो जिनका एक देह ही धन है और वह देह भी एक खोटा, हुंडक सस्थान वाला। जिन पशुओको मारा जाता है उनकी गरीबियतको तो देखो, शरीर ही उनका धन है। कोई पुरुष यहाँ किसी दूसरेको धनके लोभमे मारता है पर उनसे क्या मिलता है। बनमे रहने वाले मृगादिक पशुओ की रक्षा करने वाला वहाँ कौन है ? तो भला जिनका कोई रक्षक नही, जो असहाय है, बेचारे हैं उनकी हत्या करनेमे दया भी नही आती उनको। भला बतलाओ अपनी जान किसे प्यारी नही होती ? वे जरासी आहट पाते तो तुरन्त भयभीत हो जाते। यह उनकी एक प्रकृति होती है और देखो तो सही, जो अपने दाँतोमे तृण धारण किए हुए हैं, किसीका कुछ अपराध करते नही है, उन्हे भी शिकारी लोग कैसी निर्दयतासे मार डालते है, लेकिन जब वे तडफते है तो उनकी तडफनको देखते रहते है, पीछे भी दया नही आती कि आगेके लिए तो संकल्प बना लें कि अब मुझे किसी पशुका वध नही करना है। लोकमें ऐसी प्रथा है कि जो जब कोई राजा किसी दूसरे पर चढाई करने जाता है और वह हार जाता है तो वह अपने मुखमे दो तृण दबाकर विजयी राजाकी शरणमे आता है तो वह विजयी राजा उस हारे हुए राजाका अपराध माफ कर देता है और उसका सारा राज्य उसे वापिस दे देता है। और यहां देखो ये पशु अपने दाँतोमे तृण दबाये हुए हैं, ऐसी अवस्थामें भी ये शिकारी लोग उनपर जरा भी दया नही करते। उनपर गोली अथवा बाण चलाकर उन्हे मार डालते हैं।

(९६) शिकार पापका फल—

यह मनुष्य अपने आत्माकी कुछ सुध नही करता, न दूसरेकी आत्माकी सुध करता। भला बतलावो ऐसे निरपराध जीवोको मारने वाला कितना पापी है जिसके फलमे उसे नरककी वेदना भोगनी पडती है। कोई यह न सोचे कि स्वर्ग नरक तो केवल कहनेकी बात है। यहाँ वास्तवमे स्वर्ग नरकके स्थान हैं। भला जिन वीतराग ऋषि सतोंने मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत ७ तत्त्वोका बडे विस्तारसे वर्णन किया है, जिसे लोग दृष्टिसे सिद्ध करते है अनुभवमे उतारते है और जो बिल्कुल सही जँचता है ऐसे महर्षि संतजनोंने जो कुछ बताया वह बिल्कुल सत्य प्रतिपादन है। जो पाठक लोग ग्रथोमे नरक स्वर्गकी रचनाका वर्णन देखेंगे उनकी गिनती, उनका माप पढ़ेंगे तो अपने आप ही उनको सत्य श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है

कि वास्तवमें नरक स्वर्ग हैं और हृदयमे ऐसा उतर जाता है जैसी कि रचना हो और उसका ख्याल आ जाता है। तो भला बतलाओ यहाँ एक मनुष्य अगर एक मनुष्यको मार डाले तो राजा उसका दंड देता है फांसी। उसका भी जीवन चला जाय, मगर जिसने हजारों पशु मौतके घाट उतार दिए, इतने बडे अपराधका दण्ड यहाँ राजा क्या दे सकेगा ? यहाँ तो एक फांसी हो जायगी, मगर इतनासा दण्ड तो अपराधको देखते हुए उसके लिए न कुछ है। उस महान् अपराधका दण्ड प्रकृत्या ही मिलता है नरकोंमे जाकर। जहाँ क्षण क्षणमे मरण होता है। तिल तिल बराबर देहके टुकड़े किए जायें फिर भी वे मरते नही। वे नारकी चाहते कि हमारी असमयमे मृत्यु हो जाय, पर नही होती। कितना उनके पापकर्मका उदय है ? मृत्युको चाहने वाले केवल नारकी हैं, पशु पक्षी मनुष्य, कीडे मकोड़े ये कोई असमयमे अपना मरण नही चाहते। भले ही यहांके दुःखसे घबडाकर कोई मुखसे कह दे कि हमारा तो मरण हो जाता तो अच्छा था, पर उसकी यह ऊपरी ऊपरी बात है। यहा कोई मरना नही चाहता। एक कथानक है कि एक घरमे एक बुढिया अपने बेटोसे, नाती पोतोसे व बहुवोसे बहुत तंग आ गई थी, उसकी कोई बात पूछने वाला न था। वह अपनेको बहुत दु खी अनुभव करती थी। प्रतिदिन वह भगवानसे प्रार्थना करती थी कि हे भगवान मुझे उठा ले याने मेरी मृत्यु हो जाय। एक दिन क्या हुआ कि अचानक ही उसके कमरेमे कहींसे जहरीला सांप आ गया तो वह बडे जोर जोरसे चिल्ला उठी—ऐ नातियो, ऐ बेटो ! दौडो, दौडो, बचाओ, बचाओ, यहाँ एक बडा जहरीला सांप आ गया है। तो कोई नाती बोल उठा—ऐ बुढिया दादी, तू घबडा मत, तू रोज-रोज जो भगवानसे प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवन मुझे उठा ले, तो भगवानने तेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली और तुझे उठानेके लिए यह दूत भेजा है, तू क्यो डरती है ? तो प्रयोजन यह है कि यहा कोई मरना नही चाहता। नारकी जरूर मरना चाहते, क्योकि उन्हे बडी कठिन वेदना होती है, उस वेदनासे पीडित होकर वे मरण चाहते है, मगर उनका अकाल मरण नही होता। तो नरकोमे पहुचकर प्राणिवधका दण्ड भोगा जाता है। जो शिकारी प्राणिवध करते हैं उसका दण्ड यह है कि वे नरककी वेदनायें पायें और फिर उन्हे जो आत्माकी सुध नही तो यह कितना बडा पाप है और फिर निरपराध जानवर मारनेका सकल्प हिंसाका ऐसा पापका फल बडा भयंकर होता है।

(९७) शिकार व्यसनके अनुचितपनेका उपसहार—

जो शिकारी ऐसे निरपराध जीवोको, देह ही जिनका धन है, जिनका कोई सहा-

यक रक्षक नही है, जिनको स्वभावसे ही भय लगा हुआ है, जो अपने मुखमे तृण दबाये हुए हैं, ऐसे पशुओको मारकर यह जीव क्या पायगा ? क्या हालत होगी उसकी ? हालत प्रत्यक्ष-सिद्ध है, अनुभवसिद्ध है, युक्तिसिद्ध है कि उनकी हालत अच्छी कभी नही हो सकती। तो यह शिकार नामक व्यसन बहुत खोटा व्यसन है और यह अनर्थ दण्डसे भी भयंकर है। एक तो त्रस जीवोका मारना, मन वाले पशुओंका मारना और फिर निरपराध जीवोंका मारना। अहो, मानो वे हिरण मारने वालेसे प्रार्थना करते हैं कि मैंने क्या अपराध किया जो आप मेरे प्राण नष्ट करते हैं, ऐसी मुद्रासे शिकारीकी ओर निरखते, मगर उस शिकारीको दया नही आती। कितनी कठोरता है, कितनी क्रूरता है ?

एक घटना हुई थी जयपुरमे। चाहे अमरचंद दीवानका हो या किसीका हो, एक बार दीवान और राजा वनमे गये। राजा शिकार खेलने गया, दीवानको साथ ले गया। तो वहाँ हिरणोका एक झुण्ड था, उनको बाणसे मारनेके लिए राजाने पीछा किया। हिरण भी आगे आगे भागते जाते थे। तो दीवानके मनमे आया कि देखो इन निरपराध हिरणोंपर कैसे राजा साहब टूटे जा रहे हैं ? ऐसा सोचकर करुणाभरे स्वरमे दीवान बोला—ऐ मृगो ! ठहरो, तुम कहाँ भागे जा रहे हो खड़े हो जावो। तो वहाँ सभी मृग खडे हो गए। यह दृश्य देखकर राजा आश्चर्यमे पडा और पूछा—दीवान जी ! यह क्या बात है जो तुम्हारे दो शब्द सुनकर सारे मृग खडे हो गए ? तो दीवान बोला—महाराज हमने इनको इसलिए खडा किया कि जब तुम्हारा रक्षक, राजा, पति, स्वामी ही तुम्हारे प्राण हरनेके लिए तैयार हो गया है तो फिर तुम क्यो भागे जा रहे हो ? बचकर कहाँ जा पाओगे, तुम तो खडे हो जावो और अपने रक्षक, स्वामी, राजाके चरणोमे अपना शरीर सौप दो। जब राजाने यह बात समझी तो उसका चित्त दयासे भर गया और अपनी उस क्रूरताभरी वृत्तिपर बडा पछतावा हुआ और उस दिनसे नियम लिया कि अब हम कभी भी शिकार न खेलेंगे। तो भाई इस शिकार नाम के व्यसनको जो पुरुष सेवन करता है क्या वह धर्मधारण करनेका पात्र बन सकता है ? शिकार खेलने वाला तो अपने आत्माको बिल्कुल भूला हुआ है, उसे स्व परका कुछ विवेक नही है। ऐसे हिंसा पापमे लगा पुरुष धर्मधारण करनेका पात्र नही बन पाता। यह श्रावक-धर्मका वर्णन चल रहा है। श्रावकधर्मकी ११ प्रतिमावोकी बात चल रही है। इन ११ प्रति-मावोका धारण करनेसे पहले सप्तव्यसनका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। उसीके सिलसिलेमें यह व्यसनोका प्रकरण चल रहा है, जिनमें यह आखेट (शिकार) नामक व्यसनकी बात चल रही है।

तनुरपि यदि लग्ना कीटिका स्य च्छगीरे, भवति तरलचक्षुर्व्याकुलो यः स लोकः ।
कथमिह मृगयाप्तानन्दमुत्खातशस्त्रो मृगमकृतविकार ज्ञातदुःखोऽपि हन्ति ॥२६॥

(६८) शिकार व्यसनमें क्रूरताका एक चित्रण—

शिकार नामक व्यसनके सम्बधमे बताया जा रहा है कि देखो अपने शरीरमे कही छोटीसी चीटी भी चढ जाय तो उसमे भी इस मनुष्यको बडी व्याकुलता हुआ करती है, नेत्र चचल हो जाते हैं । किधर काट लिया, उस चीटीको देखनेको उत्सुक हो जाते हैं, फिर भला बतलाओ कि जब यही मनुष्य दूसरे जीवोका शिकार खेलकर आनन्द मानता है और शस्त्रको चलाता है और ऐसे मृगोको जिनमे कोई विकार नही है उनको मारता है और उसपर भी ये शिकारी जान रहे कि देखो कैसा यह जीव तडफ रहा है, ऐसी तडफनको जानते हुए भी उस तडफनको देखकर आनन्द मानता हुआ वह निरपराध मृगोको मारता है, यह कैसी विचित्रता की बात है ? जगलके मृग कितने अविकार हैं ? लौकिक दृष्टिसे वे किसीको सताते नहीं, किसी जीव-जन्तुको वे खाते नही, किसी प्रकारका उनके पास परिग्रह नही, तृणोका भी उनके पास सचय नही । जिनको लौकिक हिसाबसे इतनी निर्लोभता है ऐसे हिरण चर रहे हो और उस समय यदि कोई बदूक आदिककी आहट मिल जाय तो उस आहटको सुनकर वे तृण खाना छोड देते हैं, इतने अनासक्त हैं । किसीका कोई अपकार नही करते, देखनेमे सुहावने और जिसके स्नेहमें आ जायें उसके निकट आकर उसके मनको लुभा दें, ऐसे अविकार निरपराध मृगोको ये व्यसन वाले मार डालते हैं । यह शिकार नामक व्यसन कैसा क्रूर हृदय बनाता है ? इस व्यसन वालेमे धर्मकी पात्रता रच भी नही है । जिनको धर्ममे अपनी बुद्धि लगानी है उनका सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वे व्यसनोका त्याग करें । उन व्यसनोमे यह शिकार नामक व्यसनकी बात कही जा रही है ।

यो येनैव हतः स त हि बहुशो हन्त्येव यैर्वञ्चितो,
नून वञ्चयते स तानपि भृश जन्मान्तरेऽप्यत्र च ।
स्त्रीबालादिजनादपि स्फुटमिद शास्त्रादपि श्रूयते,
नित्य वञ्चनहिंसनोज्झनविधौ लोका. कुतो मुह्यत ॥ २७ ॥

(६९) परवधके फलमें अनेक बार स्ववध—

जो मनुष्य जिस प्राणीके द्वारा मारा गया वह मनुष्य अपने मारने वाले इस प्राणीको भी, मनुष्यको भी अनेक बार मारता ही है । उस कर्मके बधनका कुछ ऐसा ही हिसाब है कि जिस भवका कोई प्राणी किसी दूसरेको मारता है तो मरने वाला अपने चित्तमे

संक्लेश करता है। उस मरने वालेपर दृष्टि रखते हुए इस प्रकारका कर्मबंध करता है कि जिसके उदयमे प्राय: यह स्थिति आती है कि वह भी उसी भवमे अथवा अगले भवमे उस मारने वालेको मारता है। इसी प्रकार जो प्राणी किसी दूसरेके द्वारा ठगा गया है वह भी उन लोगोको इसी भवमे अथवा अगले भवमे ठगता है। इस बातको आबालवृद्ध महिला बालक सभी कहते हैं और सभीसे यही बात स्पष्टतासे सुनी जाती है। फिर ऐसा सुनने वाले लोग भी जब कभी पापोदयके वशीभूत होते है तो भी दूसरोको ठगनेमें और दूसरोकी हिंसा करनेमे अपना मोह बनाये रहते हैं। इस छंदमें शिकार नामक व्यसनका उपसहार भी किया है और चोरी नामक व्यसनकी भूमिका बनाई गई है। जो शिकार करने वाले लोग मृगादिक प्राणियोको मारते है तो वे प्राणी भी उस तरहका संक्लेश करके पाप बांधते हैं कि अगले भवमे वह इस मनुष्यको मारता है। जब कभी लोग ऐसी आशंका करते हैं कि स्वच्छंद चित्त वाले कि लोग तो मुर्गोंको मारते हैं लेकिन मुर्गोंकी संख्या कम होनेके बजाय बढ़ती हुई दिखती है, उसका क्या कारण है? सो बात यह है कि प्रकृत्या जो भी बात हो, मगर एक बात यह भी सम्भव है कि प्रकृत्या जो जीव मुर्गा होने वाले है वे तो होते ही हैं, पर मुर्गोंको मारने वाले मनुष्य भी इस प्रकारके पापका बंध करते है कि वे भी मुर्गा बनते हैं। जिस तरह से इसने मुर्गा मारा था उसी प्रकार यह भी मारा जाय। तो शिकार खेलना यह कोई भला कार्य तो है ही नही, और बुरा इतना है कि जिसको सुनकर दूसरे लोग भी घृणा करें और जिससे अत्यन्त क्रूर परिणाम बने ऐसे शिकार नामका व्यसन रखना शान्तिके विरुद्ध कदम है। ऐसे जीवोका कैसे उद्धार हो सकता है? धर्मकी रुचि करने वालोको या धर्ममे कुछ चलनेकी इच्छा रखने वालोको इन व्यसनोका परित्याग करना ही चाहिए। चोरी करना भी एक व्यसन है। यह एक बडी गंदी आदत है। किसी का धन चुरा लेनेका अर्थ है दूसरेके प्राण हर लेना। देखिये धन भी इस जीवका ११ वां प्राण माना गया है। दूसरोका धन हरने वाला, दूसरोको ठगने वाला भी खुद ठगा जाता है अगले भवमे या उसी भवमे तो दूसरोंको किसी भी सफाईके साथ, चोरीके साथ, बरजोरीके साथ या अन्य हानिके साथ किसी भी प्रकार जो दूसरोको सताता है, दूसरोका धन हरता है, अपनी न्याय नीतिका उल्लंघन करके जो दूसरोका धन लेता है वह निकट कालमे भी ठगा जाता है और भविष्यमें भी जन्मान्तरमें भी ठगा जाता है। इस कारण चोरी नामक व्यसनका परित्याग करने वाला पुरुष ही धर्म और शांतिका पात्र हो सकता। तो हे पुरुष! इस प्रकार चोरीको अपने ही कष्ट की बात जानकर चोरी नामक पापमे व्यामोह न रखना चाहिए, इससे दूर ही रहना चाहिए।

अर्थादौ प्रचुरप्रपञ्चरचनैर्ये वञ्चयन्ते परान्,
नून ते नरकं व्रजन्ति पुरतः पापव्रजादन्यत ।
प्राणा. प्राणिषु तन्निबन्धनतया तिष्ठन्ति नष्टे धने,
यावान् दु खभरो नरे न मरणे तावानिह प्रायश ।।२८।।

(१००) चौर्यव्यसनकी अनुचितताका दिग्दर्शन—

चोरी नामक व्यसनकी बात कही जा रही है। चोरी करना, लूटना, ठगना, दगा देना, धन हडप लेना, यह सब चोरीमे ही शामिल हैं। जो मनुष्य धन कमानेमे अनेक प्रपच रखते है और उन प्रपचो द्वारा दूसरोको ठगा करते हैं, ऐसे ठगने वाले लोग निश्चयसे उस पापके प्रभावसे दूसरोंके सामने ही नरकमे जाते हैं और नरकमें जाकर भी वहाँ घोर दु ख प्राप्त करते है। जिसको अपने आत्मस्वरूपकी सुध नही है, मैं क्या हूं, मैं क्या किया करता हू, अपने आपके अकिंचनपनेकी जिनको सुध नही है, ऐसे पुरुष आनन्दधाम निज अंतस्तत्त्वमे कैसे ठहर सकते हैं ? जब उन्हे कोई आनन्द नही प्राप्त होता तो आनन्द पानेके ही प्रयोजनसे मिथ्याबुद्धिके बहकाये बाह्य पदार्थोंमे सग्रहकी बुद्धि बनाकर दूसरोको ठगनेकी प्रक्रिया किया करते हैं, ऐसे पुरुष कैसे उद्धार पा सकते हैं ? तो दूसरोको ठगने वाले लोग नरक जाते हैं। यह धन हरना दूसरोंके प्राण हरनेके समान है, क्योकि पुरुषोको धन प्राणोके बराबर प्रिय हुआ करता है। जो किसी भी प्रकारसे दूसरोका धन हरता है वह मानो दूसरोका प्राणघात करता है। और इसी कारण मायाचार भी करता है। यह चोरीका पाप बनता है, इस कारण महापापका बंध होता और उसके फलमे नरकोमे जाकर घोर दु ख भोगना पडता है। देखा भी जाता है कि किसीने किसीका धन हरा हो तो उसका धन हरा जानेपर उसको इतना दु ख होता है कि जितना दु ख वह मरते समय नही मानता। तो इतना अधिक दु.खका (पीडाका) कारणभूत चोरी नामक व्यसनका परित्याग हो तब ही धर्मंमे प्रवेश हो सकता है।

चिन्ताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रं शातिदाहभ्रम-
क्षुत्तृष्णाहतिरोगदु खमरणान्येतान्यहो आसताम् ।
यान्यत्रैव पराङ्गनाहितमतेस्तद्भूरि दु खं चिरं,
श्वभ्रे भावि यदग्निदीपितवपुर्लोहाङ्गनालिङ्गनात् ।। २९ ।।

(१०१) परस्त्रीसेवन नामक व्यसनकी विपत्तिधामता—

अब परस्त्रीसेवन नामक व्यसनके सम्बन्धमे बताया जा रहा है कि परस्त्री सेवन भी एक इतना महान् व्यसन है, स्वय आपत्ति है जिससे कि यह मनुष्य धनमे भी लुट जाता,

इज्जतसे भी लुट जाता और जिसे दरिद्रताकी भूख प्यास आदिक भी सताते। इस भवमें भी बड़े दुःख सहने पडते और परभवमे नरकमें जाकर घोर दु.ख उठाना पडता है। देखो इस ही भवमें परस्त्रीका अनुराग करने वालेको कितनी चिंतायें सताती है ? उसका चित्त अस्थिर हो जाता है। जरा-जरासी घटनाओमे अनेक भ्रान्तियाँ हो जाया करती है। कही मेरा यह भेद खुल न जाय, इस शल्यमें वह डूबा रहता है और इतना ही नही पंछे बात प्रकट हो जाय तो इसे दूसरोके द्वारा मार, पिटई, प्राणघात ये सब बातें सहनी पडती है, तो परस्त्रोमें अनुराग रखने वाले पुरुषोको चिंता बहुत सताती है। उस चिन्तामे बडी आकुलता उत्पन्न होती है। पापका काम करना मोहमे आसान जंचता है, मगर पापकर्म करके प्राय सभी पछ-तावा करते है। ज्ञान तो सभीको है, आखिर सभी जीव परमात्मतत्त्व ही तो है। जो जिस खोटे कामको करता है वह समझना जरूर है अपने चित्तमे कि मैंने यह अनुचित किया। चाहे वह अपनी शान रखनेके लिए जाहिर न करे कि मुझसे अनुचित बात हुई, बल्कि अपने कुकृत्य को एक बडी चतुराईके रूपमे प्रवेश करता, लेकिन कर्मबध कही ऊपरी शान देखकर डर तो नही जाते। वहाँ तो जैसी कषाय जगी, जैसा अन्दरमे परिणाम हुआ तत्काल ही उस प्रकार का कर्म बँध जाता है।

तो जो लोग परस्त्रीमें आसक्त होते वे निरन्तर आकुलित बने रहा करते हैं। उनको बहुत ओरसे भय बना रहता है। सरकारका भय, परिवारका भय, समाजका भय, अनेक भय उसे सताया करते। परस्त्रीका अनुराग रखना यह स्वय एक महान् पाप है, कि जिस पापको करने वाले लोग अपने आपमे भरे पूरे नही जंचते। वे स्वयं अपनेको रीता सम-झते हैं, और ऐसा निश्चय करते है कि जैसे मानो लुट गए हो। भले ही जब तक विषय-भोगोकी आशा है तब तक अपनी त्रुटि न मालूम हो और जब विषय भोग रहे उस समय गल्ती ज्ञात न हो, लेकिन पश्चात् अपनी गल्ती महसूस होती है। और जहाँ अपनेको गलत पाया वहाँ यह स्वयं रीता बन जाता है। यह परस्त्रीमे आसक्त मनुष्य इतना विकट कर्मबध करता कि उसके फलमे नरकमे जाकर दु ख भोगना होता है। परस्त्रोगामी पुरुषके द्वेष भाव भी हुआ करता है। उस स्त्रीका जो पति है उससे उसको द्वेष बन जाता है, और कभी-कभी तो प्रोग्राम रचता है कि इसके पतिको ही मरवा दें और स्त्री भी अपने उस पतिको मरवानेके लिए राजी हो जाती है। तो कहो वह अपनी स्त्रीके द्वारा ही मारा जाय।

परस्त्रीगामी पुरुष यद्यपि अपने मनमे अपना अपराध नही गिनता और उस समय तो यह समझता है कि मैंने बहुत साफ काम किया है, मगर ऐसा विकट कर्मबध होता है इन

व्यसनोंमे कि जिसके फलमे इस जन्ममें भी दुर्दशा भोगनी होती है और परभवमे भी। पर-स्त्रीगामीकी बुद्धि विनष्ट हो जाती है। उसकी बुद्धि काम नही देती। उसके घरके सब काम भी बिगड जाते हैं। उसमे ज्ञानबल और आत्मबल नही रहते। और जहाँ ज्ञानबल नही, आत्मबल नही वहाँ आत्मोत्थान असम्भव है। तो जिनको आत्मोत्थानकी भावना है उनका कर्तव्य है कि वे अपनी बुद्धिको व्यवस्थित बनाये रहें ताकि मोक्षमार्गके विरुद्ध कदम न जाये।

(१०२) परस्त्रीगमनका भयंकर परिणाम—

परस्त्रीगामीको बहुत विकट सताप होता है, पीछे वह जानता है और उसको उस समय तो घृणा हो जाती है, मगर ये व्यसन ऐसे खोटे मार्गमें ले जाने वाले हैं कि भोगोपभोग के बाद घृणा भी आ जाय, चित्तमे समा जाय कि यह कर्तव्य नही है मनुष्यका, लेकिन फिर व्यामोह प्राप्त होता है और फिर वही पाप, वही परस्त्रीसेवन करनेको उद्यमी हो जाता है। व्यसन इसीका ही तो नाम है कि जो-जो छुडानेका भी यत्न करे तो भी छूटना कठिन हो जाय। ऐसे परस्त्रीगामी पुरुष अत्यन्त संतापमें रह-रहकर अपने इस पवित्र जीवनको मलिन बना देते है। परस्त्रीगामीको भ्रान्ति उत्पन्न होती है। वह सदा भ्रम बनाये रहता है। कही इसके घर वाले तो नही जानते या अन्य-अन्य प्रकार कुछ भी चिन्ता रखकर, भ्रम रखकर अपने आपको दु.खी बनाये रहा करते हैं। परस्त्रीगामी पुरुष सदा भ्रमका घर बने रहा करते हैं और इस भ्रमसे भय, क्लेश व अटपट प्रवृत्तियाँ बन जाया करती है जिससे कि न भी जानता हो कोई, भ्रम करने लायक बात न हो तो भी यह अपनी ऐसी बात अटपट कर देता है कि जिससे लोग उसे अपराधी समझने लगते। परस्त्रीगामी भूख प्यासकी वेदनायें भी सहता है। उसको धुन लगी है परस्त्रीगमनकी। उसमे ही यह अपना सुख समझता है। तो वहांकी लगनसे ऐसी चेष्टायें, ऐसा मन, वचन, कायका प्रयोग करना पडता है कि भूख प्यास की वेदनायें भी रहती और परस्त्री लम्पटी पुरुष भूख प्यासको भी कुछ नही गिनता। भूखा-प्यासा भी रहकर परस्त्रीगमनमे ही सुख-शान्तिकी खोज करता है। परस्त्रीगमन करने वाले पुरुषको आघातका दु.ख सहन करना पडता है। पडौसी लोग, घरके लोग, जानकार लोग, जो चाहे उसे पीट देते है, इतना ही नही बल्कि जो-जो सुनता है वही उसे पीटने लगता है, उसे तुच्छ समझता है। तो परस्त्रीगामीको आघात भी सहन करना पडता है। परस्त्रीगामी पुरुष अनेक रोगकी पीडावोको भी भोगता है। जो सुजाक वगैराके बडे कठिन रोग है वे सब इस परस्त्रीगमनके निदानपर अधिकतया अवलम्बित हैं। अपनी शक्ति खो दी, शारीरिक शक्ति रही नही, मनकी भी शक्ति नष्ट कर दी, अब कुछ इसमे अधिक बल नही रह गया। ऐसी

स्थितिमे इस शरीरको अनेक रोग घेरते है जिससे उसकी वेदनाको भोगता रहता है। आखिर यह परस्त्रीगामी पुरुष मरणके दुःखको प्राप्त हो जाता है, सारे जीवनभर भी दुःखी रहता है और अन्तमे बडे कठिन भवोमे इसका मरण होता है।

भला बतलावो इससे अधिक और विडम्बना क्या होगी कि परस्त्रीगामी मरता जाता है और उस परस्त्रीकी याद करता है और मनचाही चेष्टायें करता है। ऐसा खोटा भाव बनाता हुआ मरण करता है तो वह दुर्गतिका पात्र बनता है। परस्त्रीगामी पुरुष कितने ही प्रकारके दुःख इस ही जन्ममे पाते है, मगर परस्त्रीजनित पापके प्रभावसे वह मरण करके नरकगतिको प्राप्त होता है। वहाँ नरकगतिमें नारकी लोग कुअवधिज्ञानसे इसकी दुष्चेष्टायें पूर्वभवकी जानकर और उन चेष्टाओसे बाँधे हुए कर्मके उदयमे इसकी विकट बुरी मुद्रा निरखकर सब नारकी इसपर टूट पडते है और ऐसा पाप करने वाले मनुष्योको अग्निमें तपाई हुई लोहेकी पुतलियोसे चिपकाया जाता है, जिससे चिरकाल तक उन्हे दुःख उत्पन्न होता है। सो परस्त्रीगामी पुरुष कदाचित् यह फल भी जान ले तो भी वह इतना व्यामोह आसक्त पतित है कि दुःखोका भी ध्यान नही करता और परस्त्री सेवनके व्यसनमे ही अपनी धुन बनाये रहता।

धिक् तत्पौरुषमासतामनुचितास्ता बुद्धयस्ते गुणाः,
माभून्मित्रसहायसपदपि सा तज्जन्म यातु क्षयम्।
लोकानामिह येषु सत्सु भवति व्यामोहमुद्राङ्कितम्,
स्वप्नेऽपि स्थितिलङ्घनात्परधनस्त्रीषु प्रसक्तं मनः ॥३०॥

(१०३) सप्तव्यसनोके सेवियोंका धिक्वाद—

इस छदमे व्यसनोंकी बात परिभाषाके रूपमे पूर्ण कर रहे हैं। आगे इन व्यसनो के प्रभावमे किन-किन पुरुषोंको कैसी-कैसी विपत्तियाँ भोगनी पड़ी—यह बात कही जायगी। यहाँ व्यसनोकी परिभाषामे उपसहारमे आचार्य कह रहे हैं कि परधन हरनेका संकल्प करने वाले और परस्त्रीमे आसक्ति बुद्धि रखने वाले लोगोको जितनी मेहनत करनी पड़ती है, जिस मेहनतको साधारणतया लोग कर नही सकते, मगर इन व्यसनोमे जिनको एक मौज लग रहा है वे पुरुष बहुत कठिन परिश्रम कर डालते हैं। धनके पानेमे और परस्त्रीके भोगनेके लिए कैसा परिश्रम कर डालते हैं कि जिस पौरुषके होनेपर इतना व्यामुग्ध होता है यह जीव कि उसके मनकी मर्यादाका भी उल्लघन कर देता है। जैसे अपने बडे पुरुषोको कुछ न समझना, उनकी वृत्ति कुत्तो जैसी हो जाती है। मर्यादाका उल्लघन कर वे स्वप्नमें भी पर-

धन और परस्त्रीमें आसक्त रहते हैं। जो जगतेमें श्रम किया उसका कष्ट पाया वह तो है ही, मगर परधनके हरणमें और परस्त्रीके गमनमें जब उनका चित्त व्यामुग्ध रहता है तो स्वप्नमें भी वे वैसा ही दृश्य देखते है और वहाँ भी अपना मन बिगाडते। वहाँ विकट कर्म बंध करते और अपनेको अपवित्र बना लेते है। ऐसे श्रमको पौरुषको धिक्कार है, जिस विचारके होनेपर, जिस अयोग्य धुनके होनेपर ऐसा श्रम बनाया जाता है कि जिन कृत्य से यह कष्ट पाता है, लोगोके द्वारा धिक्कारा जाता है, ऐसा फल इन परस्त्रीगामी और शिकार खेलनेके व्यसनियोको इस ही भवमें मिल जाता है, यह बात तो ठीक ही है, किन्तु उसके इतना पापका उदय होता है कि फिर उसका कोई मित्र नही रहता, उसके सम्पदा भी नहीं बढती और इस कारणसे उसका पाया हुआ यह जन्म भी बेकार चला जाता है।

सारांश यह है कि यदि कोई सामग्री मिल भी जाय याने परधन मिल जाय, परस्त्री मिल जाय या व्यसनका विषय मिल जाय तो उस समय तो उसका मन लोकमर्यादा को छोड देता है और लोकमर्यादा छोडकर विडम्बना जैसी प्रवृत्ति करता है। तो कभी थोडा बहुत पूर्व पुण्यका उदय हो और उसमें कोई सुविधा सामग्री मिली हो तो उस सामग्रीके मिलनेका यह दुरुपयोग करता है। लोकमर्यादाको तजकर परधन और परस्त्रीगमनसे अपने को अपवित्र बना डालता है। ये सातो ही व्यसन इस जीवको कठिन दु.ख उत्पन्न करने वाले और जन्म मरणकी परम्परा बढाने वाले है। इन व्यसनोका त्याग होनेपर ही थोडी बहुत धर्मप्रवृत्ति बनती है। व्यसनी पुरुषोको देवपूजन, प्रच्छाल आदिक धार्मिक क्रियावोको करनेके लिए मना किया गया है। पहले तो अपना हृदय पवित्र बनायें, फिर देवपूजा, प्रच्छाल जैसे पवित्र कामोको कर सकते हैं।

द्यूताद्धर्मसुतः पलादिह बको मद्याद्यदोर्नन्दनः,
चारु' कामुकया मृगान्तकतया स ब्रह्मदत्तो नृप ।
चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनितादोषाद्दशास्यो हठात्,
एकैकव्यसनाहता इति जना सर्वैर्न को नश्यति ॥ ३१ ॥

(१०४) द्यूतव्यसनसे विपत्ति पाने वालोंमे से महाराज युधिष्ठिरका एक उदाहरण—

७ व्यसनोका स्वरूप बताया गया जो कि श्रावककी ११ प्रतिमाओका मूल है अर्थात् सर्वप्रथम व्यसनोका परित्याग हो तो वह प्रतिमाका पात्र बनता है। उन व्यसनोका वर्णन करके अब इस छन्दमे यह बतला रहे हैं कि एक-एक व्यसनके फलमे जीवोंने बडे दुःख पाये। जैसे जुवा खेलनेके फलमे युधिष्ठिरने कैसी विडम्बना पायी ? युधिष्ठिर पाण्डु राजाके पुत्र

थे। ये हस्तिनापुरके धृतराष्ट्र नामक राजा थे। कितना समय हो गया इनको? लाखों वर्ष हो चुके, तबकी यह घटना है। हस्तिनापुरके राजाके तीन रानियाँ थीं। उन तीन रानियोमे एक रानीके तो धृतराष्ट्र थे और एकके पाण्डु और एकके विदुर। महाभारतके कथनमे आया है कि उनमेसे पाण्डु राजाके तो पुत्र थे—अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव और धृतराष्ट्रके पुत्र थे—दुर्योधन, दुश्शासन आदिक। तो उस समय राज्यकी लिप्सासे दुर्योधन आदिको युधिष्ठिरसे बहुत द्वेष हो गया, पर करें क्या? ये पाँचो बडे बलवान थे और लोकमान्य थे, पर करें क्या? आखिर विदुर इनके सलाहकार भी थे, और और भी अनेक लोग इनके सलाहकार थे। तो उनको एक उपाय सूझा कि किसी तरह युधिष्ठिरके साथ जुवा खेला जाय और जुवामे युधिष्ठिरका सब कुछ जीत लिया जाय। बस इसी प्रयोजन से जुवा खेलना आरम्भ किया। और उस जुवेमे युधिष्ठिर अपनी सारी सम्पदा हार गए और इतना ही नही, शानमे आकर अपनी स्त्री द्रोपदीको भी एक दावमे लगा दिया। वह भी हार गए। देखो आजकल तो ऐसी मूर्खता कोई नही करता कि अपनी स्त्रीको भी जुवेमे हार जाय, पर उन्होने वैसा भी किया, आखिर वे बड़े पुरुष ठहरे, जो चाहे करें। ख़ैर, जब सब कुछ युधिष्ठिर हार गए तो दुर्योधन दुश्शासन वगैराने युधिष्ठिरकी हँसी उडाकर उनको बडा शर्मिन्दा किया। साथ ही दुर्योधन दुश्शासन वगैराको तो युधिष्ठिरके प्रति बडा गुस्सा भरा ही था, तो उन्होने द्रोपदीको भरी सभामे नगी करके युधिष्ठिरका अपमान करना चाहा। दुश्शासनने उस भरी सभामे द्रोपदीका चीर खीचा याने उसको नगी करके उसे लज्जित करना चाहा तथा युधिष्ठिरका अपमान करना चाहा। खैर, उस समय द्रोपदीका कुछ पुण्य था, उसके धार्मिकताका, सदाचारका कुछ ऐसा ही प्रताप था कि दुश्शासन द्रोपदीका चीर खीचता गया और उसका चीर बढ़ता चला गया। यह तो उसका पुण्यप्रताप था, यह तो उसकी एक अलग बात है, मगर उस चीर खीचनेके प्रसगमे युधिष्ठिरने अपना कितना अपमान महसूस किया होगा, कितना दुःखसे उसका हृदय भर गया होगा, यह तो वही समझ सकता था। उस समय बडा अपमान महसूस होनेके कारण युधिष्ठिर वगैराको बनवास करना पडा। पहले कुछ वर्ष तो लुक-छिपकर रहना पडा, फिर भेष बदल-बदलकर दूसरोके यहाँ नौकरी करनी पडी। किसीने रसोइयाका काम किया तो किसीने झाड़ू बुहारी करनेका काम किया।

आखिर दुःख ही तो सहा और बादमे अपने हाथमे सम्पदा भी खो दी। और फिर मान लो युद्ध हुआ, तो फिर उसमे एक बहुत बडी हिंसा हुई। महाभारतका युद्ध बहुत प्रसिद्ध है। चाहे उस युद्धमे उतनी हिंसा हुई हो जितनी कि बगला देशमे पाकिस्तानियोने

की इस लडाईमे भी महाभारतमे कम हिंसा नही हुई और दुनियाके इतिहासमे ऐसी बात सुननेमें नही आयी कि जहाँ बिना हथियारके प्रजाके लोगोकी नाजायज हत्यायें की गई हो। सुना है कि कोई ३० लाखके करीबमे हत्यायें इस बगलादेशकी लडाईमे पाकिस्तानियो द्वारा की गईं। यह भी सुना है कि जो कुछ बुद्धिमान लोग थे वकील, जज, या और भी उच्च पदाधिकारी, उनको एक लाइनमे खडा करके गोलीसे मरवा दिया। तो उस महाभारतकी बात कह रहे कि उस युद्धमे भी कितनी ही हत्यायें हुई होगी। उस उतने बडे महाभारत युद्धके होनेमे कारण क्या था, बस वह एक जुवेका व्यसन। लोग तो छोटे-छोटे जुवा खेलते हैं। दिल बहलानेके लिए ताश, शतरंज वगैराके खेल खेलते है, अपना मन बहलाते है और वे यह भी कहते कि इनके खेलनेसे नुक्सान क्या, बल्कि दिल बहलता है। तो भाई ऐसी बात नही है। शुरू शुरूमे तो ये बडे अच्छे लगते मगर धीरे धीरे इनका चस्का बढने लगता है। एक दिन वह बहुत बडा रूप धारण कर लेता है और व्यसन बन जाता है। इस धनकी हार जीतमे लोगोका चित्त कितना आकुलित होता है अशान्त रहता है वहाँ धर्मबुद्धि नही बनती। न जाने कहाँ कहाँ मन लगा रहता। तो यह जुवा एक साक्षात् हानि है। इहं जुवा खेलनेके फलमे युधिष्ठिर ने कितना अधिक घोर दुःख पाया। यहाँ भी देख लो जुवारी लोग कुछ चैनमें रहते क्या? कोई सुख-सातामे रहते क्या? सदा अशान्त, व्याकुल चित्त। तो यह द्यूत व्यसन जिसे लगा है वह जिनभक्तिका पात्र नही, पूजा प्रच्छाल करनेका पात्र नही। उसका चित्त इनमे लग नही सकता। तो इस द्यूत व्यसनसे बडा घोर दुःख होता है, यह बात एक कथाका स्मरण कराकर आचार्यने बताई।

(१०५) मांसभक्षणका दुष्फल पाने वालोमें से एक बक राजाका उदाहरण—दूसरा व्यसन है मांस खाना और मास खानेके व्यसनमे एक कथा प्रसिद्ध है राजा बककी। बक नाम का एक राजपुत्र था। सो उस बकके पिता राजा थे, वह बडे धर्मात्मा थे, जैनदर्शनके अनुरागी थे। व्रत पूजन आदिक समस्त कृत्योमे अग्रणी थे। तो एक बार अष्टाह्निकाके दिनोमे उसने यह चाहा कि मेरे राज्यमे इन ८ दिनोमे कोई जीवहिंसा न करे, सो यह बात अपने राज्यमे घोषणा करनेको हुए तो वह बक नामका राजकुमार जो कि मांस खानेका आदी था, जिसको मांस खानेकी आदत शुरूसे हो गई थी। तो उसने बड़ी प्रार्थना की अपने पितासे कि पिताजी मेरे लिए ऐसी बात न करो। मास खाये बिना हम कैसे जीवित रहेगे? मगर उसकी पिताने एक न सुनी और उसपर भी मांस न खानेका आदेश लगा दिया। खैर जो भी हो।

एक बार ऐसा हुआ कि प्राणिवध तो बद था ही। किसी तरहका मांस कोई बना-

न सकता था । जब किसी तरहका भी मांस न मिल सका राजपुत्रके लिए तो उस रसोईयेने घबडाकर कि अब मांसके लिए कहाँ जायें, क्या करें, कैसे राजपुत्रको मांस खिलायें, वह बडी हैरानीमे पडा । तो वह एक मरघट (श्मशान) की ओर गया । क्या देखा कि वहाँ कुछ लोग एक मरे हुए बालकको मरघटमे ला रहे थे । तो वह मुर्दा बालक रसोइया ले आया और उसका मांस बनाकर राजपुत्रको खिलाया । वह मांस उसे बडा स्वादिष्ट लगा और बोला कहो आज मांस कहाँसे लाये थे ? तो रसोइयाने सारा हाल बता दिया । अब क्या था, वह राजपुत्र बालकोका मांस खानेका शौकीन बन गया । उसने क्या उपाय बनाया कि बालकोको लड्डू बांटना शुरू किया, खूब बालक लोग लड्डू लेनेके लालचमे आयें और चले जायें कोई बालक बादमे जो बचता, बस उसका मांस बनवाकर खा जाता था । धीरे धीरे काफी दिन बीत गये । उस नगरमे बालकोकी सख्या घटी और लोगोको सही बातका पता भी पड गया, तो प्रजाके लोग आये और राजासे निवेदन किया कि महाराज, आपके राज्यमे आपके ही पुत्रके द्वारा बालकोका मांस खानेका अन्याय आपके लिए कितनी अशोभनीय चीज है । राजाने बकको अपने राज्यसे बाहर निकाल दिया । वह जहाँ जायें तहाँ ही बुरी निगाहसे देखा जाय, मारा पीटा भी जाय, बडी बुरी दशाको प्राप्त हुआ । इधर राजाको वैराग्य जगा और मुनिदीक्षा ले ली । इधर उस बकका क्या हाल हुआ कि जनता उसे राक्षस कहने लगी और वह अन्तमें राजा वसुदेवके द्वारा मारा गया । सारी विपत्तियाँ सही इस मांस खानेके व्यसनके कारण, और देखो अन्तमे बुरी मौत मरना पडा ।

(१०६) मांसभक्षणसे होने वाली हानियां—

देखो यह मासभक्षण कितनी खोटी चीज है ? यह रोग पैदा करता है । मनुष्यकी जो उदराग्नि है वह मांस पचाने लायक नही है । जब लोग मास पकाते तो उसमे बहुत-बहुत तेल मसाले इसीलिए तो डालते है कि उसकी दुर्गन्ध मिट जाय । एक बार एक भाईसे हमने पूछा कि बताओ गोभीके फूलका कैसा स्वाद होता है ? तो उसने बताया कि गोभीके फूलमे स्वयं तो कुछ खास स्वाद होता नही, पर उसमे जो अनेक तरहके मिर्च मसाले पडते है उनका स्वाद आता है । देखिये—ये गोभीके फूल स्वय मांसरूप हैं, उनमे बहुत अधिक कीडे होते है, साधर्मी जनोको उनका त्याग कर देना चाहिए । वैसे तो हम समझते हैं कि स्वाद तो उस नमक, मिर्च मसाला आदिका है । कदाचित् जानवरोको खिलायी जाने वाली हरी घासको भी यदि अच्छी तरहसे बारीक बारीक काटकर, उसे धोकर, फिर उसमे तेल, नमक, मिर्च मसाला डालकर बनायें तो वह भी स्वादिष्ट लगे । अच्छा तो फिर हमने उस भाईसे

पूछा कि कोई चीज उदाहरणमे तो बताओ कि गोभीके फूलका कैसा स्वाद होता ? तो उसने कहा कि देखो—बाजराके पेडमे जो सबमे ऊपरका डंठल होता है उसे यदि आगमे भूना जाय और उसके ऊपरका छिलका उतारकर भीतरका छिलका खाया जाय तो जैसा स्वाद उसमे होता है एक फोक जैसा याने न कुछ स्वाद, ठीक ऐसा ही स्वाद गोभीके फूलका समझो।

सात्विक जनोको चाहिए कि अपनी कुल परम्पराके अनुसार रहें। समाजमे यदि किसीको कोई व्यसन लग जाय तो उसका व्यसन छुटानेका आप लोग पूरा प्रयत्न करें। यदि उसमे असावधानी वर्ती तो धीरे धीरे उनकी सख्या नो बढती ही जायगी। वैसे तो यह पचम काल है, इस पचमकालके अन्त तक सभी मनुष्य मास-भक्षी हो जायेंगे, क्योंकि न आग रहेगी न बुद्धि रहेगी, न साधन रहेगे जिसे जो चाहे, यो ही मारेगा खायगा। एक पशुवत प्रवृत्ति हो जायगी। न कपडे पहिननेकी बात होगी, न कुछ। बस एक हाथका लम्बा शरीर हो '।, कोई आचरण सम्बन्धी बात न रहेगी, शादी विवाह वगैराकी कुछ बात न रहेगी, एक पशु पक्षियोकी भाँति जीवन हो जायगा। उसके लिए करीब अभी १५॥ हजार वर्ष शेष हैं। अभी जब तक धर्मकी ओर प्रवृत्ति रहे, ध्यान रहे तब तक वह उपाय बनाना चाहिए। तो मास-भक्षण करनेसे अनेक विपत्तिया होती हैं, अन्तमे बडी बुरी मौत होती है और फिर कर्मबध चलता है। जो कर्म बाँधे जो उदयमे आये उनको कर्म बाँधने पडेंगे, नरक आदिककी खोटी गतियोमे जाना पडेगा। इस तरह यह मासभक्षण बडी खोटी चीज है उसको त्यागना योग्य है। इस मासका छूना तो दूर रहा, इसके देखनेमे भी गुनाह है।

(१०७) मद्यपान व्यसनका दुष्परिणाम भोगने वालोमें से द्वारिकावासियोंका उदाहरण—

तीसरा व्यसन है मदिरा पीना, शराब पीना। पता नही मदिराका स्वाद कैसा होता है ? एक ऐसा ही अदाज कर लो, जैसे पानीमे नीबू डालकर पीवे तो वह कुछ तीक्ष्णसा लगता, शायद यो ही तीक्ष्ण लगता होगा शराबका स्वाद। उसे लोग पीते है, बेहोश हो जाते हैं, अटपट फिरते हैं। वे अपनेको एक बादशाह जैसा समझने, ऐंठकर चलते, पर उन्हे यह पता नही कि उसके पीनेसे कलेजा जले, बुद्धि भ्रष्ट हो जाय, न वह परिवारके लोगोको प्रिय लगे, न मित्रोको, न पास-पडोस वालोको। मद्यपायियोमे एक कथा बहुत प्रसिद्ध है यदुवशियो की। नेमिनाथ भगवानके समयकी बात है। नेमिनाथ भगवानके समवशरणमे जब यह बात आयी कि अबसे १२ वर्षके अन्दर द्वारिकापुरी भस्म हो जायगी और वह भस्म होगी द्वीपायन मुनिकी वजहसे। तो द्वीपायत मुनिने सोचा कि मैं इस नगरीको छोडकर अन्यत्र कहीं चला

जाऊँ तो फिर यह जलेगी कैसे ? आखिर चले गये द्वीपायन मुनि नगरी छोडकर । वहाँ बड़े ऋद्धिधारी हुए। इधर द्वारिकापुरीके राजाने क्या किया था कि नगरीमे बिकने वाली समस्त मादक नशीली वस्तुओंको नगरसे बाहर फिकवा दिया था ताकि किसी नशीली चीजका सेवन करके कोई यहाँ आग न लगा सके । बडा इन्तजाम किया था । खैर इस तरह चलता रहा । कई वर्ष बीत गए । अनेक बार बरषात होनेके कारण सारी मदिरा तालाबोमे, बावड़ियों मे बह बहकर भर गई । उधर होता क्या है कि किसी साल १ माह अधिक (मलमास) हुआ था, उसकी याद न रहनेसे १२ वर्ष बीते, द्वीपायन मुनि पुनः द्वारिका नगरी आये । उन्हे देखकर उस नगरीके यदुवंशियोने समझ लिया कि यह तो द्वीपायन मुनि आ गया जिसकी वजहसे इस द्वारिका नगरीका जलना बताया गया था, सो उन यदुबशी नवयुवकोने उन तालाबों, बावडियोंका जल पी-पीकर जो उन्मत्त हो रहे थे याने जिनकी स्थिति मद्यपायियोकी जैसी हो रही थी उन्होने द्वीपायन मुनिको ढेला पत्थर मार-मारकर वहाँसे भगाना चाहा । उसका परिणाम यह हुआ कि द्वीपायन मुनिको क्रोध आया और उसके बाँये कधेसे तैजस पुतला निकला जिससे सारी द्वारिका नगरी जलकर भस्म हो गई और खुद भी उसीमे जलकर भस्म हो गये । तो यह मदिरा एक ऐसी चीज है कि जिसका पान कर लेनेसे खुद भी दुःखी होते और दूसरों को भी दुःखी होना पडता ।

(१०८) वेश्यागमन व्यसनका दुष्परिणाम भोगने वालोंमें से एक चारुदत्तका उदाहरण—

चौथा व्यसन है वेश्यासेवन । उसके लिए एक कथा प्रसिद्ध है चारुदत्त सेठकी । चारुदत्त एक बहुत बड़े सेठका पुत्र था । इसका धर्ममे चित्त रहता था । चारुदत्तका विवाह हो गया था, लेकिन यह विषयभोगसे अनभिज्ञ था । परीजनोने विचारकर चारुदत्तके चाचाको यह कार्य सौपा कि वे चारुदत्तको संसाररागमे लगा दे । चाचा निर्णीत योजनानुसार चारुदत्तके साथ एक वेश्यागलीमे होकर चले । गली संकरी थी, सामनेसे हाथी आया । भय दिखाकर चाचा चारुदत्तको वेश्यागृहमे ले गये । वहाँ वेश्याकी पुत्रीके साथ कुछ शतरंज खेलने चारुदत्तको बैठा दिया । उस खेलके प्रसगमे वेश्यापुत्री वसंतसेना व चारुदत्त परस्पर मुग्ध हो गये । इस प्रसंगमे चारुदत्तने अपना करोड़ दीनारका धन वेश्याको सौप दिया । जब चारुदत्तके पास धन न रहा तो वेश्याने पुत्रीको समझाया कि अब चारुदत्तको छोड दो । अब उसके पास धन नही रहा । पुत्रीने कहा—हमने सही भावसे चारुदत्तको वर लिया है, अब हम किसी दूसरेसे प्रीति नही कर सकती । मौका पाकर वेश्याने चारुदत्तको एक ...

दिया। वहाँ सूकरी चाटने लगी तो चारुदत्त यह समझकर कि वसतसेना ही स्पर्श कर रही है, मधुर प्रेमके वचन बोलने लगे। इस प्रसगमे यहाँ तक यह बताना है कि वेश्यासेवनके भाव से कितनी दुर्दशा हुई ?

(१०६) शिकार व्यसनका खोटा फल पाने वालोमें से एक ब्रह्मदत्त राजाका उदाहरण—

५वां व्यसन है—आखेट याने शिकार खेलना। इस व्यसनसे ब्रह्मदत्त राजाकी दुर्दशा हुई। वह आखेटके लिये जगलमे गया था। वहाँ एक मुनिराजको ध्यानस्थ देखा। मुनिराजके प्रभावसे वहाँ किसीका शिकार न हो सके। इस प्रकार राजाको लगातार ३-४ दिन शिकार न मिला। तब राजा ब्रह्मदत्तको मुनिराजपर बढा क्रोध आया। जब मुनिराज आहार चर्या करने नगर गये तब ब्रह्मदत्तने उस शिलाको तेज गर्म कर दिया। मुनिराज आहार करके आये और उसी गर्म शिलापर ध्यानार्थ बैठ गये। मुनिराजने ध्यान न छोडा और केवलज्ञानी होकर निर्वाण प्राप्त किया। राजा ब्रह्मदत्त मरकर ७वें नरक गया। वहाँसे निकलकर तिर्यंच् हो होकर अनेक बार छठे पांचवें आदि नरकोंमे जन्म लेता रहा। शिकार खेलनेके पापमे इसने बहुत दु ख सहा।

(११०) चौर्यव्यसनका दुष्फल भोगने वालोंमें से एक सत्यघोषका उदाहरण—छठवां व्यसन है—चोरी करना। इस पापके फलमे शिवभूति नामक पुरोहितने घोर क्लेश सहा। बनारसमे जयसिंह राजा था। उसकी रानीका नाम जयावती था। उस राजाके पुरोहितका नाम शिवभूति था। शिवभूतिने कपटसे यह घाषणा कर रखी थी कि मैं सत्य ही बोलता हूं, यदि कभी झूठ वचन मुखसे निकल जाय तो मेरे जनेऊमे जो चाकू बँधा है उससे मैं अपनी जीभ काट लूंगा। इस कारण बहुतसे श्रीमान् सुरक्षाके लिये अपना धन रख जाते थे। एक बार पद्मपुरके धनपाल सेठने विदेश जाते समय अपने बहुमूल्यवान चार रत्न शिवभूतिके पास रख दिये। सेठ १२ वर्ष बाद लौटा और शिवभूतिसे अपने रत्न मांगे। तब शिवभूतिने कहा कि तुम कौन हो मैं जानता भी नही, ऐसे बातें कहने लगा याने मना कर दिया। तब धनपाल सेठ उद्विग्नचित्त हो गया। वह राजमहलके पीछे पेडपर चढकर रोज चिल्लाता था कि शिवभूतिने मेरे चार रत्न रख लिये, देता नही। एक दिन रानी राजासे बोली कि यह सेठ रोज चिल्लाता है कि शिवभूतिने मेरे चार रत्न रख लिये। राजा बोला कि शिवभूति तो सत्यघोष बन गया, वह कैसे किसीका धन चुराकर मना कर सकता है ? रानी बोली कि हमको आप

आज्ञा दें हम सही पता लगा देंगे । राजाने आज्ञा दे दी । तब रानीने शिवभूतिको बुलाकर उसके साथ शतरंज खेली, उसमे शिवभूति सब हार गया और जनेऊ मुदरी व चाकू भी हार गया । तब रानीने जनेऊ मुदरी चाकू देकर दासीको समझाकर शिवभूतिके घर भेजा । दासीने चिह्न बताकर कहा कि शिवभूतिने तिजोरीमे धरे रत्नोको मंगवाया है । रत्न ले आई दासी । रानीने धनपालको बुलाकर उससे अपने रत्न ले लेनेको कहा । धनपालने उन रत्नोमे से अपने ही चार रत्न लिये, शिवभूतिने भी स्वीकार किया । तब राजाने तीन दण्डमे से कोई भी दंड स्वीकार करनेको कहा—(१) थाली भर गोबर खाओ, (२) हमारे मल्लके ३२ घूंसे सहो, (३) सब धन राजभंडारमे दो । सत्यघोषने पहिले गोबर खाना शुरू किया, वह खाया नही गया, फिर घूसे लगवाये, एक ही घूंसा सहते न बना, फिर सारा धन देना पडा । सातवां व्यसन है—परस्त्रीसेवन । परस्त्रीगमनके आश्रयमात्रसे रावणने कष्ट उठाये, युद्धमे मरा और नरक गया । सद्गृहस्थ इन सातो व्यसनोसे दूर रहना है ।

(१११) **शिकार व्यसनकी हेयताका पुनः स्मरण**—श्रावकधर्म व्यसन त्यागके आधार पर है, अर्थात् सर्वप्रथम व्यसनोका त्याग हो तो वह श्रावकधर्ममे आया हुआ प्रारम्भ समझिये, क्योकि यह व्यसन महान आपत्ति है । इन ७ व्यसनोमे कोई भी व्यसन जिसके लग जाय वह दुःखी रहता है । इन व्यसनोमे आखेट (शिकार) खेलनेके व्यसनकी बात देखिये—जीववध तब किया जाता है जब निर्दयता हो । निर्दयीके धर्म कहाँ, तो शिकारका मूल निर्दयता है । भला विचार तो करो । जिनका शरीर ही परिग्रह है, बनमे रहते है, और जिनका कोई रक्षक नही है, रक्षाका कुछ सम्बन्ध भी नही, जिनमे स्वभावतः भय बना ही रहता है, जो मुखमे तृण दाबे रहा करते है, ऐसे निरपराध पशुओका भी निर्दयी पुरुष शिकार किया करते है । अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि जरा अपनी-अपनी बात तो सोचो यदि शरीरमे जरासी चीटी चढी हो या मक्खी बैठी हो या मच्छर बैठा हो तो इसके नेत्र कितना चचल हो जाते है ? इसका मन कितना व्याकुल हो जाता है ? अब जरा अन्तर तो देखिये—वही पुरुष जब उन निरपराध पशुओपर अन्याय करता हो, उनका वध करनेमे उनका शिकार करनेमे आनन्द मानता हो तो यह कितना निर्दयी और निर्लज्ज हो रहा है ? अन्तर तो देखो—खुदके शरीरपर मच्छर बैठ जाय तो सहन नही होता और दूसरोंके गलो मे छुरियां चलायी जायें, तो यह कितना बडा अन्याय है ? शिकार करनेका यह एक उनका ढग है, मगर जो देवी देवताओका नाम लेकर जीवोका शिकार किया जाता वह भी तो शिकार ही है और इसमे तो मायाचार है । हम धर्मात्मा भी कहलायें और पशुओको मारकर उनका

मास भी खा लें, ऐसी बात है तब ही तो एक धर्मका रूप देकर पशु पक्षियोको अग्निमे होम दिया जाता है या देवी देवताओके मदिरमे कोई भेड बकरे कसकर बांध देते ताकि टससे मस न हो सकें और फिर उनपर छुरियां बरसा बरसाकर उन्हे बुरी मौतसे मारते हैं। वे बेचारे तडफते चिल्लाते है, पर कौन उन बेचारोकी पुकार सुनने वाला है, कौन उनकी रक्षा करने वाला है ? संसारकी विचित्र लीला देखो—जो ये मारने वाले पुरुष हैं वे अगले भवोमे प्रायः करके वही भेड बकरी आदि बनते और वे भी उसी भाति मारे जाते हैं।

यह एक संसारकी दशाका चित्रण चल रहा है। दयाका कही नाम नही, दूसरे जीवोके प्रति सहज स्वरूपके आदरका कही स्थान नही। जहा दूसरे जीवोको कुछ नही समझा जाता, दूसरे जीवोको सताया जाना यह कितना बडा अन्याय है ? जिसमे खुद ज्ञात है कि दु:ख हुआ करता है, क्योकि खुदके शरीर पर जरा चीटी भी चढ़ आये तो उसमे दुःख महसूस करते, फिर भला बताओ जिन जीवोंके गलेपर छुरियां चलें उनको कितनी वेदना होती होगी ? कितना क्रूर हृदय हो जाता है शिकारका व्यसन लग जाने वाले पुरुषोका ? वे अपने ही इस ज्ञान देवताका बध कर रहे हैं। खुदके आत्माकी सुध नही रहती, खुदको नरकमे पहुंचाते और वहा असह्य यातनायें सहते हैं। क्या प्रयोजन है कि उन निरपराध जीवोको मारा जाय, सताया जाय। आजकलके जमानेमे तो १०—१० रुपयेमे जान चली जाती हैं। बहुत से स्थान हैं ऐसे कि जहा पर न कुछ जैसी मामूली बातपर भी जीवोकी निर्मम हत्यायें कर दी जाती है। लोग मनुष्योको भी ऐसा समझते कि मानो वे मनुष्य ही नही हैं, बस ककडी खीरे की भाति काट देते है। ऐसे ही मनुष्य बनकर मानो यहा रह गए, कोई वक्त नही कोई अपने स्वरूपका भान नही, कोई महत्व नहीं। ऐसे मनुष्योका तो आज यह युग चल रहा है और कहनेको तो यह है कि बहुत उन्नति पर देश जा रहा है, बडी ऊँची ऊँची शिक्षायें हो रही हैं, बडी बडी बातें हो रही है, लेकिन चारित्रकी ओर देखो तो यह मनुष्य कितना पतित होता जा रहा है ? जिसके फलमे निरन्तर कर्मबन्ध होता। उन पापकर्मोंके उदयमे वर्तमानमे भी दु:ख और आगे भी दुःख। तो यह जीव अविवेकसे दूसरे प्राणियोको सताता है, मारता है, पर इसमे खुदकी ही विपत्ति है, क्योकि ये व्यसन हैं। व्यसन कहते हैं विपत्तिको और फिर यह बात हर एकके मुखसे सुन लो कि कोई अगर किसीको मारता है तो वह भी भव-भवमे मारा जाता है। जैसे बहुतसे लोग कहने लगते ना कि उसने हमे ठग लिया तो ठीक है। हमने भी उसे कभी ठगा होगा। यह बात सोचकर वे संतोष करते। और यह बात बहुत कुछ सम्भव भी है कि जो यहा दूसरे जीवोको सताता है वह दूसरोंके

द्वारा भी सताया जाता है। यहां प्रकरण चल रहा है गृहस्थधर्मका और मुनिधर्मका। श्रावककी ११ प्रतिमायें कही गईं, पर साथमें यह भी बताया गया था कि गृहस्थधर्म व्यसनो के त्यागमूलक है जहां व्यसनोका त्याग हो, पहले जब प्रतिमामे वह प्रवेश करता है। तो व्यसनोके वर्णनमें काफी परिभाषायें दी गई थी।

(११२) शिकारव्यसनका फल भोगने वाले ब्रह्मदत्त राजाके वृत्तान्तका विवरण—

यहां बतला रहे थे कि किस-किस व्यसनसे किस-किसने क्या आपत्तियां उठायी, उनमेसे एक-एक उदाहरण चल रहा है। ५वां व्यसन है शिकार, उस शिकार खेलनेके व्यसन से ब्रह्मदत्त नृपने कितना नुक्सान उठाया ? वह कथा इस प्रकार है कि उज्जैन नगरीमे एक राजा था, उसका नाम था ब्रह्मदत्त। वह शिकार खेलता था, मांस खाता था। भला सोचो तो सही कि निरपराध पशु-पक्षियोको मारकर चित्तमें यह बात आती नही क्या कि अरे ये भी तो जीव हैं, कैसा तड़फ रहे हैं, यह बात उनके चित्तमे आती नही क्या ? कुछ न कुछ बात तो आती ही होगी, मगर उसको वे गौण कर देते है। बल्कि उन तड़ते हुए जीवोको देखकर वे मौज मानते है। तो वह ब्रह्मदत्त नामका राजा जो कि शिकार खेलनेके व्यसन वाला था वह भी एक बार शिकार खेलने किसी वनमे गया। उस वनमे एक मुनिराज विराजे थे। वह मुनि प्रतिदिन चर्याको जाते और वहांसे वापिस आकर उसी जगह एक शिलापर बैठकर ध्यान किया करते थे। उस दिन उस ब्रह्मदत्त राजाको कोई शिकार न मिला तो सोचा कि उन मुनि महाराजकी वजहसे हमको शिकार नही मिला।

देखिये—वहां जगनी तो चाहिए थी भक्ति कि चलो अच्छा हुआ, पाप करनेसे तो बचे, पर इस भक्तिके बजाय उसे क्रोध आया, खैर वापिस लौट गया। जब दूसरे दिन शिकार खेलने आया तो उस दिन भी वही बात। जब शिकार न मिला तो उन मुनिराजपर उस राजाको बहुत विकट क्रोध आया। सो क्या किया कि जब मुनिराज चर्याके लिए दो चार घटेके लिए नगरमें चले गए तो उसी बीच उसने उस शिलाके चारो ओर तेज आग जलाकर उसे तप्तायमान कर दिया और फिर वहांसे आग लकडी वगैरह उठाकर ज्योका त्यो स्थान बना दिया। अब प्रतिदिनकी भांति वह मुनिराज जल्दी जल्दीमें आकर उस शिलापर बैठ गए। वहा उन्हे आत्मध्यान बना, केवलज्ञान बना और वहीसे मोक्ष गए। उनकी तो यह बात हुई और ब्रह्मदत्तकी क्या बात हुई, सो सुना ही होगा।

(११३) विकल्पोकी निरर्थकता जानकर अविकल्पस्वभाव अन्तस्तत्त्वका आश्रय करनेका संकेत—

पहले तो यह जानो कि कोई किसीका बुरा करना चाहता है, दुःख देना चाहता है और कहो उसका भवितव्य अच्छा हो तो वह उसकी सुख समृद्धिके लिए बन जाता है। अनेक उदाहरण आपने देखे होगे। श्रीपाल राजाको कोटिभट धवल सेठने उसकी स्त्रीके लोभ मे समुद्रमे गिरा दिया था, मगर उसका समुद्रमे गिरना श्रीपालके लिए बडा लाभका कारण हुआ। किसी तरह समुद्रसे निकला, आधा राज्य पाया और विवाह भी हुआ और कष्ट भी बहुत पाये। जब धवल सेठने श्रीपालको राजाके पास बैठा पाया तो उसने एक ढोग रचा। ५-७ भाडोसे कह दिया कि तुम लोग इस राजाके सामने श्रीपालको अपने परिवारका पुत्र, भाई, चाचा वगैरह बताओ ताकि राजा समझ ले कि अरे यह तो भाड़का लडका है। उन भाडोने राजाके सामने वैसा प्रदर्शन भी किया। तो वहांपर भी श्रीपालके सामने अनेक विपत्तिया आयी। देखिये—पुराणोमे भी यह बात अनेक जगह आयी कि साधारणजनोकी अपेक्षा महापुरुषोके सामने अधिक विपत्तिया आती हैं, तो ठीक ही है। वे न्यायनीतिसे रहना चाहते, सदाचारसे रहना चाहते तो अनेक विपत्तिया भी सामने आती हैं। अभी यही आप देख लो, जो सदाचारसे रहता है मान लो रात्रिभोजनका त्यागी है। एक बार ही २४ घटेमे आहार लेता, रात्रिको जलका भी त्याग है तो उनको तकलीफ होगी कि जो स्वच्छन्द लोग हैं, जिनका कोई सयम नही, रात दिन जब चाहे खाना पीना उनको तकलीफ होगी। लोकव्यवहारमें तो लोग यही कहते हैं कि कष्ट तो सयमी जनोको है, असयममे रहने वालोको क्या कष्ट? पर ऐसी बात नही है। जिसे ज्ञान है, वह सयमपूर्वक जीवन बितानेसे कष्ट नही मानता, बल्कि वह तो अपने आत्मस्वरूपको निरख निरखकर प्रसन्न रहा करता है। हां तो बात चल रही थी उस ब्रह्मदत्त राजाकी। बात क्या हुई कि उस राजाको वहा दो प्रकारके पाप लगे थे, एक तो मुनिराजके प्रति द्वेषभावकी कल्पना होनेका पाप और दूसरा शिलाको अग्निसे तप्तायमान करनेका पाप। जिसके फलमे वह मरकर दुर्गतियोका पात्र बना।

सारी व्यवस्था कार्यविधिसे ही चलती है। जब तक आन है, जब तक विनय है तब तक सब प्रसन्नता रहती है। घरमे भी जब तक किसी बडेकी आन है तब तक घर प्रसन्नतासे रहता है। समाजमे भी जब तक किसी नायक, गुरुकी आन रहती है तब तक समाज भी प्रसन्न रहता है और देशमे भी जब तक किसी निष्कपट, निःस्वार्थ नेताकी आन रहती है तब तक वह देश भी प्रसन्नतासे रहता है और जब किसी बडेकी आन नही रहती, बल्कि उस बडेके प्रति विरोधकी बात चित्तमे समा जाती है तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वहां फिर प्रसन्नता नामकी चीज गायब हो जाती है। वैसे तो हर एक कोई अपनी बडी

शान मारता है, मगर जो बात जिस विधिसे होती है सो ही होती है। आखिर देखिये शिकार खेलनेके फलमे उस ब्रह्मदत्त राजाकी दुर्गति ही तो हुई।

(११४) मौलिक चोरी—

छठवां व्यसन है—चोरी करना। चीज तो पराई हो और उसे अपनी समझ लेना, अपना अधिकार समझ लेना उसका नाम चोरी है। यह व्यवहारकी बात चल रही है। परमार्थसे देखो तो यह लगेगा कि सब जाल है। बताओ कर्मोंको क्यों ग्रहण करते? वे तुम्हारी चीज है क्या? शरीरमे क्यो बुद्धि लगाते? इन इन्द्रियोकी क्यो गुलामी रखते? इन इन्द्रियोपर क्यो अपना कब्जा समझते? यह सब जो ग्रहण हो रहा यह परमार्थ चोरी है। इस परमार्थ चोरीका जिसने त्याग किया, एक आत्माका विशुद्ध स्वरूप निरखा, ऊपरसे मोह ममताको हटाया तो ऐसा पुरुष ससारसे पार हो जाता है। यह प्रकरण चल रहा है एक व्यावहारिक। चोरी नाम किसका? दूसरेकी चीज हड़प लेना, चाहे छलसे हड़पे, दगा से हड़पे अथवा गोली दिखाकर जबरदस्ती हड़पे वह सब चोरी है, या किसीको ऐसा फसाया, परिस्थिति ऐसी बनाया कि उसे हड़पा, जैसे ब्लेक आदिक होते, तो ये सब चोरी है।

(११५) चोरीका दुष्परिणाम—

चोरीके फलमे बड़ा खोटा फल मिलता है। जैसे एक नगरमे एक पुरोहित रहता था तो दुनियाको यह बतलानेके लिए कि मैं बहुत सच बोलता हू। अपने जनेऊमे एक चाकू बाध रखा था और यह प्रसिद्ध कर रखा था कि यह चाकू मैंने इस वास्ते बाध रखा है कि जिस दिन मुझे झूठ बोल आया बस उसी दिन इस चाकूमे मैं अपनी जीभ काट डालूंगा। इस बातको सुनकर सभी लोग उसपर बडा विश्वास करते थे। मगर उसके मनमे था पाप उसे कोई क्या जाने? उसकी प्रसिद्धि इतनी बढी कि वह सत्यघोषके नामसे कहलाने लगा। सभी लोगोको उसपर विश्वास हो गया। इससे अनेक लोग उसके पास अपनी धरोहर धरने लगे। एक बार किसी सेठको कही दूसरे द्वीप जाना था तो उसने अपने कीमती रत्न सत्य-घोषके पास रख दिए और कह दिया कि इन्हे धरोहर रख लें। हम जब परदेशसे लौटकर आयेंगे तब वापिस ले लेंगे। ठीक है, सेठ चला गया। पर जब वापिस लौटकर आया और अपने रत्न मागे तो सत्यघोष रत्न देनेसे नट गया, इन्कार कर गया। बोला—अरे आप कौन है? आपको तो मै पहचानता भी नही। कैसे रत्न? आप क्या कह रहे, कही आपका दिमाग तो नही खराब हो गया...? बस इस बातको सुनकर सेठका दिमाग उलझनमे पड़ गया। उसके चित्तमे बडी ठेस लगी और वह यही शब्द सब जगह रटे सत्य-

घोषने मेरे रत्न हड़प लिये……। इस बातको सुनकर लोगोंने समझा कि इसका दिमाग खराब हो गया है। यह समाचार राजाके पास भी पहुंचा। राजा अपनी रानीसे वार्ता करते कह रहा था कि देखो वह सेठ वही वही शब्द बोलता है और कुछ नही कहता, शायद वह पागल हो गया है। तो रानी बोली—आप उसे पागल न समझें। यदि पागल होता तो अनेक बातें अटपट बोलता, इसमे कुछ रहस्य है। तो राजाने कहा—अच्छा सत्यघोषको बुलाकर तुम ही इसकी परीक्षा करो कि वास्तविकता क्या है ? ठीक है। रानीने क्या किया कि पुरोहितको, सत्यघोषको राजदरबारमे बुलवाया और वहां कुछ ऐसे जुवा ताशके खेल फैंट दिया। धीरे-धीरे सत्यघोष सब कुछ हार गया। जब सत्यघोष पूरी तरहसे अपने कब्जे मे आ गया तो उसका जनेऊ उसकी चाकू और उसके हाथकी मुदरी दासीको देकर रानीने कहा कि ऐ दासी ! तुम सत्यघोषके घर जावो और इसकी स्त्रीको ये निशानीकी चीजें दिखाकर कहना कि तुम्हारा पति आज बडे संकटमें है, निशानीके लिए ये चीजें भी भेजी हैं। उसने तिजोरीमें रखे हुए सारे रत्न मँगाये हैं या स्त्री खुद लेकर आवे या हम दासीको दे दो। ठीक है। दासी पहुंची सत्यघोषके घर, तो सत्यघोषकी स्त्रीसे रानी द्वारा कहा हुआ सदेश दिया और निशानीकी चीजें भी दिखायी। तो सत्यघोषकी स्त्रीने तिजोरीके अन्दर रखे हुए सारे रत्न उस दासीको दे दिये। दासी सारे रत्न लेकर रानीके पास आयी। आखिर राजा और रानी दोनोंने उस सेठको बुलाकर कहा कि तुम्हारे जो रत्न हो उन्हे छांट लो। सेठने अपने रत्न छांट लिए। सत्यघोषकी पोल खुल गयी। सभीने जाना कि सत्यघोष चोर है। वह अपयशका पात्र बना। राजाने उसे उस चोरीके परिणाममें क्या दण्ड दिया सो सुनो राजाने कहा—देखो इस चोरीके दण्डमे या तो तुम एक थाली गोबर खाओ, या हमारे मल्लके ३२ घूसे सहो या अपना सारा धन दे दो। अब सत्यघोषने धन देना तो स्वीकार न किया, एक थाली गोबर भी खानेकी हिम्मत न हुई, ३२ घूसे खानेकी भी हिम्मत हो गई। सो बोला मुझे मल्लके ३२ घूंसे स्वीकार हैं। आखिर हुआ क्या कि मल्लके एक ही घूँसेसे वह टें बोल गया। प्राणान्तको प्राप्त हो गया। दुर्गतिका पात्र बना, अपयश पाया।

परस्त्री सेवनकी इच्छामे ही दुष्फल पाने वाले रावणका वृतान्त—७वां व्यसन है परस्त्रीसेवन। इसके उदाहरण तो अनेक होंगे, लेकिन इसके लिए रावणका उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है और देखो रावणने परस्त्रीसेवन नही किया। हां सीताको ले गया अपने उद्यानमें पर सीताके साथ उसने अपना कोई सम्बन्ध नही बिगाडा। भाव तो थे उसके, पर रावणका एक नियम था, एक प्रतिज्ञा थी कि इस संसारमे जो स्त्री मुझे न चाहेगी उसके साथ मैं

बलात्कार नही कर सकता । इसे अपने नियमका वह पक्का था । सीताने उसकी ओर देखा तक नही, चाहनेकी तो बात जाने दो, अत' रावणने सीताके साथ कोई सम्बन्ध नही बिगाड़ा यद्यपि रावणका वह नियम लेनेका उद्देश्य था कि उसे अपनी सुन्दरतापर, बलपर, वैभव आदि पर गर्व था और वह यह समझता था कि भला संसारमे ऐसी कौनसी नारी होगी जो मुझे न चाहेगी । खैर वह अपने उस नियमपर अडिग रहा । उस समय अनेक कारण-कूट ऐसे आये कि श्रीराम लक्ष्मण तो बनवासमे थे और किसी दंडक बनमे खरदूषण अपनी चन्द्रहास खड्गकी विद्या सिद्ध कर रहा था । वहाँ लक्ष्मणने कुछ समझ न पाया कि मामला क्या है, सो अपने बाणसे उन बासके पेडोको काट दिया । खरदूषण नीचे आ गिरा । वहाँ लक्ष्मणका खरदूषणसे युद्ध हुआ, खरदूषण मारा गया । वहां पहुची सूर्पणखा (रावणकी बहिन) इसका चित्त चल गया राम लक्ष्मणपर । राम लक्ष्मणने मना किया । आखिर नाराज होकर वह सूर्पणखा रावणके पास पहुची, रावणको भडकाया । अब रावणने सीता हरण करनेका षड्यन्त्र रचा । अब कुछ लोग तो कहते है कि मारीच (रावणका मामा) सोने का हिरण बनकर वहाँ गया, राम लक्ष्मण उसको मारनेके लिए गये, उसी बीच रावण भिखारीका रूप धरकर सीताको हर ले गया, पर जैनसिद्धान्तमे ऐसा नही कहा । भला मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम कही शिकार किया करते थे ? वह बलभद्र थे, मोक्षगामी जीव थे, उन्होने शिकारका काम नही किया । हाँ बात यह हुई थी कि जब खरदूषणके साथ लक्ष्मणका युद्ध चल रहा था तो वहाँ रावणने अपनी मायासे शंखनाद कर दिया और हा राम हा रामके शब्द पुकारा तो इधर श्रीरामने समझा कि हमारा भाई लक्ष्मण संकटमे है तो सीताको अकेले जगलमे छोडकर श्रीराम लक्ष्मणके पास गए । उसी बीच रावणने आकर सीताका हरण किया । उसने सीताको यद्यपि अपने उद्यानमे रखा, अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा, पर यह समझ लो कि सीताके प्रति एक भावना बिगाडने मात्रसे देखलो आज रावणका नाम किस रूपमे लिया जाता है ? लोग उसे नीची दृष्टिसे देखते हैं । अच्छा देखो—यद्यपि रावण यह जानता था कि सीता मुझे चाहती नही, मुझे वापिस करना पड़ेगा श्रीरामको, पर मैं इसे यो ही वापिस कर दू तो दुनिया मुझे क्या कहेगी ? कायर समझेगी, यह सोचकर उसने अपने मनमे यह ठान लिया कि मैं पहले श्रीरामपर विजय प्राप्त कर लूगा तब सीता वापिस दूंगा । आखिर हुआ यह कि उस युद्धमे रावण मारा गया ।

(१७) सातों व्यसनोकी आपद्धामताके कथनका उपसंहार—

सातो ही व्यसन इस जीवको सक्लेश करने वाले हैं । सब व्यसनोंकी जुदी-जुदी

बात है । परस्त्रीसेवनमें कितनी कितनी विपत्तियाँ बतायी ? चिंता, भय, शोक, शल्य और आर्थिक बिगाड, सब तरहकी विपत्तियाँ है । तो ऐसा परस्त्री व्यसन भी महापाप है । इन ७ प्रकारके व्यसनोसे जो दूर है व्यवहारमे भी उसीको भगवान पूजन, प्रच्छाल आदि करनेका अधिकार दिया है । तो ये व्यसन विपत्ति हैं, इस जीवको बरबाद करने वाले हैं । इनका त्याग हो तो वह आगे बढेगा । धर्म तो वास्तवमे एक ज्ञानमात्र अतस्तत्वकी श्रद्धा बनाना है । अपनेको परखना है कि मैं ज्ञानमात्र हू, अन्य कुछ नही हू । ऐसी दृढ प्रतीति बने कि उसके अन्यके प्रति कोई रुचि न जगे । प्रयोजनमात्र जानें, बाहरी यश, प्रतिष्ठा, धन-सम्पदा आदि किसीकी ओर अपना लगाव न रहे । एक ज्ञानमात्र स्वरूपकी ही धुन रहे । मैं हू मैं क्या हू··· ? देखिये—जब कभी आप घरसे कही बाहर गए हो और आपके घर वाले भीतर से सांकल लगा लें तो आप बाहरसे आनेपर अपने घरका दरवाजा या बाहरकी सांकल खट-खटाते हैं । उस समय जब आपके घरके लोग अन्दरसे पूछते कि आप कौन है ? तो उस समय आप कहते कि मैं हूं या यह कहते कि कोई नही । तो देखो उसका कहनेका मतलब तो यही है ना कि यह मैं इस ही घरका अमुक हूं, कोई गैर नही है, पर उसके शब्द तो देखो मैं हू, कोई नही । तो कोई नहींमे भी कुछ न आया और मैं हू मे भी कुछ न आया । लोग सोचते तो हैं कि मैं हू, मैं हू, पर उसमे कुछ आया क्या ? जब दृष्टिमें आ जाय कि मेरा यह मैं ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व हू, सहज चैतन्यस्वरूप ज्ञानमात्र, इस रूपमे अपने आपकी प्रतीति हो तो वह काम देता है, यही मूल है धर्मका । "दसण मूलो धम्मो" धर्मका मूल है सम्यग्दर्शन । और धर्म खुद क्या है ? "चारित्तो खलु धम्मो" चारित्र है सो धर्म है । और उसका मूल है सम्यग्दर्शन । तो आनन्द तो धर्ममे ही है । कल्याण तो धर्ममे ही है, सद्बुद्धि धर्ममे ही है । धर्मको ही अपना सर्वस्व समझें । "धर्म बिना कोई नहिं अपना ।" अब गृहस्थीमे हैं, सम्बध बनाते हैं तो ठीक है, उनके साथ सद्व्यवहार रखें, प्रेमका व्यवहार रखें, मगर चित्त मे यह बात सदा बनी रहे कि एक जीव दूसरे जीवका कुछ नहीं लगता । एक जीव दूसरेमे क्या कर देगा ? पाप कमाया, नरकमे गया तो जो गया उसका फल वह अकेला ही भोगेगा, कोई दूसरा वहाँ उस दु खको बाँटने न आयगा । तो यहाँ अपना स्वरूप समझें, अपनेको अकेला ज्ञानमात्र निरखें, और अपनेको सदाके लिए सर्वसकटोसे बचायें ।

न परमियन्ति भवन्ति व्यसनान्यपराण्यपि प्रभूतानि ।
त्यक्त्वा सत्पथमपथप्रवृत्तय क्षुद्रबुद्धीनाम् ॥ ३२ ॥

(११७) निन्द्य कुपथप्रवृत्तिरूप अन्य अनेक व्यसनोंका निर्देश—

गृहस्थधर्ममे बताया था कि ११ प्रतिमाओंके अनुकुल गृहस्थका आचरण विकासमें बढ जाता था। साथ ही यह कहा था कि गृहस्थोके व्रतका प्रारम्भ व्यसन त्यागमूलक है। अतः सर्वप्रथम इन व्यसनोका त्याग कर देना चाहिए। तो वे व्यसन अब तक बताये गए। व्यसन ७ है और अन्तमें उन व्यसनोका खोटा फल जिन्होने पाया उनका भी वर्णन किया गया। अब इस छन्दमे यह बतलाते हैं कि वह न जानना कि इतने ही व्यसन है। यह तो मुख्यताकी वजहसे बता दिया कि व्यसन ७ हैं, पर ७ ही क्या, व्यसन अनेक होते हैं। यों समझिये कि जो क्षुद्रबुद्धि वाले पुरुष हैं वे सत्यपथको छोडकर, सन्मार्गको त्यागकर जो कुपथ मे प्रवृत्ति करते हैं बस वे सब व्यसन कहलाते है। अब अनेक जगह जैसे कहते है कि हमारे बच्चेकी ऐसी खोटी आदत पड गई अमुक पुरुषकी ऐसी खोटी आदत पड़ गई। तो इन ७ व्यसनोंके अलावा भी कई बातें है, मगर उनको इन सातोमे किसी न किसीमे गर्भित किया जा सकता है और ये मुख्य हैं, इसलिए व्यसन ७ बताये गए है। अब जैसे किसी-किसीको गाली देनेकी ही आदत पड जाती तो वह व्यसन नही है क्या ? वह भी व्यसन है। किसी किसीको हँसी मजाक करनेकी आदत पड जाती तो यह भी व्यसन है। मगर इन व्यसनोके होनेसे बडी-बडी विपत्तियाँ आती हैं। जिनको झूठ बोलनेकी आदत बन जाती उनसे वह बात छूट नही पाती। चाहे कुछ काम न हो, बात कुछ नही बनती, मगर झूठ बोले बिना चैन नही पडती। गप्पें मारनेकी जिनकी आदत होती है उनको चाहे रात्रिके १०-११ बज जायें, मगर गप्पें मारना नही छोडते। उसीमे बडा मौज मानते। गप्पें मारनेके मायने है—जो झूठ बातें है, अनुचित बातें हैं, अनहोनी बातें है उनको बखाननेके मायने है गप्पे मारना। उन गप्पकी बातोसे न तो धर्मके वातावरणसे सम्बन्ध, न आजीविका सम्बन्धी वातावरणसे सम्बन्ध। तो गप्पें मारना भी एक व्यसन है। ये सभी व्यसन बुद्धिमानजनो को छोड देना चाहिए।

(११६) गृहस्थको आजीविका व धर्मपालन—इन दो कलोत्तमोंके सिवाय, अन्य कार्यों की अकृत्यता—

गृहस्थोके लिए तो मूलमे दो बातें कही गई है—१–आजीविकाका काम करें और उद्धारका काम करें। इन दो बातोके अतिरिक्त तीसरेकी जरूरत क्या ? बताया भी तो है—'कला बहत्तर पुरुषकी, ता मे दो सरदार। एक जीवको जीविका, दूजे जीवोद्धार ॥' तो आजीविका का काम और आत्मोद्धारका काम इन दो कामोसे जिन बातोका सम्बन्ध हो वह करें। तीसरी बातसे प्रयोजन क्या ? आजीविकाके काममे धन कमाने, व घर गृहस्थीकी सब

प्रकारकी व्यवस्था ठीक रखनेका काम करें और फिर भक्ति, विनय, पात्रदान आदिक जो जो धार्मिक काम हैं सो करें। इस ढगका जिनका वातावरण है उसको कोई आपत्ति नही आती। अब देखो इन सब आपत्तियोकी बातोमे एक बात चुगली करनेकी भी आती है। यहांकी वहां भिडाना, वहांकी यहां भिडाना। यह चुगली करनेकी आदत तो बहुत बुरी आदत है। इस चुगली करनेके शिकार हमारे ख्यालसे ८० प्रतिशत लोग होंगे। ऐसे पुरुषमें कुछ विवेक ही नही रहता कि हमको क्या करना चाहिए? न तो आजीविकाका काम वह ढगसे कर सके, न कोई धार्मिक प्रसगकी बात ही वह ढगसे कर सके। प्रायः करके विश्वके अधिकाश लोगोमे यह आदत होती है कि यहांकी बात वहां भिडायी, वहांकी यहां भिडायी। इसकी निन्दा की, उसकी निन्दा की। भला बतलाओ, ऐसी आदत रखनेसे इस आत्माको कुछ नफा होता है क्या? न तो आजीविका सम्बन्धी लाभ हो याने न कोई धनका लाभ हो और न कोई धर्मकी बात मिले। तो इस निन्दा, चुगली करनेकी आदतको सदाके लिए त्याग देना चाहिए। जो इन्हे त्याग देगा वह बडा पवित्र बनेगा, शान्त रहेगा, सुखी रहेगा। जो लोग दूसरोकी निन्दा, चुगली नही करते उनका जीवन देख लो कितना शान्त, सुखी रहता है? तो यह भी एक व्यसन है कि नही कि निन्दा किये बिना चैन नही पडती।

(१२०) क्षुद्रबुद्धियोंके असत् प्रलापोका एक दृष्टान्त —

एक पुरुषको भूठ बोलनेकी आदत थी तो अब वह बडी तकलीफमे आ गया, खानेके लिए दाने-दानेको मोहताज हो गया। आखिर वह किसी नगरमे पहुचा, एक सेठसे कहा—हमे किसी काममे नौकर रख लो? ...वेतन क्या लोगे? बस खाना, वेतन कुछ नही, और सालमे एक बार भूठ बोल देनेकी माफी। ...बहुत अच्छी बात। सो रख लिया सेठने। सोचा कि इससे सस्ता नौकर कहां धरा? खैर किसी तरह ८-१० माह बीते। उस नौकरको चैन ही न पड़े बिना भूठ बोले, सो सोचा कि अब तो हमे अपनी कला सेठको दिखानी चाहिए। सो क्या किया कि उधर सेठानीसे कहा—सेठानी जी, हम क्या कहे, हमको एक बातका बडा दुःख होता है, कहना तो न चाहिए था, पर कहे बिना रहा नही जाता, आपके प्रति हमारा हितका भाव है, इसलिए वह बात कह देनेका मन करता है। तो सेठानी बोली—कहो क्या बात है? बात कहनेसे डरते क्यो हो? तो वह नौकर बोला—मालकिन जी सुनो—तुम्हारे यह सेठ जी वेश्यागामी हो गये है, ये रात्रिके एक दो बजे उठकर एक वेश्याके पास जाया करते है। अच्छा होगा कि आप उनकी यह आदत छुटा दें। और उनकी यह आदत छुटानेके लिए आप एक उपाय करें कि सबको सोते हुएमे इनकी एक ओरकी दाढ़ी उस्तरेसे बना दें,

फिर एक ओरकी दाढी विडरूपमे देखकर वेश्या डरेगी, कुछ हो-हल्ला मचायेगी, सब लोग भी जान जायेंगे, यह भी शर्मिन्दा होंगे और वहांपर जाना छोड देंगे। सेठानीको उस नौकरकी बातपर विश्वास हो गया और वैसा ही उपाय करनेको तैयार हुई। उधर सेठसे क्या भिडाया उस नौकरने कि सेठ जी आपका अभी तक हमपर बडा उपकार रहा, हम आपका बडा आभार मानते है। इसीसे आपके हितके लिए हम एक बात कहते हैं, आपको चेतना हो तो चेत जावो। तो सेठ बोला—भाई बताओ तो सही क्या बात है?····मालिक सुनो, हम आपके घरमे काफी दिनोसे रह रहे है। हमे आपके घरकी सब बातें मालूम है। आपकी ही सेठानीने आपकी हत्या करनेका विचार किया है सो आप रात्रिको सावधानीसे सोना, कही धोखा न खा जाना। सेठको उसकी बातपर विश्वास हो गया। भला बताओ जिसकी जान (प्राण) जानेकी नौबत आ जाय उसे नीद भी आयेगी क्या? नही आयेगी। सो उस रात सेठको नीद ही न आ रही थी, यो ही पडा-पडा गहरी विचारधारामे पडा था। अब वह सेठानी सेठके पास रात्रिको उस्तरा लेकर आयी, ज्यो ही उसने दाढी बनानी चाही कि सेठने झट उसका हाथ पकड लिया और समझ गया कि नौकरने ठीक ही कहा था। अब उन दोनोमे कहा-सुनी बढी, वाद-विवाद बढ़ा, ऐसी लडाई ठनी कि सवेरे तक लड़ाई चलती रही। बादमे नौकर सोचता है कि अब इनकी लडाई बंद करा देनी चाहिए। सो दोनोके सामने हाथ जोड़कर बोला:—आप लोग लडें नही, गल्ती किसीकी नही। हमने अपना वेतन चुकानेके लिए ऐसा भिडाया था। अब मैं अपना वेतन पा चुका। तो यह झूठ बोलना, निंदा करना, चुगली करना बडा खोटा काम है, इससे बुद्धि बिगड जाती है, पापकर्मका बध होता है, जिसके फलमे दु:ख ही दु:ख मिलता है। तो ऐसे अनेक व्यसन है, इन व्यसनोको त्यागनेसे ही आत्मोन्नति हो सकती है।

सर्वाणि व्यसनानि दुर्गतिपथाः स्वर्गापवर्गार्गला,
वज्राणि व्रतपर्वतेषु विषमा. ससारिणां शत्रव ।
प्रारम्भे मधुरेषु पाककटुकेष्वेतेषु सद्धीधनैः,
कर्तव्या न मतिर्मनागपि हित वाञ्छद्भिरत्रात्मनः ॥ ३३ ॥

(१२१) दुर्गतिमार्ग तथा स्वर्ग एवं मोक्षकी अर्गला—

यहाँ व्यसनोकी तारीफ की जा रही है मायने उनकी सही बात कही जा रही है। ये सारे व्यसन क्या है? ये दुर्गतिके मार्ग हैं अर्थात् ये दुर्गतिको उत्पन्न करते हैं। यह जीवन पहले एक आचार-विचारमे बढ़े तब वह आगे बढ सकेगा। तब ही उसके सद्बुद्धि जगेगी,

ज्ञान जगेगा और अपने आत्महितके मार्गमे विकास कर सकेगा। कोई यह न सोचे कि पहले ज्ञान जगाये, फिर व्यसन छोडेंगे। अरे ज्ञान विशेष नही हो पाया, फिर भी व्यसनोका त्याग होनेसे सारा लाभ ही लाभ है। इनके त्यागका फल कभी निष्फल नही जाता। मान लो उसका मोक्षमार्ग न बना, लेकिन सद्बुद्धिसे रहे, व्यसनोका त्याग करे, पापोका त्याग करे तो मन्द कषाय होनेसे वह यहांकी विपत्तियोसे तो बचा और पापोंसे बचा। इसलिए सर्वप्रथम इन व्यसनोका त्याग करनेके लिए बताया है। ये व्यसन इस जीवको दुर्गतिमे ले जानेके मार्ग हैं और स्वर्ग तथा मोक्षकी अर्गला हैं। जैसे दरवाजे बद हो गए, अन्दरसे साकल लग गई, फिर भी एक मोटा डडासा जो कि दोनो ओरकी दीवारोमे गहरे छिद्रोमे रखा रहता है उसे दूसरे छेदसे भेड देते हैं तो वह एक दरवाजेकी मेड बन जाती है; वह एक दृढ साकलसी बन जाती है। उससे फिर बाहरसे दरवाजे खुल ही नही सकते। तो ऐसे ही ये व्यसन भी स्वर्ग और मोक्षके लिए अर्गलाकी तरह हैं।

देखो यहाकी इस धार्मिक सभामे बैठे हुए लोगोमे से करीब ९० या ९५ प्रतिशत लोग इन व्यसनोके त्यागी होंगे, ऐसा हमारा विचार है। बाकी जो इनके त्यागी न हो उन्हे चाहिए कि इस बातपर ध्यान दें और इन व्यसनोको छोड दें तो यह उनके लिए हितकी बात है। अच्छा जो पास पडौसके अन्य लोग हैं उनमे तो सम्भव है कि व्यसन अधिक हो, पर जो अपने इस धार्मिक समाजमे कुछ लोग ऐसे हो जायें कि जिनमे ये व्यसन घर करने लगें उन्हें आपका कर्तव्य है कि इन व्यसनोका त्याग करानेका पूरा प्रयत्न करें। यहा एक बात ख्याल आयी कि अहमदाबादमे प्रतिदिन एक जनरल सभा हुआ करती थी। वहापर जैन अजैन सभी लोग काफी सख्यामे आया करते थे। तो उनमे से एक ब्राह्मण कुछ विशेष अनुरागी बन गया। वह भाषण भी दिया करता था। तो एक दिन उसने अपने भाषणमे एक बात कही कि देखो—इस सभामे जितने लोग बैठे है उनमे उतनी भक्ति महाराज जी के प्रति नही है जितनी कि उनके पास इस सभामे न आने वाले लोगोको है। यह बात सुन कर सभी लोग दग रहे। पूछ बैठे—बताओ कैसे उनमे अधिक भक्ति है? तो उसने कहा कि देखो जो लोग इस सभामे नही आते वे बडा पक्का दृढ श्रद्धान लिए होगे कि महाराज जी जो कुछ कहेगे वह बिल्कुल सत्य कहेगे, अब उसका क्या सुनना, वहा क्या जाना, और जो लोग यहां बैठे है उनमें से बहुतसे लोग तो ऐसे भी होगे जिनको पक्का श्रद्धान नही, जो इस बात की ताकमे रहते होगे कि देखें तो सही कि महाराज जी क्या कहते हैं? यहा न आने वालो का उसने मजाक किया। तो बात यह कह रहे थे कि जिनका हृदय पवित्र नही, जिनके

हृदयमे व्यसन है वे मोक्ष तो जाना दूर रहा, स्वर्ग तक भी नही जा सकते ।

(१२२) **व्रतभंजक, विषम, पाककटुक व्यसनोंके त्याग बिना धर्मपथ गमनकी असंभवता—**

व्यसन क्या है ? व्यसन तो व्रतरूपी पर्वतके लिए वज्रके समान है । जैसे पर्वत पर वज्र गिर जाय तो पर्वत टूट जाय, खण्ड-खण्ड हो जाय, ऐसे ही व्यसन जहां हो वहां व्रत भंग हो जाय, टूट जाय, वहां व्रत ठहर ही नही सकता । बीडी, सिगरेट, पान आदिका अधिकाधिक प्रयोग करना यह भी तो व्यसन है । बीडी सिगरेट पीने वाले लोगोंको क्या कहा जाय ? एक तो उसके पीनेसे बुरी गध आती, फिर उसका धुवां अदर जाकर कलेजा फूंकता है । अनेक प्रकारके रोग पैदा करता है । उसके पीनेसे फायदा कुछ नही मगर ऐसी आदत होती कि छोड नही पाते । बहुतसे लोग तो यह भ्रम करते कि अगर बीडी, सिगरेट छोड़ देंगे तो बीमार हो जायेंगे, पर उन्हे यह पता नही कि इनके पीनेसे ही तो बीमार बने । अगर इनका सेवन करना छोड़ दें तो बीमारी भी दूर हो सकती है । बहुतसे लोगोको सिनेमा का भी व्यसन हो जाता है ।

देखा होगा कि ये जो रिक्शा चलाने वाले लोग है या मजदूरी करने वाले लोग हैं वे चाहे भूखे रह लें कैसी ही फटी हालतमे रहे, पर सिनेमा जरूर देखने जायेंगे । तो सिनेमाका भी एक व्यसन होता है । संक्षेपमे यह जानें कि जिसमे आजीविकाका सम्बन्ध हो या जिसका आत्मोद्धारका सम्बन्ध हो सो काम कर लो । फिजूलके काम करनेसे, फिजूलका खर्च बढ़ानेसे कोई फ़ायदा नहीं । किसी किसीको तो दिखा कि पान, बीडी, सिगरेट आदि फिजूलके कामोमे बडे बड़े फिजूलके खर्च होते है, जिससे वे खुद परेशान रहते है, उनके खर्चे नही पूरते, तो ऐसे फिजूलके कामोसे बचो, जिन कामोसे आजीविकाका सम्बन्ध नही, धर्मका सम्बन्ध नही उनका त्याग करो । देखो चाहे जो काम कर लो, मगर एक दिन इस शरीरको छोडकर जाना पडेगा न ? इस शरीरको लोग जला देंगे न ? जब ऐसी बात है तो फिर इस शरीरकी इतनी खुशामद क्या करना ? ऐसे काम करनेसे फायदा क्या जो व्यसनका रूप रख लें । यहां जिसको कोई प्रकारका व्यसन हो गया उसकी बरबादी ही है । प्रारम्भमे तो ये व्यसन बडे मधुर लगते है मगर इनका फल बड़ा कटुक होता है । इनका परिणाम इनका विपाक बडा खोटा होता है । इसलिए आत्माका उद्धार चाहने वाले पुरुषोंको इन व्यसनो का त्याग कर देना चाहिए ।

मिथ्यादशां विसदृशां च पथच्युतानां मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च ।
सगं विमुञ्चत बुधाः कुरुतोत्तमानां गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्ग एव ॥३४॥

(१२३) समुन्नतिमार्गमे गमन करनेके इच्छुकोको कुसंग त्यागकर सत्संग करनेका उपदेश—

हे उन्नति चाहने वाले पुरुष, यदि उन्नतिके मार्गमे ही चलने के लिए अपनी बुद्धि करना है तो मिथ्यादृष्टि अथवा असमान पुरुष तथा पथभ्रष्ट लोग मायाचार रखने वाले पुरुषो का संग छोडना चाहिए और उत्तम पुरुषोकी सगति करना चाहिए । मिथ्यादृष्टि जीव विपरीत आशय वाले होते हैं, अतएव उनकी चेष्टायें मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियाँ सभी उल्टे ढगसे हुआ करती हैं । ये प्रवृत्तियाँ सग करने वाले पुरुषोंके लिए हितकारी नही हैं और ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोकी प्रवृत्तियाँ निरख निरखकर दूसरा भी इस श्रद्धा वाला बन सकता है कि ऐसा ही करना उत्तम है, इसलिए मिथ्यादृष्टि जीवोका सग करना उचित नही है ।

जो मनुष्य विसदृश हैं अर्थात् विरुद्ध धर्मके अनुयायी है उन पुरुषोकी सगति भी इस जीवका अहित करने वाली है, क्योकि विरुद्ध धर्मके चलने वाले लोगोका समागम मिथ्या मोहको ही पुष्ट करनेका साधन बनता है, इसलिए जो अहिंसा धर्मसे विरुद्ध है, आत्मतत्त्वका परिचय जिसको नही है और जैसा कुगुरुवोने बहकाया है उस तरह जो अपनी बुद्धि रखते है, ऐसे इन विधर्मी पुरुषोका संग छोडना चाहिए । इसी प्रकार जो सत्पथसे भ्रष्ट हैं जिन्होने कभी एक उत्तम व्रत मार्गको ग्रहण किया था और अब अज्ञानवश उस मार्गको, उस पथको जो तज देता है, अव्रती, व्यसनी, दुराचारी बन जाता है ऐसे पथभ्रष्ट पुरुषोका भी सग करना उचित नही है । पथभ्रष्टोका सग पथभ्रष्ट होनेकी उमगका ही साधन हो सकता है । इस कारण पथभ्रष्टोका सग छोडें और जो उत्तम पुरुष है, ससार शरीर भोगोसे विरक्त हैं उनकी सगति करें । जो लोग मायाचारी हैं, छल कपटसे भरे हुए हैं जिनके मनका पता नही पाडा जा सकता, ऐसे मायाचारी पुरुषोका सग छोडना ही उचित है । क्योकि एक तो कपटी पुरुषोके सगसे खुदपर विपत्ति आ सकती है, दूसरोका स्वच्छ सरल हृदय भी उनके सगसे कुटिल बन सकता है । इस कारण जो मायाचारी छली, कपटी लोग है उनके सगको ही छोड देना चाहिए । इसी प्रकार जो व्यसनी जन हैं, जिन्हे जुवा खेलनेका व्यसन लगा है, जो पाये हुए इस धनका सदुपयोग न कर खोटे कामोमे ही नष्ट किया करते है, जो मासलोलुपी हैं, मद्यपायी हैं, मांस मदिराके सेवनसे जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, दया जिनके चित्तमे रही नही ऐसे व्यसनी जनोका सग कष्टदायी ही है । जो चोरीके व्यसनी है उनसे कुछ कमायीका

काम किया नही जा सकता, दूसरोको धोखा देकर किसी तरह धनका संग्रह कर लेना, जिनकी बुद्धिमे समाया है, जो परस्त्री, वेश्यागामी है, जिनमे ऐसी कुवासना भरी है वे आत्मस्वरूपकी सुध ही क्या करें ? उस ओर परिचय करनेका ध्यान भी नही जाता और निरन्तर परस्त्रीगमन, वेश्यासेवन इन ही कुवृत्तियोमे चित्त बना रहता है । ऐसे पुरुषोका सग कष्टकारी होता है । ऐसे ही जो शिकारके व्यसनी हैं, दया जिनके हृदयमे नही है, खुद शिकार करते हैं, दूसरोसे करवाते है, कसाईखाने खोलते है, ऐसा एक हिंसा कार्यमे प्रवृत्ति रखने वाले मनुष्योका संग दूरसे ही छोड देना चाहिए ।

जिनको अपनेको उन्नतिके मार्गमें ले जानेकी वाञ्छा है उन पुरुषोंको विपरीत प्रवृत्ति वाले लोगोका सग छोड देना चाहिए और हे बुद्धिमान पुरुष, यदि उन्नतिके मार्गमे ही चलनेकी इच्छा है तो उत्तम पुरुषोका ही सग करें, जो ससार, शरीर और भोगोसे विरक्त है, जिनको अपने सहज ज्ञानस्वरूपमे आस्था है ऐसे पुरुष यदि मिलते हैं, तो उन जैसे ज्ञानप्रकाशकी भावना होती है और उनकी प्रवृत्तिसे, उनके वचनसे, उनके विचारसे दूसरोपर भी उत्तम प्रभाव पडता है जिससे यह उत्तम पुरुष खुद तरनहार है और इसका जो सग करते है वे पुरुष भी संसारसागरसे तिर जाते है । इससे इस प्रकरणमें यह शिक्षा दी जा रही है कि उत्तम पुरुषोका सग करो ।

स्निग्धैरपि व्रजत मा सह संगमेभिः क्षुद्रैः कदाचिदपि पश्यत सर्षपाणाम् ।
स्नेहोऽपि सगतिकृतः खलताश्रितानां लोकस्य पातयति निश्चितमश्रुनेत्रात् ॥३५॥

(१२४) दृष्टान्तपूर्वक खलसंगसे होने वाली हानिका कथन—

ऊपरके छदमे जिन दुष्टजनोके सगके त्यागका उपदेश है वे विपरीत बुद्धि वाले पुरुष च हे कितना ही स्नेह रखते हो, बडी प्रीतिपूर्वक व्यवहार बताते हो तो भी उनका सग कभी न करना चाहिए । कितनी ही विपत्तियाँ दुष्टजनोके सगसे पैदा हुआ करती हैं, शान्ति सतोष आदिक सद्गुणोका वहाँ ठिकाना नही रह सकता है । जैसे तैल निकल जानेपर जो फोक बचता है उसे कहते है खल, खली । तो उस सरसोके दानेका जो एक रूप है खल याने तैल निकल जानेके बाद जो खली रहती है उसके ही आश्रित हुए जो कुछ स्नेह है वह स्नेह अपनी तीक्ष्णताके कारण मनुष्योके नेत्रोसे आँसू गिरा देता है याने खली, उसमे कुछ थोडा बहुत स्नेह रह गया हो, थोडा रहता तो है, पर चाहे वह थोडा स्नेह भी रख रहा हो मगर जैसे वह खल है, उसका प्रसंग लोगोके नेत्रोको कष्ट देता है, ऐसे ही जो क्षुद्र जन हैं, मिथ्यादृष्टि जन है, विधर्मी है, पथभ्रष्ट हैं, कपटी, व्यसनी ऐसे जो भी दुष्ट पुरुष है उनके स्नेह से जो इस भवमे और परभवमे दुःखका अनुभव होता है उस दुःखका अनुभव करने वाले

पुरुष आखिर पछतावा ही करते है और पछतावासे अपने आँखोसे आँसू ही गिरते है। याने दुष्ट पुरुषोका समागम आखिर एक दुःखका ही कारण होता है। पछतावाका ही कारण होता है। चाहे वह कितना ही प्रेमी हो, स्निग्ध है, मगर मूढ है, दुष्ट है तो वह तो एक दुःखका ही कारण होता है।

एक ऐसी ही कथा है कि एक राजा अपने पहरेके लिए सिखाये हुए बदरको रखता था। रात्रिके समय बदर अपनी वर्दी पोशाक पहिनकर हाथमे तलवार लेकर स्वय पहरा लगाता था। एक दिन कोई विद्वान कवि जिसको बहुत दिनसे पारितोषिक न मिला तो चोरी के इरादेसे उस राजाने महलमे चोरी करने पहुचा। किसी तरह महलके अन्दर गया, छिप गया। छिपकर वह विद्वान चोर क्या देखता है कि राजा सो रहा था, उसके पास बैठा हुआ था पहरेदार बदर। फिर क्या देखा कि राजाकी नाकपर एक मक्खी बारबार आकर बैठती है, बदर उसे बारबार उडा देता है। जब बदर उस मक्खीको नाक परसे उडाते उडाते हैरान हो गया तो सोचा कि क्यों न इस नाकको ही तलवारसे उडा दूं? जब नाक ही न रहेगी तो फिर यह मक्खी कहांसे बैठेगी? यह सोचकर बदरने राजाकी नाक उडाने (साफ करने) के लिए तलवार उठायी। इतनेमे वह विद्वान चोर उसके पास पहुंचा, बदरके हाथसे तलवार छीना, काफी मुठभेड हुई, इतनेमे राजाकी नीद खुल गई। और जब उसने सही मामला जाना तो उस विद्वान पडितको गले लगाया। उसका बड़ा सत्कार किया और जो कहावत टूटी फूटी सस्कृतमे चली आ रही थी कि 'पडितोऽपि वर शत्रु, न मूर्खो हितकारक।' उसका उदाहरण राजाने ठीक पाया तो जो दुष्ट पुरुष हैं उनकी सगति कभी न करनी चाहिए।

कलावेक साधुर्भवति कथमप्यत्र भुवने,
स चाघ्रात क्षुद्रै कथमकरुणैर्जीवति चिरम्।
अतिग्रीष्मे शुष्यत्सरसि विचरच्चञ्चुचरतां,
वकोटानामग्रे तरलशफरी गच्छति कियत् ॥३६॥

(१२५) खलप्रवृत्तियोसे होने वाले उपद्रव उपसर्गके प्रति खेदका प्रकाशन—

देखो इस लोकमे आजकल यहाँ कलिकाल चल रहा। अवसर्पिणीकालका चतुर्थ काल तो निकल गया। अब यह पचमकाल पापका काल चल रहा। इस कलिकालमे, इस जघन्यकालके प्रभावसे साधुजन प्रायः नही हो पाते। कोई बिरले ही साधु पुरुष हुआ करते हैं। तो ऐसे वे दुर्लभ धर्मप्रेमी साधु पुरुष भी जब निर्दय दुष्ट पुरुषोके द्वारा सताये जाते हैं तो भला बतलावो वे चिरकाल तक कैसे जीवित रह सकते हैं?

जैसे बहुत तीक्ष्ण गर्मीका समय हो तो वहाँ तालाबका पानी सूखने लगता है। जब वह पानी सूखने लगता है तो चोच डालकर चलने वाले बगुलोके आगे वहांकी चंचल मछलियाँ कितनी देर तक टिक सकती ? मायने अधिक देर तक टिक नही सकती। वे तो उन बगलोके द्वारा मारी जाती है, खायी जाती हैं। तो जैसे सूख रहे सरोवरमे मछलीके जीवन का ठिकाना नही जब कि बगुला इसी घातमे रहते है तो ऐसे ही इस कलिकालमे जहाँ कि निर्दय दुष्ट पुरुष भले लोगोंको सताते रहते है, पीडित करते रहते है तो वहा साधुसमाज ठहर सके, इसकी कहाँ तक आशा की जा सकती है ? और साधुसमाज बिना गृहस्थसमाज को सन्मार्ग प्राप्त नही हो पाता। इससे दुष्टजन जो इतने क्रूर हृदयके होते है कि साधु सतो को भी तग कर सकते है ऐसे दुष्टजनोका संग करना कहां तक हितकारी हो सकता है ? इस कारण उपदेश दिया है कि दुष्टोका सग छोडें और उत्तम पुरुषोंका सग करें।

इह वरमनुभूत भूरि दारिद्रय दुःखं, वरमतिविकराने कालवक्त्रे प्रवेशः।
भवतु वरमितोऽपि क्लेशजाल विशाल न च खलजनयोभाज्जीवितं वा धन वा ॥३७॥

(१२६) खलसंगकी अत्यन्त हेयता—

देखो जगतमें एकसे एक बडी विपत्तियाँ हुआ करती हैं। तो कोई विपत्ति आ जाय वह तो भली, है मगर दुष्टजनोका सग मिल रहा हो, धन मिल रहा हो तो भी उनका सग उचित नही है। इस लोकमे दरिद्रताका दुःख बहुत कठिन दुःख होता है। जो दरिद्र परिवार है उन सबको भूख तेज लगती है, पर उस भूखको दूर करनेके लिए उनके पास कोई ठिकाना नही। ऐसा दरिद्रताका दुःख कितना कठिन दुःख हैं ? वह दरिद्रताका दुःख सह लेना तो कही अच्छा है मगर दुष्टजनोके समूहसे जीवन और धनकी चाह करना अच्छा नही है। इसी तरह भयानक मृत्यु सामने आ जाय तो मृत्युके मुखमे प्रवेशकर जाना कही अच्छा है मगर दुष्टजनोके सम्बन्धसे किसी भी प्रकारकी विभूतिकी चाह करना उत्तम नही है। ससार की सुख शान्ति ज्ञानके आश्रित है। बाहरी पदार्थ धन वैभव कितना ही आये, कितना ही रहे, धन वैभवके सम्बन्धसे जीवको सुख शान्ति प्राप्त नही होती। तो प्रथम तो यह ही निर्णय होता है ज्ञानीको कि धन सम्पदासे मेरे आत्माका कोई भला नही है, तो ऐसा पुरुष जिसने अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावका परिचय प्राप्त किया है, उसमे ही जिसकी आस्था है ऐसा पुरुष क्यो दुष्टजनोका सग करेगा ? तो मृत्यु भी भली है मगर दुष्ट पुरुषोका संग भला नही है। इस लोकमे नाना प्रकारकी पद्धतियोसें अनेक कष्ट आया करते है। उन सब कष्टोके जालको सह लेना तो उचित है, मगर दुष्टजनोके सम्बन्धसे जीवन धन आदिक

कुछ भी मिलें या चाहा जाय वह उत्तम चीज नही है।

वास्तविकता यह है कि जो मनुष्य अपने आत्मस्वरूपका परिचय पा लेता है उस को जगतके पदार्थोंकी अनुकूल प्रतिकूल प्रवृत्तिया शान्ति भग नही कर सकती। तो ज्ञानी की अन्त' आवाज है कि चाहे मरण भी आ जाय, दरिद्रता भी आ जाय या और और भी सारे क्लेश आ जायें मगर विधर्मी, मिथ्यादृष्टि, कपटी, व्यसनी, दुष्टजनोका सग भला नही है। ऐसा जानकर दुष्ट अज्ञानी जनोकी संगति त्यागकर उस विशुद्ध अन्त स्वरूपमे प्रवेश करें।

आचारो दशधर्म सयमतपोमूलोत्तराढ्या गुणाः,
मिथ्यामोहमदोज्झन शमदमध्यानाप्रमादस्थिति ।
वैराग्य समयोपवृहणगुणा रत्नत्रयं निर्मल,
पर्यन्ते च समाधिरक्षयपदानन्दाय धर्मो यतेः ॥३८॥

(१२७) ग्रन्थोक्त धर्मकी द्वितीय परिभाषामे निर्दिष्ट मुनिधर्मके वर्णनका प्रारंभ—

इस ग्रन्थमे मगलाचरणके बाद धर्मका व्याख्यान करनेका सकल्प किया था और उस धर्मको ५ रूपोमे रखा गया था—पहला रूप जीवदया धर्म है। इसके सम्बन्धमे भी बहुत कुछ वर्णन हो चुका है। दूसरी मुद्रा है—गृहस्थव्रत और मुनिव्रतसे दो प्रकारका धर्म है। धर्मके पालनहार गृहस्थ भी हैं, मुनि भी हैं। प्रयोजनभूत सम्यग्दर्शनकी तो दोनोमे समानता है। हाँ ज्ञानकी प्रकर्षता और तो आखिर मोक्षमार्गमे दोनो ही तो हैं। इस तरह मुनिधर्म और गृहस्थधर्मके भेदसे दो प्रकारका धर्म है। उसका भी परिभाषण यहाँ किया गया, जिसमे गृहस्थ धर्मका वर्णन तो हो चुका है, अब मुनिधर्मका वर्णन किया जा रहा है। मुनिका धर्म अक्षय पदके आनन्दके लिए हुआ करता है। धर्मका परिणाम आनन्द और शान्ति है। धर्म कही कष्टके लिए नही किया जाता, किन्तु सहज शाश्वत शान्ति आनन्दका लाभ हो इस ध्येयकी पूर्तिके लिए धर्मका पालन हुआ करता है। यही तो धर्ममे बतलाते है कि पहली बात तो है-आचार। आचार ५ प्रकारके होते हैं—(१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चारित्राचार, (४) तपाचार और (५) वीर्याचार। सम्यग्दर्शनके विषयभूत आत्मा के सहज स्वभावमें आस्था रहना यह कहलाता है दर्शनाचार। उसका परिचय रहना, ज्ञान रहना सो ज्ञानाचार और ऐसे ही सहज आत्मस्वरूपमे रम जाना, मग्न हो जाना, इसे कहते हैं चारित्राचार और पञ्चेन्द्रिय, मन इनका दमन करने वाले १२ तपोका आचरण करना इसे कहते हैं तपाचार और समस्त समीचीन आचरणोको करते हुए थकना नही, पूर्णशक्तिसे उन आचारोका पालन करना इसे कहते हैं वीर्याचार। तो ये ५ प्रकारके आचार मुनिके धर्म

है । १० प्रकारके धर्म—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चर्य, ब्रह्मचर्य । इन १० धर्मोंका पालन यह उनका उत्तर गुण है । संयमका पालन तपश्चरणका करना, ये सब यहीके मूल एवं उत्तर गुण हैं ऐसे यतियोका धर्म क्या है ? निर्मल रत्नत्रय । यह शरीर यद्यपि अपवित्र है, लेकिन रत्नत्रय धर्मके सम्बन्धसे मुनियोके शरीरकी भक्तिपूर्वक बड़े-बडे चक्रवर्ती जैसे पुरुष राज उनकी सेवा करते है, ऐसे दसधर्म सयम तपश्चरण ये ही मूलगुण और उत्तर गुण हैं साधु पुरुषके । जहाँ मिथ्या मोह मदका त्याग है, मिथ्या बुद्धि रंच नही, अपने आपका सहज जो स्वरूप है उसका जिन्हे परिचय अनुभव हो गया है ऐसे सत्पुरुष मुनिधर्मका पालन करते हैं ।

(१२८) शम दम ध्यान समाधि आदि सहजानन्दपोषक वृत्तियोंसे अर्चित मुनिधर्म की श्रेष्ठताका दिग्दर्शन—

मुनिधर्ममे कषायोंका शमन शान्ति करना, तपा देना, हटा देना, कषाय न जगे ऐसा यत्न होता है । मुनिधर्ममे इन्द्रियका दमन अपूर्व होता । इन्द्रियद्वारसे कुछ आकाक्षायें चल रही है, मुझे ऐसा खिलाया, यह अच्छा लगा आदिक रूपसे इन्द्रियके विषयोमे प्रवृत्ति चलती है, मगर जब उनका दमन जहाँ होता है वह है निर्मल रत्नत्रय । मुनि धर्ममे ध्यानकी बडी विशेषता है । क्रियाकाण्ड तो वहाँ गौणरूपसे है जो मुनियोंके लिए उचित है, पर उन को मुख्य उपदेश है कि वे अपने आत्माको पहिचानें, जानें और उस ही मे प्रवेश करें । तो ध्यानकी जहाँ स्थिति है वह है मुनिका निर्मल रत्नत्रय धर्म, इसी प्रकार जहाँ अप्रमाद है, जहाँ तीव्र कषाय नही, धर्मके विरुद्ध कोई योजना नही, ऐसी प्रमादरहित जिसकी स्थिति होती है बस वही स्थिति तो यतीका धर्म है । यही धर्म वहाँ है जहाँ वैराग्य प्रबल होता है । आत्मस्वरूपसे तो अन्य किसी पर और परतत्त्वमे जहाँ राग नही है वह यतीका धर्म है । आत्माका जो सहज सच्चिदानन्द स्वरूप है उस सम्बन्धके आश्रयसे जहाँ गुण प्रकट हुआ करता है, बढता है वह मुनिका धर्म है । यह रत्नत्रयरूप निर्मल धर्म यतीके लिए एक मात्र आलम्बन है । ससार सकटोसे जो जीव छुटकारा चाहते हैं उनको इस निर्मल रत्नत्रयधर्मकी उपासना करनी चाहिए ।

तो जहाँ दोषोका अभाव और गुणोका विकास किया जा रहा हो, जिसके पास कुछ भी सग परिग्रह नही है, कोई भी चिन्ताका जहाँ स्थान नही है, ऐसा सत्पुरुष ही तो धर्मका पालन कर सकटोसे मुक्त होता है । तो जीवनभर इन यतिराजोने क्रिया ध्यान, व्रत सयम दृढ़ता, पर अन्तमे निकटकालमे ही उनका समाधिपरिणाम हो जाता है । समाधिभाव एक

बहुत उत्कृष्ट वाञ्छनीय भाव है। तो जिस धर्ममे समाधिभाव प्रकट होता है, सदाके लिए आधि व्याधि, उपाधि शान्ति हो जाती है वही यतीका धर्म है। आधि तो मानसिक दुःख है, व्याधि शारीरिक दुःखको कहते हैं और उपाधि बाहरी पदार्थोंका सम्बन्ध जुटानेको कहते हैं। इस मनके लिए ये समस्त बाह्य तत्त्व बरबादीके हेतुभूत हैं। उन बाहरी पदार्थोंके कारण इस जीवको शान्ति नही आ सकती।

तो ऐसे यतिका धर्म अब आगे बहुत विस्तारके साथ वर्णित होगा। यतिधर्ममे मुख्य बात यह समझ लेनी चाहिए कि यह धर्म ऐसे आनन्दको उत्पन्न कराता है जो कि सहज पदमे मौजूद है और एक बडे सम्यक् आनदका अनुभव बन जाय, उस अनुभवके घातक कर्मोंका क्षय हो जाय तो वहा एक सर्वोत्कृष्ट महिनीय पद प्राप्त होता है जो अनादि अनन्त अविनाशी है, जिसका कभी क्षय नही हो सकता। इस ससारमे गतियोका परिवर्तन तो क्षयशील है, किन्तु धर्मध्यानमे आत्मासे उत्पन्न आनन्द अत्यन्त प्रवाहशील है, इसी कारण यह स्वरूपपरिचय अविनाशी पदके आनन्दके लिए ही होता है। मुनिधर्म चूँकि सम्यक्त्व पूर्वक होता है इस कारण मुनिधर्ममे व्यग्रता नही आती। कितना ही कठिन व्रत तपश्चरण हो, इसकी तृप्ति आनन्द और सतोषको ही करने वाला होता है, क्योकि यह यती सीधा ही अपने आत्माको पहिचान रहा, निरख रहा कि जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा जाननेमे ही भलाई है। और फिर उस यतिधर्मकी जो उपासना करते हैं गृहस्थजन वे भी प्रशसनीय है, धन्य है, क्योकि रत्नत्रयधारियोकी सेवा रत्नत्रयके इच्छुक जन ही किया करते है। जो श्रावको के द्वारा पूज्य है, जिनका धर्म अविनाशी पदके आनन्दके लिए है, ऐसे तपस्वीजन, साधुसत पुरुष इनका धर्म हम सबके लिए आदर्शरूप होवे।

स्व शुद्ध प्रविहाय चिद्गुणमय भ्रान्त्याणुमात्रेऽपि यत्,
सम्बन्धाय मति परे भवति तद्बन्धाय मूढात्मनः।
तस्मात्त्याज्यमशेषमेव महतामेतच्छरीरादिक,
तत्कालादिविनादियुक्तित इद तत्त्यागकर्म व्रतम् ॥३६॥

(१२६) अणुमात्र भी परमे सम्बन्धके लिये बुद्धि करनेसे बन्धन विपत्ति रहनेके तथ्य के ज्ञातावो द्वारा होने वाले परिग्रहत्यागकी समुचितता—

धर्मकी परिभाषामे यह दूसरी परिभाषाका प्रसग चल रहा है, जिसमे गृहस्थ धर्म का वर्णन हुआ था, अब मुनिधर्मका वर्णन चल रहा है। मुनि व्रत क्यो लिया जाता है ? न लें तो क्या हानि है ? सो ससारी जीवोकी एक स्थिति बतायी गई है यहाँ कि चैतन्य गुण-

स्वरूप जो निज अंतस्तत्त्व है उसको तो छोड दिया और भ्रमसे परमाणु मात्रमे भी यदि सम्बन्धके लिए बुद्धि जग रही है तो वह कर्मबधनके लिए है। और कर्मबधका फल है यह संसारमे जन्म मरण करना। सो ऐसा जानकर ज्ञानी संतोने यह निर्णय बनाया है कि सब कुछ शारीरादिक भी ये सब त्याज्य हैं। सो जब तक इस शरीर साधनसे सयमकी साधना चल रही है, जब तक मुनिव्रतका निर्वाह चल रहा है, आत्मतत्त्वके अनुभवमे बाधा नही आ रही है, जब तक शरीर काम कर रहा है तब तक सेवक (नौकर) की तरह इसे भोजन देना और जब स्थिति विपरीत हो जाय, यह शरीर सयम साधनाके योग्य न रहे, कमजोर हो जाय, वृद्ध हो जाय, एकदम अशक्त हो जाय तो उन ज्ञानी जनोके अपने ज्ञानका इतना विशिष्ट बल होता है कि इसकी पूरी उपेक्षा कर देते है, जिसे कहते है समाधिमरण। मुनिव्रत क्यो लिया गया कि यह ससारका जन्म मरण छूटे।

कोई कहे कि इस पचमकालमे मोक्ष तो होता नही, फिर यहां मुनिव्रत लेनेकी आवश्यकता ही क्या है? सो बात यह है कि आजकल छठे, ७वें गुणस्थान तक तो हो सकता है और जितना विशिष्ट सयमसे रहे और अपने आत्मध्यानकी तैयारीमे रहे वह तो उतना ही लाभ पायगा। इस भवसें मुक्ति न सही, मगर विशेष सयमका, विशेष आत्मयोगका, नियत्रणका, व्रतका कुछ काम बना रहे तो उसमे भाव विशुद्ध होते है और यहांकी शुद्धि आगे काम देगी। यह मुनिव्रत लिया है तो इस ससारके जन्म मरणसे छूटनेके लिए लिया है, सो उन मुनियोका केवल एक साधारण परिग्रह रहा गातमात्र परिग्रह, गात मायने शरीर। तो शरीरकी कब तक उनके लिए भोजन आदिकी सेवा है जब तक कि यह साधन बाह्यरूप चल रहा है, अन्यथा प्रधानता तो उनकी है आत्मध्यानकी, और इसका वैराग्य है मुनि सतोंके कि उनको आहारके लिए जानेका भाव नही। उसको उत्सर्गरूपमे लिया। तब यह समझाता है विवेक कि ऐसा मत करो। यह अभी शरीर है, आयु तुम्हारी चल रही, शरीरकी अकाल मृत्यु ठीक नही होती। तुम उठो, आहार करो, इस तरह विवेक मानो पौवा पकडकर समझाता है कि इतना विरक्त इतनी भावुकतामे तुम सतत रहकर इस शरीरकी उपेक्षा मत करो और अन्तरगमे तो अणुमात्रकी उपेक्षा है मुनि जनोके याने श्रद्धामे परमाणुमात्रसे भी अगर राग है तो मुनिव्रत तो क्या, सम्यक्त्व भी नही रहता। हां चारित्रकी ओर रह जाय, मगर सबसे निराला रागद्वेषरहित परमाणुमात्रमे भी, जिसको समयसारमे कहा है कि परमाणुमात्र भी जिसके राग है वह आत्माको नही जानता। जो आत्माको नही जानता वह अनात्माको नही जानता। जो मूल जीव अजीवको नही जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे? हां तो सर्वव्रत और

सयमका प्रयोजन है आत्मामे स्थित होना, निज जो एक सहज ज्ञानानन्द स्वभाव है उसमे रमना, बाह्यपदार्थोंका विकल्प छोडना और निज आनन्दरससे तृप्त रहना।

मुक्त्वा मूलगुणान् यतेर्विदधत शेषेषु यत्नं परं,
दण्डो मूलहरो भवत्यविरत पूजादिक वाञ्छतः।
एक प्राप्तमरे प्रहारमतुल हित्वा शिरश्छेदक,
रक्षत्यगुलिकोटिखण्डनकरं कोऽन्यो रणे बुद्धिमान्॥ ४०॥

(१३०) मूल गुणोंको छोड़कर उत्तर गुणोमें यत्न करने वाले साधुकी विडम्बना—

साधुव्रतके प्रसगमे कह रहे हैं आचार्य महाराज कि मूल गुणोको छोडकर जो यति शेष उत्तर गुणोमे अपना यत्न करता है सो कहते है कि ऐसी उसकी स्थिति है जैसे कि युद्धमे लडने वाले योद्धाके सिरपर कोई शत्रु शस्त्रका प्रहार करने वाला है उसकी तो वह परवाह नही करता और कोई जरासी अगुली काटकर खून निकालना चाहता उसकी बडी परवाह कर रहा, उसको वडा महत्त्व दे रहा। इसी तरह कोई साधु मूल गुणोकी उपेक्षा करके उत्तर गुणोंके पालनेको महत्त्व दे रहा तो उसे कोई बुद्धिमानीका कारण नही बताया गया। मूल गुण पालता हो और उत्तर गुण न हो तो भी उसके मुनिपना रहता। मूल गुण न हो और किसी उत्तर गुणमे अपनी विशेषता रखे तो भी वहाँ मुनिव्रत नही। अब यह हो तो हो रहा है। जिसके मनमे यह हठ है कि हमको तो गुरु जनोका विनय नही करना है याने हमको किसीके आगे सिर नही झुकाना है, यह बात जब चित्तमे है तब ही तो वह उत्तर गुणकी बात खोजता है। कहता है अरे ये कैसे मुनि ? ये तो शीतकालमें पुरालमे चूहेकी भाँति छिपकर रहा करते याने वे उत्तर गुणकी बात सोचा करते है। उनके मूल गुणोको तो वह दूसरा सोचेगा ही क्या ? मूलगुणके विषयमे कोई आक्षेप अधिक करनेको तो मिलता नही, किसीको हो तो बात अलग है, पर मूल गुणके पालक सब है। यहाँ तक बताया गया कि कुछ मूल गुण ऐसे है कि जिनका अनिवार्यरूपसे पालन होना चाहिए, जैसे नग्नत्व आदिक।

(१३१) मुनिलिङ्ग निरखकर संयमके प्रति प्रमोदभावना होनेमें श्रेयोलाभ—

अब यह बतलावो कि उद्देश्य तो होना चाहिये, आत्माका ज्ञान होना, श्रद्धान होना, आचरण होना, इतनी भीतरकी बहुत ऊँची बातपर रुझान होना चाहिये और कहाँ इस बातको गौण करके गुरु विनय नही करता, सयमको महत्त्व नही देना, मूढोको कितनी बेकार

बात पसद होने लगती है। यह कलिकाल है। अब भी कोई साधु बनता है तो यह बड़े सौभाग्यकी बात है। वहाँ देखना चाहिए कि देखो अन्यकी अपेक्षा कितना निर्मल आचार है? एक बारका ही भोजन पान, न पैरोमे जूते, न मोजे, जितना शरीरसे हो सकता उतना उनकी साधना बन रही है। हम यदि नही बन सकते हैं साधु तो बजाय यह प्रकृति रखनेके उनका अपवाद या उनकी निन्दा करनेके, यह आदत रखें कि ओह लिङ्ग तो यही धारण करना चाहिए। मुक्तिके मार्गमे तो यह ही आता है, हम नही इस निर्ग्रन्थ लिङ्गको धारण कर सकते तो यह हमारी कमजोरी है। अपने जीवनमे यह ध्यान बनाना है कि हमे तो मुनिव्रत धारण करना है। चाहे कर न सकें मगर उसीको तो उपासक कहते है। तो ऊँचा ऊँचा चढ़ना चाहिए, ऊँचे ऊँचे भाव होना चाहिए अतरगमे और बाह्यके व्रत नियम आदिक भी। ये बाहरी व्रत नियम आदिक निष्फल नही जाते। मान लो विशेष ज्ञान नही है और कर रहे हैं, मद कषाय चल रही है तो अगले भवमे कुगति तो न मिलेगी। धर्मके प्रसग मिलेंगे, वहाँ पूर्ति कर लेंगे और अगर ज्ञानके साथ व्रत, नियम चल रहे हैं तो आत्मानुभवका जो सहयोग ले रहे है, इससे व्रत, तप आदिकमे रुचि होना चाहिए। इनको कही पापरूप नही कहा गया। हाँ यह जरूरी बताया है कि ये शुभोपयोग है, शुभोपयोगमे न रमकर शुद्धोपयोगमे रमण करना चाहिए। तो ये मुनिजन शुद्धोपयोगप्रधान हुआ करते हैं और श्रावक शुभोपयोग प्रधान है।

तो उस साधुकी चर्चामे कह रहे है कि मूल गुणोको छोडकर उत्तर गुणोमे बड़ा उत्कृष्ट प्रयत्न कर रहा हो यती तो उसका चारित्र है कि मूलगुणको तो नष्ट कर रहा और बाहरी-बाहरी बातोको महत्त्व दे रहा है। मान लो भीषण सर्दी और गर्मीकी वेदनायें सहना यदि ये गुण साधुमे न रहे तो इनके बिना साधुता नही रहती क्या? रहती है, पर यदि कोई इन ही बातोको अधिक महत्त्व दे तो समझो कि उसके मूलका ही भग कर दिया। इस लिए मूल गुणका कार्य प्रथम है, उत्तर गुणकी बात तो उसके बादकी चीज है। कोई किसी भावुकतामे आकर किसी उत्तर गुणका प्रयत्न कर रहा हो, उसको बडा महत्त्व दे रहा हो तो वह उस योद्धाकी तरह है जिसके कि सग्राममे कोई शत्रु सिरपर प्रहार कर रहा, उसकी तो वह परवाह न करे और कोई अगुलीके जरासे भागका खण्डन कर रहा हो उसकी बड़ी परवाह करे। तो भावुकतामे आकर कोई उत्तर गुणकी प्रमुखता दे तो वहाँ साधुता नही रहती। इसलिए यह सकेत दिया है कि मूल गुणोमे यती जन सावधान रहा करते है।

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः सयमो,
नष्टे व्याकुलचित्ततथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्।

कौपीनेऽपि हृते परैश्च झटिति क्रोधः समुत्पद्यते,
तन्नित्यं शुचि रागहृत् शमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥४१॥

(१३२) आत्मसाधनामें नग्नत्वकी महती उपयोगिता—

बड़ा प्रधान गुण है नग्नत्व। नग्न रहनेमे मुनियोंके कितना पवित्रतामे विकास होता है, उस सम्बन्धमे प्रथम वर्णन चल रहा है। प्राय लोगोकी समझमे नही है तो नग्न भेषको देखकर अनेक लोग मुख मोडते है, घृणा करते हैं। उनको पता ही नही है कि कोई नग्न साधु तो बालककी तरह अविकार है। जैसे किसी नगे बच्चेको देखकर कोई नाक भौह तो नही सिकोडता। इस रहस्यको जिन्होने नहीं जाना उनकी बात है यह; लेकिन जो जानते हैं कि यह अविकारताका चिन्ह है, निर्विकार है, ये तो सब शरीरके अग है, उसमे लज्जाकी बात तो कामविकारका भाव होनेके कारण है, नही तो सब शरीरके अग हैं, उसमे कौन बुरा अग, कौन भला अग? सभी अग हैं, शरीरके अग हैं, लेकिन कामवासनाका विकार चित्तमे है मनुष्योके अतएव यह एक लज्जाकी बात बन गई। और कुछ हद तक यह लज्जा लाभदायक है, मगर जिनको आत्मस्वरूपकी सुध हुई है, आत्मध्यान ही जिनके चित्तमे समाया है ऐसे पुरुषोको तो बाहरी आरम्भ परिग्रह आदिकसे कुछ मतलब न रहा।

हाँ यह तो एक बात कही, अब ऊपरी बात देखो—क्या रखा इनके पास पहिनने के लिए? अगर कपडे रखें पहिननेके लिए तो उनको धोना भी पडेगा और धोनेके लिए फिर सोडा, साबुन वगैरहके आडम्बर चाहिएँ और इस अवस्थामे संयमका घात होना सम्भव है, जो अत्यन्त विरत है ऐसे पुरुष जिनमे रच भी हिंसा हो, ऐसे कार्य नही कर सकते। इसके बाद अगर मानो वस्त्र नष्ट हो रहा है, फट गया है, जीर्ण शीर्ण हो गया है, कोई चुरा ले गया है तो उसके मनमे व्याकुलता हो सकती है। उठती है व्याकुलता, बडे बडे पुरुषोके भी उठती। कोई वस्त्रधारी पुरुष अपनी साधुताका बडी डींग मारे तो उसको उत्तर आप कुछ न दीजिए बस उसके पास जो भी लगोट चद्दर वगैरह कपडे हो उन्हे फाड दीजिए, फिर देखो उसे कष्ट होता है कि नही। कदाचित उसे यह सुध हो जाय कि यह तो हमारी परीक्षाके लिए फाड रहे हैं तो ऊपरसे भले ही वह कुछ कहे पर अन्दरसे तो वह म्लान (दुःखी) ही हो जायगा।

तो यह वस्त्र होना भी क्षोभका कारण है। यह गुम जाय, फट जाय तो उससे मन को व्याकुलता होती है। अच्छा और ऐसी स्थितिमे मानो वस्त्र फट गया तो दूसरोसे उसके लिए कुछ प्रार्थना भी करनी पडेगी, मगर एक लगोटी मात्रका भी अपहरण कर लिया

तो वहाँ क्रोध उत्पन्न होने लगता है । यह कारण है, यह बात ऊपरी कही जा रही है । मुनि जन सदा पवित्र है और रागभावको दूर करने वाला ही भेष धारण करते हैं अर्थात् दिशायें ही उनका अम्बर हैं । दिगम्बरका क्या अर्थ है ? दिग—दशो दिशायें ही जिसका अम्बर (वस्त्र) है सो दिगम्बर । अच्छा हम आपके शरीरके अम्बर क्या हैं ? धोती, कुर्ता, चादर आदिक । तो शरीर ही जिनका आवरण है, दिशायें ही जिनके अम्बर हैं वह आकाश ही है बाहर, और उनके शरीरपर कुछ नही है । तो ऐसा जो दिगम्बरका भेष है यह है साधु के लिए उत्कृष्ट पराकाष्ठा ।

(१३३) निर्ग्रन्थ दशामें ही परम आत्मसिद्धिकी असभवता—

साधु मायने क्या ? जो आत्माकी साधना करे । साधनाका उपाय है त्यागकी पराकाष्ठा । ग्रहणसे साधु नही होता, त्यागसे साधु है । तब ही तो देखो—न माला लटकाने की जरूरत है, न भस्मकी, न सिर जटा की, न किसी प्रकारके एक सूतमात्र वस्त्रकी जरूरत है । उनके पास कोई परिग्रह नहीं है । बस शरीरभर है, भोजन कर सकते है शरीरकी स्थिति के लिए । वह तो एक अनिवार्य है; सो भी शुद्ध भोजन हो, निर्दोष हो वहाँ ही भोजन करें, न मिले तो न करेंगे । उनको किसी प्रकारकी प्रवृत्ति सग परिग्रह रखनेकी भावना नही जगती । त्याग करते जावो, त्यागकी जहाँ पराकाष्ठा हो जायगी वहाँ साधुता है । जैसे एक मुख्य बात आप ले लीजिए—साधुकी परीक्षा एक मुख्य चिह्नसे हो जाती है । नंगे पैर हो तो समझो कि इसमे साधुताकी निगरानी करना है कि बात सही है या नही ? अगर मानो नगे पैर नही है, जूते पहिने हैं—चाहे चमडेके न हो, कपडे या रबडके ही हो, मगर समझो कि अभी यह साधु लायक नही बना । आप ही समझ लो, जूता पहिनकर एक तो अहकार की मुद्रा बनती है । कुछ लोग तो ऐसे जूते पहिनकर चलने है कि पीछेकी ऐड़ी जमीनमे धसकर चलती है । जो जूता पहिनकर चलेगा वह तो ऊपर सिर उठाकर चलेगा, क्योंकि उसे नीचे देखनेकी जरूरत क्या ? छोटे-मोटे ककड, कांटे, गोबर आदि पैरमे लगनेका डर नही । वहाँ लोग प्रकृत्या ही नीचे जमीनमे देखनेको आवश्यकता नही समझते । वहाँ कीडा-कीडी देखकर चलनेका कुछ विचार नही तो वह अज्ञानताकी बात है या नही ? तो साधु जन जो नगे पांव चलते हैं उनमे पहला गुण तो यह है कि नीचे देखभालकर जीवरक्षा करते हुए चलते । दूसरे जूते तो साज-श्रृङ्गारको पुष्ट करने वाली चीज है । साधुजनोने तो आत्मध्यानके लिए साधुताको अगीकार किया है । वस्त्रादिक भी जहा नहीं होते है, त्यागकी पराकष्ठा है, मुझे नही रहा प्रयोजन घरसे, मुझे नही रहा प्रयोजन परिवारसे, क्योकि ये क्या मदद

करेंगे ? यह आत्मा जैसे भाव करता है वैसा बंध करता है, वैसा ही फल पाता है। इसका कोई दूसरा सुधार करनेमे समर्थ नही। अपने-अपने भावोके अनुसार अपना-अपना भविष्य बना रहे है। कोई किसीका साथी है क्या ? तो परिवार छूटा सब छूटा। क्या रखना ? जो रखा उसीकी शल्य। पासमे पैसा रखे उसीकी शल्य। अरे जिसने आत्मध्यानका संकल्प किया है उसके लिए सब बाधा है। केवल शरीर नही छूटता, अगर यह भी छूट जाता तो तुरन्त छोड देते। इस प्रकार बाह्य पदार्थ कोई अपने प्रयोजनके नही हैं, ऐसा जानकर सर्व बाह्य पदार्थोंका त्याग हुआ।

> काकिन्या अपि संग्रहो न निहितः क्षौरं यया कार्यते,
> चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम्।
> हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिर प्रार्थनैः,
> वैराग्यादिविवर्द्धनाय यतिभि. केशेषु लोच कृतः ॥ ४२ ॥

(१३४) साधुवोको केशलोंचके विधानकी उपयोगिता—

उक्त छन्दमे तो नग्नत्व नामक मूल गुणके विषयमे कहा गया था कि अब यह केशलोचके सम्बन्धमे कह रहे हैं। साधुजन जिनके पास एक कौडी भी नही। साधुके पास कौडी है तो वह बेकौडीका और गृहस्थके पास कौडी नही तो वह बेकौडीका। ऐसा कहते हैं ना। जब साधुता अगीकार किया तो दामका क्या प्रयोजन ? तो जिसके पास दाम नही तो किसके द्वारा वह क्षौर मुण्डन कराये ? आप कहेगे कि साधुवोकी सेवामे तो लोग हजारो रुपये खर्च करते हैं। कोई रुपया आठ आना क्षौरके लिये दे दे तो कोई बात है क्या ? जो ऐसी बात कही जा रही है कि जब कोई धनका सग्रह ही नही है तो किसके द्वारा क्षौर करायें ? तो बात यह सोचो कि जो विधि विधान बनता है वह उस जातिमे सबका ध्यान रखकर बनता। कोई मुनि ऐसा है कि जिसके पीछे अनेक लोग फिरते है और कोई मुनि ऐसा है कि जिसे कोई नही पूछता। विधान जो बनता है वह सबको ख्यालमे रखकर बनता है।

जैसे मानो कभी गृहस्थोमे सुबुद्धि आ जाय और मिलकर कोई ऐसा नियम बनायें कि देखो गृहस्थीमे विवाहके प्रसगमे अनाप-सनापके खर्च हो जाते है जिससे दोनो पक्षोके लोग बडे फिजूल खर्चमे पड जाते हैं, अन्यथा बताओ कोई यह नियम रखा जाता क्या कि १००१) रु० का टीका कराओ। यदि सबको ध्यानमे रखकर नियम बनाया जाता तो यही नियम बनता कि रुपये सवा रुपयेमे टीका कराओ। नियम तो सर्वसाधारण जनोको दृष्टिमे रखकर बनना चाहिए। तो मुनिधर्मके विषयमे कहा जा रहा है कि उनके पास एक कौडी भरका

भी परिग्रह नही है जिससे उनका मुडन (क्षौर) तक कराया जा सके। अगर वे अपने पास उस्तरा कैंची या सेफ्टीरेजर वगैरा रखने लगें तो फिर उन्हे छिपाकर रखेंगे कहां ? यदि किसी कपडे वगैरामें छिपाकर रखें तो उसे धरें उठायें कहां ? कही छिपाकर तो नही रख सकते। अगर कोई कहे कि उन्हें दो पवा दो रुपयेका एक सेफ्टीरेजर दे दिया जाय जिससे अपने बाल बना लिया करें, क्यो केशलोच करते है ? अगर वे कैंची, उस्तरा, सेफ्टीरेजर वगैरहका आश्रय लें तो उससे चित्तमे क्षोभ उत्पन्न होगा, वे धरें उठायें कहाँ ? कपड़ेमें छिपाकर रखें तो वह भी एक विडम्बनाकी चीज बन जायगी।

(१३५) साधुवोंके जटा न रखने व क्षौर न करानेके कारणका संक्षिप्त वर्णन—

कोई कहे कि नही मुडन कराते तो फिर जटा रखा लें। तो भाई जटा रखनेकी इजाजत जैन साधुवोको नही है, क्योकि जटाग्रोमे तो जूं बहुत पड जाते है। जिनके बालो में जूं हो जाते उन्हे देखा होगा कैसा दोनो आँखें मींचकर सिर खुजाते और कही जटाधारी साधु किसी नदी या तालाबमे जटाये फटकार कर स्नान करें तो उनके बालोमे छोटी मोटी मछलियाँ या अन्य कीडे भी प्रवेश कर जाते और मर जाते। तो जटाओके रखानेसे जीवदया नही पल पाती, अतः साधुओको जटायें रखानेका विधान नहीं है। ऐसी अवस्थामें जब कि जतुओकी हिंसा नही पाली जा सकती तो फिर जटाये रखना क्या साधुका गुण हो सकता ? साधु तो वह कहलाता है जो सर्व जीवोका उपकार सोचता है, सर्वका हित सोचता है, किसी को बाधा न हो मेरे द्वारा, ऐसा भाव रखते है और अपने सहज परमात्मतत्त्वकी आराधना बनाता है उसी को तो साधु पुरुष कहते है, इसलिए जो व्रत पालन करने वाले साधुजन है वे वैराग्यादिक गुणोको बढानेके लिए केशलोच करते हैं।

केशलोचमे अभी जो बात कही गई वह तो है ही, पर उसमें वैराग्यकी वृद्धि भी है। जब तक अपने चित्तमे यह भाव न आये कि शरीर परपदार्थ है, केश परपदार्थ है, मेरा आत्मा इनसे अत्यन्त भिन्न है, चैतन्यस्वरूप है, ऐसा भाव जब तक दृढ़ नही होता तब तक केशलोच करना सुगम नही है। भला कोई कुछ केश उखाडकर दिखा तो दे। तो निर्ममत्व भावको बढाने वाली है यह केशलोच क्रिया। आप देखो परम्परासे जो एक चीज चली आ रही और प्रभुने बताया आचार्य सतोने कहा, उन सब आचार-विचारोमे साधुकी उन्नतिके लिए कितना रहस्य बना हुआ है ?

यावन्मे स्थितिभोजनेऽस्ति दृढता पाण्योश्च संयोजने,
भुञ्जे तावदहं रहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यतेः।

कार्येऽप्यस्पृहचेतसोन्त्यविधिषु प्रोल्लासिनः सन्मते,
न ह्येतेन दिवि स्थितिर्न नरके सपद्यते तद्विना ॥ ४३ ॥

(१२८) साधुके स्थितिभोजन और पाणिपात्राहारका प्रयोजन—

अब साधु पुरुषका एक मूल गुण है स्थित भोजन याने खडे होकर आहार लेना। तो लोगोको देखनेमे ऐसा लगता कि बैठकर भोजन लेनेमे अच्छा भी लगता और सभ्यता भी लगती और ये मुनिजन खडे होकर भोजन करते तो यह तो बडा अटपटासा लगता, मुनिजन ऐसा क्यो करते ? तो ठीक है, खैर आजकल अच्छा नही लगता, क्योकि आजकल तो खडे होकर सूट बूट पहने हुए लोग भोजन करते हैं और इतना ही नही, अपनी बिरादरीके या घरके लोगोका परोसा भोजन नही सुहाता तो परोसनेके लिए बैरा बुला लेते तो भले ही आजकल खडे खडे आहार लेना लोगोको अच्छा न लगे, लेकिन सोचो तो सही कि खडे होकर मुनिजन भोजन क्यो लेते ? उनकी आत्मोन्नतिकी दृष्टि है, इससे वे वह कार्य करते जिससे आत्माका हित हो, फिर दुनिया चाहे कोई कुछ कहे। तो स्थित होकर भोजन क्यो करते ? क्योकि उनका संकल्प है कि जब तक मुझमे खडे होकर भोजन करनेकी दृढता है और दोनो हाथोसे अगुली जोडकर हाथमे भोजन लेकर भोजन करनेकी क्षमता है तब तक मेरी भोजन-क्रिया चलेगी और जहाँ हाथ पैरोने जवाब दे दिया, संयम साधनाके योग्य शरीर न रहा हो तो शरीरकी उपेक्षा कर देते है।

आप देखो शरीरकी कैसी ममता हटी हुई है मुनिजनोकी और गृहस्थ तो परे है, बेहोश है, मर रहे है, फिर भी लोग कहते हैं—अरे एक चम्मच दूध तो मुखमे डाल दो। पर यहाँ मुनिजनोका नियम है कि जब तक शरीरमे खडे होनेकी क्षमता है, जब तक हाथोमे अंजुलि बाँधनेकी क्षमता है तब तक आहार लेंगे और जब यह शरीर असमर्थ हो जाता है तो अन्न जल सबका त्याग कर देते हैं। तो देखो कितनी विरक्ति भरी है उनके चित्तमे और आत्मध्यानकी ओर कितनी अभिमुखता है।

आप कहेंगे कि हाथमे ही भोजन क्यो करते, थाली या कटोरेमे क्यो नही करते ? तो भाई हाथमे इसलिए करते है कि हाथमे एक एक ग्रास आता जायगा, सारा नही। मान लो आहार करते हुएमे अगर अतराय आ जाय तो एक ग्रास ही तो खराब जायगा, सारा भोजन तो खराब न जायगा और फिर आप लोगोने यह अनुभव किया होगा कि हाथसे भोजन करनेमे एक विशेष गुण है। हाथकी गदेलीका स्पर्श किए हुए भोजनमें प्रकृत्या ही निरोगताका गुण बढता है। आजकल तो लोग चम्मचसे भोजन करते और चम्मचसे भी

कौर नही उठता तो दो काँटेदार चम्मचमें फंसाकर कौर उठाते है। उनका विचार है कि ये हाथ चमडेके है, भोजनमे यह चमडा स्पर्श न करे और रोटी मुखमे स्वच्छतासे पहुच जाय। खैर जो भी हो, मगर हाथमे भोजन करना लाभदायक है। मुख्य बात तो यही है कि यदि भोजन खराब होता तो एक ही ग्रास खराब होता। दूसरी बात यह है कि एक-एक ग्रास भली प्रकार शोध शोधकर देते जाते तो ऐसी कई बातें है जो हाथमे भोजन करते हैं।

दूसरी बात उनके पास कोई आडम्बर नही रहा। अब बनाने वाले चाहे मिट्टीके बर्तनमे घनाकर रख लें चाहे धातुके बर्तनोमे, उससे मुनिको क्या वास्ता? उसे तो बस खडे खड़े अजुलि से ले लेनेसे मतलब। तो उनका संकल्प है कि जब तक हाथ पैरोमे क्षमता है तब तक भोजन करनेकी प्रक्रिया चलेगी। इस प्रकार जो यती प्रतिज्ञापूर्वक अपने नियममे दृढ रहना है उसका इस शरीरके प्रति कितना निर्मलभाव है? ऐसा उसने ध्यान किया कि एक आत्मासे ही सम्बन्ध रखा, बस यह हू, निरन्तर वही दिखता है, उसकी ही बात है, उसी का ध्यान करता है, कदाचित् मरण हो रहा हो तो उस ही आत्मामे दृष्टि रहती कि मैं तो पूराका पूरा ही जा रहा हू। मेरा यहाँ कुछ छूट नही रहा। जो मेरा हैं वह मेरेसे कभी छूटता नही और जो मेरा नही वह मेरे साथ कभी जाता नही, ऐसी एक आत्मदृष्टि पूर्वक वह शरीरसे विदा हो रहा। मरण तो एक महोत्सव है। उस आगामी भवकी भलाई जिसपर पूरी निर्भर है वह तो एक महोत्सव है। लोग जन्मका उत्सव मनाते याने यह पैदा हुआ तो यहाँ रहे और दुःख पाये और जन्मके बाद मुक्ति किसीकी नही होती। मुक्ति मरणके बाद ही होती है। उसे ही कहते है निर्वाण, वही है पडितपडित मरण। तो साधुजन मूल गुणोको पालते है। उनका अभिप्राय क्या है उसका यह वर्णन चल रहा है।

एकस्यापि ममत्वमात्मवपुषः स्यात्ससृते कारणम्,
का बाह्यार्थकथा प्रथीमसि तपस्याराध्यमानेऽपि च।
तद्वास्या हरिचन्दनेऽपि च सम सश्लिष्टतोऽप्यङ्गतो,
भिन्न स्वं स्वयमेकमात्मनि धृत पश्यत्यजस्र मुनि ॥४४॥

(१३७) समताके अधिकारी—

जिसने समस्त पदार्थोका यथार्थस्वरूप समझ लिया है, अपने आत्माका और जगत के समस्त परपदार्थोका जिसने स्वरूप जान लिया है, प्रत्येक पदार्थ अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे है, दूसरेके स्वरूपसे नही है, अतएव किसी पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ कुछ भी सम्बन्ध नही, ऐसा जिन्होने परिचय पा लिया है उन मुनिजनोका यह निर्णय है कि

एक भी पदार्थका, जैसे कि अपने से यह लगा हुआ यह शरीर है, उस ही शरीरका या किसी भी पदार्थका ममत्व जो है वह ससारका कारण है याने संसारमे जन्म मरण करते रहनेका कारण है। चाहे कितनी ही महिमा तपश्चरणकी हो, बडी-बडी आराधना की हो, किन्तु किसी पदार्थमे ममत्वभाव हो तो वह ससारका ही कारण है वह मोक्षमार्ग नही, ऐसा जिन्होने जाना कि जब देहका ही ममत्व संसारका कारण है तो अन्य पदार्थोंका ममत्व फिर इसकी कथा ही क्या कहे ? ये तो भव-भवमे रुलाने वाले साधन हैं, ऐसा निश्चय जिन्होने किया है ऐसे मुनि जन इतनी समतावान होते हैं कि उनके अङ्गको कोई बसूलेसे छील रहा हो तो या कोई बडे चंदनोसे लेप कर रहा हो तो दोनोमे समान बुद्धि रहती है। इसका कारण यही है कि उन्होंने सर्व पदार्थोंसे भिन्न जो आत्माका सार है निज तत्त्व चैतन्यस्वरूप, उसका अनुभव किया और निराकुल अवस्थाको अनुभवमें लिया और समझ लिया कि मैं यह हू ज्ञानानन्दका पुञ्ज। इसके अतिरिक्त बाहरमे जो कुछ है उन सबसे मैं निराला हू। यह देह मेरेसे अत्यन्त निराला है। इस देहको कोई सताये तो, पीटे तो, उन दोनोमे मेरे लिए क्या है ? तो निन्दक हो, पूजक हो, घात करने वाला हो या पोषण करने वाला हो, मुनि जनोकी दृष्टिमे सब एक समान रहते हैं, ऐसी समता है। अब आप समझो कि ऐसी समता रखने वाले ज्ञानी जन, मुनिजन, गुरुजन और उनके प्रति कोई घृणा करे अथवा उनके प्रति कोई क्रूरताका भाव रखे, इन्हे कोई आहार न दे, पानी न दे और दूसरोको भी मना करे, ये यो ही मर जायें या परपरा मिट जायें, ऐसा विचार रखे तो आप समझो कि जो करेगा सो भरेगा, मगर जब अज्ञान अवस्था छायी रहती है तो अपने आपके प्रति भी करुणा नही रहती। तो भाई अंतस्तत्व की आराधना करें और यह भाव रखें कि इस अतस्तत्त्वकी आराधना करने वाले जो भी भव्य जीव हैं वे सब मेरे लिए आदरके योग्य है। उनमे यह छांट मत करें कि अयोग्य असयमी होने पर भी अमुक पुरुष ही मेरे आराधनाके योग्य हैं और अंतस्तत्वके जो आराधक हैं, वे तो मेरे दुश्मन हैं या गैर हैं। इस प्रकारकी जब बुद्धि हो जाती है तो वहां आत्मकल्याणकी पात्रता तो नही रहती। इस वास्ते धर्मके मार्गमे तो सरलता हो, समता हो और सर्वप्राणियोंके प्रति विनयभाव हो, सबके प्रति करुणा भाव जग सके, इस तरहकी एक स्वच्छ दृष्टि बन जाय तो समझमे आ सकेगा कि ये साधुजन कैसे समताके पुञ्ज होते है ?

(१३८) मुनिव्रतसे पहिले सामायिक संयमका अभाव—

बताया है ना कि सामायिक सयम मुनिव्रतसे शुरू होते हैं। अब एक बार दो

बार सामायिक किया, कुछ किया यह तो एक गृहस्थोकी बात हैं, सीखनेके शिक्षाके व्रत हैं, मगर ममताके पुञ्ज तो मुनिराज होते है याने रागका द्वेषका किसीके प्रति संस्कार भी न रहना मुनिके सभव हैं। संज्वलन कषाय है ना केवल मुनियोके। जैसें पानीमें अंगुली या लाठी फेर दो तो तत्काल तो उसमे रेखासी पड जाती है, मगर उसके मिटनेमे देर तो नही लगती। हाथके हाथ मिट जाती है, ऐसे ही कषायभाव रह सकता है कुछ काल साधुजनोमे भी, मगर वह इतना मद होता है। संज्वलनसे अधिक कषाय प्रत्याख्यानावरणमें है, श्रावकमे है और इतना बडा उसका दृष्टान्त बताया गया कि जैसे गाडीका चका चल रहा है कच्चे रास्ते पर तो उस चके के चलनेमे उसकी लकीर आ जाती। तो वह लकीर है, वह मिट जायगी, कितने दिन रहेगी? चार छह दिन अथवा अधिकसे अधिक १५ दिन रहेगी और उससे अधिक क्रोध होता है अप्रत्याख्यानावरणमें। तो जैसे समझिये कि खेतमें हल जोता जाता है तो हलके जोननेसे जो लकीरें बन जाती वे भी तो मिट जाती है पर उनके मिटनेमें महीना दो महीना लगता है। अधिकसे अधिक ६ माह लगेगा तो कोई क्रोध ऐसा भी होता कि जिसका संस्कार माह दो माह अथवा छह माह तक चलता और एक क्रोधका संस्कार ऐसा चलता कि जो जीवन भर नही मिटता और अगले भव तक साथ जाता, उदाहरणके लिए जैसे — पत्थरकी लकीर। क्रोधकी जातियां अनेक होती हैं, उनमे से मद क्रोध रहता है साधुवोके। कभी कोई बात शिष्योको समझायी, उन्होने समझा नही, लो क्रोध आ गया। तो भले ही क्रोध आया मगर वह आया दूसरोके भलेके लिए। दूसरेके अहितके लिए साधुजनोको क्रोध नही आता, इसीलिए उनको समता है। उन्होने अपने आपमे अपने सहज अतस्तत्वका ध्यान किया है—मैं यह हूं अपना सहज आत्मस्वरूप।

(१३६) उन्नतिके सभी उपायोका मूल पोषक अन्तस्तत्वका उपयोग—

अन्तस्तत्वकी बात खूब समझने योग्य है, क्या, कि मेरा वह स्वरूप जो अपने आपमे बसा है वह है परमात्मतत्व। अपने आप होनेके कारण, शरीर व कर्मके सम्बन्ध बिना अपने आप जो मेरेमे हो वह मेरा स्वरूप है, वही सहज परमात्मतत्त्व है। यह ही बात जिनके प्रकट है वे भगवान कहलाते। लोग कहते ना कि भगवान घटघटमे बिराजे तो कही ऐसा नही कि कोई एक भगवान हो और वह घट घटमे फैला हो, उसका रहस्य समझना चाहिए। देखो एक भी कह लो, जो आत्माका स्वरूप है, केवल एकपर दृष्टि दो तो वहाँ व्यक्ति नजर न आयगा तो वह स्वरूप एक है, भगवान एक है अर्थात् स्वरूप दृष्टिसे एक है और अनुभवनकी दृष्टिसे देखो तो मेरेमे मेरा प्रभाव, प्रभुमे प्रभुका अनुभव, यह समस्त त्रिलोक

त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जान रहे। फिर भी अपने आनन्दमे लीन है। अनुभवकी दृष्टिसे देखें तो प्रत्येक आत्मा जुदा-जुदा है। स्वरूप दृष्टिसे देखें तो आत्मा एक है।

(१४०) **स्याद्वादकी विवादध्वंसिता** — जिन-जिन दार्शनिकोंने जो बात कही जरा नयदृष्टि ठीक बना लो तो सबकी बात ठीक उतरेगी, और एक नयदृष्टि ठीक न हो तो उससे कुछ लाभ नही प्राप्त होता; मानो खूब समझ गया कोई कि यह मकान है, यह मन्दिर है, यह पाठशाला है, ये सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न चीजें है, मगर अंतस्तत्वका अनुभव होना तो कठिन है। जब तक स्याद्वाद द्वारा यह समझ नही बनती कि यह इस दृष्टिसे ठीक है, यह इस दृष्टिसे ठीक है तब तक वहाँ विवाद चलता। एक पुस्तक बनी है अध्यात्मसहस्री जिसमे एक परिच्छेद इसी बातका दिया है कि जिन-जिन दार्शनिकोने जो जो बात कही वह इस दृष्टिसे ठीक उतरती है, क्योंकि जिन जिन दार्शनिकोने जो जो भी बात कही आखिर उन्होंने अपनी बुद्धिके अनुसार ठीक कही, वे भी आखिर ज्ञानी थे, आखिर भाव तो उनका भी कल्याणका ही था, तो वहाँ सोचना चाहिए कि उन्होने वह बात किस दृष्टिसे कही। जिस दृष्टिको लेकर उन्होंने सिद्धान्त रचा उस दृष्टिसे वह ठीक है। जैसे उदाहरण लो—बौद्ध मानते हैं कि यह जीव क्षण क्षणमे नष्ट होता और क्षण क्षणमे पैदा होता रहता। अच्छा तो यह बात किस दृष्टिसे सही उतर सकती है? पर्यायदृष्टिसे। जैन लोग भी तो कहते हैं कि जीवकी प्रतिक्षणमे नई नई अवस्थायें बनती है। तो यह बात पर्यायदृष्टिसे कही गई। अतः पर्यायदृष्टिसे देखें तो उन बौद्धोकी बात ठीक है। अद्वैतवादी कहते है कि आत्मा कूटस्थ नित्य है तो उनका यह कथन भी द्रव्यदृष्टिसे ठीक है। द्रव्यदृष्टिसे देखें तो यह आत्मा अपरिणामी है। जीव तो है चैतन्यस्वरूप स्वरूप, मगर पर्यायदृष्टिसे देखें तो आत्मा प्रतिक्षण परिणमनशील है। द्रव्यदृष्टिसे देखे तो आत्मा एक स्वरूप है। स्याद्वाद एक ऐसा अमृतपान है कि जिसमे कहींसे विरोध नही आता। जो जो कोई कुछ कहे उसकी बातका सही करार होता कि आपकी बात इस दृष्टिसे सही है। घरमे जो परस्परमे झगडे होते हैं वे किस बातसे होते? उन्हे नयोका दृष्टियोका बोध नही है कि कौन किस दृष्टिसे क्या कह रहा है? अगर दृष्टियोका बोध हो जाय तो फिर वहाँ झगड़ेकी क्या बात? सब जगह यही बात है। किसीने किसीकी निन्दा की तो जिसकी निन्दा की गई वह निन्दाकी बात सुनकर आगबबूला हो जाता है। उसे है पर्यायबुद्धि, इस पर्यायको ही वह समझता कि यही मैं हू, बस वह बुरा मान जाता, जिसे यह विवेक है कि यह जो शरीर है वह मै नही हूँ, मैं तो एक अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा हू और फिर यह बेचारा जैसी इसमे योग्यता है वैसा यह परिणम रहा है, इसमे ऐसी ही योग्यता

है, क्या करे ? लो ऐसा समझने वाला व्यक्ति निन्दा सुनकर भी बुरा न मानेगा। तो जिस दृष्टिसे जो बात कर रहा हो वह पहचान लिया जाय तो फिर वहाँ विवाद न रहेगा। तो सर्व मत, सर्वसिद्धान्त जो वस्तुस्वरूपके बारेमे कहे गए, जो न्यायशास्त्रका अनुभव करते है वे इस का आनन्द लूटते है कि इसने यह कहा, इसका यह मूड था, इस दृष्टिसे कहा और इस दृष्टिमे बराबर ऐसा जंच रहा।

(१४१) अन्तस्तत्वके अनुभवी विरत साधु संतोंकी समताका एक उदाहरण—

यहाँ तो बात यह कही जा रही है कि मुनिजनोको सभीके प्रति समताभाव रहता है। कोई शत्रु चाकूसे शरीरको छीलता हो या कोई शरीरमे खूब चदनका लेप करता हो, दोनोको वे एक समान दृष्टिसे देखते हैं। कोई ढाई हजार वर्ष पहलेकी एक घटना है कि एक राजा श्रेणिक थे, तो श्रेणिक तो थे बौद्धधर्मके अनुयायी और उसकी रानी चेलना थी जैनधर्म की अनुयायी। देखो एक ही घरमे एकका आश्रय था जैनधर्म और एकका आश्रय था बौद्ध-धर्म। दोनोमे कभी-कभी विवाद भी चल जाया करता था। एक बार क्या हुआ कि राजा श्रेणिक किसी जंगलमे घूमने गए तो वहाँ उन्होने क्या देखा कि एक जगह एक नग्न दिगम्बर मुनि ध्यान कर रहे थे। वही पासमे पडा था एक मरा हुआ सर्प तो राजा श्रेणिकको उस समय कुछ कौतूहल सूझा याने कुछ मजाक करना विचारा। क्या किया कि उस मरे हुए साँपको उठाकर मुनिराजके गलेमे डाल दिया। मुनिराज तो अपने ध्यानमें ही मस्त रहे और राजा श्रेणिक वापिस आ गया। दो-तीन दिन बाद जब कोई वाद-विवाद चला रानी चेलनासे तो वहाँ श्रेणिकने कहा—अरे हम तो अमुक जगह तुम्हारे साधुके गलेमे मरा साँप डाल आये है, तो रानी चेलनाने कहा—अरे यह तो उनपर उपसर्ग हुआ, चलो चलकर देखें तो सही। तो श्रेणिक बोले—अरी बावली क्या वह वहाँ बैठे होगे ? वह तो कभीके साँपको फेंककर कही चले गए होंगे। "नही नही, यदि वह दिगम्बर साधु है तो वह वहाँसे कही न गए होंगे, उसी जगहपर बैठे होंगे। आखिर दोनो वहाँ पहुचे तो क्या देखा कि मुनिराज ध्यानमे मस्त थे, उनके गलेमे सर्प पडा था। सर्पमें चीटियोकी भरमार थी, सारे शरीरमे चीटियाँ घूम रही थी। यह दृश्य देखकर दोनोको बडा आश्चर्य हुआ। रानी चेलनाने नीचे शक्कर बिखेर दिया तो उसकी गधसे सारी चीटियाँ नीचे उतर आयी, और साँपको किसी डठेसे उठाकर बाहर फेंक दिया। मुनिराजका जब उपसर्ग दूर हुआ तो नेत्र खुले। सामने राजा रानी दोनोको देखकर आशीष दिया—उभयो धर्मवृद्धिऽस्तु, याने तुम दोनोको धर्मवृद्धि हो। अहो मुनिराजके इतना समता भरे वचन सुनकर राजा श्रेणिक दग रह गए। बडे विचारधारामे निमग्न हो गये,

एक ही मुझे मिल पायेगा, अच्छा होगा कि बडे भाईको यही समुद्रमे ढकेल दें, यह मर जायगा तो मुझे ये दोनो कीमती रत्न मिल जायेंगे, पर वह भी सभला, अपनेको धिक्कारा, अरे मैं यह क्या अनर्थ करना विचार रहा था ? बडे भाईसे कहा—भैया ! मैं इन्हे अपने पास न रखूंगा, तुम रखो । नही भाई तुम्ही रखे रहो । ... नही नही तुम रखो । अच्छा घर तक लिए चलो, वहा मा के पास या बहिनके पास रख देंगे । खैर किसी तरह घर ले गए । वहा बहिनके पास रख दिया तो बहिनने भी सोचा कि ये रत्न तो वडे कीमती हैं । हो न हो मै भोजनमे विष देकर दोनो भाइयोको खतम कर दूं, ये रत्न मुझे मिल जायेंगे, पर वह भी सभली, अपनेको धिक्कारा, दोनो भाइयोसे कहा—मैं इन रत्नोको अपने पास न रखूगी, तुम्ही लोग रखो । सभीकी सलाहसे वे रत्न मां के पास रख दिये गए । मां के पास रत्न आ जाने से माके भी परिणाम चलित हुए । सोचा कि देखो बुढापेमे जब धन पासमे होता है तभी दूसरे भी पूछते, नही तो कोई नही पूछता । अब तो रत्न मेरे हाथमे हैं, ऐसा उपाय करें कि ये दोनो बालक खतम हो जावें और ये दोनो रत्न मेरे हो जावें तो मेरा बुढापा सुखसे बीतेगा उसने भी अपने बेटोकी हत्या करना विचारा, पर वह भी झट संभली, अपनेको धिक्कारा । अरे मैं यह क्या अनर्थका काम सोच रही थी ? सो वह मा बोली—बेटा ! हम ये रत्न अपने पास न रखेंगे । ये रखने योग्य नही है, इनकी वजहसे मैंने तुम दोनोकी हत्या करना भी विचारा था । अब बहिनने भी बताया कि इन रत्नोकी वजहसे हमारे अन्दर भी ऐसे भाव बने, दोनो भाइयोने भी अपने अन्दर आने वाले खोटे भावोको बताया । फिर सभीने सलाह किया कि ये रत्न अपने पास रखना योग्य नहीं है, पहलेकी जैसी गरीबी भली है । इन रत्नो को तो किसी तालाब नदी या समुद्रमे फेंक दिया जाय । आखिर जब वैसा ही किया गया तो उनको शान्ति मिली । तो शान्ति न अमीरीमे, न गरीबीमे, शाति तो ज्ञानसे है ।

(१४४) जीर्ण, तृण व रत्नको समानताके समान शत्रु मित्रमे व सुख दु खमें भी समानताका भाव—

प्रसंग यह चल रहा था कि चाहे तृण हो, चाहे रत्न हो, मुनिजन दोनोमे समता भाव रखते है । वे जानते है कि इस जीवके साथ तो यहाका एक सूत तक भी न जायगा सब कुछ यही छोडकर अकेले जाना होता है । यहा इस जीवके लिए भला कर सकने वाला बाह्यमे कौनसा पदार्थ है सो बताओ ? परखो अपने आपको, अपने आपके सहज अंत स्वरूप को सोचो, निरखो कि मैं ज्ञानमात्र हू । कैसा ज्ञानमात्र ? जो जनान भीतर निरन्तर चल रहा उससे भी निराला एक सहजज्ञान ज्योतिस्वरूप, बस उस तरहका अनुभव करें, वहां धर्म है,

वहाँ शान्ति है, कर्मजाल कटेंगे, सब बात होगी । इसीलिए मुनिराजोको इन सब बातोमे समताभाव रहता है, तो जैसे चाहे तृण हो, चाहे रत्न हो, मुनिराजोके लिए दोनो ही समान हैं, इसी प्रकार चाहे शत्रु हो अथवा मित्र । अब जैसे कथानकमे कहा था कि राजा श्रेणिक थे उपसर्ग करने वाले और रानी चेलना थी उपसर्ग दूर करने वाली, मगर मुनिराजके लिए वे दोनो समान थे । इसी तरह चाहे सुख हो, चाहे दुःख हो, सुख मायने क्या है ? ससारका सुख, काल्पनिक सुख, झूठा सुख और दुःखके मायने क्या ? जो इन्द्रियो को असुहावना लगे । और सुखके मायने क्या ? सु मायने सुहावना और ख मायने इन्द्रिय, जो इन्द्रियको सुहावना लगे, सो सुख । तो सुख और दुःख ये दोनोमे केवल कल्पनाकी बात है । ये दोनो समान है, और बल्कि देखो दुःखमे तो प्रभुका स्मरण भी रहता और सुखमे नही रहता । तो दुःख अच्छा है अपेक्षा सुखके । वास्तवमे तो न सुख, अच्छा न दुःख । यह सब बाहरमे बाहरी पदार्थका काम हो रहा, भीतरमे अपनी ज्ञानकल्पनाका काम चल रहा । अपना यह निर्णय बनावे कि सुख-दुःखकी कल्पनासे इस जीवको लाभ नही । सुख और दुःख दोनो ही ज्ञानी मुनिराजके लिए समान हैं ।

(१४५) साधुजनोके श्मशान व महलमें, स्तुति व निन्दामें, जीवन व मरणमें समता बुद्धि—

समताके उपयोगी साधुजनोके चाहे श्मशान हो, चाहे महल हो, दोनोमे समान बुद्धि होती है । महलमे बैठ गए तो वहाँ भी ज्ञानमात्र आत्माका चिन्तन, श्मशानमे बैठे तो महलसे भी अच्छी तरह ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वकी सुध होती है । चाहे महल हो, चाहे श्मशान हो, ज्ञानी पुरुषका समान भाव रहता है । इसी प्रकार चाहे कोई स्तुति करे तो क्या, चाहे कोई निन्दा करे तो क्या, उनके लिए समान है । वे जानते हैं कि ये तो भाषावर्गणा के वचन हैं, इसमे जैसी योग्यता है वैसा यह परिणाम रहा है । जो अच्छे लोग होते हैं उनके मुखसे अच्छे ही वचन निकलते है और जो दुर्जन है, क्रूर चित्त वाले है, जिनकी बुद्धि विपरीत है और जो धर्मसे अत्यन्त विमुख हैं, जिन्होने अपना ऐसा निर्णय बना लिया कि जो मुझे विषय कषायोकी बात आवे वह तो मेरा मित्र और जो कल्याणकी बात कहे, मोक्षमार्गमे लगनेकी प्रेरणा करें वे मेरे कुछ नही, बल्कि उनके प्रति एक विरोधका भाव रखते और जब विरोध का भाव भाव है तो निन्दात्मक वचन तो उनके मुखसे निकलेंगे ही और अगर किसीके चित्त मे दूसरोके गुण सुहाते हो तो उसे गुण दिखेंगे नही क्या, साधुजनोमे गुण दिखेंगे नही क्या ? दिखे, तो वह स्तुति कहलाती । तो जिसमे जैसी योग्यता है वह वैसी परिणति करता रहता

है, स्तुतिसे क्या, निन्दासे क्या इसलिए साधुजन स्तुति और निन्दा—इन दोनोमे समान बुद्धि रखते है। इसी प्रकार जीवन और मरणमें भी उनकी समान बुद्धि रहती है। यहा रहे तो क्या, यहासे चले गए तो क्या ? यहा रहूगा तो पूराका पूरा हू, यहासे कही चला गया तो वहाँ भी पूराका पूरा रहूंगा, इसलिए जिन्दा हू। तो ठीक, मरण हो गया तो ठीक। दोनो स्थितियोके ज्ञाता द्रष्टा रहते है। देखो मुनिजनोकी कितनी मंद कषाय हैं ? जिनके चित्तमे कषाय नही रही ऐसे पुरुषोंके हर स्थितिमे समताका परिणाम रहता है।

(१४६) सकल पदवीमे स्थित जनोंको प्रतिबोधनकी आचार्य सन्तोमे करुणा—

यह मुनिधर्मका व्याख्यान चल रहा है। पहले बताया था कि ५ परिभाषाओंमें धर्म की बात बतायी जायगी, सो पहले बताया कि जीवदया धर्म है, और अगर कोई पहले जीवदयाको ही पाप कहने लगे तो फिर उसका उत्थान होना कठिन है। जीवदया एक शुभभाव है, फिर शुभाशुभरहित इसको अपने अतस्तत्त्वका ध्यान बनता है समझ लो, मगर जब इस जीवदयाको कोई पाप घोषित करदे तो फिर वहाँ आत्माका उत्थान होना कठिन हो जायगा, चित्त बडा क्रूर हो जायगा। देखो आचार्यसतोकी ही तो यह बात है—धम्मो जीवदया, जीवदया धर्म है। और फिर दूसरा बताया श्रावकधर्म और मुनिधर्मदया और फिर बतला रहे रत्नत्रयधर्म फिर बतला रहे दशलक्षणधर्म फिर बतला रहे मोह क्षोभके परिणामसे रहित, शुभ अशुभ दोनो भावोसे रहित, शुभोपयोग अशुभोपयोग दोनोसे अतीत जो एक चैतन्यस्वभावका रमण है, बस यह धर्म है। यह निश्चयसे एक अतमे बात बताई है। मतलब यह है कि लोग अपना उपकार ही तो करते है, लोगोके उपकारकी बुद्धिसे ऐसी बात बोलनी चाहिए कि जिसमें उनका अहित न हो। खुद समझ गए तो खुदके लिए है, मगर दूसरोको बोलें तो इस तरह की बात बोलनी चाहिए कि जिससे दूसरो को किसीका किसी ढगका भ्रम न हो और उत्तरोत्तर धर्मके मार्गमे बढा करें।

> वयमिह निजयूथभ्रष्टसारङ्गकल्पा
> परपरिचयभीता क्वापि किञ्चिच्चराम।
> विजनमिह वसामो न व्रजामः प्रमाद,
> स्वकृतमनुभवामो यत्र तत्रोपविष्टाः ॥४६॥

(१४७) साधुसंतोंका आत्महितमे उत्साहक चिन्तन—

इस ग्रन्थमें धर्म और धर्मके आचरणकी विधि, धर्मका प्रयोग सम्बन्धी सभी बातोका वर्णन कर भव्य जीवोको धर्ममे लगाकर दु खसे छुडानेका प्रयोजन है। देखो यदि

किसीको आत्मकल्याणकी इच्छा है तो वह न तो यहां की जाति, कुल, मजहब आदिकी बातोंको देखे और न शरीर सम्बन्धी किन्ही बाह्य बातोको देखे, किन्तु अपने आपको यह अनुभव करे कि मै तो इस देहसे भी निराला एक ऐसा पदार्थ हू कि जो ज्ञानमात्र हूँ। जिसमें ज्ञान है उस ज्ञान वाले पदार्थमे अशान्ति बहुत रही अब तक। अब तो शान्ति चाहिए। शान्ति कही बाहरसे न मिलेगी। एक आत्मत्वके नातेसे विचार करें, क्योकि यहां किसी भी सम्प्रदाय, कुल, जाति या और-और बाहरी प्रसंगोंसे कुछ प्रयोजन नही। मुझे बस एक ही प्रयोजन है कि अशान्ति मिटे और शान्ति हो, तो शान्ति होनेका उपाय केवल एक ही है सभी के लिए दूसरा नही। वह क्या उपाय है कि अपने आपके स्वरूपको समझना कि मैं वास्तवमे क्या हू? तो वहां मालूम पड़ेगा कि मैं तो एक ज्ञान और आनन्दका पिण्ड हूं। तब ही तो दार्शनिकोने कहा कि ज्ञान ही ब्रह्म है, आनन्द ही ब्रह्म है, ज्ञान और आनन्द यह ही मेरा स्वरूप है। जब ज्ञानानन्दस्वरूप मेरा है तो बस अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव करें कि मैं यह हू। यहांकी इन बाहरी बातोको छोडें, सभीका ख्याल छोड़ें और एक ज्ञानानन्दस्वरूप निज अतस्तत्वको ज्ञानमे लें। बतलावो यह उपाय आत्माके नातेसे है न? यहां कोई कुल, जाति, मजहब, आदिका पक्ष नही रखा जा रहा। आत्मा है, आत्माकी शान्ति चाहिए, शान्ति मिलेगी। तो आत्मा स्वयं शान्तिस्वरूप है, मगर कितने ही उपाय कर लिये अब तक फिर भी शान्ति न मिल सकी। अरे मेरेमे शान्ति है, मेरे स्वरूपमे ज्ञान है, आनन्द है तभी तो ये मेरेसे प्रकट होगे। ज्ञान आनन्द होते तो हैं मगर ये इन्द्रियके आधीन होकर हो रहे, बस यह विडम्बना है। भले ही खुश हो जायें कि देखो हम कितना अच्छा सुनते है, कितना अच्छा देखते हैं, कितना अच्छा स्वादते है, कितने ही प्रकारके ज्ञान कर रहे, लेकिन ये ज्ञान ये गुण इस स्वरूपके स्वभावकी जाति से उठे हुए नही हैं। ये पराधीन हैं। तो ज्ञानस्वरूप हूं मैं, लेकिन यह इन्द्रियोकी पराधीनता, इन्द्रियोंकी विडम्बना लग गई। और जब इन्द्रियसे जानते है तो इन्द्रियकी हमे खातिर करनी पड़ेगी। अब हमको अन्तस्तत्वकी शरण्यतामे विश्वास हो गया तो फिर इन इन्द्रियोकी खातिर न करें, इसका आदर न करें। इन इन्द्रियोंका आदर करने से तो रागद्वेष मोह ये सब बढ जाते हैं। तो इतना ध्यान रखें कि हे प्रभो मुझे इन्द्रियजन्य ज्ञान और आनन्द न चाहिए, ये तो विडम्बना हैं। इस इन्द्रिय और मनसे अतीत जो मेरेमे मुझे प्राप्त हो बस उसकी इच्छा है। पराधीन सुखकी, ज्ञानकी मुझे इच्छा नही। सब कुछ जानते हैं योगीजन, ज्ञानी पुरुष, जो विरक्त हुए हैं तो क्या चिन्तन करते हैं कि हम लोग यहां समुद्रसे अलग होकर आये है।

हो रहे थे, भरत भी विरक्त हो रहे थे तो कैकेईने समझा कि मेरे तो पुत्र और पति दोनो ही विरक्त हो रहे, मेरा तो जीवन सूना हो जायगा, यह विचारकर उसने यही वर मांगा कि मेरे पुत्र भरतको राजगद्दी दी जाय। जब राजगद्दी मिल जायगी तो फिर यह मेरेसे अलग कैसे हो सकेगा ऐसा विचार था कैकेईका। कैकेईको वर कैसे मिले थे ? सो बात यह हुई थी कि राजा दशरथके विवाहके समय याने कैकेईके स्वयंवरके समय जब राजा दशरथका युद्ध ठना था तो वहां कैकेईने ऐसी वीरतासे रथ हाँका था कि दशरथ विजयी हुए थे। वहां प्रसन्न होकर दशरथने कहा था कि मैं तुम्हे दो वर देता हू, बोलो क्या चाहती हो ? कैकेइने कहा था कि मेरे ये दोनो वर भडारमे रखो, जब आवश्यकता समझूंगी तब मांग लूंगी। सो उस राज्याभिषेकके समय आवश्यक समझा वरदानका मागना। सो क्या वरदान मांगा था कि मेरे पुत्र भरतको राज्यगद्दी दी जाय। उसने यह नही मांगा कि श्रीरामको १४ वर्षोंका वनवास दिया जाय, मगर श्रीरामने यह सोचकर वनवास करना विचारा कि यहांकी जनताका रुख मेरी ओरका है। मेरे रहते हुए मेरे भाईका प्रभुत्व न बढ सकेगा, प्रताप न फैल सकेगा, इससे उचित समझा कि वनमे जायें, सो श्रीराम वनमे गए। तो अब देखो श्रीरामचन्द्र जी को उस जगल मे कोई सुख था क्या ? हां कभी सुख भी हुआ, राजा लोग भी भेंट देने आये, पर दुःख अधिक रहा। कहां क्या करना, कहां भोजन बनाना ? बर्तन पासमे नहो तो मिट्टीके बर्तन भी बनाना। यहां वहांके फल फूल तोडकर लाना। श्रीराम जी का यह नियम था कि प्रतिदिन मुनियोको पडगाह कर आहार करना। वे उस जगलमे भी देखते है कि यहां कोई मुनि आवें तो आहार दें। और आये भी चारण ऋद्धिधारी मुनि आकाशमे विहार करते करते उनको श्रीरामने आहार दिया, फिर खाया। कई बार ऐसे मौके आये।

(१५१) धर्मात्मा शीलवती सीतापर संकटोकी चुनौती—

एक बार राम लक्ष्मण सीता द्वारा हो रहे मुनिदानकी अनुमोदनाकी एक जटायु पक्षीने। बडा निर्मल भाव बनाया जटायु पक्षीने। वह जटायु था तो उसने अनुमोदना की, उसके प्रतापसे वह स्वर्गोंमे एक बडा देव हुआ। वह वही जटायु था जिसने अपनी चोचसे सीताका हरण करते समय रावणसे युद्ध किया था। रावणने जटायुको मार डाला था, मगर जब तक प्राण रहे तब तक सीताकी रक्षा की। वह एक बहुत बडा पक्षी था। भैया! हमने तो दतियाके अजायबघरमे एक पक्षीका अस्थिपजर देखा वह बहुत बडा था। उसे देखकर हमे तो बडा आश्चर्य हुआ—ओह इतने इतने बडे भी पक्षी हुआ करते है। सुना है कि दतियाका राजा एक बार अफ्रीका भेजा दिया गया था तो वह वहांसे लाया था। शायद उसकी

नाम होगा शुतुर्मुर्ग। यह इतना बड़ा और बलशाली पक्षी होता है कि कहो हाथी तकको भी उठाकर फेंक दे। तो वह जटायुपक्षी जिसने रावणसे युद्ध किया था वह मरकर देव हुआ था। कृतान्तवक्र सेनापति वह भी सीताका बडा भक्त था। जब श्रीरामने कृतान्तवक्रसे कहा—जावो सीताको रथमे बैठाकर तीर्थस्थान दिखानेके बहानेसे निर्जन बनमे छोडकर आवो तो वह कृतान्तवक्र रथमे बैठाकर सीताको ले गया। जब एक भयानक जगल मिला तो वहाँ कृतान्तवक्र बोला—हे देवी, मै इस समय नौकर हू, माफ करना। मुझे मालिककी आज्ञा हुई है कि सीताको निर्जन बनमे छोडकर आवो। सो तुम अब रथसे नीचे उतरो और इसी निर्जन बनमें रहो। कृतान्तवक्रके भी दुःखका क्या कहना, वह वापिस लौटते हुएमें भारी शोक प्रकट कर रहा था। वहाँ सीताने समझाया—ऐ सेनापति! तुम मत रोओ, अधिक शोक न करो, जावो अपने मालिकसे मेरा यह सदेशा कह देना कि जनताके अपवादके भयसे जिस प्रकार सीताको छोड दिया उस तरहसे अपने धर्मको न छोड़ देना। यो बडी भारी श्रीरामकी कथा है। खैर कुछ और जीवन व्यतीत हुआ।

(१५२) महासती सीताके सुख दुःखके विचित्र परिवर्तन—

सीताके दो पुत्र लव और कुश पैदा हुए। फिर बहुत दिन बाद लव कुशसे श्रीराम लक्ष्मणका युद्ध हुआ। देखिये—एक कोई नारद हुआ करते है वे ब्रह्मचारी होते, बडे पवित्र आत्मा होते, उनको साधारण स्त्रियोके बीच, रानियोके बीच सबके बीच बैठनेका बराबर अधिकार होता, हाँ उनमे एक कमी यह जरूर होती कि वे इधरकी उधर भिडाते फिरते। पर वे इतना जरूर सोचते थे कि मेरे भिडानेसे किसीका बिगाड़ न हो जाय, ऐसी कई घटनायें हुई है। तो एक बार नारदने आकर लव कुशको आशीर्वाद दिया कि तुम दोनो राम लक्ष्मण जैसे प्रतापी बनो। अब लव तथा कुश दोनोके मनमे आया कि जानें तो सही कि श्रीराम लक्ष्मण कौन है? तो अपनी माँ से कहा—माँजी सच बताओ कि वह श्रीराम लक्ष्मण कौन हैं? तो सीताने कहा वे तुम्हारे पिता और चाचा है और फिर सीताने अपवाद सम्बन्धी बात बतायी कि किसी धोबीकी औरत किसी दूसरेके घर चली गई। जब वह लौटकर घर आयी और पूछा कि तू इतनी देर किसीके घर क्यो रही? तो उसने कह दिया तो क्या हुआ सीता जी तो रावणके घर ६ माह तक रह आयी, फिर भी कुछ बात नही, हमको जरासी देर हो गई सो नाराज हो रहे। यह बात समाजमे फैली, सो लोकापवादके भयसे मुझे जंगलमें छोडा गया। यो सब बातें बता दी। लव कुश समझ गए कि श्रीराम हमारे पिता है तथा लक्ष्मण चाचा हैं। अब कुछ दिन बाद ऐसा योग जुडा कि श्रीराम लक्ष्मण तथा लव

कुशसे युद्ध छिड गया। जब आमने सामने हुए तो लव कुश तो ऐसे बाण चलाते थे कि पिता तथा चाचाके पैरोकी तरफ नीचे गिरते थे, क्योकि उन्हे पता था और इधर श्रीराम लक्ष्मणके बाण सीधे जाते थे, क्योकि उन्हे पता न था। आखिर वहां नारदने पहुचकर श्रीराम लक्ष्मण के कानोमे कहकर धीरेसे समझा दिया कि ये आपके पुत्र हैं, बस समाप्त हो गई लडाई। वहाँ से सीताको नारद अपने साथ श्रीरामके पास ले गए और नारदने श्रीरामसे सब वृत्तान्त कहा। श्रीराम तो थे मर्यादा पुरुषोत्तम। सो सीताको सामने देखकर श्रीराम बोले—ऐ सीता तू यहाँ क्यो आ गई ? बिना जनताके सामने परीक्षा दिए यहां नही रह सकती। तो सीताने कहा—जो चाहे कर लीजिए परीक्षा, चाहे भयानक सर्पके आगे डाल दो, चाहे विष दे दो, चाहे अग्निमे डाल दो, जो चाहे परीक्षा कर लो। तो श्रीराम बोले—अग्निकुण्डमे प्रवेश करनेका तुम्हारे लिए आदेश है। अब क्या था, भयकर अग्निकुण्ड तैयार किया गया। सारी जनता वह दृश्य देखनेके लिए इकट्ठा थी। उस समय दो देव कही भगवानका दर्शन करनेके लिए समवशरणमे जा रहे थे, उन्होने जब यह जाना कि यहांपर किसी शीलवती नारीपर उपसर्ग आ रहा है तो वे वही रुक गए। आखिर उन देवोमे तो ऐसी विक्रिया होती है कि जब जो चाहे सो अपनी विक्रियासे करके दिखा दें, सो क्या हुआ कि जब सीताने णमोकार मत्रका स्मरण करके प्रभुका नाम जपकर उस भयकर अग्निकुण्डमे प्रवेश किया तो वहां उन देवोने अपनी प्रक्रियासे सारा जल बना दिया और वह जल इतना बढा कि लोगोकी छाती तक आ गया। सारी जनता पुकार उठी, ऐ सीते, ऐ जगदम्बे, बचाओ बचाओ। तो सीताने कहा—ऐ उपसर्ग दूर करने वाले, इन प्रजा जनोकी रक्षा करो। बस जल शान्त हो गया। तो बात यह कह रहे थे कि किसीके जीवनमे ये सुख दु ख नियत नही रहते, अगर किसीके नियत रह सके हो तो बताओ। सीताकी अग्निपरीक्षाके बाद क्या हुआ कि सीताजीको अपने जीवनकी दुःखद घटनायें देख देखकर बडा वैराग्य जगा, उनके चित्तसे मोह ममता दूर हो गई। उसने अब घर गृहस्थीमे रहना ठीक नही समझा। यद्यपि सभीने बहुत बहुत निवेदन किया, माफी मांगी, मगर सीता अब किसीकी सुनने वाली थी ? वह साध्वी बनी और तपश्चरणके प्रभाव से १६वें स्वर्गकी प्रतीन्द्र बनी।

(१५३) अन्तस्तत्त्वके रुचियोंके अन्तिम जीवनकी आदर्शता—

सीता-विरह व लक्ष्मणवियोगके बाद श्रीरामको भी वैराग्य जगा, मुनि बने और तपश्चरण करने लगे। जब श्रीराम वनमे निर्ग्रन्थ मुद्रामें बैठे हुए ध्यान कर रहे थे तो एकाएक

ही उस सीताके जीव प्रतीन्द्रको ध्यान आया, अवधिज्ञानसे सब जाना और ऐसा सोचा कि श्रीरामका ध्यान भग कर दें, ताकि श्रीराम अभी मोक्ष न जायें, हम और वह दोनो फिर एक साथ मोक्ष जायेंगे। भला बताओ ऐसा भी हुआ क्या कि एकके साथ दूसरा जाय, मगर सीताके जीव प्रतीन्द्रने ऐसा ही सोचा। तो श्रीरामका ध्यान भग करनेके लिए वह श्रीरामके पास आयी, वह तो आत्मध्यानमे रमे थे। उस प्रतीन्द्रने अपने बड़े हाव भाव दिखाये कि श्रीराम डिग जाये, पर वह रच भी न डिगे। फिर एक ऐसा दृश्य दिखाया कि रावण सीताके केश खीच रहा है, सीता हा राम हा राम कहकर पुकार रही है। इसपर भी श्रीरामका चित्त न डिगा। वह अपने आत्मध्यानमे लीन रहे। आखिर श्रीराम मांगीटुगी पर्वतसे मोक्ष गए। भगवान हुए। अब यहां आगे जो-जो भी बात हुई बहुत बहुत बातें हैं, मगर इतनी बात ध्यानमे रहे कि सुख दुखका जब भी अन्त आता है तो बस एक ब्रह्म समाधिमे आता है। ये सुख दुःख नियत नही रहते।

यह ससार अति चचल है। इस अति चंचल संसारमे किस बातका हर्ष मानना और किस बातका विषाद ? देखो भाई इतनी बात तो चित्तमे रख ही लो कि जो भी सुख दु.ख यहां हम आपपर बीत रहे उनमे चित्त मत फसायें। वे सब तो बाहरी बातें हैं, बाह्य पदार्थों की परिणतियां है। उनकी परिणति उनमे होने दो। उससे दु ख किस बातका ? और जो दु.ख है उस दुःखका भी अन्त हो जायगा। ऐसा जानकर इस चचल ससारमे किसी भी घटनाको देखकर चैन मन मानें। यहां कौन तो मेरा शत्रु और कौन मेरा मित्र ? मैं समस्त जीवोसे अत्यन्त भिन्न हू, निराला हू। उनमेसे यह छटनी करना ठीक नही कि ये मेरे घरमे रहने वाले जो दो-चार जीव है वे तो मेरे है, बाकी सब गैर है। लोग तो ऐसा सोचते है कि मानो ज्ञानकी दो आंखें हो ससारमे। तो डेढ आंखें तो मेरे पास है बाकी आधी आंख बाकी कुल संसारी जीवोके पास है। इतना मोह इन ससारी जीवोको रहता है। तो जगतमे जो होता हो होने दो, उनको देखकर मनमे हर्ष और विषादकी बात न करो। धर्मके मार्गमे बढो। आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमण, इनमे लगो। बाकी यहांकी ये कोई चीजे काम न आयेंगी। कल्याण न होगा इन बाहरी बातोसे, इसलिए इन बाहरी बातोमे अपना चित्त न फसायें और एक अपनी आत्मसमाधिके लिए अपनी भलाईके लिए आत्मज्ञान करना, सत्सग करना और धर्मके नामपर आप यह बात विचारें कि आत्माको अपने आत्मामे मग्न करना है जिससे मुझ आत्माका कल्याण हो। मूल बात यह रखें कि यही धर्मात्मा पुरुषका

कर्तव्य है। बाकी सब बातें तो गैर है, विडम्बनारूप हैं।

(१५४) आत्मत्वके नातेसे ही कर्तव्य बनानेमे सर्वत्र एकरूपताका दर्शन—

अगर एक आत्मकल्याणकी इच्छा है तो आत्माके नातेसे सब विचार बनावें। सम्प्रदाय, कुल, जाति आदिककी बात सोचकर मत विचार बनायें। कल्याणके मार्गमे मैं ज्ञानमय पदार्थ हू, इस प्रकार मुझे आत्माके नातेसे आत्माका धर्म करना है। आत्माका वह धर्म क्या है ? तो जो आत्माका स्वरूप हो जो आत्माका स्वभाव हो, जो परके सम्बध बिना आत्माकी स्थिति हो वह आत्माका धर्म है, उसे करना है, और सब बातें छोड दो। फिर आप कहेगे कि यह बात फिर धर्मके नामपर कैसे लग गई ? तो ऐसे लग गई कि करनेका तो धर्म यह ही है। आत्माका श्रद्धान, आत्माका ज्ञान और आत्मामे रमण करना, ये बातें जब नही बर्त रही है तो उसके एवजमे विषयकषायके प्रसग आते है। तो उनको दूर करनेके लिए तपश्चरण करना, व्रत करना, सयमसे रहना, ऐसी बात करनी होती है. सो ये भी आवश्यक है, ये भी कर लिए जावें और बहुत दिनोंसे यही करते चले आये हो और वहाँ अनेक विचार वाले लोग है तो व्रत तप आदिकके रूप भिन्न-भिन्न हो गए, पर जो मूल धर्म है, जिसे मुनिजन किया करते है वह एक ही ढंगका है।

जैसे कहते है ना कि सब मनुष्योंकी पैदाइश एक ही ढगसे होती है, चाहे कोई हो राजा, चाहे कोई हो रक। ऐसे ही मरण भी सबका एक ढगसे होता है। शाति और अशान्ति उत्पन्न होनेकी बात भी एक ही ढगसे होती, ससारमे रुलना, ससारसे मुक्त होना— ये भी एक ढगसे होते। सब स्थितियोमे एक ढग है। यहाँ भी यही समझिये कि अपने आत्माका श्रद्धान, आत्माका ज्ञान और आत्माका आचरण यह तो मुक्तिका मार्ग है और परपदार्थोंके प्रति राग द्वेष मोहादि करना, यह ससारमे रुलनेका मार्ग है। आकुलता और निराकुलताकी भी यही बात है। तो अपनेको अगर कल्याणकी वाञ्छा हुई है तो एक यह निश्चय रखना चाहिए कि मैं जीव हू; आत्मा हू। यहाँ किसी भी अन्य चीजसे मेरा कोई सम्बध नही। घर है, नगर है, मकान, महल, कुटुम्ब, परिजन आदिक मैं नही, यह देह भी मैं नही, जो जो भी चीजें देहके आश्रित हैं वे भी मैं नही। यह मैं तो केवल एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हू, ज्ञानसयुक्त हू, ऐसा एक अपना निश्चय बनायें और अपने आत्मकल्याणके मार्गमे चलें। इसीमे अपने जीवनकी सफलता है।

प्रतिक्षणमिदं हृदि स्थितमतिप्रशान्तात्मनो,
मुनेर्भवति सवर· परमशुद्धिहेतु ध्रुवम्।

रजः खलु पुरातनं गलसि नो नवं ढौकते,
ततोऽतिनिकटं भवेदमृतधाम दु.खोज्झितम् ।।४८।।

(१५५) अन्तस्तत्त्वकी आराधनासे संवर निर्जरा पूर्वक अमृतधामकी अति निकटता—

जिसने संसारको दुःखमय समझ लिया, संसारके समस्त सगको जिसने पर समझ लिया और भले प्रकार यह परिचय जिसने कर लिया कि जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, इष्ट-वियोग, अनिष्टसयोग, पञ्चेन्द्रियके विषयोमे विघ्न, अपने मनके अनुकूल बात न हो पाना आदिक अनेक कष्ट इस ससारमे है। उनसे जो भयभीत हुए ऐसे ये मुनिजन क्या क्या विचार करते है चित्तमे, वह प्रकरण चल रहा है। जैसे बताया गया कि यह मैं कितनी ही बार राजा बना, कितनी ही बार कीट बना, तो ससारमे सुख अथवा दु ख किसीके भी नियत न रहेगे, ऐसे इस दु खमय ससारमे उपयोग देना और इसके साधनभूत विषयोमे चित्त रमानेमे सार नही है, ऐसा जिसने मनन किया।

प्रतिक्षण जिनका ऐसा चिन्तन चलता है, जिनका इतना शान्त चित्त है उन मुनियोके परमविशुद्धिका कारणभूत संवर होता है। संवर उसे कहते है कि नये कर्म न आना। देखो धोतीमे धूल तब चिपटती जब कि वह गीली होती है, सूखी धोतीमे धूल नही चिपटती। अगर गीली धोतीमे धूल भी लग जाय और उसके सूखने पर झिटक दिया जाय तो वह धूल झड जाती है, ऐसे ही इस ससारी जीवमे गीलापन है मोह रागद्वेषका। जब तक मोह रागद्वेष है तब तक कर्मधूल चिपटती है और जिसने मोह राग द्वेषसे रहित अपने आत्माका सहज स्वभाव चैतन्यमात्र अपनेको अनुभव किया ऐसे पुरुष मोह रागद्वेषसे दूर रहते हैं और इसी कारण उनके परमविशुद्धि याने निर्मलता होती है और नवीन कर्म रुक जाते है, और इसही परिणामके बलसे जो पहलेके बांधे हुए कर्म हैं वे जल जाया करते हैं। तो जहाँ संवर है, निर्जरा है याने नये कर्म आयें नही, पुराने कर्म झड जायें तो उसको मुक्ति अत्यन्त निकट है। जैसे किसी नावको समुद्रके एक किनारेसे दूसरे किनारे पर जाना है, अच्छा तो चला दो नावको, किन्तु हो उसमे छेद जिससे पानी आये, जिस पानीके आनेसे नाव डूब जाती है, तो वहाँ खेवटिया लोग क्या करते हैं ? उस नावका पानी पहले उलीचते नही, उसका पानी उलीचनेके बजाय उसका छेद बद करते। अगर नावका पानी मात्र उलीचे और छेद बद न करें, छेदसे पानी आता रहे, तो उससे लाभ क्या, पानी तो आता ही रहेगा और अगर छेद बद हो जाये, नया पानी न आये, फिर उस पहिले आये पानीको उलीच दें तो फिर नाव बडे आरामसे दूसरे किनारेपर पहुच जायगी। ऐसे ही ये ससारी जीव जो निरन्तर कर्मसे बधे हैं,

बराबर कर्म आते है तो विवेक जगने पर वह क्या करता है कि पहले अपने उन छिद्रोको वद करता, कौनसे छिद्र—मोह ममता, मिथ्यात्व, अज्ञान, विपरीत श्रद्धा, असंयम, आदि ये सब उनके छेद हुए इन्हें रोक देता है और फिर उसके अपने आप इस ही परिणामके बलसे पहले बांधे हुए कर्म खिरते है, तो उसकी मुक्ति अत्यन्त निकट है। देखो जीवको ये विषयभोग, ये पञ्चेन्द्रियके विषय बहुत सस्ते लगते, बडे सुखदायी लगते, पर नियमसे इनका सगका, इनका भोगोपभोगका परिणाम कष्टदायी ही है। इस तरह यहांके सगमे आसक्त न होना, किन्तु आत्माका जहा हित है उस परिणामका आदर करना, यही कार्य ये साधुजन करते हैं, जिनके धर्मकी बात चल रही है।

(१५६) धर्मानुरागीका चिन्तन—

धर्मकी परिभाषामे धर्मके प्रयोजनानुसार ५ प्रकार बताये गए—जीवदया धर्म है, श्रावकधर्म और मुनिधर्म इस प्रकार दो प्रकारके धर्म हैं। रत्नत्रय धर्म है, उत्तम क्षमा आदिक दसलक्षण धर्म है। मोह क्षोभसे रहित सहज आनन्दमय परिणाम, उसकी अनुभूति धर्म है। इनमे से दूसरे प्रकारकी पद्धतिकी बात चलेगी। श्रावकधर्म और मुनिधर्ममे श्रावकधर्मका वर्णन हुआ। अब मुनिधर्मके वारेमे कहा जा रहा है, जो प्रशान्त हुए योगीश्वर मुनि। वे मुनि क्यो हुए? आजके भव्य पुरुषोको ससारका कोई भी प्रसंग इस जीवके लिए हितकर नही है, इसलिए इन प्रसगोसे अलग हो जाते है। किसी भी अन्य वस्तुका ख्याल इस आत्माके भलेके लिए नही है इसलिए सर्व बाह्य प्रसगोका परित्याग कर स्वतन्त्र एक अपने आत्मामे ध्यानमग्न होना ऐसा जिनका इरादा होता है और इस ही आशयकी पूर्तिके लिए वीतराग पुरुषोने त्याग किया अतरग परिग्रहका, आत्माके ध्यानमे जिनका चित्त लगा है वे अत्यन्त प्रशान्त हैं। तो ऐसे अत्यन्त प्रशान्त वे प्राय प्रतिक्षण रहते हैं। वे सोचते हैं कि कितनी ही बार तो मै राजा महाराजा, महान ऐश्वर्यशाली बना, बडे-बडे सुख साधन मिले, पर कोई नियत न रहे, फिर यहाँ किस वातका हर्ष और किस बातका विषाद करना?

(१५७) धर्मानुरागीके धर्मध्यानके प्रयत्नमे आर्त रौद्रका परिहार—

धर्मध्यान चार प्रकारके बताये गए—(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय और (४) सस्थानविचय। धर्मध्यानी छोटे ध्यानोसे वियुक्त है। ध्यान १६ प्रकारके कहे—४ आर्तध्यान, ४ रौद्रध्यान, ४ धर्मध्यान और ४ शुक्लध्यान। आर्तध्यान तो वह है कि जिससे जीवको पीडा उत्पन्न हो। जैसे किसी इष्टका वियोग हो गया तो उसके विषयमे चिन्तन करना कि यह इष्ट मुझे कैसे मिले; ऐसा ध्यान बना रहे तो वह आर्तध्यान

है न ? अनिष्ट पदार्थका संयोग हो जाय उसके प्रति जो ध्यान बने वह आर्तध्यान है । शरीरमें कोई वेदना हो जाय उसके प्रति ध्यान बने कि हाय अब न जाने क्या होगा, यह भी आर्तध्यान है न । वैसे तो जब अच्छी हालतमे हैं तब तो सभी लोग कह देते कि अजी मरना तो है ही एक दिन । मरनेसे क्या डर ? पर जब कभी कोई वैसी बात आ जाती है कि जिसमें प्राणोका खतरा हो, मानो एक टी. बी की बीमारीका ही प्रारम्भ हो गया तो वहाँ फिर कैसा विह्वल हो जाते—हाय न जाने अब क्या होगा ? प्राण बचेंगे या न बचेंगे, तो जब कभी वैसी स्थिति आती तब पता पडता कि अरे जो कुछ हम कहते थे वह हमारा कहना झूठ था । तो वेदनाका भी एक बहुत बडा शल्य है, वह आर्तध्यान है और एक ऐसा मूर्खताभरा ध्यान है कि बैठे बैठे चिन्तन किया करते है कि मैं ऐसा हो जाऊ, परभवमें ऐसा बन जाऊँ, वैसा बन जाऊँ । एक बडी आशा लगाये रहते हैं, आखिर जीवन बीत जाता है, मरण हो जाता है बस सारा झगडा खतम । रौद्रध्यान वह कहलाता कि जिसमे खोटे काम करनेमें मौज मानें । जैसे हिसानन्द—हिंसा करनेमें, शाबाशी देनेमे बडी मौज मानना यह रौद्रध्यान है । इस रौद्रध्यानका फल है नरक जैसी खोटी स्थिति पाना । झूठ बोलनेमे, दूसरोकी निन्दा करनेमें, चोरी करनेमे मौज मानना सो रौद्रध्यान है, इसका फल है नरकगति । चोरी करनेमे मौज मानना सो चौर्यानन्द और परिग्रहके संरक्षणमे, विषयोके साधनमे आनन्द मानना यह है विषयसंरक्षणानन्द । अब देख लो—आर्तध्यान, रौद्रध्यान ये कितना घिरे हुए है इस जीव पर । इस समय यह जीव बडी विपत्तिमे पड़ा है । इतना ध्यान करें कि यहाँ कोई किसीके लिए मददगार नही है । अपने आत्माका सुधार बनावे, सच्चा ज्ञान बनावें, अपना ज्ञान, अपनी भावना अपने आपमे है । व्यर्थकी कितनी ही बातें हैं जिनमे मौज मान रहे है । कोई धन वैभव, इज्जत, प्रतिष्ठा आदिमें बढ रहा है तो उसमे ईर्ष्या रखना यह कोई भली बात है क्या ? मिलता जुलता कुछ नही, मगर व्यर्थमे अपने परिणाम बिगडे जा रहे हैं । कुछ लोग दूसरेके काममें विघ्न डालकर मौज मानते । यह एक कितना खोटा ध्यान है ? इसके फलमें अच्छी बात मिलेगी क्या ? ऐसे ये आर्तध्यान रौद्रध्यान जीवोमें रहा करते है ।

(१५८) धर्मानुरागीके धर्मध्यानके प्रकार—

अब धर्मध्यानकी बात कहेगे ये धर्मध्यान ४ प्रकार है—१–आज्ञाविचय, २– अपायविचय, ३–विपाकविचय और ४–संस्थानविचय । भगवानकी आज्ञा मानकर चलना सो आज्ञाविचय और उसके अनुसार धर्मपथमे लगना सो अपायविचय । ये रागादिक भाव मेरे कैसे नष्ट हो, मोक्षमार्गमे कैसे चलें, उसका उपाय बनायें, आगे बढ़ें और उस बातका चिन्तन होना

सो अपायविचय। और तीसरा है विपाकविचय। कर्मोंके फलका चिन्तन करना, कर्म आये, उनकी झाँकी हुई, ज्ञान भी दब गया और उस समय उपयोगमे आत्मबुद्धि है, मै यह हू और फिर मेरे साथ जो पदार्थ ज्ञेय होते है उनमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि करने लगे और फिर जैसे कर्मोंका बंध किया उनका फल पाया, उन कर्मोंसे अपनेको बचाये रखना। चौथा है सस्थान-विचय। इस लोकका विस्तारका चिन्तन करना और कालकी बातका चिन्तन करना यह कहलाता है सस्थानविचय। देखो यहाँ बताये गए हैं चार तरहके धर्मध्यान। तो ये होते हैं चौथे गुणस्थानमे, परन्तु पूर्णत्वकी अपेक्षामे तीसरे गुणस्थानमे आज्ञाविचय, चौथेमे अपाय-विचय, ५वें मे विपाकविचय और छठेमे सस्थानविचय होता है। मानो मुनिजनोकी निगाहमे यह बात बिलकुल सामने रहती, इसके फलमे क्या होता? जब कोई जान जाता कि यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है, इस लोककी ऐसी रचना है, यह कितना महान क्षेत्र है? स्वर्ग नरक, मध्यलोककी रचना, कितना बड़ा तिर्यक लोक, जिसे यह बोध रहता उसको फिर जरा जरासी बातोमे ममता नही रहती। जिसकी दृष्टिमे लोकका विराटरूप हो रहा है उसको फिर यहाँकी विभूतिमे आसक्ति नही रहती। और जिसको कालका ज्ञान है कि इतना लम्बा असीम काल होता है उसको यह १०-२०-५०-१०० वर्षका जीवन कुछ गिनतीमे भी है क्या? जरासे समयके लिए क्यो व्यर्थमे रागद्वेष मोहादि करना? देखिये—यह बात अधिकतर मुनिजनोके हो पाती है, क्योकि गृहस्थजन भूल जाते जरासी देरमे आत्मध्यानकी बात, क्योकि उनके सामने अनेक प्रकारके प्रसग हैं, दूकानका काम, घर गृहस्थीका नाम, नाते रिश्तेदारोके काम, समाजसेवा, देशसेवा आदिके काम, यो अनेक झंझट हैं गृहस्थोके सामने, उनका जीवन तो कीचड बन जाता है। तो चतुर्थ ध्यान है—सस्थानविचय, उसका मुनिजन ध्यान करते हैं।

(१५६) अन्तस्तत्त्वके प्रसाद बिना त्रिलोक वैभवकी व्यर्थता व अनर्थता—

मैं अनेक बार राजा हुआ, धनी हुआ, न जाने कितने ही सुखसाधन पाये, पर ये सुख दु ख किसीके नियत नही रहते। ऐसा जिनके चित्तमे प्रतिक्षण रहा करता है उन प्रशान्त पुरुषोके ससारमे भटकाने वाले इन कर्मोंकी रुकावट हो जाय, उसका उपाय क्या करते है कि अपने आपके आत्मस्वरूपका अनुभव हो जाय कि मैं वास्तवमे यह हू, उनके लिए सब जीव एक समान एक स्वरूप नजर आ रहे हैं किसी जीवके प्रति रागद्वेषकी वासना न जगे यह प्रोग्राम बनना चाहिए। इस प्रोग्राममे आसक्त न हो कि मैंने इतना कमाया, इतना बड़ा काम कर डाला, अरे यह तो अधेरा है। हाँ खाये बिना नही चलता, सो आहार मुनिजन भी

करते, गृहस्थजन भी करते, मगर श्रद्धामें यही बात रहे कि मुझे तो यह आहार करना पड़ता है। मेरा मुख्य काम तो है आत्मोपयोगका। आत्मोपयोगके बिना सब काम बेकार। जिसने अपने आत्मस्वभावका मनन कर लिया, जिसने अपने आपको दृढ बना लिया उसके लिए तो फायदेकी बात है और अगर यह बात न हो तो उसका जीवन बेकार है। यो समझो कि जैसे बहुतसे जीवन व्यर्थ खोये वैसे ही यह भी जीवन व्यर्थ खो जायगा। देखो अपने लाभके लिए दुनिया मरती है, उसी लाभकी बात हम कह रहे, टोटेकी बात नही कह रहे—अपने आपके आत्मस्वरूपका चितन करें कि मैं सबसे निराला हू और अपने आपके ही परिणमनसे अपने आपमे सब सुख दुःखका अनुभव किया करता हूं। यह मैं आत्मा सबसे निराला हू। बाहरी बातोका उपयोग क्यो बनाया जाय ? दृष्टिमे दीजिए अपने हितकी बात कि हमको करना क्या है ? देखो धन कम हुआ तो क्या, उससे जीवन नही चलता ? कौनसी बात ऐसी है दुनियामें जिसके बिना इस जीवका जीवन न चले ? सब प्रकारके काम कर डालो, मगर आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमण ऐसा जो एक धर्म है उसके बिना इस आत्म का काम नही चला। इसीमे तो जन्ममरण किया और जन्म मरणके बीच नाना प्रकारके दुःख हुए।

(१६०) अपना परिचय व कर्तव्य—

कोई अगर पूछे कि साहब आप अपना परिचय दीजिए तो उस समय आप अपना सही-सही परिचय यह दीजिए कि यह मैं एक चैतन्यपदार्थ हूं जो अनादिकालसे इस जन्ममरणके बीच पडा हुआ नाना प्रकारके दुःख भोगनेका व्यापार करता आया, बस उसी रोजगारमे एक यह रोजगार कर रहा हू। यह है आपका असली इतिहास, यह है आपका असली परिचय। अब सोचो कि इस ससारमे रुलते हुए इस जीवको मोहसे मिला क्या ? इस मोहसे फायदा कुछ नही मिलनेका। अपने आपके स्वरूपकी सुध लो, अपने आपको सम्हालो। करना पडेगा सब सो करो, मगर श्रद्धा न बिगाडो। अगर श्रद्धा बिगड गई तो फिर पार न पडेगा। एक सेठका लडका वेश्यागामी हो गया। सेठके किसी मित्रने कहा—सेठ जी आपका लडका एक वेश्याके घर जाता है वह तो बिगड गया है। और न मानो तो चलो तुम्हे चलकर साक्षात् उसे वेश्याके घरमे दिखावें। सेठ अपने मित्रके साथ वेश्याके घरके पास गया। वहाँ देख लिया वेश्याके घरमे सेठने अपना लडका और उस लडकेने भी सेठको देख लिया, मगर उस लडनेके क्या किया कि अपनी आँखोके आगे हाथ लगा लिया। सेठ वापिस घर आया तो मित्र बोला—कहो, हमने कहा था ना कि आपका लडका बिगड गया, तो सेठ बोला—अभी मेरा लड़का बिगडा नही।···वाह वाह बिगड़ा कैसे नही ? हमने तो तुम्हे

कुछ भी नही रहता ।

(१६२) तिरना, डूबना और तिरनेका उपाय—

आचार्यदेव यहाँ यह बतला रहे है कि संसार-सागरसे तिरनेका उपाय क्या है ? डूबना क्या कहलाता ? अपने सहज स्वरूपका ज्ञान न होना बस यही डूबना है, क्योंकि जब सबसे निराले अपने आपके स्वरूपको 'यह मैं हू' इस तरहका विश्वास नही है तब यह बाह्य पदार्थोंको निरखकर आकुलता करेगा, विह्वल होगा, पर इसका वश नही किसी बाह्य वस्तुपर अधिकार नही और ये जिस तरह परिणमना होगा परिणमेगे, पर यह उनको देखकर हैरान हो गया, तो इस दु.खको मिटानेमे समर्थ केवल ज्ञान है । देखो एक बारकी घटना । एक बुढियाके एक इकलौता लड़का था, बाकी सब गुजर गए, केवल एक ही लडका बचा तो वह लडका उस बुढियाको बहुत ही अधिक प्यारा था । अब वह लडका भी गुजर गया तो वह बुढिया उस लडकेको लेकर बाहर निकली, वहाँ मिल गए उसे एक मुनिराज । सो मुनिराजके आगे वह बालकका मृतकशव रखकर बुढिया करुण दृष्टिसे बोली—महाराज मैं बडी दुखियारी हू । मेरे एक ही तो इकलौता बेटा था और वह भी मर गया, महाराज आप इसे कृपा करके जिन्दा कर दीजिए । तो मुनिराज बोले—ऐ बुढिया मां ! अब तो मत रो, तेरा लडका अभी जिन्दा हो जायगा । तू एक काम कर कि एक छटाक सरसोंके दाने ले आ, मगर देख अपने घरसे न लाना, ऐसे घरसे ले आना जिस घरमें कभी कोई मरा न हो । यदि यह काम तू कर सकी तो तेरा बेटा अभी जिन्दा हो जायगा । बुढ़िया बहुत खुश होकर सरसोके दाने मांगने चली । एक घर पहुचकर बोली—भैया ! हमे एक छटांक सरसोके दाने दे दो, हमारा बेटा गुजर गया है सो उसे जिन्दा करनेके लिए मुनिराजने मगाया है । तो घर वाले लोग बोले—अरे एक छटांक ही क्यो, किलो दो किलो जो लगें सो ले लो, यदि सरसोंके दानोसे तेरा बेटा जिन्दा हुआ जाता है तो इससे बढिया और क्या बात होगी ? तो फिर बुढिया बोली, मगर यह तो बताओ तुम्हारे घर कोई मरा तो नही ? अरे मेरे घर तो दादा मरे, बाबा मरे, पिता मरे, तमाम लोग मरे । तो तुम्हारे घरके दाने हमे न चाहिएँ । हमे तो ऐसे घरके चाहियें जिस घरमे कभी कोई न मरा हो । फिर बुढिया दूसरे घर गई तो वहाँ भी वही उत्तर मिला कि मेरे घर तो बहुतसे लोग मरे, इस तरह अनेक घरोमे गई, सब जगहसे वही उत्तर मिला । आखिर बुढियाको यह ज्ञान जग गया कि अरे इस ससारका तो यही हाल है । यहाँ एक न एक दिन सभीका मरण होता है । बस अपने बेटेके मरणका शोक उसे मिट गया और प्रसन्न मुद्रामे मुनिराजके पास पहुची । मुनिराज उससे पहले ही पूछ बैठे—अरी

बुढिया मां तू तो प्रसन्न दीखती है, तेरा बेटा जिन्दा हो गया। तो बुढ़िया बोली हां महाराज मेरा बेटा जिन्दा हो गया। जब तक मुझे अज्ञान था तब तक मेरा ज्ञानपुत्र मरा हुआ था और जब सही ज्ञान जग गया तो मेरा ज्ञानपुत्र जीवित हो गया।

(१६३) तपश्चरण, सम्यग्ज्ञान व गुरुसत्सग पा लेनेपर भवजलधि तिरनेमें विघ्नका अनवसर—

तो जब तक ज्ञान नही तब तक कष्ट ही कष्ट है, सही ज्ञान हो गया तो बस सारा कष्ट खतम। तो इस ससारसागरसे पार होनेका उपाय क्या है? सम्यग्ज्ञान। जैसे यहां समुद्रसे पार होनेका उपाय क्या है? अच्छा जहाज, जिसमे छिद्र न हो, ऐसे ही ससारसागरसे तिरनेका उपाय है सम्यग्ज्ञान। जिस ज्ञानमें कोई दोष न हो। जहाज तो मिल गया, मगर उसका चलाने वाला भी तो चाहिए। तो चलाने वाला कौन? तो ये जो गुरुजन है, जो सहाय हो रहे, जो मेरे हितके वाञ्छक हैं, कल्याण चाहने वाले है, ऐसे सत्पुरुष ज्ञानी जन वे ही मेरी नौका चलाने वाले हैं। अच्छा तो मानो किसीने चला दिया, एक निमित्तदृष्टिसे कह रहे—वस्तुतः तो अपना ही जो गुणसमूह है वही चलाने वाला है और फिर उस जहाजके अनुकूल हवा भी तो होनी चाहिए। तो अनुकूल हवा है तपश्चरण। बस तपश्चरण है, सम्यग्ज्ञान है, गुरुजनोका सत्सग है, वहां फिर चिंता क्या, उसके लिए फिर मोक्ष कितनी दूर रह गया? याने उसका मोक्ष निकट आ गया। तो भाई इस जीवनमे एक निश्चय बनावें कि इस जीवनमे मुझे और कुछ करना नही है। जो होता हो सो होने दो, जितना बन जाय ठीक है, जो बने उसीसे मेरा गुजारा चलेगा। यहां क्या है? जब पशु पक्षियोको पर्यायमे गए तो लदकर पिटकर गुजारा किया। आज इस मनुष्यजीवनमे लोग कहते कि हमारा तो गुजारा ही नही होता। अरे अगर असंतोष है तो कितना ही धन वैभव मिल जाय फिर भी दरिद्रके दरिद्र हैं। दरिद्रता नाम और है किसका? असतोषका ही नाम दरिद्रता है, इसलिए असतोष कभी न रखें। इस जैनशासनके भक्तोको तो चाहिए कि वे असंतोष कभी न रखें और यह सोच लें कि आज जो कुछ मुझे प्राप्त है वह जरूरतसे ज्यादह है। देखा होगा कि आखिर खोम्चा बेचने वाले लोग भी तो अपने परिवारका पालन पोषण कर लेते है। ऐसा ध्यानमे लाओ और इस असन्तोषको त्यागो। अपने आपके आत्माका जो शान्तिधाम है, निधान है, ज्ञानस्वरूप निज अंतस्तत्त्व है उसको मानो कि यह मैं हूं। इस प्रकारका यदि आत्मपरिचय है तो समझो कि हमने सब कुछ पा लिया। यह सम्यग्ज्ञान ही इस ससारसागरसे पार करनेका एक उपाय है।

अभ्यस्यतान्तरदृशं किमु लोक भक्त्या, मोहं कृशी कुरुत किं वपुषा कृशेन ।
एतद्वय यदि न किं वहुभिर्नियोगैः, क्लेशैश्च किंकिमपरैः प्रचुरैस्तपोभिः ।।५०।।

हे भव्य जीवो, तुम अपने अन्दरकी ओर दृष्टि बनाओ, उसका अभ्यास करो । इस शरीरको खुश करनेसे क्या लाभ है ? ये मुनि अन्तर्दृष्टिमे नही आते, केवल बाह्य तपश्चरण मे रत रहे, उनका सम्बोधन किया है । कही यह न समझना कि उन्हें छोड़ दें, किन्तु उनको समझा रहे जो कि मोहको कृश नही करते किन्तु शरीरको कृश करते तो उससे क्या लाभ पा लेंगे ? ये दोनो बातें याने अर्न्तदृष्टि करें और मोह दूर हो । यदि ये दोनो बातें नही होती तो वहुत-बहुत तपश्चरणो द्वारा कौनसा लाभ मिल जायगा ? अपने सहजस्वरूपका भान हो जाय, मैं यह हू वस इसीमे सब फर्क है । जो देहको माने कि यह मैं हू वह संसारमे रुलता है और जो देहसे निराला अपना ज्ञानमात्र अनस्तत्व है उसमे जो अनुभव करता कि यह मैं हू वह ससारसे पार हो जाता है । एक बार किसी कस्वेसे कपडा खरीदकर देहातके दो तीन वजाज अपने गाँवके लिए चले । गाँव दूर था, रास्तेमे ही रात हो गई । सो वे एक बरगदके पेड़के नीचे ठहर गए । अब ठडके दिन थे, उस समय काफी तेज ठड चल रही थी तो उन्होंने क्या किया कि पास-पडोससे कुछ लकड़ियाँ ले आये, खेतोको बाड़ यहा लायें और और रात भर खूब आग जलाकर तापा और सवेरा होते ही अपने गाँव चले गए । यह सब दृश्य देखा था उस बरगदके पेडपर चढे हुए वदरोंने । उन्होंने सलाह की कि देखो हम आप जैसे ही हाथ पैर तो उनके थे जो रातभर ठड मिटाकर आरामसे रहे । हम आप भी क्यो न वैसा ही काम करे ? क्यो व्यर्थमे ठड सहे ? ठीक है । चले कुछ बदर लकडियाँ लाने, सो पासमे जो खेतोमे बाड लगे थे वे सब पटा पटाकर ले आये, ढेर लगा दिया । रातको जब तापने वैठे तो ठड मिटी नही । सोचा कि ठड तो अभी मिटी नही, क्या करें ? तो उनमेसे एक बदर बोला—अरे अभी ठड कैसे मिटे ? अभी इसमे लाललाल चीज तो डाली ही नही । सो वहाँ वहुतसे पटवीजना (जुगनू) उड रहे थे उन्हे पकड पकडकर लकडियोके ढेरमे डाला, फिर तापने बैठे तो भी ठड न मिटी, फिर कहते लगे अभी ठड तो मिटी ही नही । तो एक बदर बोला अरे यो कैसे मिटे ठड ? उन्होने मुखसे फूंका भी था, पहले मुखसे इसे फूंको तब तो ठड मिटे, वह उपाय कर लिया फिर भी ठड न मिटी । फिर बोले अभी तो ठड मिटी ही नही । तो फिर एक वृद्ध बदर बोला—अरे यो ठड कैसे मिटे ? वे दोनो घुटनेकी गाठोपर हाथ रखकर तापने जैसी मुद्रामे बैठे थे तब ठड मिटी थी । उस तरह बैठ गए फिर भी ठड न मिटी । अब बताओ वे और क्या उपाय करें ? सारे प्रयत्न करके तो हार गए, पर ठंड न

मेट सके। तो ठंड न मिटनेका मूल कारण क्या था कि उनको उस लाललाल चीजका (अग्निका) पता न था, ज्ञान न था। तो ऐसे ही समझो कि हम आपको चाहिए क्या? शान्ति, मुक्तिमार्ग, आत्मकल्याण तो यह सब अपने आपके आत्मस्वरूपके अनुभवपर आधारित है। अब कोई अपने आत्माके इस सहज स्वरूपका तो भान न करे, दृष्टि न करे, उस ओर ध्यान ही न जाय, और और ऊपरी सब काम करता रहे तो भला बतलावो उसको यह मोक्षका मार्ग, यह आत्मकल्याणका मार्ग कैसे प्राप्त हो सकेगा? देखो यह आधार है मुक्ति मार्गका कि अपने आत्माके सत्यस्वरूपको जान लें। देखो हम आप सब एक इसी भावनासे तो बैठे है कि वास्तवमे इस आत्माका उद्धार हो और हमारे समस्त दुःख मिट जायें, हमको आत्मीय अनन्त आनन्द प्राप्त हो। ऐसा मनमे भाव है ना? ऐसा भाव करते समय कोई बाहरी दृष्टि ऐसी तो नही है कि मैं अमुक जातिका हू, अमुक कुलका हूं, अमुक मजहबका हू, अमुक जगहका हूं, अमुक व्यापारी हू, ऐसी पोजीशन वाला हू, ये काई बातें नही है। किन्तु एक मात्र यही भावना है कि मेरे आत्माको कोई कष्ट न हो और पूर्ण शान्ति प्राप्त हो।

देखो बस इसी आत्माके नातेसे सब बात समझना, सब बात सुनना, और उसके लिए सब कुछ करें। अन्य बातें चित्तमे न लावें। यदि अन्य बातें चित्तमे लायेंगे, फिर तो शंका है। अनेक जातियाँ है, अनेक कुल हैं, अनेक मजहब है, सब अपना अपना प्रचार करते हैं, सब अपनी अपनी बात बोलते है। तो वास्तविकता कहां है? वास्तविक कल्याणका साधन क्या है? संदेह हो जायगा न? तो बस एक ही काम करें। अपनेको जाति कुल मजहब वाला न समझें, मैं तो एक ज्ञानमात्र आत्मा हू, जिसका काम निरन्तर जानते रहना है, ऐसा मैं एक आत्मा हू, तो मुझ आत्माको शान्ति चाहिए और झंझट कुछ न चाहिए, अशान्ति दूर हो, शान्तिका लाभ हो। तो बस इस आत्माके ही नाते से निरखना। मैं हूं ज्ञानस्वरूप, मैं हू आनन्दमय। सो जब यह उपयोग, यह ज्ञान सारे बाहरी विकल्प तजकर एक निज सहजस्वरूपका ज्ञान करता है तो उसको वह चीज मिल गई, वह आधार मिला कि जिसके बलपर मुक्ति निकट आती जाती है। सो आचार्य संत कहते हैं कि मोहको कृश करना और ज्ञाननेत्रको प्रकट करना, यह ही आत्मा पवित्र है, यह ही आत्मा शिवस्वरूप है, अपने आप अपने सुखको उत्पन्न कर सकने वाला है, शंकर है और यह आत्माका तीसरा नेत्र भी है। नेत्र तो दुनिया परखती है, मगर तीसरा है ज्ञाननेत्र उसको जगावें। विशुद्धभावसे निष्पक्ष दृष्टिसे आत्मकल्याणकी इच्छा रखते हुए जरा इस ज्ञानकी परख करें तो सब अपने आप विदित हो जायगा कि मेरा कल्याण किस स्थितिमे है?

जुगुप्सते संसृतिमत्र मायया तितिक्षते प्राप्तपरीषहानापि।
न चेन्मुनिर्दृष्टकषायनिग्रहाच्चिकित्सति स्वान्तमघप्रशान्तये ।।५१।।

(१६४) कषायनिग्रह बिना पापशान्तिका अनुपाय—

जो मुनि अपने पापोकी शान्तिके लिए कषायके निग्रह करनेका उपाय नही बनाता और अपने मनको, अपने हृदयको, अपने आत्माको निर्मल बनानेका प्रयत्न नही करता ऐसा कोई साधु, यती अगर वह वैराग्यकी बात दिखाये, बडे बड़े परीषह सहनेकी बात दिखाये तो वह सब मायाचार है। क्या चाहिये तुमको ? अपने आपमे अपने आपके इस ज्ञानप्रकाश का अनुभव चाहिए। उसको फिर कुछ भी बनावट, दिखावट सजावट करनेकी इच्छा नही होती। मैं दुनियाको कुछ बनकर अगर दिखाऊँ, मैं दुनियामे अपनी सजावट बनाऊँ, इसकी उसे कतई इच्छा नही, क्योकि वह जानता है कि यह मैं आत्मा अपने गुणोसे अपना फल भोगता हू। दूसरा कोई मेरा क्या कर सकता है ? कुछ भी नही। फिर दूसरेका उसे क्या सकोच, क्या दूसरेसे आशा कि ये लोग मुझे बहुत अच्छा समझें और अगर ऐसी आशा रखते है कि लोग मुझे बडा मानें, अच्छा समझें कि यह बहुत अच्छे साधु है, इस तरह कोई कह दे, ऐसी कोई आशा रखता हो तो इसमे साधुता कतई नहीं है। साधुता वहाँ है जहाँ आत्म-स्वरूपके दर्शन हो और आत्मस्वरूपका गुप्त प्रयत्न हो। यहाँ कोई दिखाने सजानेसे आत्म-कल्याणकी बात नही होती है। यह तो अपने आपके अनुभवसे हुआ करती है। सो मायाचार धर्मके प्रसगमे न हो। जैसे है वैसे बढ़ना करना है। हो तो कुछ स्थिति और दिखाये कुछ तो उससे तो काम नही बनता। तो आत्मकल्याण बस इसीमे है कि आत्माका श्रद्धान, आत्माका ज्ञान और आत्माका आचरण बने। यह है पार करने वाला भाव। दूसरा कोई पार करने वाला भाव नही है। जैसे कहते हैं कि जैसा करोगे वैसा भरोगे। जो लोग मानते कि कोई एक शक्ति है ईश्वर है। जो दूसरोको नरकमे ढकेलता, स्वर्गमे ले जाता, दूसरोको सुखी दुखी करता तो भला बताओ इसमे सब जीवोंके प्रति उदारता कहाँ रही ? उसकी उदारता तो तब कही जाय कि किसीकी करतूत तो हो नरक जानेकी और भेज दे स्वर्ग, पर ऐसा वह कर नही सकता। जो नरक जानेका काम करता उसको वह स्वर्ग नहीं पहुचा सकता तो इसमे तो उस प्रभुकी असमर्थता जाहिर हुई। यह तो मनुष्यो जैसा काम हुआ। तो देखो ईश्वर किसीको फल देता या नही—यह तो अलग बात है, पर इतना निश्चित हो गया कि यह जीव जैसा करता है वैसा फल पाता है। तो हम आपका कर्तव्य है कि अपनी करनी सुधारें और अपने आत्माको ऐसा निरखें कि मैं ज्ञानमात्र हू। तो अपने आपकी संभाल

बस यह ही है एक आत्मकल्याणका उपाय। तो जो मुनि कषायोंका निग्रह नही करते, अपने मनकी चिकित्सा नही करता तो वह दिखावटसे इस संसारके वैराग्यकी मुद्रा दिखाता है और परीषह सहन करनेकी मुद्रा दिखाता है तो वह सब उसका मायाचार है। मनमें और वचनसे और कहे और करे कुछ और, यही तो मायाचार है। मायाचारसे तप आदि करनेमें कुछ भी लाभ नही है। अतः ज्ञानी साधु सत मायाचार रंच भी नही करते, वे तो सर्व विभाव पापों की शान्तिके लिये दुष्ट कषायोका निग्रह करके अपने मनको नियन्त्रित कर देते है, अत सहज ज्ञानमात्र स्वभावकी आराधना करके निर्मल हो जाते है। यही कल्याणका मार्ग है।

(१६५) मुनिधर्ममें शान्तिधामके दर्शन—

यह मुनिधर्मका व्याख्यान चल रहा है, यह किसको बताना ? कौन बता रहा ? मुनि महाराज, आचार्य। किसको बता रहे ? मुनिसमूहको। हे आत्मकल्याणके साधक पुरुषो! अपने अन्दर आत्मदृष्टि रखनेका अभ्यास बनाओ। और कही कुछ सार नही। सार है तो चैतन्यमात्र एक अपने अन्तःस्वरूपका दर्शन। कहते है ना कि ज्ञानी पुरुषोको तीन लोकका वैभव जीर्ण तृणके समान असार मालूम होता है। तो बात सत्य है। तो जीर्ण तृणसे भी जैसे गुजारा नही ऐसे ही तीन लोकके सारे वैभवसे भी इस जीवका गुजारा नही। क्योकि इसे चाहिए शान्ति, और शान्तिका धाम है यह स्वयं। अरे अपने आपमे अपने उपयोगको रमायें, तृप्त रहे, इसके लिए कष्ट क्या है ? आखिर काम यह ही आयगा। यह अन्तःस्वरूप ही अपने काम आयगा, दूसरा कुछ अपना काम न देगा। इसलिए अपना निर्णय बनावें कि कुछ करना पड रहा है यह बात अलग है, मगर श्रद्धा सही बनावें। श्रद्धामे तो साधुजनोसे कम गृहस्थजन न रहे। जो श्रद्धान मुनियोका वही गृहस्थोका। बस करनेकी बात है। चूँकि श्रावकोको यहाँ बहुत सग लगा है, घर है, दुकान है। परिवार है, लोग हैं, कमाई है, धन है, धनका रखना है, सारी बातें है, इसलिए एक अन्तर आ जाता है कि वह गृहस्थ अपने इस विशेष अतस्तत्वके दर्शनमे बढ़ नही पाता। और गुरुजनोको निर्ग्रन्थता है तो उनको किसी प्रकारकी चिन्ता नही, कुछ बात नही, वे अपने ज्ञानध्यानमे लीन हैं। हाँ जब कभी क्षुधा सताती, जिसके बिना शरीर टिकता नही तो वे भिक्षावृत्तिसे जाकर जो मिला यथावत आहार कर आते है। तो अतरंग दृष्टिका अभ्यास मुनिजनोके विशेष हो पाता है। इसलिए उनको ही यह उपदेश है कि हे साधुपुरुष अपने आपमे विराजमान उस सहजस्वरूपमें रमनेका यत्न करो। जैसे मानो निर्धूल शिखा हो वह जैसे उज्ज्वल है ऐसे ही एक कलमस मलिन जो चित्प्रकाश है वह है हमारा स्वरूप। उसको अपनावें। यह ही है उन मुनिजनोका

अभ्यास । अब कोई मुनि निर्ग्रन्थताका तो भेष धारण किए हो और उसके मनमें चाह बनी हो लौकिक चीजोकी, चाह बनी हो लौकिक कामोकी तो उससे उनको क्या लाभ है ? मोह का कृश करें, शरीरका कृश करनेसे क्या लाभ है ? शरीरमे जो कुछ होता हो, हाँ मगर साथ मे यह देखें कि मोह दूर हुआ कि नही । अगर मोह दूर नही होता और बाहरी बाहरी तपश्चरण खूब करें तो भला बतावो वे कैसे मोक्ष पा लेंगे ? जैसे मूलमें अग्निकी कणिका हो ईंधनमे और फिर पखा झेलने वगैरहके अनेक काम करे तब तो वह उस चीजके जला देनेका काम कर सकेगा और यदि मूल चीज अग्निकी कणिका ही पता न हो, उसको डाले ही नही तो फिर उसका सारा श्रम व्यर्थ जायगा । ठीक ऐसे ही जब मूल चीज अपने आत्माके सहज स्वरूपका श्रद्धान हो, उस ही अनुरूप ज्ञान बने, फिर उस ही अनुरूप आचरण बने तब ही तो मुक्तिकी प्राप्ति हो सकेगी, अन्यथा मोक्षका मार्ग तो न मिलेगा । हाँ भले ही कुछ पुण्यबध हो जायगा उन बाहरी क्रियावोसे, मगर उससे आत्माको मुक्ति तो न मिल जायगी ।

(१६७) कषायोंके निग्रहका ध्येय न रखकर परीषहविजय आदि कार्योंका कारण मायाचार—

यदि कोई साधु पापोकी शान्तिके लिए दूषित कषायोका निग्रह नही करता, अपने आपको निर्मल नही करता तो यह समझो कि वह जो इस ससारकी चीजोके प्रति जो घृणाका और परीषह सहन करने आदिका प्रदर्शन करता है वह केवल उसका ऊपरी दिखावा मात्र है, वह केवल मायाचारसे ऐसा करता है, न कि अपने अन्तःस्वरूपकी प्रेरणासे । पापोकी शान्तिके लिए प्रथम बात है मनकी पवित्रता, और उसका साधन है सत्य ज्ञान कर लेना । जानें कि यह ससार है, असार है, इस भवमे मरणके लिए हम आये है, यहाँसे निकल जायेंगे, यहाँसे आखिर मेरा कुछ काम नही । जो सही भाव बनाया, जो ज्ञानका सस्कार बनाया वह तो है मददगार मगर यहाँका एक धेला भी कुछ साथ नही जाता । जिस शरीर को इतना सजाया जाता, जिसकी इतनी ज्यादह फिकर की जाती, रातदिन जब चाहे जो चाहे इसे खूब खिलाया पिलाया, खूब इसका साज श्रृङ्गार किया, इसपर अनुपम हीरा, रत्न, मोती चिपकाये, जिस शरीर की इतनी शोभा बढायी, जिसको अपना सर्वस्व समझा उनको मरण समयमे यदि यह जीव कहे कि रे काया मैने जीवनभर तेरी बडी सेवा की, तेरे पीछे रात-दिन लगा रहा, अब तो तू मेरे साथमे चल । तो मानो यह शरीर दो टूक जवाब देता है कि रे जीव तू पागल मत बन । तू चाहे अपना धर्म छोड दे, पर मै अपना धर्म नही छोड़ सकता । शरीरका धर्म है किसीके साथ न जाना । तू चाहे अपने कुलकी बात छोड दे, पर

मैं नही छोड सकता । मेरे (शरीर) कुलकी बात है किसीके साथ न जाना । जब मैं बडे-बडे तीर्थकरो तकके साथ तो गया नही, वहाँ भी कपूरवत् उड गया, तब फिर तेरे जैसे किंकर के साथ तो मै जाऊँगा ही क्या ? तो अब समझलो कि मरण होनेपर जब यह अपना अत्यन्त निकट सम्बंधी एकक्षेत्रावगाही यह शरीर भी साथ नही जाता तो फिर अन्यकी तो बात ही क्या कही जाय ? आप लोग शायद सोचते होगे कि ये तो सब असगुनकी बातें कही जा रही है, पर असगुनकी बाते नही है । ये सब सही बातें हैं, और सगुनकी बातें है ।

देखिये आप लोग भी तो जब कभी किसी मुर्दाको देख लेते तो उसे सगुन मानते कि असगुन ? सगुन मानते तो फिर यहाँ भी जो मरण सम्बन्धी बातें कही जा रही उन्हे भी सगुनकी बातें समझें । जिन बातोसे आत्मस्वरूपमे मग्न होनेकी प्रेरणा मिले वे सब सगुन है । जो ऐसी बात अपने चित्तमे रखता हो कि अरे यह मृत्यु तो मेरे सिरपर मडरा रही है, काल जब चाहे झकझोर दे तो वही व्यक्ति धर्म कर सकता है, और जो यह जानता है कि मुझे तो अभी बहुत दिन जीना है, जिस गतिसे अकाल मरण नही होता उस गतिसे मोक्ष भी नही होता और जिस गतिमे अकाल मरण होता उस गतिसे मोक्ष होना सम्भव है । अब उसमे भी यथायोग्य बात समझना, सबके प्रति यह बात लागू नही होती । तो यह मौत सामने आ जाय वह तो हमारे लिए सगुन है । मौतकी याद भी आत्महितकी साधक है । आत्महित अनाकुलतामे है । अनाकुलता कषायनिग्रहमे है । अत कषायनिग्रह साधुका आवश्यक कर्तव्य है । कषायनिग्रहके प्रयत्नमे ही परीषहविजय आदि होते है ।

(१६८) मृत्युग्रस्तताके ख्यालमे विषयानासक्तिकी प्राकृतिकता—

यह ध्यान आता जब कि अब तो हमारा मरण निकट है, हमारा बचना कठिन है तो उस समय परिणामोमें कितनी निर्मलता होती है ? अरे क्या करना अब किसी चीजका ख्याल करके ? देखो इसके लिए एक कथानक है कि कोई एक सन्यासी बड़ा रसीला और कामोत्पादक भोजन प्रतिदिन किया करता था । तो उसके पास एक गृहस्थ एक दिन पहुचा और पूछ बैठा कि महाराज ! आप प्रतिदिन इस तरहका स्वादिष्ट कामोत्पादक भोजन किया करते फिर भी आप अपने आचार विचारमे, धर्मध्यान आदिकके कामोमे किस प्रकारसे ठीक ठीक रह सकते होंगे, इसमे मुझे सदेह है ? तो साधुने (संन्यासीने) वहाँ तुरन्त तो कोई उत्तर न दिया, पर यह कहा कि अच्छा फिर इसका उत्तर बता देंगे । वह गृहस्थ चला गया । कुछ दिन ब द फिर वही गृहस्थ फिर आया तो उस सन्यासीने तुरन्त उसका हाथ पकड लिया और गदेलीमे कुछ रेखायें देखकर कहा—अरे तरी मौत तो बिल्कुल ही निकट आ गयी, देख

केवल ६ माहका ही जीवन तेरा और शेष रह गया है। अब वह गृहस्थ सन्यासीकी बात सुनकर चिन्तातुर हो गया, उदास चित्त होकर घर लौट आया। उसे कुछ सुहाये ही नही। सन्यासीकी बातपर उसे पूर्ण विश्वास जम गया। वह चिन्ता चिन्तामे ही रात दिन गलने लगा। यद्यपि उसके खाने पीने ऐश आराम आदिके बडे सुन्दर साधन थे, किसी चीजकी कमी न थी, फिर भी वह चिन्तित रहनेके कारण दुर्बल ही होता गया। एक दिन वह सन्यासी फिर मिला उस गृहस्थको और पूछ बैठा कहो, भाई तुम इतना दुर्बल क्यो होते जा रहे ? तुम्हारे पास तो खाने पीनेकी कुछ कमी नही फिर दुर्बल होनेका क्या कारण ? तो उसने बताया महाराज मेरी जिन्दगी समाप्त होनेमे अब तो केवल एक माहका ही समय शेष रह गया इस कारण उसकी चिन्ता होनेसे मेरा शरीर इतना दुर्बल होता जा रहा है। मुझे अब किसी भी प्रकारके भोगसाधन नही रुचते, खाना पीना भी नही सुहाता। तो सन्यासीने कहा—बस मेरी भी यही बात है। जब मैंने जान लिया कि मेरी मौत तो मेरे सिरके ऊपर मडरा रही है, न जाने कब झकझोर दे, तो फिर सारे स्वादिष्ट व्यञ्जन खाते हुए भी वे मुझे रुचते नही। तो बात यह कही जा रही थी कि जिसको यह ध्यान बना है कि मेरी मृत्यु तो अत्यन्त निकट है उसके ही चित्तमे यह धर्मका काम रुचता है और जो यह जानता कि मेरे मरणका तो अभी बहुतसा समय पडा है तो उसके चित्तमे धर्मकी बात घर नही करती।

> हिंसा प्राणिषु कल्मष भवति सा प्रारम्भतः सोऽर्थतः,
> तस्मादेव भयादयोऽपि नितरां दीर्घा ततः ससृति ।
> तत्रासातमशेषमर्थत इद मत्वेति यस्त्यक्तवान,
> मुक्त्यर्थी पुनरर्थमाश्रितवता तेनाहत सत्पथ. ॥ ५२ ॥

(१६६) कल्मषताका मूल स्रोत धनसंपत्ति—

मुनिधर्मके व्याख्यानमे आज यह बात बतलायी जा रही है कि इन मुनिराजोने धन वैभवका त्याग क्यो कर डाला ? आजकल तो प्रायः साधु सन्यासियो को अनेक जगह देखते कि वे जूते भी पहिनते, वस्त्र भी पहिनते, उनके पास रुपये पैसे भी रहते, बाग बगीचे भी रहते और महत भी कहलाते। क्या वजह है कि बहुत पहले जमानेमे साधु संन्यासी समस्त बाह्य पदार्थोंका त्याग किया करते थे ? तो यहाँ उसका कारण बता रहे हैं। देखो पापका कारण है सम्पदा। प्राणियोकी हिंसा यह एक बहुत बडा पाप है। और यह हिंसा बनती है प्रकृष्ट आरम्भसे। जिसके पास जितना अधिक आरम्भ होगा—खेती भी, बगीचा भी, व्यापार भी, फैक्टरी आदिक नाना प्रकारके आरम्भ जिसके लगे हो उसीके तो ऐसी हिंसा बनती है।

तो हिंसा हुई आरम्भसे और आरम्भ होता है धनसे। धन हो तब ही तो कोई आरभ करेगा। तो आरम्भ होता है धनसे और इसी कारण यह धन व्यग्रताका कारण होता है। धनसे भय आदिक होते हैं। रागद्वेष इष्ट अनिष्ट, पक्ष पार्टी आदिक बडी-बड़ी बातें होती है। अभी-अभी का समाचार चल रहा है कि अमेरिकाके राष्ट्रपति निक्सनपर एक महान् अभियोग चलाने की बात है। उससे कहा गया है कि तू इस्तीफा दे दे। नही तो महाभियोग चलेगा, सो वह इस्तीफा दे रहा है। तो देखो ये धन वैभवकी बातें ही तो हैं, उसे भय भी है और कितनी ही तरहके जाल बिछाने पडते हैं ऊपर नीचे। तो धनसे भय आदिक होते है और भय आदिक होनेसे राग द्वेष मोह होनेसे दीर्घ संसार बढ़ता है, जन्म मरणकी परम्परा चलती है और फिर उस जन्म मरणकी परम्परामे दु:ख ही दु:ख है।

(१७०) विभावका राग ही अपनी हिंसा—

अभी आप देखो—मनुष्य हुए, मोह ममता कर रहे, धन वैभव मिला, उसीमें उपयोग दे रहे मनमे यही है कि बस करो लौकिक उन्नति, लोकमे कुछ अच्छा कहलानेकी बात मनमे है। ठीक है खूब करते जावो लौकिक उन्नति, पर यह सब क्या है? एक स्वप्न जैसी बात है। जैसे स्वप्नमे देखी हुई बात क्या है? एक कल्पना, ऐसे ही यहाँकी ये दिखने वाली बातें क्या है? एक कल्पना। सो नाना प्रकारके क्लेश है यहाँ। यह ही सब जान करके जिन महापुरुषोंने ससारसकटोसे मुक्ति पानेकी इच्छा रख कर इन सबको त्याग दिया और जिन्होने इस धनका आश्रय किया, इस वैभवका आश्रय किया उन्होंने मोक्षमार्गका विनाश किया। किसने? जो हिंसा आदिक पापोमे, आरम्भमे, उसके संचयमे अपना उपयोग जुटाते है। यहाँ बात तो कह रहे हैं मुनिजनोके संबन्धमे, पर यह न समझना कि उससे केवल मुनियोका बिगाड है। सबका बिगाड है, पर गृहस्थ एक ऐसा धर्म है कि जहाँ इसके बिना नही चल रहा। चल नही रहा इस कारण परिग्रहमे फसाव बनता जाता है। जैसे हिंसा चार प्रकारकी कही है—सकल्पी, आरम्भी, विरोधी और उद्यमी। सकल्पी हिंसा तो बहुत ही बुरी है। इरादा करके किसी जीवका प्राणघात करना संकल्पी हिंसा है। इस संकल्पी हिंसा का त्याग तो प्रत्येक गृहस्थको करना ही चाहिए। अपना इरादा क्यो खराब करना? अब रही तीन हिसा। आरम्भी हिंसा—खाने पीनेकी चीजोका, रसोईका, झाडू बुहारी आदिके कार्योंमे हिंसा बनती ही है। उद्यमी हिंसा—खेती, व्यापार आदिके काम करते हुएमे अनेक जीवोकी हिसा होती ही है। उनसे गृहस्थ बच नही सकता। विरोधी हिंसा—कोई शत्रु या डाकू गृहस्थका प्राणघात करने या धनका हरण करने आ जाय तो गृहस्थ उसका मुकाबला

करता ही है । लाठी, तलवार, बदूक ग्रादि शस्त्रोसे उसका मुकाबला करना ही है । तो इस विरोधी हिंसासे भी गृहस्थ बच नही सकता । इस प्रकार इन तीन प्रकारकी हिंसावोसे गृहस्थ नही बच पाता, हाँ सकल्पी हिंसाका त्यागी गृहस्थ हो सकता है । इससे गृहस्थने सकल्पी हिंसाके त्यागका प्रण किया है । तो ऐसे ही सब बातोमे समझिये । हम परिग्रह मे रहते हैं और रागद्वेषके बीच रहते है तो ऐसा नही है कि गृहस्थोको कही ऐसी इजाजत मिल गई हो कि तुम करते रहो ऐसी हिंसायें, इनसे तुम पार हो जावोगे । ऐसी बात नही है, पर गृहस्थ उनका त्याग नही कर पाता । तो संकल्पी हिंसाका त्याग होना अनिवार्य है, ऐसे ही श्रद्धामें समस्त परिग्रहोका त्याग अनिवार्य है विवेकी पुरुषोको ।

(१७१) अस्वकी स्वीकारतामे ही उलझन—भीतर सच समझें कि मैं एक चैतन्यस्वरूप हूं । जब यह कर्मोदयकी झाँकी मेरी चीज नही तो फिर ये बाह्य पदार्थ मेरे क्या हो सकते हैं ? यही तो सोचा था कल्याणार्थी जनोने, तब ही तो उन्होने इन सबका त्याग कर दिया । एक राजा साहब जंगलमे चले जा रहे थे । वहाँ उन्होने क्या देखा कि एक नई उम्रके सुन्दर बदनके मुनिराज कायोत्सर्गसे खडे हुए तपश्चरण कर रहे थे । राजा मुनिराजके पास पहुचा, मुनिराजपर दया आयी । वहाँ राजाने मुनिराजके पास जाकर नमस्कार किया, निवेदन किया कि महाराज आप इतनी कठिन धूपकी वेदना क्यो सह रहे हैं ? ऊपरकी तेज धूप, नीचेकी तेज गर्मी, खुला बदन, क्यो व्यर्थं कष्ट उठा रहे ? तुम हमारे साथ चलो, हम सब प्रकारकी सुख सुविधायें दे देंगे । तो मुनिराजने उन समस्त सुख सुविधावोके लिए मना कर दिया । राज बोला—अच्छा तो कमसे कम एक छाता तो ले लो, ऊपरकी धूप तो बच जायगी । अच्छा ठीक है दे देना छाता, मगर नीचेकी गर्मी कैसे मिटेगी ? महाराज रेशमके जूते बनवा देंगे । ठीक है बनवा देना, मगर बदन खुला है सो उसकी गर्मी कैसे बचेगी ? महाराज कपडे बनवा देंगे ? फिर तिष्ठ तिष्ठ कौन कहेगा ? भोजन कौन बना कर दे देगा ? महाराज आपका विवाह करा देंगे । ठीक है, करा देना विवाह, मगर जब बच्चा बच्ची होंगे तो उनके शादी ब्याहका काम कैसे होगा ? महाराज उसके लिए १०—२० गांवोकी जायदाद और लगा देंगे । ठीक है लगा देना । मगर यह तो बताओ कि अगर परिवारमे कोई मर जायगा तो फिर रोना किसे पडेगा ? महाराज रोना तो आपको ही पडेगा । दूसरा कोई रोने न आयगा । आपके सब काम हम पूरे कर सकते हैं मगर यह रोनेवाला काम तो हमसे न बन पायगा । रोना तो आपको ही पडेगा । तो भाई हमे ऐसी छतरी न चाहिए जिससे कि रोने तक की नौबत आ जाय । आप अपने घर जाइये । हमे इसी तरह ठीक है । तो देखो

इस लोकमें यह जीव अकेला ही जन्म मरण करता है, इसका कोई साथ नहीं निभा सकता। जिस जन्ममे गया अकेला गया, अकेला ही जन्मा, अकेला ही दुःख भोगा, अकेला ही मरा। इस जीवका कोई दूसरा सहाय है क्या ? फिर यहाँ क्यों भ्रम बनाया जा रहा कि मैं बड़े मौजमे हू ? मेरे बडे सहायी है, मेरे खूब रक्षक है ?

बात यहाँ यह कही जा रही है कि अपने आपपर दया करो। ये स्वाध्याय संयम, दान, पूजा आदि धर्मके काम कोई दिखावेकी चीज नही हैं। इन्हे एक रूटीन (दिन-चर्या) न समझें। अपने अन्दर यह विचार करो कि मेरा कल्याण कैसे हो, मुझको शान्ति कैसे मिले ? ये जन्म मरणके दुःख, ये नाना प्रकारके दुःख मेरे कैसे दूर हों ? इस बातका विचार करना है, घर जाकर दुकानमें काम धधेमे रहकर, कही बैठकर चिन्तन करना अपनेमें सच्चा ज्ञान प्रकाश पाना। तो मुनिराजोंने यह सब सोचकर सर्व कुछ त्याग दिया। क्या त्याग दिया ? जो जो चीजें आवश्यक थी, जो जो कुछ मिला था उस सबका त्याग कर दिया। इस पाये हुए देहसे भी ममता छोड दी। तो सर्व प्रकारके बाह्य अतरंग परिग्रहोंका त्याग संसारके संकटोंसे छुटकारा पानेके लिए किया।

दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये,
शय्याहेतु तृणाद्यपि प्रशमिनां लज्जाकरं स्वीकृतम्।
यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं साम्प्रतम्,
निर्ग्रन्थेष्वपि चेत्तदस्ति नितरां प्रायः प्रविष्टः कलिः ॥५३॥

(१७२) परिग्रह कलकका विवरण—

एक तृण मात्र भी परिग्रह न होना चाहिए, जिनको उत्तम ध्यान चाहिए। परिग्रह मायने ममता, मूर्छा। देखो यदि शैया आसन आदिकके लिए जो तृणशैया बतायी गई करणानुयोगमे, मुनिराज तृण पुराल वगैरहका उपयोग कर सकते हैं फिर भी यदि उस तृणमें भी थोडा बहुत राग होता है, मूर्छा होती है तो वह तृण भी परिग्रह बन जाता है और ऐसा तृण परिग्रह भी दुर्ध्यानके लिए है, पापका कारण है। उससे निर्ग्रन्थपनेमे हानि है। तो जो शान्त योगी उत्तम ध्यान वाले हैं वे इस तृणमात्र परिग्रहको भी दुःखदायी मानते हैं, फिर भला बतलाओ गृहस्थोके योग्य जो अन्य स्वर्णादिक है उनको यदि ग्रहण किया जाय तब तो समझिये कि यह तो कलिकालका प्रवेश हुआ, उसका यह सब माहात्म्य है। साधुके पास ये धन धान्य न होने चाहिएँ अन्यथा साधुपना ही नही है।

यहाँ यह बतलाया जा रहा कि परिग्रह अतरग बहिरङ्ग यह जीवको दुःखदायी

है । आजकल भी देखते हैं और पुराणोमे भी पढते है कि राजा महाराजा कही उपदेश सुनकर वहीके वही विरक्त हो गए । न सम्हालनेकी बात कोई सोची और न किसीसे कुछ कहने सुननेकी बात, बस विरक्त हो गए । कोई तीन लोग थे, एक था बालक, एक जवान और एक वृद्ध । तीनो एक ही जगह बैठकर प्रतिदिन स्वाध्याय किया करते थे । उन तीनोमे परस्पर यह बात तय हुई कि अपन तीनो लोगोमे से कोई पहले विरक्त हो तो वह बाकी दो लोगोको भी विरक्त होनेके लिए सम्बोधे । अब उनमे से एक व्यक्ति जो बूढा था उसको कुछ वैराग्य जगा तो अपनी सारी जायदाद अपने लडकोके नाम करवाकर, उन्हे सब कुछ सम्हलवा कर, सब हिसाब किताब समझाकर विरक्त होकर चल दिया । रास्तेमे पडती थी उस जवान मित्रकी दूकान । उससे उस बूढेने कहा कि भाई हम तो विरक्त होकर जा रहे हैं किसी तीर्थस्थानमे, क्या आप भी चलेंगे ? तो वह जवान तुरन्त ही दूकान से खडा होकर उस बूढेके साथ चल दिया । वह बूढा बोला—अरे भाई यह क्या कर रहे ? पहले अपनी सारी जायदादका ठीक ठीक इन्तजाम कर दो, बच्चोको सब हिसाब किताब समझा दो तब फिर विरक्त होकर घरसे चलो । अरे भाई जिसे छोडना ही है उसका क्या विकल्प करना, खुद ही सभालने वाले संभालेंगे । अब दोनो व्यक्ति विरक्त होकर जा रहे थे । रास्तेमे उस मित्र बालकका घर पडा । वह बालक वही खेल रहा था । उससे दोनो व्यक्तियोने बताया कि हम लोग तो विरक्त होकर जा रहे हैं, क्या तुम भी चलोगे ? तो वह बालक वही बल्ला डडा छोडकर उनके साथ चल पडा । दोनो व्यक्तियोने कहा—अरे बालक तुम यहां क्या कर रहे ? अभी तो तुम्हारी सगाई हुई है, विवाह होनेके दिन निकट हैं, पहले विवाह कर लो, सारी सम्हाल कर दो, फिर विरक्त हो जाना । तो वह बालक बोला—अरे जिस कीचड़को छोडना ही है उसमे फसनेसे क्या लाभ तो भाई इस ज्ञानप्रकाशकी महिमा ही निराली है । यह ज्ञानप्रकाश जिन्होने पाया वे मुनिजन समस्त धन वैभव आदिक बाह्य पदार्थों का परित्याग करते हैं ।

कादाचित्को बन्धः क्रोधादे कर्मण सदा सगात् ।
नातः क्वापि कदाचित्परिग्रह ग्रहवता सिद्धिः ॥ ५४ ॥

(१७३) परिग्रहग्रस्तोंके निरन्तर बन्धनविपत्ति—

परिग्रहसे निरन्तर पापका बध होता रहता है । देखो कभी विकट क्रोध आ जाय किसी पर तो उस क्रोधसे कभी ही बध होता है । क्रोधजन्य बध कभी-कभी होता, लेकिन परिग्रहका सग, लोभ ममता, इन बाह्य बातोके सम्बन्धसे बध निरन्तर होता रहता है । क्या

सोते हुएमे भी होता ? हाँ होता। संस्कार बना हुआ है ना। ऐसी ही एक सभा भरी हुई थी, बहुतसे लोग उस सभामे बैठे हुए थे, तो एकके पीछे एक व्यक्ति ढंगसे बैठा हुआ था, जैसे कि आप लोग इस समय सभामे बैठे हुए हैं। वहाँ वक्ता उपदेश कर रहा था। उस सभाके मध्य बैठे हुए एक बजाजको नीद आ गई, नीदमे कुछ स्वप्नसा आने लगा। क्या स्वप्न आया कि कोई ग्राहक कपडा खरीदने आया है। ग्राहकने पूछा—भाई यह कपडा क्या भाव दोगे ? १०) गज। क्या ८) मे दोगे ? नही देंगे। फिर कितनेमे दोगे ? ९) गज, ग्राहक चल पड़ा। तो उस बजाजने अपने सामने बैठे हुए किसी भाईका कुर्ता फाड़कर कहा—अच्छा भाई लो ८) गजमे ही ले जावो। जिस व्यक्तिका कुर्ता फाडा गया वह नाराज होकर बोला—अरे यह तुमने क्या कर दिया ? कुर्ता क्यो फाड दिया ? तो वह बजाज बोला भाई स्वप्नमे ऐसी बात हो गई। हमारी गल्ती माफ करो, हम तुम्हे दूसरा इसी तरहका कुर्ता दे देंगे। देखिये—यह बात एक बजाजके लिए ही नही कही जा रही। यही बात सबकी है। किसीको बुरा न मानना चाहिए। प्रयोजन कहनेका यह है कि इस परिग्रहके सगसे, परिग्रहके व्यामोहसे निरन्तर बंध होता है। इस परिग्रहके संचय करनेसे लाभ कुछ नही है, बल्कि इसके जालमे फंस कर तो इस जीवकी बरबादी है। बस यह कल्पना ही परिग्रह है, बाहरी चीजें परिग्रह नही।

सो क्रोधसे, मानसे, मायासे, लोभसे इस जीवको निरन्तर बंध होता रहता है। उसका सस्कार बहुत बुरा है। बंध तो सभी कषायोंसे होता है, मगर विशेषतया बात यह कही जा रही है कि क्रोध कभी होता है, कभी उमडता है। मान भी कभी होता है, मगर परिग्रहकी आसक्ति तो चित्तमे निरन्तर रहती है। अभी देखो किसी-किसी बच्चेके चित्तमें निरन्तर खाने पीनेका ही सस्कार बना रहता है। कोई कोई बच्चे तो जब देखो खरबूजेके बीज ही चुगते रहते है, कभी कुछ खाते रहते है, कभी कुछ। अभी खाना खाया, फिर चाट पकौडी खायी, फिर दाने चुगे। तो उनके खाने पीनेका सस्कार निरन्तर चलता रहता है। जब चित्तमें ऐसा खाने पीनेका ही संस्कार बना हुआ है तो भला सोचो तो सही, जहाँ विषयोका संस्कार, खानेकी इच्छाका संस्कार बना है वहां तो बन्ध निरन्तर है और आत्महितकी धुनका अवसर वहा नही मिल पाता, इसीलिए तो बताया है कि इन इच्छावोको कम करें, आवश्यकताओको कम करें। धन अगर खूब आता है तो उसे धर्मायतनोमे खर्च करें। अपने विषयसाधनोमे, भोगोपभोगके साधनोमे न लगावे, धर्मायतनोमे खर्च करनेके लिए अपना उत्साह रखें। इन परिग्रहोका त्याग करनेसे शान्ति मिलती है; इसीलिए मुनिराजोंने सर्व प्रकारके परिग्रहोका त्याग किया।

मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषो विशेषतो मोक्षनिषेधकारी ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो मुमुक्षुर्भवेत्किमन्यत्र कृताभिलाष ॥ ५५ ॥

(१७४) अभिलाषाकी अनर्थताका चित्रण—

इस जीवको सबसे बडा कष्ट है अभिलाषा, आशा, प्रतीक्षाका। आशाका कितना कष्ट होता है सो इस ही बातको जान लो कि आशा करने वाला पुरुष अपना कितना समय गवाता है ? उसका बहुतसा समय बरवाद जाता है। किसी भी पदार्थकी आशा, धनकी आशा यशकी आशा आदिक किसी भी प्रकारकी अभिलाषा हो तो वह जीवको व्यथित करनी है। यहाँ कह रहे कि और की तो बात क्या, मोक्षमे भी अगर मोहसे अभिलाषाका दोष है तो वह मोक्षका निषेध करने वाला है अर्थात् उसको मोक्ष न होगा, जब छोड़ेगा तब होगा। यहाँ मोहात् शब्द दिया है। मोक्षकी अभिलाषा तो होती है ज्ञानीको। मेरेको मोक्ष हो, पर मोक्ष की अभिलाषा होना, जैसे सुन रखा है कि मोक्षमे बडा सुख है, स्वर्गसे ज्यादह सुख है, कोई अच्छी जगह है, इस तरहकी जो अभिलाषा है उसमे दोष है। एक पुरुष मदिरमे बहुत कहे कि हे प्रभो, मुझे मुक्तिकी चाह है और कुछ मुझे चाह नही। मुझे मुक्ति प्राप्त हो। यही शब्द वह रोज रोज बोले। एक दिन मानो उसकी परीक्षा करने एक देव आया, बोला कि तुम जो रोज रोज भगवानसे प्रार्थना करते रहे कि हे भगवन ! मुझे मोक्ष मिले, और कुछ न चाहिए तो तुम्हारी उस प्रार्थनाको भगवानने सुन लिया है। हम तुम्हे लिवाने आये है, चलो हमारे साथ मोक्ष। तैयार हो ना ? हाँ हाँ तैयार हैं। तो देखो ऐसी तैयारी करना है तुम्हें कि घर छोड दो, परिवार छोड दो, गाँव छोड दो, सब कुछ छोडकर चलो हमारे साथ। वह पुरुष बोला कि भाई हमे ऐसी मुक्ति न चाहिए। जिस मुक्तिमे घर, परिवार, धन दौलत सब कुछ साथ जाय ऐसे ढगकी मुक्ति मिले तब तो हम तुम्हारे साथ मुक्तिमे चलनेके लिए तैयार हैं। तो देखो रोज रोज मुखसे भी बोलते, पर वहाँ इस तरहका मोह बसा है कि जैसे मानो अच्छी जगह है शिमला, ठडी जगह है उससे और अच्छी जगह है स्वर्ग। मोक्ष उससे और अच्छी जगह है, ऐसा कुछ अदाज करके मोक्षकी बात लोग किया करते है और उस मोक्षकी अभिलाषा करते हैं, पर मोक्ष क्या कहलाता है ? मोक्ष मायने कैवल्य अकेलापना, जहाँ कुछ भी साथ नही है, न देह है, न कर्म है, न लोग हैं, केवल एक अकेला। रहते तो वहाँ अनेक सिद्ध, मगर "सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन।" दूसरी बात—उस मोक्षकी भी इस ढगसे कोई इच्छा करे, चाह तो इच्छा तो एक चारित्रमोहकी परिणति है, इसीको अकलक देवने कहा कि जिसको मोक्षकी भी आकाक्षा हो वह मोक्षको प्राप्त नही कर

सकता। और फिर देखो इच्छा क्या चीज है? रागद्वेष मोह विकार, इच्छा, काम आदिक है। मैं तो एक चेतन हू मेरा स्वरूप तो एक चेतना है। उसमे तो स्वरूपमे विकार नही। यह बला क्या आ गई जिसके कारण इतना दुःखी होना पडा? यह बला क्या? जिस भावसे हमने कर्म कमाया था, बांधा था उस ही प्रकारका उनमे अनुभाग पडा था, वही उदयमें आया, वही प्रतिफलित हुआ। हम ढक गए और अधीर होकर उसको अपना मानने लगे। मैं यह हू, बस विपत्ति लग गई। मैं मैं तो सब करते। पर लोग किसको मैं मैं मान रहे है वह मैं नानारूप बना हुआ है। वस्तुतः जो एक अपने ही चित्स्वरूप, अपने ही सत्त्वके कारण जो एक चित्रस्मि, चैतन्य आलोक है तन्मात्र कोई नही स्वीकार करता कि यह मैं हूं। नाना पर्यायो रूप मान रहा जीव, तो उसका फल है संसारमे जन्म और मरण। तो बात यह कह रहे है कि ऐसी जगहमे अभिलाषा कोई करे तो वह तो बडे दोषकी ही चीज है। अतएव अध्यात्ममे रत होना चाहिए। जो मोक्षकी इच्छा रखता है उसको एक आत्मस्वरूप को निरखना चाहिए और उसमे लीन होते रहना चाहिए।

परिग्रहबलवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो,
यदीन्द्रिय सुखं सुख तदिह कालकूटः सुधाः।
स्थिरा यदि तनुस्तदा स्थिरतर तडिड्डम्बरम्,
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदिन्द्रजालेऽपि च ॥५६॥

(१७५) अग्निमें शीतलताकी अशक्यताकी तरह परिग्रहवानोंके कल्याणकी अशक्यता—

परिग्रह परि समन्तात ग्रहणापरिग्रहः अथवा कहो कि जो चारो ओरसे ग्रहण करे, दबाये अथवा चारो ओरसे ग्रहण करना, यह मिला वह मिला, भावना वासना, परपदार्थोंमें ममता होना परिग्रह है। सो परिग्रहवान पुरुषको यदि शिव मिलता, मोक्ष मिलता, कल्याण मिलता, मगल लाभ होता तब तो कह देना चाहिए कि अग्नि भी शीतल हो सकती है। एक अलकारमे कह रहे है—अग्नि कही शीतल नही होती। आप कहे कि उसे पानीसे बुझा दें तो शीतल हो जायगी, तो वह अग्नि ही नही रही। अग्नि जो है वह ठडी नही होती। तो जैसे अग्नि कभी शीतल नही होती, ऐसे ही परिग्रहवान जीवको शिव प्राप्त नही होता। सुना है कि बाइबिलमे कहा है कि चाहे सूईके छेदसे ऊँट निकल जाय, मगर इच्छा और परिग्रह ममता करके कोई जीव शान्ति प्राप्त नही कर सकता। जैसे सूईके छेदसे ऊँटका निकलना असम्भव है ऐसे ही परिग्रहसे, ममतासे शान्तिका पाना असम्भव है। देखो शामका समय है, धर्मचर्चा सुननेका इस समय सत्सग चल रहा है। तो क्या हो रहा है यहाँ? दिन भरमें

जो थक गए, काहेको थक गए ? क्रोध, मान, माया, लाभ, इच्छा, लेनदेन, ऊँच नीच बात, लडाई झगडा या जो जो कुछ बातें दिन भरमे गुजरी या समझो बरसातके दिन अधिक हों, काम काज न हो, उस समय तो घर बैठे बैठे भी वहुतसे विकल्प फिजूलके कर करके बडी थकान हो जाती है । तो उस दिन भरकी सारी हैरानीको दूर करनेका यह समय है ।

कैसे मिटेगी यह थकान ? वह थकान हुई कैसे थी ? परिग्रहसे ममताकी भावोंसे वह थकान चली थी । यह जीवके भावोकी बात कह रहे हैं । तो उन थकानोंको दूर करने का उपाय क्या है कि यह वात चित्तमे आये कि मेरा तो मेरा एक चैतन्यस्वरूपके अलावा कुछ भी नही है । और देखो ससारमे रुलते रुलते अनन्तकाल गंवा दिया । कैसे गँवा दिया कि जो कर्मरस उदयमे आता रहा उसमे यह जीव एकत्व मान रहा । यह मैं हूं—यह अंधकार आया, अज्ञानरूप, कषायरूप विषयाभिलाषा रूप उसी रूप यह अपनेको मान रहा । उसका फल यह है ससारमे रुलना । आज सुयोग पाया, बुद्धि पायी, ज्ञान पाया, सत्सग पाया, पवित्र शासन पाया, यहां भी अगर हम भव भवमे की जाने वाली बातोको ही करते रहे तो उन अनन्त भवोमे यह एक भव भी शामिल हो जायगा, गवा दिया जायगा । इससे अपने आपका एक बहुत बडा उत्तरदायित्व है । चेतो—"जलते भिन्न कमल है" यह अपनी स्थिति बनाओ । जानते रहना है कि जो झलक रहा वह मुझसे भिन्न है । जो मुझमे आ रहा कर्मरस कषाय, वह मुझसे भिन्न । मैं तो एक चैतन्यस्वरूप हू, यही रहूगा, ऐसा ध्यान मे लावो, थकान मिट जायगी । जो विकल्प कर-करके थक गए । अच्छा तो दिनकी थकान आप शामको मिटा लें तो यह थकान तो रातको भी चलेगी, क्योंकि मन है, अटपट सोचा जा रहा है । तो यह तो थकान रातको भी चलेगी, संभलकर थकना । खैर थक गए तो सुबह थकान मिटा लोगे । यह कर्तव्य है कि जैसे कोई तीन बार सामायिक करता एक थकान ही मिटानेके लिए तो कमसे कम गृहस्थजन दो बार ता धर्मचर्चा करके पढकर, सुनकर मनन करके अपनी १२ घटेकी थकानको मिटायें ।

आत्माके अनुभवमे वह आनन्द है कि तीन लोकका वैभव भी मिले तो भी उसका अंशमात्र भी नही प्राप्त हो सकता । भीतरमे श्रद्धा इतनी निर्मल बनाओ कि यह धुन बन जाय जैसे कि आत्मानुभवका मस्ताना फकीर हो । श्रद्धा सही रखिये—"कीजे शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना श्रद्धा धरे । द्यानत श्रद्धावान, अजर अमर पद भोगवे ।।" विकारका अंश भी मेरे लिए अधेरा है । जरूरत क्या विकारकी ? मनमे थोडे समयको इच्छा हुई और इन सबको खलबला कर चला गया, उसे दृढ कर लिया गया तो सारे रात दिन परेशानी हो गई,

फिर किसकी इच्छा, किसके लिए इच्छा ? इच्छाका परिणाम होना क्या ? अच्छा मान लो, करोडोकी सम्पदा जोड ली, इसके बाद क्या होगा ? अच्छा मरण हो गया, इसके बाद क्या होगा ? यह सब कुछ काम देगा क्या ? पुण्योदयसे करोड़ोका वैभव आये तो आये, मगर भीतरमें इच्छा, आकुलता करके जो चाहा जा रहा है और बडा श्रम किया जा रहा है वह ठीक नही है । यों तो चक्री होता है उसे छह खण्डका वैभव मिलता है तो क्या वह उसे कुवें मे डाल देता है ? अरे उसका उपयोग करता है दूसरोके लिए भी । मगर मुझे यह वैभव मिले ही मिले, इसके बिना मैं क्या, ऐसी भावना होनी चाहिए । अपनी वृत्ति सही रहे, फिर जो हो सो हो। सबका अपना अपना भाग्य है। जिन जिनके भाग्यसे सामग्री आयी उन सबका भाग्य है । चूँकि हम रह रहे है घरमें तो हमारा कर्तव्य है—अर्थपुरुषार्थ करना । मगर जो पुण्योदयसे आय हो उसमें गुजारा करना । यह इच्छा, अभिलाषा, आशा, प्रतीक्षा, तृष्णा तो बहुत बुरी चीज है । यह तो इस जीवको हैरान कर डालती है । तो परिग्रहवान जीवको कभी मुक्तिकी प्राप्ति हो नही सकती ।

(१७६) कालकूट विषमें अमृतत्व होनेकी अशक्यताकी तरह इन्द्रियसुखमें वास्तविक सुखपना होनेकी अशक्यता—

ये इन्द्रियजन्य सुख यदि सुखरूप कहलाने लगें तब तो यह कहना चाहिए कि तेज कालकूट भी अमृत हो जायगा । जैसे मोहविष अमृत नही कहलाता, ऐसे ही ये इन्द्रियजन्य सुख, सुख नही कहलाते । और सुख मायने क्या ? आत्माकी शक्तिको नष्ट करनेका नाम सुख है । एक परिभाषामे सोचो—यह एक सांसारिक बात कह रहे है ।

जैसे इन्द्रियजन्य सुखमे क्या होता है ? स्पर्शनइन्द्रिय, कामसेवनके प्रसंगमे होता क्या है ? बस शरीरकी शक्तिका नष्ट करना इसका नाम है वहा सुख । ऐसी ही बात सब इन्द्रिय और मनके सुखोकी समझो । प्रत्येक सुख भोगनेमें संसारका कोईसा भी सुख भोगनेमें आत्मशक्तिका ह्रास होता है । तब ही तो जो सुखमे मुग्ध नही हैं, सुखसे जो उदासीन रहते है उनके आत्मामे विशेष बल प्रकट होता है और ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, मुक्ति मिलती है । निर्बल न रहेगा यह । उसके लिए चाहिए आत्मबल और आत्मबल मिलता है आत्माके आश्रयसे, सुखके आश्रयसे नही । तो इन्द्रियजन्य सुख यदि सुख कहलाने लगे तो कालकूट भी सुधा कहलाने लगे । तो जैसे कालकूट सुधा (अमृत) नही, ऐसे ही इन्द्रियजन्य सुख भी सुख नही है । क्या है इन्द्रियजन्य सुख ? वेदनाका प्रतिकार है । चित्तमे वेदना हो, कष्ट हो तो उसकी दवा समझना यह इन्द्रियजन्य सुखको भोगना है । कष्ट, दुःख, दर्द, वेदना हुए बिना

सासारिक सुखमें प्रवृत्ति नही हुआ करती। खूब समझ लो। यह तो संसारी जीवोंका एक विषय ही है। जैसे फाडा फुसी हुए बिना कोई मलहम पट्टी नही लगाता, अच्छा देह है और कोई मलहम पट्टी लगाये तो लोग यह कहेंगे कि इसका दिमाग खराब हो गया। कौन लगायेगा ? शीतज्वर बिना, विशेष ठड लगे बिना कोई कई रजाइयां तो न ओढ लेगा अथवा जैसे कानके रोगकी एक दवा बतायी गई है बकरेका मूत्र। इस बातको पुराने लोग जानते हैं, तो जिसके कानमे रोग न हो वह बकरेका मूत्र तो कानमे न डालता फिरेगा। ठीक ऐसे ही समझिये कि जिसको अज्ञानकी वेदना नही, मोह रागको वेदना नही, व्यर्थके भ्रमसे उत्पन्न हुई कोई वेदना नही वह इन्द्रियजन्य सुखोमे क्या प्रवृत्ति करेगा ? आत्मानुशासनमे एक जगह बताया है कि सुखके अनुभवसे पाप नही, मगर सुखके कारणका घात करनेसे पाप है। एक यह व्यावहारिक बात है। सुखका घातक है पाप। सुखका हेतु है पुण्य, धर्म। उसके विपरीत चले तो पाप है, और आकाक्षा नही, आसक्ति नही और सुख हो तो वह भी क्या ? आया और अपने यथायोग्य मामूली, आस्रवका कारण बना, चला गया। और जिस पुरुषको अपने आपके इस आत्मानुभवसे प्रीति है जिसको परमात्माका दर्शन मिला है, उसके इन्द्रियजन्य सुखोमे कहा आसक्ति है ?

(१७७) विद्युतकी स्थिरताकी अशक्यताकी तरह तनकी स्थिरताकी अशक्यता—

और सुनो—शरीर यदि स्थिर हो जाय। चाहते हैं ना सब लोग कि हमारा शरीर न मिटे, अच्छा रहे तो अगर यह शरीर सदा स्थिर रहा आये, न मिटे तो फिर यह कह दीजिए कि मेघकी बिजली भी सदाके लिए स्थिर हो जाय। जैसे मेघकी बिजली स्थिर नही हो सकती, ऐसे ही यह शरीर स्थिर नही हो सकता। मरना तो सबको है, पर कोई अभी समझ ले कि मैं मरता ही हू, मर ही रहा हू तो मरनेके समय हमे कैसी तैयारी करनी चाहिए ? तैयारी समता, रागद्वेष मोह नही। जो दो मिनट बाद बाह्य सम्बधसे भी छूट जायगा वह एक मिनटकी ही ममता करनेका आगे भवोमे सारे जीवनका कटुफल भोगना पड़ेगा। गुरुजी कहा करते थे कि कपडा बुनने वाले जुलाहे भी कपडा बुनते-बुनते अन्तमे दो चार अगुलका छीरा छोड ही देते हैं, पर यह ससारी प्राणी मरते दम तक विकल्पोका जाल पूरना नही छोडता। तो उस बातकी तैयारी करनी चाहिए अभीसे, ज्ञानसे समझना चाहिए। मेरा मेरे स्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ नही। यह शरीर मेरा है क्या ? मैं हू क्या ? शरीर स्थिर नही रहता, मत रहो। जैसा परिणमना हो परिणमे। उसका जो गुण है दर्शन, ज्ञान, चारित्र उस निधिको देखें और उसको सही बनावें।

(१७८) इन्द्रजालमें रमणीयताकी अशक्यताकी तरह इस भवमें रमणीयताकी अशक्यता—

इसी प्रकार आचार्य कहते है कि इस भवमे अगर रमणीयता है, भव सुन्दर, भव प्यारा, भवमे रम्यता, अगर यह सुन्दर है भव, रमणीय है, रमण करने योग्य है, आसक्तिके योग्य है तब तो कह दीजिए कि इन्द्रजालमे भी रमणीयता है। इन्द्रजाल कुछ चीज नही कहलाती, एक मायारूप। है नही दिख रही या हौवा जैसा। वह भी रमणीय बन जाय, सुन्दर बन जाय। तो जैसे इन्द्रजालमे रमणीयता नही, ऐसे ही इस भवमे भी रमणीयता नही है।

स्मरमपि हृदि येषां ध्यानवह्निप्रदीप्ते।
सकलभुवनमल्लं दह्यमानं विलोक्य॥
कृतभिय इव नष्टास्ते कषाया न तस्मिन्।
पुनरपि हि समीयु साधवस्ते जयंति॥ ५७॥

(१७९) काम एवं कषाय विकारका विध्वंस करने वाले साधुवोंका जयवाद—

मुनिधर्मके प्रकरणमे मुनियोका जयवाद किया जा रहा है, वे साधु पुरुष जयवन्त रहते हैं। कैसे है वे साधु? निष्काम और निष्कषाय। दो बात बतायी जा रही है। देखो जिन भव्य जीवोने समस्त बाह्य पदार्थोंसे निराला, कर्मरस झलकसे भी निराला एक चिदानंद स्वरूप अन्तस्तत्त्वको पहिचान लिया। जैसे मानो प्रत्यक्ष होता यह हुआ और इस पहिचानके साथ उसमे बडा आनन्दरस पाया, ऐसा मुनिजन निष्काम और निष्कषाय होते ही है। देख रहे हैं उस अन्तस्तत्त्वको कि जहाँ वह ही वह मात्र है, जिसमे स्वयं कोई विकार नहीं है। विकार आता है, छाया है, पौद्गलिक माया है, मैं तो एक चैतन्यरसमात्र हूं, ऐसा अनुभव करने वाले पुरुषके कामकी वासना, कामकी इच्छा, बाहरी पुद्गलोसे लडना यह कहाँ इष्ट हो सकता है? तो ये साधु महाराज निष्काम और निष्कषाय है। इस तथ्यको आचार्य एक अलकारमे यह कह रहे हैं कि इन कषायोने यह देखा कि जो कषाय डर करके भाग गए मुनिके परिणामसे। कषाय भाग गए ना तब हो तो वे निष्काम वीतराग हुए याने स्थूल राग, स्थूल कषाय व्यावहारिक नही रहते, इसलिए मनुष्योको भी वीतराग कहते हैं। तो कषाय डरकर भाग गए। भाई क्यो डरकर भाग गए? एसी कोनसी घटना देखी उन कषायो ने जिससे वे डर गयी और मुनि महाराजके आत्मासे डर गए, भाग गए। इन कषायोने यह घटना देखी कि ध्यानरूपी अग्निसे जल रहा जो भीतरका भूमि हृदय है सो उसमे यह काम जो सारे भुवनको हरा देनेमे, सबके मात कर देनेमे, गड़वा देनेमे जो मल्लकी तरह सिर ऊँचा

उठाये फिरता है, ऐसे इस कामने, कषायने देखा कि मुनि महाराजके चित्तमे यह काम बडी बुरी तरसे जल रहा है, क्योकि मुनि महाराजने ध्यानकी अग्नि ऐसी सुलगाई कि वह ध्यानकी अग्नि ऐसी बढी, आत्मध्यान स्वरूप चिन्तनकी अग्निमे यह काम जल गया तो इसको जलता हुआ जब कषायोने देखा कि ओह ! हम लोगोकी तो बात क्या है जो सारे लोकपर विजय करनेके लिए एक मल्लकी तरह है, ऐसा काम भी जल रहा है तो हमारी तो कुछ खैर नही। ऐसा मानो भय खाकर ये कषायें उस आत्मासे भाग गईं। तो जिनके आत्मासे कषायें भाग गईं काम तो बहुत ही जला, ऐसे निष्काम निष्कषाय साधु महाराज जयवन्त हो।

(१८०) कामविजेताकी सर्वविजय—

एक कविने कहा है कि पार्श्वनाथ भगवानके स्तवनमे समझिये या जिनेन्द्रदेवके स्तवनमे समझिये—ध्यान लगाये बैठे थे मुनिराज। तो वहाँ विहार करते हुए कामदेव और रति आये। देखिये—कामदेव कोई आदमी नही, किन्तु पुरुषोंके मनमे जो कामविषयक खोटी वासनायें है, जिन वासनाओंने इस भुवनपर उसको ढक लिया। देखो तो एकेन्द्रिय तो नपुमक ही हैं। कोई भी तो वेदरहित नही है। केवल ९वें गुणस्थानसे ऊपर वेद नही है। तो जिस कामने रगड रखा है उस कामको कहते है कामदेव और उसकी एक कल्पनामे मुद्रा बन या तो कामदेव हुआ। स्त्रियोके चित्तमे जो वासनायें है उनकी मुद्रा है रति। मानो कामदेव हुआ पुरुष और उसकी स्त्री हुई रति। तो ये कामदेव और रति जगलमे जा रहे थे। एकदम रतिने देखा कि एक अडिग पुरुष ध्यान लगाये हैं, आँखोंसे किसीको देख नही रहा, हाथोंसे कुछ कर नही रहा, पैरोसे कही आ-जा नही रहा। बडा स्थिर, बडा गम्भीर बैठा है। तो उस रतिके मनमे आया कि यह तो हमारा बडा अपमान कर रहा है। वहाँ रति सोचने लगी कि मेरे पतिदेवने तो सारे लोकको जीत रखा है, एकेन्द्रिय तकपर अपना वार कर रखा। तो वहाँ रति आश्चर्यसे पूछती है और कामदेव उसका उत्तर देता है। पहले सारे प्रश्न और उत्तर कह दें, फिर उसका मतलब बतावेंगे— "कोऽयं नाथ जिनो भवेत्तव वशी ऊ हू प्रतापी प्रिये, ऊ हू तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेपक्रिया। मोहोऽनेन विनिर्जित प्रभुरसौ तत्कि-ङ्कराः के वयं, इत्येवं रतिकामजल्पविषयः पार्श्वो जिनः पातु व ॥" वार्ता चल रही है कि हे नाथ ! यह कौन बैठा है ? तो कामदेव उत्तर देता है कि यह जिनेन्द्रदेव है, प्रभु हैं, तीर्थंकर हैं।' तो क्या ये तुम्हारे वशमे है ?' ' ऊँ हूँ।' अरे तुम तो बडी शान मार रहे थे कि हमने सारे ससारको वशमे कर रखा है।' प्रतापी प्रिये ये तो बडे प्रतापी हैं।' तो वहाँ

रति कहती है—हे कायर, तू अपनी शूरताकी डींग मारना छोड़ दे कि मैंने सारे भुवनको अपने वशमे कर रखा है । किसी वनमे विराजे जिनलिङ्गधारी पार्श्वदेवके विषयमे रति और कामदेव इस प्रकार बात कर रहे थे मानो एक अलकारकी भाषामे कह रहे है । रति पूछती है कि नाथ ! यह कौन है ? तो वहां कामदेव बोला कि हे प्रिये ! यह जिनेन्द्रदेव है ··· तो क्या यह भी तुम्हारे वशमे हैं ?···· ऊँ हूँ ।···· जब नही है तुम्हारे वशमे तब फिर अपनी शूरवीरताकी डीग मारना छोड दो । तुम कायर हो । यह तुम्हारे वशमे नही हैं । तुम तो कहते थे कि हमने सारे जगतको वशमे कर रखा है । तो कामदेव उत्तर देता है—"मोहोऽनेन विनिर्जित प्रभुरसौ, तत्किङ्करा. के वयं ।" इन्होंने मोहको जीत डाला तब हम किंकर अब क्या रहे ? कषायें, कामादिक विकार ये सब मोहके बलपर जिन्दा रहते है । जहाँ मोह गला, मोह मिटा, मोह मरा वहाँ काम क्रोधादिक विकार फिर क्या कर सकते ? तो काम कहते हैं कि हम तो अब इनके किंकर हैं । तो कवि कहता है कि—"इत्येवं रतिकामजल्पविषयः पार्श्वो जिन पातु व ।" इस प्रकार कामदेव और रतिकी चर्चाके विषयभूत श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र हम आप सबकी रक्षा करें । यहाँ यह बात बतायी जा रही है कि साधुधर्ममे साधुका मुख्य गुण क्या है ? निष्काम, निष्कषायता । जहाँ कामविकार नही रहा, कषायें नही रही वह है साधुधर्म । तो जब कषायोने देखा कि यहाँ तो मुनिराजके हृदयमें जो हृदय ध्यानरूपा अग्निसे जल रहा है अर्थात् जहाँ अन्त.ध्यान चल रहा है तो ध्यानरूपी अग्निसे तप रहे इस हृदयमे यह काम बडी बुरी तरहसे जल रहा है । ऐसा जब कषायोने देखा तो कषायें डरके मारे शीघ्र ही निकल गईं । ऐसे जहाँ कषाय और काम नही रहे वे साधुजन जयवन्त होवें ।

अनर्घ्यरत्नत्रयसपदोऽपि निर्ग्रन्थतायाः पदमद्वितीयम् ।
अपि प्रशान्ता स्मरवैरिवध्वा वैधव्यदास्ते गुरवो नमस्याः ॥५८॥

(१८१) रत्नत्रयसम्पन्न साधुवोंका जयवाद—

साधु मनुष्यगतिके जीव ही तो है, मनुष्य ही तो है । जैसे श्रावक अपने संयमासंयममे लगे हुए है और आत्मस्वभावकी स्मृति रखते है ऐसे ही साधुजन सयमसे चल रहे है और आत्मस्वरूपकी सुध रख रहे हैं । जिन पुरुषोने इस लोकको ज्ञान तर्क द्वारा छान डाला कि इस जगतमे कुछ भी सारभूत वस्तु नही, सब बाह्यपदार्थ है, सब मुझसे भिन्न है, न साथ आये, न साथ रहेंगे, न साथ अब है । केवल भ्रम है कि हमारे पास सब कुछ है । वस्तुस्वरूप कह रहा है कि एक जीवका दूसरा जीव कुछ नही है । एक अणुका दूसरा अणु कुछ नही है, सब अपनी-अपनी परिणतिसे परिणमते है । हाँ वहाँ विकार होता है तो किसी अनुकूल

निमित्तको पाकर हुआ करता है। सो विकार होनेमे तथ्य यह है कि निमित्तसन्निधान पाकर उपादान स्वयं अपनी कलासे अपनेमे उत्पाद करता है उस रूप। मेरा कही कुछ नहीं है। ऐसा जिसका निर्णय बन चुका वह अमूल्य रत्नमूर्ति पा लेता है। आत्माका श्रद्धान, आत्माका ज्ञान, आत्माका आचरण ऐसे रत्नत्रयकी मूर्तिको पाकर भी वे निर्ग्रन्थताकी मूर्ति इतनी अद्भुत तो सम्पत्ति पा ली फिर भी उन्हे निष्परिग्रह कैसे कहा जा रहा ? अरे ठीक है। यह सम्पत्ति आत्माके स्वभावकी चीज है। आत्माको जानना, आत्मामे रमना यह एक आत्मस्वभावकी बात है। वह कही जायगा नही और जितने बाह्य परिग्रह है वे सब छूट जाते है। यह एक साहित्यिक छटाकी बात चल रही है कि ये मुनिराज अमूल्य रत्नत्रयकी सम्पत्ति तो पाये हुए हैं फिर भी कहा जा रहा है कि ये निष्परिग्रह हैं, यह विरोधालकार है। समाधान उसका यह है कि यह अद्भुत सम्पत्ति अपने आपके आत्माकी है, बाह्यपरिग्रह से अत्यन्त रहित है। ऐसे ये साधु पुरुष हैं। यह वर्णन क्यों चल रहा ? आप कहेगे कि हम तो श्रावक है, साधुधर्मकी ज्यादह बात क्यो कही जा रही है ? तो श्रावक उसे कहते हैं जिसके मनमे यह वाञ्छा हो कि मुझे साधुधर्म मिले, यह मुनिधर्म मुझे कब प्राप्त हो ? ऐसी वाछा रखे बिना श्रावक नही कहलाता। चाहे न हो सके वह बात और है किन्तु जिसके ज्ञान हो, वैराग्य हो उसके चित्तमे यह समाया है कि ससारसे पार होनेका उपाय तो यह मुनि-धर्म है।

(१८२) निर्ग्रन्थ पदकी भावना—

जिसकी प्रतीक्षा करनी चाहिए, जिसकी धुन रखनी चाहिए उस धर्म की ही तो बात कही जा रही है कि पुरुषोको आखिर ऐसा आजाद बनना है कि मुझे किसी बाह्य परिग्रहसे प्रयोजन नही। केवल एक आत्माकी धुन हो। मैं सहज परमात्म-स्वरूप हू, सबसे निराला ज्ञानमात्र हू केवल एक चित्प्रकाश। जिसका किसी दूसरेसे सम्बन्ध नही। ससारी जन इसमे बडी मौज मानते कि यह मेरा अमुक, मेरा बेटा, मेरी स्त्री, मेरा परिवार, मेरा धन-वैभव, मेरी इज्जत। देखो वैभव होना बात और है और उसमे आसक्त होनेकी बात और है। आसक्त होनेमे तो बडा पाप है, बडी व्यग्रता है, विकट कर्मबध है। अरे जो न था, नही है, न मेरा होगा, उसके बारेमे आसक्ति है वह तो एक बडा पाप है, मिथ्यात्व है। उसे तो विपत्ति समझें कि क्यो नही मुझमे मेरेमे बसा हुआ सहज परमात्म-स्वरूप प्रकट होता है ? क्यो मैं परवस्तुओके प्रति एक दीनता, आशा, प्रतीक्षा, मोह, आधी-नता रखता हू ? देखो धन कमानेकी जगह धन कमाना और धर्मपालनकी जगह धर्मपालन

करना तब ही तो बनता जब अपने आपको इस तरह कोई निरखे कि मेरा जगतमें अणुमात्र से भी कोई सम्बन्ध नही। मै सबसे निराला केवल एक अकेला अपने स्वरूपमात्र हूं। ऐसी सद्बुद्धि जगे बिना धर्मपालन नही हो पाता। और देखो छूटना तो है ही सब कुछ, जिसे जो कुछ मिला वह सब छूटेगा, इसमे कोई दो राय नही, और इतना जानकर भी यदि उससे ममत्वभाव न हटे तो उसे क्या कहा जाय? बस जिनकी ममता हटी वे ही साधु धर्म अंगीकार करते हैं। वे प्रशान्त गुरुमहाराज काम बैरीका विनाश कर देने वाले है। देखो जब कोई एक अद्भुत आनन्द मिल जाता है तो झूठे सुखकी फिर कौन वाञ्छा करेगा? जिसे एक अद्भुत आनन्द प्राप्त हुआ वह पुरुष अब पचेन्द्रियके वैषयिक सुखोकी कैसे वाञ्छा रखेगा? विषयाशा वशातीत विषयोकी आशा अब नही है जिनके, जो बिषयोके आधीन नही रहे, ऐसे साधुजनोको मेरा नमस्कार हो।

ये स्वाचारमपारसौख्यसुतरोर्वीर पर पञ्चधा।
सद्बोधाः स्वयमाचरंति च परानाचारयन्त्येव च ॥
ग्रन्थग्रन्थिविमुक्तमुक्तिपदवी प्राप्ताश्च यैः प्रापिताः।
ते रत्नत्रयधारिणः शिवसुख कुर्वन्तु न. सूरयः ॥ ५९ ॥

(१८३) पञ्चाचारके पालक आचार्योंका जयवाद—

वे गुरुराज जो अपने आत्माके आचरणमे सावधान है, जो आचरण असार सुखवृक्षका बीज है, ऐसा सम्यग्ज्ञानी पुरुष ज्ञानका आचरण, श्रद्धाका आचरण चारित्रको, तपको, शक्तिको पूर्ण बनानेका उद्यम खुद कर रहे हैं और दूसरोको भी इस मार्गमे लगानेके निमित्त बन रहे हैं। आचार्य परमेष्ठी गुरु ही है, साधु ही हैं। जो एक अपने आत्माकी साधना कर रहे हैं। जरा सोचो तो सही कि जगतमे कौनसा कार्य ऐसा है कि जो सदाके लिए शान्त स्थितिमे पहुचा दे? एक भी कार्य बतलावो, पर जिसको यह श्रद्धा नही है उसके भीतर यह चित्त रहता है कि मैं ऐसा हू, मुझको बडा सुख है, बडा आराम है, मैंने बडी कोठी बना ली, बडा धन इकट्ठा कर लिया या बडे अच्छे व्यवहारसे हमने प्रमुखता उत्पन्न कर ली। अरे ये सब बातें होती हैं, होने दो। इनमे चित्त फसाकर अपने आपके परमात्मस्वरूपको भूल जाना, यह इस भवकी बहुत बडी गल्ती है। देखो पशुओका जीवन कैसा व्यतीत होता है। खाना, डरना, कामसेवन और तृष्णा, ये ही बातें तो चलती है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये ही संज्ञाये तो चल रही है। और इनमे ये पशु खुश हैं, मस्त है, अपनेको अच्छा समझते है। हम ठीक चल रहे। इसी तरह मनुष्य भी करके गुजर जाते। इसको यह शोक क्यो हुआ है

है कि मैं कोई अच्छा समाजसेवाका काम कर जाऊँ ताकि लोग मेरा नाम लेते रहें। इस तरहका शौक इस मनुष्यको क्यो हुआ ? तो इन विषयोसे कुछ ऊँचे तो उठे। यद्यपि है वह भी यह विषय, लेकिन इतनेसे भी और ऊँची रुचि जगनी चाहिए कि मैं अपने आत्माको पहचानूं और वैसा ही मानकर रहूं ताकि मेरा मोह दूर हटे।

(१८४) मोहकी वेदनाका एक दृष्टान्त—

मोहका दुःख बहुत कठिन दुःख होता है। एक सेठ गरीब हो गया। उसने सोचा कि अब तो मेरा गुजारा नही चलता, सो वह धनार्जन करनेके उद्देश्यसे कलकत्ता चला गया। वहां उसका व्यापार बडा अच्छा जम गया। घरमे छोडकर गया था अपनी स्त्रीको और एक सालके बच्चेको। अब उस सेठका व्यापार ऐसा चला कि १३ वर्ष तक घर आनेका मौका न मिला। इधर सेठकी स्त्रीने अपने १४ वर्षीय बेटेको उसके पिताका सही पता लिखकर पिताको लिवाने भेजा। उधर सेठ भी अपने वतनकी याद करके उसी समय घरके लिए रवाना हुआ। सुयोगकी बात कि वे दोनो रास्तेमे किसी शहरकी एक ही धर्मशालामे पास-पासके कमरोमे ठहर गए। दोनो ही एक दूसरेको आते-जाते देखते थे, पर न तो बाप-बेटेको पहचानता और न बेटा बापको। आखिर हुआ क्या कि रात्रिके १ बजे उस बालकके पेटमे दर्द हुआ, वह रोने लगा। सेठने अपनी नीदमे बाधक जानकर चपरासीसे उस बालकको बाहर करा दिया। सेठने चपरासीको १०) रु० रिश्वत दी, इसलिए कि रात्रिको आरामसे सोनेको मिले, इसी कारण चपरासीने उस बालकको सेठसे दूर कर दिया। उस समय उस सेठके पास पेटदर्दकी अचूक दवा भी थी, पर उस बालकपर रच भी रहम न आयी कि बक्ससे निकालकर उस बालकको दवा दे देनेका कष्ट करे। आखिर उस बालकका पेटदर्द इतना बढ गया कि उसका वही प्राणान्त हो गया। दूसरे दिन वह सेठ अपने घरके लिए रवाना हुआ। घर पहुचनेपर सेठने अपनी स्त्रीसे पूछा कि मेरा बेटा कहा है ? तो स्त्रीने जवाब दिया कि तुम्हारा बेटा तुमको लिवानेके लिए ही हमने भेजा था, क्या मिला नही ?··· हां हमको तो नही मिला। पुनः सेठ उन्ही पैरो तुरन्त अपने बालकका पता लगाने निकल पड़ा। अनेक जगह पता लगाया, पर कही पता न चला। एक बार उस धर्मशालामे भी पता लगाते हुए पहुचा जिसमे ठहरा था। मैनेजरसे पूछा—इस नामका कोई बालक तो यहां नही आया ? मैनेजरने रजिस्टर उठाकर देखा तो कहा—हां अमुक दिन इस नामका बालक इस धर्मशालामे ठहरा तो था··· फिर कहां गया ? वह गया तो कही नही, उसके यही पेटदर्द हुआ और यही उसका प्राणान्त हो गया। यह बात सुनकर सेठ मूर्छित हुआ और गिरकर बेहोश हो

गया। तो अब जरा बतलावो—जब वह बालक आँखोके सामने मरा था तब तो उसपर दया नही आयी, एक भी अश्रु न गिरा और जब बालक सामने नही है, सिर्फ मरनेका हाल सुना तो वह वही बेहोश हो गया। तो यहाँ कोई किसीसे प्रीति नही रखना सब अपने भावोंसे मतलब रखते हैं। जब उस सेठके भावोमे आया—मेरा लडका, तो वही उसको बेहोशी आयी। तो ऐसे ही ये जगतके सब जीव अपने-अपने भावोसे सुखी दुःखी होते है। अन्यथा सब जीव अपना-अपना भाग्य लिए है, सब अपना-अपना कार्य कर रहे है। कहो पिता धनी रहा हो, बेटा गरीब हो जाय, कही पिता गरीब रहा हो, बेटा धनी बन जाय। जब ऐसी बात है तो फिर क्यो किसीकी चिन्ता करते ? आत्मकल्याणके लिए अपना समय क्यों नही देते ? लोग कहते कि समय नही मिलता, पर जब बीमार होते तब खूब समय निकल आता है। बहुतसे लोग तो कह बैठते कि मरनेको भी फुरसत नही, पर देखो जब मरणकाल आ जाता तो फिर मरनेकी फुरसत हो जाती कि नही ? ये मोही प्राणी अपने आत्मकल्याणको कुछ भी बात नही सोचते। जिन्होने संसारका सब नाटक देख लिया उनको फिर यहाँकी चीजोका मोह नही सताता।

(१८५) असली और नकली नाटक तथा नाटकसे मुक्ति पानेका उपाय—

असली नाटक तो यहाँ हो रहा है। ये सिनेमा, थियेटर वगैरा तो सब उसकी नकल हैं। उनका फिल्म कर लिया गया है। यहाँके इस असली नाटकको देखो, नकली नाटकको देखकर तृप्त मत होवो। कोई किसीको दगा दे रहा, कोई किसीसे लड रहा, कोई किसीसे प्रीति कर रहा, कोई किसीपर अन्याय कर रहा····, यही सब तो यह संसारमे हो रहा है। देखो अपने आपका कितना विकट नाटक चल रहा है ? मैं हूँ तो प्रभुकी तरह ज्ञानानन्दस्वभावको लिए हुए और हमपर गुजर क्या रहा है ? कर्मरस, विषयकषाय और उनकी वासना लग रही है। जिन्होने यह सत्य तथ्य पाया वे साधु होते और अपने आपके आत्माके आचरणमे अपनेको प्रसन्न रखते है। समस्त ग्रंथोकी ग्रंथीसे विमुख जो मोक्ष पदवी है उसे साधनासे प्राप्त करते और दूसरोको प्राप्त कराते, ऐसे रत्नत्रयधारी संत जन मोक्षमुखको करें अर्थात् उनके गुणोके स्मरणसे प्रेरणा लेकर हम भी अपने आत्मामे रमे और सदाके लिए संसार-सकटोसे छूट जायें। जब सकटोसे छूट जाता याने मोक्ष हो जाता तो इस आत्माकी क्या स्थिति होती ? केवल आत्मा रह गया, शरीर नही, कर्म नही, विभाव नही, विकार नही, केवल एक ज्ञानज्योति है। जिसका इतना अद्भुत प्रताप है कि समस्त लोकालोकके पदार्थ उनके ज्ञानमे झलकते है। फिर भी वे अपने अनन्त आनन्दरसमे लीन रहते है। ऐसा

स्वरूप जो सोचेगा उसके आत्मामे पवित्रता बनती है, और जहाँ पवित्रता हुई वहा शान्तिका मार्ग मिलता है। तो एक अपना प्रोग्राम बनावें। चाहे कितने ही भवोके बाद वह प्रोग्राम सिद्ध हो, मगर अभीसे सोचें कि हमको करनेका काम बस यही है कि इस ससारके जन्म-मरणसे हमको छुटकारा मिले।

एक मोटी बात सोच लो—अगर १० वर्षको मानो कोई मौज ही लूट लिया, अव्वल तो कोई मौज ऐसा है नही, दिन भरमे ही सुख दु खके कितने ही उतार चढाव होते हैं, इसको सब लोग समझ सकते हैं। थोडी देरको सुख हुआ, फिर दु खकी कोई बात आ गई। कुछ समयको दुःख हुआ, फिर कोई सुखकी बात आ गई। कोई भी स्थिति सदा एकसी नही रहती। तो संसारका सुख और दु ख गाडीके चक्केकी तरह है। जैसे उसके आरे बदलते रहते है, ऐसे ही ससारमे सुख और दुःख ये सब बदलते रहते हैं। यहां प्रीति करना योग्य नही। प्रीति करें भगवानके स्वरूपमे, अपने स्वरूपमे। यहां और कोई प्रीतिके लायक नही है। गृहस्थधर्म है, रहना पडता है, प्रेमपूर्वक रहें, सद्व्यवहारसे सब कुछ अपने जीवनकी गाड़ी चलायें यह तो ठीक है, पर श्रद्धा अपनी वही बनाये रहे कि मेरा तो मात्र बस मैं ही हू।

> भ्रान्तिप्रदेषु बहुवर्त्मसु जन्मकक्षे, पन्थानमेकममृतस्य परं नयन्ति।
> ये लोकमुन्नतधियः प्रणमामि तेभ्य, तेनाऽप्यहं जिगमिषुर्गुरुनायकेभ्य ॥६०॥

(१८६) सत्पथनायक आचार्योंको नमस्कार—

कहते है कि इस जीवनमे बहुतसे मार्ग हैं जिनमे भ्रान्तियां भरी हुई हैं। पहली बात तो यह देखो कि हमने मनुष्यभव पाया तो प्रथम तो इस जीवको धर्मकी रुचि नही होती। किसीके मनमें आया कि मुझे आत्मकल्याण करना है तो जब वह यहाँके बहुतसे लोगोको देखता है कि ये अमुक मजहबसे धर्म पाल रहे हैं, ये अमुक मजहबसे। यो दसो बीसो मजहब, मत, सम्प्रदाय, धर्म अनेक प्रकारके जब यहाँ दिख रहे है और यह भी लग रहा कि प्रत्येक धर्म वाले मनुष्य अपने-अपने धर्मकी ही बात करते है कि बस धर्म तो यह है, पार तो इसीसे होंगे। यही आवाज सबके मुखसे निकलती है। तो ऐसी बात देखकर एक शका हो जाती कि हम कौनसा धर्म पालन करें? सभी लोग अपने अपने मजहबकी बात कहते हैं। मेरा धर्म अच्छा, मेरा मजहब अच्छा और यह भी कह बैठते है कि जो लोग इसे नही मानते वे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि, काफिर हैं तो यह एक शकाकी बात हो गयी ना कि कौनसे मार्गसे चलें कि हमको मुक्ति मिले, शान्ति मिले और आत्माका कल्याण हो। ऐसी जब शका हुई तो एक बहुत सीधा उपाय है, क्या उपाय है? देखो इतनी तो समझ उसके होगी ही कि

ससारके जितने पदार्थ है– जीव-अजीव, पुद्गल दिखने वाले धन-वैभव, मित्र जन, कुटुम्बीजन ये सबके सब मेरे लिए हितकारी नही, मुझसे भिन्न है, इन्हे छोडकर जाना पडेगा। ये मेरे न थे, न है, न होगे, इतना तो विवेक उमे है, जो अपने शान्तिके रसको ढूँढनेमे लगा। तो अब वहा एक काम करो कि किसीको भी बात न मानो। जिस कुलमे खुद पैदा हुए उसकी भी बात छोड दो। क्योकि जब शका हो गई तो शकाका तो स्वरूप ही यह है कि सभीमे उसके लिए कोई विश्वास्य न रहा ? कुछ हर्ज नही। जिस कुलमे पैदा हुए उस धर्मकी भी परवाह न करें और अन्य धर्मकी भी परवाह न करे। कोई और ख्याल न बनावें, पर इतनी जानकारी जब हुई है कि बाह्य पदार्थ मेरे साथी नही है, हितकारी नही है, तो बस अब आप बैठ जावो चुपचाप, और किसी भी पदार्थका ख्याल न करो, किसीमे भी चित्त न फंसावो, सबका ख्याल छोड दो और यह आग्रह करो कि हम तो अपने चित्तको अपने प्लेट-फार्मको एकदम साफ रखेंगे। एक-इसपर कुछ भी पदार्थ न आये, मेरे चित्तमे केवल एक मेरा ही मन रहे। बस बैठ जायें, कुछ न सोचें, किसीका भी ख्याल न करें और कदाचित् दिल ऐसा बन जायगा कि किसीका भी ख्याल न बनावें और चित्तमे तो था ही कि मार्ग कौनसा है जिसपर हम चलें तो किसीका भी ध्यान न रखें, किसीका भी पक्ष न करें और ऐसा विश्रामसे अगर एक क्षण भी गुजरे तो उसको अपने आप विदित हो जायगा कि धर्म किसे कहते है ? यह निष्पक्ष निर्णय कहलायगा उसका, क्योकि खुद तो ज्ञानस्वरूप है ना। बाह्य पदार्थोका ध्यान छोड दे तो यह ज्ञान अब किसका सहारा लेगा ? खुदका। ज्ञान अपने ज्ञानका ही सहारा लेगा। और उन बाह्य पदार्थोका ख्याल, ध्यान, ज्ञानमे ज्ञानका प्रकाश आनेसे स्वय सहज एक अलौकिक आनन्द मिलेगा, जिससे वह परख जायगा कि मेरा जो यह स्वरूप है, स्वभाव है, बस इस शासनका आश्रय करना और परका आश्रय छोडना, ऐसे ही ज्ञानमे बना रहना, जिस ज्ञानमे रहकर हमने अद्भुत आनन्द पाया, ऐसा ज्ञान बना रहना, यह ही धर्मपालन है। जहाँ राग नही, द्वेष नही, कषाय नही, केवल ज्ञानज्योति ही ज्ञानमे बस रहा हो, ऐसी स्थिति बनानेको धर्मपालन कहते है। योगीजन निर्जन वनमे करते ही क्या हैं ? बस वही स्वरूपकी आराधना और जब सब निर्णय बना लेत कि ऐसा विकास जहाँ हो, बस वही भगवान है और ऐसा विकास मेरा हो सकता। सब बात उसके आ जाती है और इस निष्पक्ष निर्णयके द्वारा वह वास्तविक मार्गमे लगकर शान्तिको प्राप्त कर लेता है।

शिष्यानामपहाय मोहपटल कालेन दीर्घेण यज्जातं
स्यात्पदलाञ्छितोज्ज्वलवचोदिव्याज्जनेन स्फुटम् ।
ये कुर्वन्ति दृशं परामभितरां सर्वावलोकक्षमां,
लोके कारणमन्तरेण भिषजास्ते पान्तु नोऽध्यायका ॥६१॥

(१८७) धर्मकी परिभाषाओंमें द्वितीय परिभाषाके प्रसंगमें उपाध्याय परमेष्ठीका वर्णन—

इस ग्रन्थका यह प्रथम परिच्छेद है धर्मदेशनाका। बताया गया था कि धर्म ५ परिभाषावोमे कहा जायगा। जीवदया धर्म है—पहली बात। मुनिधर्म और श्रावकधर्मके भेदसे दो प्रकारका धर्म है, दूसरी बात। तीसरी बात कही—रत्नत्रयधर्म। चौथी बात उत्तम क्षमा आदिक दस लक्षणरूप धर्म है और ५वी बात—मोह क्षोभसे रहित विशुद्ध आनन्दमय ज्ञानकी अनुभूति धर्म है। इन ५ परिभाषाओमे से जो दूसरी परिभाषाका नम्बर चल रहा है श्रावकधर्म और मुनिधर्म। तो श्रावकधर्मका वर्णन पहले हो चुका था, अब मुनिधर्म का वर्णन चल रहा है। मुनिका तो संसारकी किसी वस्तुसे प्रयोजन न रहा। केवल एक निज ज्ञायकस्वरूपका भान रहनेका ही जिनका भाव है और सर्व सगका त्याग कर दि । बनावट जहाँ कुछ नही। छोडने छोडनेसे ही जो रह गया उसीको लोग भेष कहते है। साधुजन किसी भेषमे नही रहा करते, पर क्या किया जाय? घर छोडा, कुटुम्ब छोडा, वस्त्र छोडा, सब छोडते ही गए। केवल शरीरमात्र रह गया उसे कहते हैं निर्ग्रन्थ पद। यह भेष नही है किन्तु एक स्थिति बन गई त्याग करते करते, सो कुछ भी त्याग हो नही भेष बन जाता है। जैसे कुछ समय पहले एक रिवाज चल गया था कि कुर्ताका एक बटन खुला रहना औंधासीधा जैसा चाहे बना रहना। गांधी जी का जैसा फोटो था अस्तव्यस्त बस उसीको लोगोंने अपना श्रृङ्गार बना लिया। तो बडे पुरुषोकी बात कोई देखकर लोग उसीमे शौक मानते। ये कपडोंके बहुतसे कट क्यो चले? जैसे वास्कट, नेहरूकट और पुरुषोंके मूछोंके भी पहले दो डिजाइन चले थे—एकका नाम था कर्जनकट। मूंछको बिल्कुल साफ रखना और दूसरा मक्खीकी तरहकी मूंछ रख देना। जो कुछ करता था कोई बडा आदमी बस उसीको लोगोने अपनाया। तो ऐसी चीज तो है सबके चित्तमे कि बडे पुरुष जैसा पहने, जैसे रहे उस तरहकी एक नकल करना वही एक शौक बन गया। भेषकी बात कह रहे। साधुजनोने अपना कोई भेष नही बनाया, किन्तु क्या करें, सब चीजोका त्याग करते गए। त्याग करते करते जो रह गया वही एक सुन्दररूप बन गया निर्विकार। तो मुनिराजमे तीन प्रकार होते हैं। हैं सब मुनि साधु ही है, जो आत्माकी साधना करें सो साधु, मगर उन साधुवोमें कोई

एक नायक होता है जिससे सब साधु, कोई दोष बन जाय तो उनसे विनती करें, आलोचना करें, प्रायश्चित्त दें, उसे स्वीकार करें, नये लोगोको दीक्षा दें, इस व्यवस्थामे समर्थ जो मुनि है सर्वसम्मत, उनका नाम आचार्य है। और उनमें जो पढे लिखे विशेष विद्वान हैं, जिनको पढानेमे रुचि जगती हो उनको आचार्य देते है पद उपाध्याय और उन दो को छोडकर शेष सब मुनि साधु कहलाते है। तो इनमे छोटा-बडा कोई नही। थोडा व्यवस्थाके नातेसे, लौकिक नातेसे भले ही कुछ कहते हैं कि आचार्य बडे। नही तो मुनि तो निःशल्य तपश्चरणमे, ज्ञान ध्यानमे रत, कुछ फिक्र नही, उनकी साधना किसी किसीकी आचार्यसे भी ऊँची होती है। तो सब मुनि एक समान है। उनमे से उपाध्यायकी बात कह रहे इस छदमे।

(१८८) उपाध्याय परमेष्ठीके उपदेशोंमें से हितकारी एक प्रधान सन्देश—

जिन्होने शिष्योंके मोहपटल हटा दिए हैं। जब शिष्योको ज्ञान मिलता है, संसार के स्वरूपका भान होता है, उनका उपदेश सुनकर कि जगतका अणु-अणु स्वतन्त्र है, कोई वस्तु किसी वस्तुकी कुछ लगती नही प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, एकका दूसरेपर अधिकार नही। भले ही अपने-अपने स्वार्थवश एक दूसरेकी बात मानते हैं, सो भी कोई सोचे कि इसकी यह आज्ञा मानता है तो यह भ्रम है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ ग्रहण नही करता, न दूसरेको कुछ दे सकता। यह एक निमित्तनैमित्तिक योग है कि सब व्यवस्था चल रही है। तो वे उपाध्याय मुनि शिष्योका मोह पटल दूर करें काहेके द्वारा ? उपदेशके द्वारा। कौनसा उपदेश ?···सत्य, पदार्थोंके स्वरूपका उपदेश, जो स्याद्वाद पद चिन्हित भाषासे उनको समझाया जावे। कैसे ? कोई पदार्थ ले लो। बतलावो जीव नित्य है या अनित्य ? अनेक दार्शनिकोने अपनी-अपनी भिन्न बात रखी। जैसे कोई दार्शनिक कहते कि जीव अनित्य है, क्षणिक है, अक्षणिक नही, कही यह न समझ लेना कि कोई अगर कह दे कि क्षणिक है, अक्षणिक नही, तो वह अनेकान्त बन गया। अनेकान्त होता है द्रव्य और पर्याय दो दृष्टियोके आधारसे। यो तो सभी अनेकान्ती हो जायेंगे। हाँ एक कोई कहता है कि मेरी बात सत्य है, असत्य नही है। इसमे स्यात् नही माना जाता। नित्य ही है, वह भी एकान्तवाद है। जीव क्या है ? अपने आपके भीतर सोचो, क्योकि सभी जीव हैं, जो बैठे हैं वे सब जीव है। यह जीव सुबहसे शाम तक एक ही रहा या हजार जीव हो गया ? अपने अपने अनुभवसे पूछ लो। सुबहसे शाम तक एक ही जीव रहा। अच्छा और १० वर्षसे अब तक ? वही, और पूर्वभव से अब तक वही। जो है उसका समूल नाश कभी नही होता। जैसे गीतामे बताया है — "नासतो विद्यते भाव. नाभावो विद्यते सत.।" अर्थात् जो सत् है उसका कभी नाश (अभाव)

नही होता और जो नही है उसका कभी सद्भाव नही होता। मैं हू, नित्य हू, मगर क्या रोज एक ही रूपमे रहता हू ? बदलता रहता हू अपना रूप। कभी कुछ सोचा, कभी कुछ। कभी क्रोधी होते, प्रेममे होते, कभी दु:खमे होते, कभी सुखमे होते। रूप बदलता है ना ? तो उस बदलकी अपेक्षा तो अनित्य है। किन्तु है वही, इस कारण नित्य है। ऐसा पदार्थोंको जाननेका उपाय सही है। सबसे बडी भारी देन है जैनशासनकी तो स्याद्वाद, अनेकान्त। जिससे पदार्थोंकी परीक्षा भी होती है और किसीसे कोई विरोध नही खाता। अनित्य माननेवालोको समझा दिया कि बदलता रहता है रूप, इसलिए अनित्य है। नित्य वालोको समझा दिया कि जीव वही है, अतएव नित्य है, और फिर वास्तविकता भी यही है।

(१८९) दृष्टान्तपूर्वक स्याद्वादपर प्रकाश—

गुरु जी सुनाते थे कि एक बार बनारसमे कोई एक ब्राह्मण विद्वान् था, सो जैन-दर्शन पढाते-पढाते उसकी आंखें खुल गई कि ओह वस्तुकी परीक्षा स्याद्वादसे है। अच्छा, तो उसके पास कई लोग आये और कहा—पडितजी, यह तुम क्या कह रहे हो ? तुम तो जैन-शासनका ही पोषण करते हो ? तो उन्होने उत्तर तो कुछ न दिया, पर अपने घरके चार फोटो उनके सामने रख दिए जो कि घरके चारो ओरसे (चारो दिशाओंसे) खीचे गए थे। एक फोटो उठाया और पूछा—बताओ यह फोटो किसका है ? तुम्हारे घरका। और यह यह भी तुम्हारे घरका है। यो सभी फोटो दिखाये और पूछा तो उत्तर सबका वहीका वही मिला। तो पंडितजी बोले—भाई तुम लोग तो बडे अव्यवस्थित आदमी मालूम होते हो। सभी फोटो एक दूसरेकी शक्लसे मिल नही रहे, फिर भी तुम लोग कहते कि तुम्हारे घरकी फोटो हैं तो वे लोग खुद बोल उठे कि यह एक फोटो तो घरकी पूरब दिशासे खीचा गया है, एक पश्चिम दिशासे, एक उत्तर दिशासे और एक दक्षिण दिशासे। तो पडित जी कहते है कि बस यही तो स्याद्वाद है। आप सबको भी हमारा यही उत्तर है। यही तो अनेकान्त है। चीज एक है, इस दृष्टिसे यो है, इस दृष्टिसे यो है। इस स्याद्वादके बिना किसीका गुजारा चल रहा क्या ? कोई परिचय कर पाता है क्या ? एक जगह मानो कोई तीन व्यक्ति बैठे हैं—बाबा, बेटा और पोता। अब उनमेसे बेटेका परिचय कराओ कि वह कौन है ? तो एक कहता है कि यह बाप है, और एक कहता है कि यह बेटा है। अरे बाप और बेटा ये तो दो बिल्कुल विरुद्ध बातें हैं। जो बेटा है वह बाप कैसे और जो बाप है वह बेटा कैसे ? तो कहते हैं कि भाई बात ऐसी है कि बाबाकी दृष्टिसे तो बेटा है और बेटेकी दृष्टिसे बाप है। तो वस्तुकी परीक्षा स्याद्वादसे सही हो पाती है। एक प्रसिद्ध दृष्टान्त है कि एक बार चार

अंधे एक हाथीकी परीक्षाके लिए चले कि हाथी कैसा होता है ? उन्होने कभी हाथी देखा तो था नही । सो गए हाथीके पास टटोलते हुए । हाथी बहुत सीधा था । तो एक अंधेके हाथमें सूंड पडी तो उसने कहा—अरे हाथी तो मूसल जैसा होता है, एकके हाथ कान पड़े तो वह कहता है—हाथी तो सूप जैसा होता है, एकके हाथ पेट पडा तो वह कहता है कि हाथी तो ढोल जैसा होता है । एकके हाथ पैर पडे सो वह कहता है कि हाथी तो खम्भा जैसा होता है । अब वे चारोके चारो आपसमे झगडने लगे । जिस अंधेने जैसा ज्ञान किया वही सत्य कहे और बाकी तीनको गलत कहे । विवाद हो गया उन चारोमे । इतनेमे वहांसे एक सूझना पुरुष निकला । उसने पूछा—भाई तुम लोग आपसमे क्यो झगड रहे हो ? तो उन्होने अपनी अपनी बातकी पुष्टि की । जिसने हाथीके विषयमे जैसा ज्ञान किया था उसने उसको तो सत्य कहा और बाकी तीनको असत्य कहा । तो उस सूझना पुरुषने उन्हे समझाया कि देखो तुम लोग आपसमे लडो मत । तुम चारोके चारोकी बात ठीक है । तुममे से एकके हाथमे सूंड पडी तो सूंडकी दृष्टिसे हाथी मूसल जैसा है, एकके हाथमे कान पडे तो कानकी दृष्टिसे हाथी सूप जैसा है, एकके हाथ पेट पड़ा तो पेटकी दृष्टिसे हाथी खम्भे जैसा है । तुम सबकी बात ठीक है, लड़ो मत ।

(१९०) एकान्तवादका आग्रह तजकर यथार्थ वस्तुस्वरूपकी श्रद्धामें आत्मलाभ—

आज वस्तुस्वरूपके बारेमे एकान्त हठ करके जरा भी गुंजाइश नही रखते कि भाई इसे जो दूसरे लोग कहते है, यह भी सम्भव है, जो हम कहते है सो ठीक । और फिर कुछ चला हुआ, कुछ बल हुआ तो उसे कहते है ठोपना । उसीको ही बारबार कहना एक हठपूर्वक । क्योकि स्याद्वादका आश्रय छोडा, इसलिए यह आग्रह बन जाता । एक गांवमे एक पचायतसी हो रही थी, सो उस पचायतमे कोई ऐसी बात आयी कि ४० और ४० मिलकर ८० होते है । तो वहां कोई जाट मुखिया बैठा था, वह बोल उठा—अरे ४० और ४० मिलकर तो ७० होते है । सभी लोगोने ८० कहा और उसने ७० कहा । और इतनी हठ कर गया वह मुखिया कि कह बैठा कि यदि ४० और ४० मिलकर ७० न होते हो तो हम अपनी सभी भैंसें पचोको हार जायेंगे जो कि १०-१० सेर दूध देने वाली है । सभी पच लोग बहुत खुश हुए कि अब तो इसको सब भैंसें मिल ही जायेगी । यह खबर उस मुखियाकी स्त्रीको भी पता हो गई कि आज पचोके बीच इस-इस तरहसे बोल आये । वह स्त्री बडी उदास चित्त घरमे बैठी हुई थी, इतनेमे मुखिया पहुचा । स्त्रीको उदास देखकर मुखिया बोला—आज तुम उदास क्यो हो ? तो स्त्री बोली—हम उदास हैं तुम्हारी करतूतसे ।··· कैसी कर-

तूत ?" 'अरे तुम पचोंसे यह कह आये कि अगर ४० और ४० मिलकर ७० न होते हो तो हम अपनी सभी भैंसे पचोको दे देंगे। तो अब तो ये सभी भैंसें पचोको मिल जायेंगी, अपने घरसे चली जायेंगी, अब घरका काम कैसे चलेगा, बच्चे कैसे पले-पुषेंगे ? इस बातकी हमे उदासी है। तो वह मुखिया बोला---अरी पगली, तू तो बडी भोली है। अरे जब हम अपने मुखसे कहे कि ४० और ४० मिलकर ८० होते है तभी तो पच लोग हमारी भैंसोमे हाथ लगा सकेंगे' तो एकान्तवाद इसी हठमे पनपे हैं। स्याद्वादका सहारा न छोडें। एक सीधी सी बात है कि पदार्थ सदा रहते हैं और प्रतिक्षण परिणमते रहते है। इन्ही दो आधारोसे स्याद्वादका सहारा लें तो सब बातें सही सही हल होती जायेंगी।

(१६१) यथार्थ तत्त्वके पाठक उपाध्यायपरमेष्ठीका जयवाद—

जो उपाध्याय मुनि है वे स्याद्वादसे चिन्हित तथ्य शिष्योंको पढाते हैं जिससे उन शिष्योका मोहपटल दूर होता है। तो देखो जो एक निर्मल दृष्टि प्रदान करनेका कारण बनें उनका कोई ऋण चुका सकता है क्या ? ये उपाध्याय मुनीश्वर पढाने वाले अध्यापक ये कारण-बिना ही वैद्य जैसे है। जैसे कोई वैद्य बड़ा उदारचित्त किसीसे कोई आशा नही रखता और सबकी सेवा करता है तो जैसे वह वैद्य एक निरपेक्ष बधु है, सबका मित्र है, उसने सबको अपनासा मान लिया। तो कहते है कि यह निरपेक्ष बधु है, हितकारी है, तो ऐसे ही समझिये कि अध्यापक उपाध्याय जो कारण बिना, कुछ खर्च बिना सबको ज्ञानदान देकर सबका उपकार करते है वे साधु पुरुष जयवन्त हो, हम सबकी रक्षा करें।

उन्मुच्यालय बन्धनादपि दृढात्कायेऽपि वीतस्पृहा-
श्चित्ते मोहविकल्पजालमपि यद्दुर्भेद्यमन्तस्तमः।
भेदायास्य हि साधयति तदहो ज्योतिर्जितार्कप्रभ,
ये सद्बोधमय भवन्तु भवता ते साधव. श्रेयसे ॥६२॥

(१६२) साधुवोकी निःस्पृहता आदि गुणोका स्मरण—

यह साधुजनोका स्तवन है याने जो आचार्य पद और उपाध्याय पदसे स्वतत्र हैं, निर्भार हैं। एक धार्मिक दृष्टिसे भी दूसरेकी चिन्ताका, इज्जतका भी कोई कारण नही है, ऐसे साधुजनोने क्या किया कि वे घरके बन्धनसे मुक्त हो गए। घर तो है कारागार और कुटुम्ब है बेड़ी, ऐसा कहते है ना ? तन कारागृह माहि। यह शरीर तो है कारागृह और जिन जिनसे स्नेह होता वे है बेडीकी तरह। घर— जिस स्थानमे, जिस वातावरणमे इस चैतन्यस्वरूपकी सुध न रहे और जो कमरस उदयमे आया उस कर्मरससे ही भिदा हुआ रहे, रागद्वेष विकल्प

जालमे ही बसा रहे तो ऐसा जीवन इसके कुछ काम ग्रायगा क्या ? यह तो संसारमें रुलनेकी ही बात है। तो जिन सौभाग्यशाली पुरुषोका यह संसार मोहके गृहका बन्धन छूटा और शरीर तकसे भी जिन्होने स्पृहा न रखी, शरीर तो साथ चल रहा जायगा कहाँ, मगर शरीर भी स्पृहा, आशा, रति, ममता जिनके नही रही यह बात जब तक अपनेमे अन्त प्रकाशमान इस चिदानन्द भगवत्स्वरूपके दर्शन नही होते तब तक आशा लगाते। आशा कहो, ममता कहो, लगता ना ऐसा। जैसे कोई कजूस पुरुष हो तो अगर कोई सेठ कही दान करता हुआ दिख जाय, जो भिखारियोको खूब भोजन, वस्त्र, पैसा आदिक दान कर रहा हो, लुटा रहा हो तो उसको बडा आश्चर्य होता है कि अरे यह अनहोना काम क्यो किया जा रहा है ? यह तो अपना सब घन वैभव यो ही लुटाये दे रहा है। देखिये—जिसके चित्तमे जो बात बसी है वह उसीका विश्वास करता है। मोहियोको ऐसा विश्वास नही होता कि कभी ऐसे भी लोग हुआ करते थे कि जरासा सफेद बाल देखा तो झट विरक्त हो गए, क्योकि वे तो समझते है कि यहाँ तो सारा सिर ही सफेद हो गया, फिर भी टससे मस नही होते तो ऐसा कैसे होगा ? सब अपनेसे माप करते है। साधुजन तो अपने स्वरूपसे माप किया करते है, जिसमे कमसे कम सत्यस्वरूपकी श्रद्धा तो बनाया हो कि मैं क्या हू वास्तवमे ? कर्मरससे भी निराला, कषाय इच्छा आदिक विभावान्धकारोसे भी निराला एक ज्ञानज्योतिर्मय पदार्थ हू। उसका जो आनन्द पा ले तो समझेगा कि ओह इस सहजसिद्ध आत्मीय आनन्दके पानेके लिए ही सब कुछ त्याग कर दिया जाता। और जब तक इस चिदानन्दस्वरूपकी सुध नही होगी तब तक त्यागकी बात, त्यागी जनोकी बात उसके चित्तमे घर नही करती।

एक ऐसी घटना है कि एक कोई कृपण पुरुष किसी शहरकी गलीमे से जा रहा था। रास्तेमे उसने देखा कि कोई धनिक गरीबोको खूब भोजन, वस्त्र, रुपया-पैसा बाँट रहा था। उसे देखकर वह कृपण दग रह गया। सोचा—ओह, देखो कैसा यह सब धन व्यर्थ ही लुटाया जा रहा है। उसका चिन्तन इतना बढ़ा कि उसके सिरमे दर्द हो गया। घर पहुंचते पहुचते बडा विह्वलसा हो गया। घर पहुचनेपर— "नारी पूछे सूमसे—काहे बदन मलीन ? क्या तेरा कुछ गिर गया या काहूको दीन" अर्थात् नारी पूछती है उस कृपणसे कि हे पति-देव ! तुम्हारे चेहरेपर आज उदासी क्यो छायी है ? तुमने किसीको आज दे डाला है या तुम्हारा आज कुछ गिर गया है ? तो वह कृपण पुरुष उत्तर देता है— "ना मेरा कुछ गिर गया, ना काहूको देन। देतन देखा औरको, तासो बदन मलीन॥" अर्थात् हे नारी, मैंने न तो किसीको कुछ दे डाला है और न मेरा कुछ गिर गया है, बल्कि दूसरेको खूब धन लुटाता

देखकर मेरा चित्त उदासीसे भर गया है । तो जैसे कृपण पुरुषको कोई दानी दान देता हुआ दिख जाय तो उसे बडा आश्चर्यसा होता है, ऐसे ही अज्ञानी जनोको, अव्रती जनोको, ज्ञानी विद्वान्, त्यागी जनोकी वृत्ति देखकर एक बडा आश्चर्यसा होता है कि अरे क्या हो गया है इन्हे ? इनकी कुछ बुद्धि फ्रैंक कर गई है क्या ?··· तो ये साधारण जन ज्ञानी योगी जनोकी वृत्तिको क्या जानें ? वे ज्ञानी योगीजनोकी वृत्तिको क्या जानें ? वे ज्ञानी योगी अपने ही सहज अद्भुत परम आल्हादका अनुभव करने वाले हैं । वहाँ कहाँ है आशा ? अच्छा प्रभुके उन गुणोकी अगर सुध है, समझ है और यह समझ कैसे बनी कि खुदके स्वरूपको उन्होने देख डाला और उनको यह दृढ निश्चय हो गया कि हाँ ऐसा हो सकता है । ऐसे हुए हैं कोई । चैतन्यप्रभुके गुणको जानने वाले ही तो उसकी भक्ति करेंगे । तो यहाँ साधु जनोमे जिनको प्रेम होगा और जो स्वभावकी वास्तविक विभूतिको हृदयसे समझते हैं उनको उसके प्रति भक्ति जगती है ।

(१९३) निःस्पृह, मोहजालविध्वंसक, अनगार, साधु परमेष्ठीका जयवाद—

यह साधुवोकी बात चल रही है कि वे साधुजन शरीरसे भी स्पृहा नही रखते और मोहजाल जो बहुत दुर्भेद्य है उसको भी जिन्होने दूर कर दिया और जो अपने आपके अंतःस्वरूपकी साधना कर रहे हैं, जिन्होने ज्योतिके द्वारा सूर्यकी प्रभाको भी जीत लिया । देखो सूर्यकी प्रभा बाहर ही तो प्रकाश करेगी, बाहरमे ही तो अधकार दूर होगा, पर आत्मामे अन्तः पडा हुआ रागद्वेष मोह अधकार उसे तो सूर्य दूर नही कर देता । यह तो एक ज्ञान-ज्योतिके द्वारा ही मोहपटल दूर होगा । जितने भी क्लेश हैं हम सबको, सच बात तो समझ कर निर्णयमे रखियेगा । सब दुःख मोहसे है, खूब परख लो । जिनका मेल है, आज जो सग मे है, आज कोई कहीसे आया कोई कहीसे । क्या कुछ पता है कि कौन किस भवसे आया और फिर अपना-अपना समय पूरा करके कोई कही जायगा, कोई कही । जैसे लालमिर्च जो ज्यादह खाते हैं वे सी-सी भी करते जाते, आंसू भी गिराते जाते और कहते जाते कि और लावो मिर्च, ऐसे ही मोहके रुचिया अज्ञानीजन-मोहसे रोज-रोज दुःख पाते जाते, दुःखी भी होते जाते और अन्तः यह ही आवाज उठती है कि बस इस मोहसे ही तो मेरा दुःख मिटेगा देखो—कल्याणका कितना सीधा उपाय है ? सच जान लो, मोहको तज दो, इसमे तुम्हारा बिगडता क्या है ? सच जाननेमे कौनसी खराबी आती है ? और मोह तजनेमे कौनसी खराबी आती है ? आप कहेगे कि फिर घरमे कैसे रहेगे ? तो भाई घरमे मोह किए बिना भी रह सकते राग द्वारा । राग और मोहमे अन्तर है । प्रेमके आधारसे घरमे रहो, मोहका

आधार बनाकर न रहो। जैसे दृष्टान्तसे कहते ना—ज्यो जलसे भिन्न कमल है। बताओ वह कमल कहांसे पैदा हुआ ? जलसे और बतलावो वह जलसे कितनी दूर रहता है ? करीब दो हाथ दूर और वह कमल अगर किसी तरह झुककर जलमे आ जाय तो वह सड जाता है, उसकी प्रसन्नता, उसका प्रफुल्लितपना समाप्त हो जाता है। बस यही बात तो गृहस्थकी है। यह मनुष्य कहांसे पैदा हुआ ? घरमे और घरमे रहकर फिर उसे कितना दूर रहना चाहिए ? जलसे कमलकी तरह। और इतना दूर न रहकर कोई घरमे ही लिपटा रहेगा तो वह गृहस्थ बरबाद हो जायगा। लोग तो सोचते है कि हम अपने बेटेको बहुत अच्छा बना दें सो उससे मोह ज्यादह करते हैं, उसका फल क्या होता है कि वह बच्चा निडर हो जाता है। वह सोचता कि हमे तो यह बहुत चाहते, यो वह स्वच्छन्द हो जाता है और कोई उस बच्चेसे मोह न करे, निर्मोहतासे व्यवहार करे तो बच्चा खुद डर मानेगा कि हम इस ढंगसे चलें नही तो पिताजो नाराज हो जायेंगे। तो बतलावो बच्चेका सुधार मोहसे हुआ या निर्मोहतासे ? निर्मोहतासे हुआ। निर्मोहता तो एक अमृत है। वे साधुजन घर गृहस्थीके बीच भी रहे। तो मोह तजकर रहे, तो ऐसे साधुजनोको अब किसीकी क्या आशा ? ऐसे वे साधुजन जिन्होने यह ज्ञान पाया ये हम आप सबके कल्याणके लिए होवें।

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोकमुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलति योगात्।
बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकारा: सम्यग्दृश किमुत शेषपरीषहेषु ॥ ६३ ॥

(१६४) धीर, सत्यप्रतिज्ञ साधुपरमेष्ठीकी उपासना—

जिन्होने जगतके समस्त सगको बेकार असार समझ लिया और अपने आत्मके सहज स्वरूपका अनुभव किया, यह पक्का निश्चय कर लिया कि मुझको तो एक निज सहजस्वभाव मे मग्न होने का ही काम है, ऐसे पुरुष समस्त परिग्रहोका त्यागकर साधुव्रत अगीकार करते है। ऐसे साधुजनोको, कल्याणार्थी जनोको परिग्रहकी चिन्ताका कोई कारण नही है। केवल एक शरीर मात्र ही परिग्रह रहा। जगलमे रहते है, कही जिनालयोमे रहते है। कोई साधन नही, उनपर कितने परीषह आया करते है जो परीषह २२ प्रकारके बताये गए—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदिक ये सब परीषह उनपर आते हैं, किन्तु उन परीषहोसे वे विचलित नहीं होते, क्योकि उनकी दृष्टि सच्ची होती है। मेरा आत्मा, मेरा सर्वस्व अथवा यह मैं अविकार स्वरूप निर्विघ्न हू। जिसमें किसी अन्यका प्रवेश नही। ज्ञानमात्र, उसमे क्या विपत्ति आती है ? ऐसे ज्ञानमात्र तत्त्वको निरखते हुए ये सम्यग्दृष्टि, ये महाव्रती मुनि इतना दृढ़ हैं कि चाहे उनपर वज्र भी गिरे, चाहे आवाजको सुनकर ये तीनो लोकके प्राणी अपना मार्ग छोड़

वें, लेकिन शान्तचित्त मुनीश्वर जिन्होने सम्यग्ज्ञानरूपी अग्निसे मोहरूपी महाअन्धकारको नष्ट कर दिया वे रच भी विचलित नही होते। यह सब महिमा है ज्ञान और वैराग्यकी। यहाँ गृहस्थ भी तो जो अत्यन्त मोही है वे कितने ही उपद्रव आयें, पर उस मोहसे विचलित तो नही होते। मोहमे ही लगे रहनेकी धुन लगी है ना ? तो ऐसे ही जिनको एक आत्मज्योतिकी धुन लगी है वे पुरुष जानते हैं कि यह शरीर मेरेसे अत्यन्त जुदा है। जैसे अन्य सब पुद्गल मेरेसे बिल्कुल भिन्न है, ऐसे ही यह शरीर भी मेरेसे बिल्कुल भिन्न है। उसकी प्रीति करना योग्य नही। भाई कोई सोच सकता है चित्तमे ऐसी घटनाको देखकर कि यह ही शरीर जिसको मेरा मेरा कह रहे, जिसके बधनमे पडे हैं, यह एक दिन लोगोंके द्वारा जला दिया जायगा। इस शरीरको यह मानना कि यह मैं हू, यह कितना बडा अन्धकार है ? जब कोई मानता है कि यह शरीर ही मैं हूँ तब ही तो वह घबड़ाता है, तब ही तो सारे नटखट हैं। सम्मान-अपमान महसूस करना, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करना, यश-अपयशका विचार करना आदि सभी बातें इस शरीरमे आत्मबुद्धि रखनेसे ही तो चल उठती हैं। शरीरमें आत्मबुद्धि होनेसे ही कोई विपत्ति आनेपर यह मानता कि हाय मैं मरा। जब शरीरमे प्रीति है, शरीरको माना कि यह मैं हू तो उसके तो जगह-जगह झगडे खडे होते है। जिसको अशान्तिसे बचना है उसको सर्वप्रथम यह मानना चाहिए कि जब यह शरीर ही मैं नही हू, मेरा नही होता, फिर बाहरमे मेरा क्या है ? और यह वास्तविक बात है। तो जिनमे ज्ञान जगा, ऐसे साधु पुरुषो पर कितने ही परीषह आयें, पर वे उनसे विचलित नही होते।

प्रोद्यत्तिग्मकरोग्रतेजसि लसच्चण्डानिलोद्यद्दिशि,
स्फारीभूतसुतप्तभूमिरजसि प्रक्षीणनद्यम्भसि।
ग्रीष्मे ये गुरुमेदिनीध्रशिरसि ज्योतिर्निधायोरसि,
ध्वान्तध्वसकर वसन्ति मुनयस्ते सन्तु न श्रेयसे॥ ६४॥

(१९५) ग्रीष्मकालीन परिग्रहके विजयी तपोमूर्ति साधुवोकी उपासना—

परीषह तो बहुत होते है, उनमेसे एक मूल तीन बातोका चित्रण कर रहे हैं कि साधु पुरुष कैसे तो वर्षा ऋतुके परीषह सहते, कैसे शीतकालके और कैसे ग्रीष्मकालके परीषह सहते ? बरषातके, वर्षा ऋतुके दिन कितने भयकर होते हैं ? यह ग्रीष्मकालका वर्णन कर रहे हैं। देखो ठडके दिन जब होते हैं तो ग्रीष्मकालका कोई कितना ही वर्णन सुने, पर चित्त मे यह बात अधिक नही बैठती कि ग्रीष्मकालका कितना बडा दुःख होगा ? जब गर्मी तेज चल रही हो उस समय कोई ग्रीष्मकालका वर्णन करे तो झट समझमे आ जाता है कि

ग्रीष्मकालमे बडा दु:ख होता है। गर्मीके दु:ख, जहाँ इतना तेज सूर्यप्रताप है कि सूर्यकी किरणोकी बडी तीक्ष्ण चोट होती है। गर्मीके दिनोंमे जब तेज धूप होती है तो एक ही घरके अन्दर जहाँ दो कमरोमे बीच सिर्फ आँगन हो, तेज धूप पडनेके कारण एक कमरेसे दूसरे कमरे मे जाना मुश्किल पड जाता है, पैर जलते है। जाते भी है तो दौडकर जाते है, इतनी तेज सूर्यकी किरणें होती है। भला गृहस्थजनोंको तो अच्छे अच्छे महल बाधा दूर करनेके लिए हैं, पर साधुजनोको कौनसा आश्रय है ? इतनी विकट गर्मी पड़ती है तिसपर भी वे समता-परिणाम रखते हैं।

देखो एक समताका प्रोग्राम बन गया कि सारे दु:ख कम हो गए और जब समताका प्रोग्राम नही है तो सारी बातें कठिन ही कठिन लगती है। अभी-अभी सुना है कि गोरखपुर मे पानीकी इतनी तेज बाढ आ गई है कि जिससे ५५ हजार घर गिर गए है, वहाँपर लोगों को भोजन हवाई जहाजसे गिराकर दिया जा रहा है। जिसके हाथ भोजन पडा उसने खा लिया। बहुतसी रोटियाँ तो बेकार भी चली जाती है जो किसीके हाथ नही पडती। अब वहाँके लोगोको कितनी वेदना होगी, इसका अनुभव तो वे ही कर रहे होगे। यहाँ तो हम आप जरा-जरासी बातमे कष्ट मानते है। अरे जीवनमे कष्टसहिष्णु बननेकी आदत बनाओ, और भगवानसे बजाय यह प्रार्थना करनेके कि हे प्रभो ! मुझे सुख दो, दुःख मेटो, यह प्रार्थना करनेके कि हे भगवन् ! मुझमे ऐसा बल जगे कि कष्टोको सहनेकी शक्ति मुझमें आये। अगर कष्टसहिष्णुता हो गई तो उसे फिर कोई खेद नही रहता। और बाहरमे सग्रह-विग्रह करके दु ख मिटेगा, सुख आयगा, ऐसी गड़बड हलचल करके सुखकी आशा करना जिन्दा मेढकोको तौलनेकी तरह है। जैसे जिन्दा मेढक तोले तो नही जा सकते ? बहुतसे मेढक है, अच्छा जरा एक-दो किलो मेढक तौलकर बताओ, एक मेढक रखोगे तो एक उचक जायगा, फिर कोई दूसरा रखोगे तो पहला छलांग मार जायगा। आप जिन्दा मेढक सही-सही तौल न पायेंगे। तो ऐसे ही यहाँ दुःख मेटनेके उपाय, सुखी बननेके उपाय बाहरी बाहरी करके कोई चाहे कि मुझको शान्ति मिल जाय तो यह बडी असम्भवसी बात है। कष्टसहिष्णु बनो, यह एक मुख्य काम है, इससे कर्मकी निर्जरा होगी। वर्तमान कालमे वेदना न होगी, कोई चिन्ता भी न रहेगी। तो कष्टसहिष्णुताकी मूर्ति है साधु महाराज। तो ग्रीष्मकालमे जहाँ तीक्ष्ण लू चल रही हो और अत्यन्त तेज गर्मी हो, गर्म धूल नीचे भी उड़ करके फैल रही हो और आकाश मे भी चढ रही हो उस समय कितनी वेदना होती है गर्मीमे, और फिर एकाएक हवा एकदम बन्द हो जाय, जैसे बिहार प्रान्तमे कभी-कभी ऐसा हो जाता है।

एक बार गया (विहार) मे हमारा (प्रवक्ताका) चातुर्मास था। वहाँ एक बार कोई ८ दिन तक हवा लगातार बद रही, उस समयकी भीषण गर्मीकी वेदनाका कहना क्या? ऐसे ग्रीष्म कालमे नदियोका जल सूख गया, कुवोमे भी पानी न रहा, ऐसी बडी गर्मीके समय मे भी ये मुनिजन निज ज्ञायक स्वभावकी दृष्टिरूप जलसे स्नान करते हुए मानो उस सतापसे दूर रहा करते हैं। देखो धैर्य देने वाला, शान्ति देने वाला मात्र ज्ञान है। अन्य उपाय नही है। जब यह ज्ञान जगता है कि यह मैं तो सबसे निराला केवल ज्ञानज्योति मात्र हू, मेरे गे है क्या जगतमे? जब ऐसा एकाकी अनुभव हो तब इस जीवको शान्ति मिलती है। वही उपाय साधुजन निरन्तर किया करते हैं। तो ऐसे ग्रीष्मकालमे महती ज्ञानज्योतिसे भिडकर पर्वतके शिखरपर निवास करने वाले मुनिजन समताजलसे अपने आपको आनन्दमग्न रखते हैं, वे साधु पुरुष हम आप सबका कल्याण करें। ध्यानके लिए देव, शास्त्र, गुरु इन तीनका उपयोग करना होता है। अगर मेरे लिए कोई आदर्श नही चित्तमे तो हम अपना लक्ष्य नही बना सकते। हमारा आदर्श है परमात्मदेव, वीतराग सर्वज्ञदेवकी पवित्र ज्योति, जहाँ विशुद्ध ज्ञानानन्द है, कषाय नही, कर्म नही, देह नही, बाधा नही, ऐसा पवित्र आत्मा वह हमारे लिए आदर्श है। जैसे यहाँ लोग धन कमानेके लिए किसी न किसीको अपना आदर्श रखते हैं चित्त मे। बिडला, टाटा, डालमिया, साहू आदि वे उनके आदर्श हैं, और जिन शास्त्रोमे उस आदर्श पदकी प्राप्तिका उपाय लिखा है वे शास्त्र हैं और जो इसके लिए प्रयोगात्मक काम कर रहे हो वे गुरु। तो ऐसे गुरु हम आपके कल्याणके लिए होवो।

ते व पान्तु मुमुक्षव कृतरवैरब्दैरतिश्यामलै,
शश्वद्वारिवमद्भिरब्धिविषयक्षारत्वदोषादिव।
काले मज्जदिले पतद्गिरिकुले धावद्धुनिसकुले,
झञ्झावातविसंस्थुलै तरुतले तिष्ठन्ति ये साधव ॥६५॥

(१९६) वर्षाकालीन परीषहोके विजयी तपोमूर्ति साधुओकी उपासना—

यहाँ वर्षा ऋतुके परीषहकी बात चल रही है। मुनिजन वर्षा ऋतुमे क्या करें, कहाँ रहे, कैसे बैठें? जैसे ऐसी अवाधुंध तेज वर्षा चल रही है कि मेघ बडी काली घटा लिए हुए उतरे है, बिजली और तडक गाजके बडे विकट शब्द हो रहे हैं और निरन्तर जो जलका ही वमन कर रहे, क्यो कर रहे कि लोकमे यह बात प्रसिद्ध है, और है भी ऐसी बात कि समुद्रका पानी खारी होता है। अब वही समुद्रका पानी ही तो गर्मीमे सूर्यकी किरणोके सतापसे ऊपर उठा ना, भाप बना और भाप बनकर बादल बन गए। तो समुद्र तो खारा है ना तो उस खारेपनके दोषसे यह नदी ही पानीको मानो उगल रही हो, अर्थात् रात दिन

झडी लग रही, वर्षा हो रही हो, ऐसे कालमे जहां पृथ्वी जलमे डूब रही पानीके प्रवाहसे मानो पर्वत भी गिरने लगा, बड़े बड़े पत्थर भी एकदम गिर जाते है। जहां आसपासकी पृथ्वी गिर जाती है, ऐसे कठिन वर्षा ऋतुमे जो वृक्षके नीचे खड़े ध्यान कर रहे है वहां कोई सुविधा नही है। वृक्षोसे नीचे जो पानी गिर रहा है वह वृक्षोके ऊपर गिरने वाले पानीसे भी कठोर होता है। जब पानी बहुत तेज बरस जाता तो पत्तोसे जो मोटी-मोटी बूद गिरती हैं शरीर पर तो वह भी एक सर्वसाधारण जनोके लिए वेदना की बात है, लेकिन जिसको निज सहज ज्ञायकस्वरूपका दर्शन हुआ है और आनन्द पाया है वह अपने ही उस ज्ञानमें मग्न रहा करते हैं। ऐसे साधुजन हम आप सबकी रक्षा करें।

म्लायत्कोकनदे गलत्कपिमदे भ्रश्यद्द्रुमौघच्छिदे,
हर्षद्रोमदरिद्रके हिमऋतावत्यन्तदुःखप्रदे।
ये तिष्ठन्ति चतुष्पथे पृथुनपःसौधस्थिताः साधवः,
ध्यानोष्मप्रहतोग्रशैत्यविधुरास्ते मे विदध्युः श्रियम् ॥६६॥

(१९७) शीतकालीन परीषहोके विजयी तपोमूर्ति साधुवोंकी उपासना—

शीतकाल, ठडके दिन, जिस ऋतुमे कमल भी मुरझाने लगते हैं, जब तेज ठंड पडती है तो बड़े-बडे वृक्ष भी मुरझा जाते, फिर कमलके वृक्षोके मुरझानेकी तो बात ही क्या कही जाय ? वे तो और भी कोमल होते हैं। गर्मीके दिनोमे वृक्ष उतना अधिक नही सूखते देखे जाते जितना कि शीतकालमे हिम (पाला) के पड़नेपर सूखते देखे जाते हैं। तो ऐसे शीत के दिनोमें जब कि बड़े-बडे वृक्ष भी मुरझा जाते है और बदरोंका घमड भी खतम हो जाता है तो वह कहलाती है तेज ठड। शायद बन्दरोको मामूली ठडमे अधिक वेदना न होती होगी, जब बहुत तेज ठड पडती है तभी बदरोको अधिक वेदनाका अनुभव होता होगा। जब ठड अधिक पड़ती है तो वे वंदर एक दूसरेसे चिपटकर ठड मिटाया करते हैं, लेकिन कितने ही घने चिपट रहे बन्दर, जहां बदरोका भी घमंड दूर होता है इतनी ठंड पडती हो, ऐसे ठंडके दिनोंमे वे साधुजन बाहर कही भी, नदीके किनारे या किसी भी जगह अपने ज्ञान ध्यानमे रत होते हुए विराजे रहते है। वे साधु हमारी रक्षा करें। देखो जहां संहनन मजबूत होता है, जैसा कि संहनन चतुर्थकालमें हुआ करता था, वज्र भी गिर जाय तो भी न टूटे। श्री हनुमान जी बहुत बडे सुन्दर रूपवान थे। उस समय हनुमानजीके समान सुन्दर रूप किसीका न था। वे कामदेव कहे जाते थे। तो चरित्र उनका बडा विचित्र है। बड़े पुरुषोपर तो जान-जानकर विपत्तियां आया करती हैं। बडे पुरुष रहते हैं न्याय नीतिपर और न्याय नीतिपर रहने

वालोको जगतमे जगह जगह विपत्तियाँ सताया करती हैं, पर धीर वीर पुरुष वे कहलाते हैं जो इन विपत्तियोमे घबडायें नही। एक उदाहरण लेलो। यहाँ आपकी समाजमे ही कई लोग ऐसे है कि जिन्होने यह नियम कर रखा है कि हमे एक या दो बार दिनमे ही भोजन करना हैं, रात्रिभोजनका त्याग है, और कोई लोग ऐसे हैं कि जब चित्त आया तब खाना पीना। रात दिनका कोई विचार नही। वे ऐसे स्वच्छद हैं कि जब चाहे खा पी लिया। बताओ बाहरी रूपसे देखनेमें उनपर कोई विपत्ति है क्या ? देखनेमे तो ऐसा ही लगता कि वे बडे मौजमे हैं, और वे भी बडी मौज मानते। और जो सयमी लोग हैं, यती लोग हैं, जो दिनमे ही एक या दो बार भोजन करनेका नियम रखे हैं। गर्मी पड रही, प्यास लग रही, रात्रि व्यतीत हो रही, लोग देखते हैं कि यह तो बड़े कष्टमे है, अरे न्याय नीतिपर रहने वालोको कष्ट आता है, मगर उन कष्टोसे घबडायें नही तो उनका भविष्य बडा सुन्दर बन जाता है। और जो स्वच्छंद मन वाले हैं, जिनके कोई विवेक नही, सयम नही, जब मन आया, जो मन आया सो किया, वे भले ही कुछ काल मौज मान लें, मगर उनका भविष्य बडा दुखमय व्यतीत होता है।

(१६८) वज्रांग पुरुषोके देहकी मजबूतीका एक उदाहरण—

हनुमान जी पवनञ्जयके पुत्र थे। लोग कहते भी हैं—पवनसुत हनुमानकी जय। इसका अर्थ यह है पवनञ्जय नामके जो राजा हुए उनके पुत्र हनुमान भगवान हुए, प्रभु हुए जिन्होने मोक्ष पाया। यह बात जैनशासनके अनुसार कही जा रही है। उनकी जय बोलते हैं। देखो सब कितने उत्तम विशेषण है—लोग हनुमानजीको बजरगबली कहते हैं। जिसका अर्थ है कि वज्रवृषभ नाराचसहनन प्राप्त बलिष्ट, ऐसे वे हनुमान जी थे। वह पवनजयके पुत्र थे, और अजना जिनकी माता थी। देखो यह कालविधि बडी विचित्र है। पवनजयकी अजनाके साथ सगाई सम्बधकी बात हुई और पवनञ्जयने जब अञ्जनाकी सुन्दरता व गुणोकी तारीफ सुनी तो उसके मनमे आया कि मैं अभी-अभी जाकर अजनाको किसी तरह जाकर देखूं। आखिर अपने मित्र प्रहस्तको लेकर अजनाको देखनेके लिए पहुचा। जब अजनाके विवाहके होनेमे अभी तीन दिन शेष थे। वह अंजनाको बिना देखे तीन दिन भी न रह सका। महलमे पहुचे वे दोनो तो एक जगहसे छिपकर देखने लगे। उस समय अजना अपनी कुछ सखियोंके साथ बैठी हुई थी। कुछ सखियाँ अंजनासे हसी मजाक भी कर रही थी। कोई सखी कहती—देखो यह सम्बन्ध फलाने राजाके पुत्रके साथ होता तो कितना अच्छा होता, कोई सखी कुछ कहती, कोई कुछ। कोई सखी बोली कि नही नही, पवनञ्जय बहुत योग्य पुरुष है, उसीके साथ यह सम्बन्ध योग्य है। तो पवनञ्जयकी

बात सुनकर अंजनाका मस्तक मारे शर्मके झुक गया। इस दृश्यको देखकर पवनञ्जयने सोचा कि अरे मेरी तारीफ सुनकर अजनाको रंच भी खुशी न हुई बल्कि अपना मुख फेर लिया तो शायद अञ्जना हमे चाहती नही है। उस समय पवनञ्जयको अञ्जनापर इतना क्रोध उमडा कि चाहा कि मैं अभी-अभी इसका सिर तलवारसे उडा दूं, पर उसके मित्र प्रहस्तने उसे रोका और समझाया कि स्त्रीपर हाथ चलाना वीरोका काम नहीं। आखिर पवनञ्जयके चित्तमें यह बात समा गई कि मुझे तो अब इस अञ्जनाको सता करके रहना है, पर यह बात कब बन सकेगी जब कि इसके साथ मेरा विवाह हो जाय। यदि विवाह नहीं होता तो यह पर-घरमे रहेगी, फिर मैं इसे कैसे सता सकूगा, यह बात सोचकर पवनञ्जयने अञ्जनाके साथ विवाह करनेका निश्चय किया। आखिर विवाह हुआ, और विवाह होनेके दूसरे ही दिन पवनञ्जय अञ्जनाको अपने घर छोडकर चला गया। २२ वर्ष तक घर लौटकर नही आया। घर छोड़नेके १२ वर्ष बीते जब कि कही रावणका वरुणसे युद्ध हो रहा था। रातमे एक जगह चकवा चकवीके बिछोहका दृश्य देखकर उसको अपनी पुरानी घटना याद आयी और एक रातके लिए पवनञ्जय अञ्जनाके महलमे गया था। पवनञ्जय अञ्जनाको हाथकी मूदरी अगूठी निशानीके लिए देकर रातो रात वापिस लौट गया था। आखिर अंजनाको गर्भ रह गया। गर्भका समाचार जानकर अंजनाके सास स्वसुरने उसे अपने घरसे निकाल दिया। अंजनाके माता पिताने भी अपने घर न रखा। आखिर अंजना एक जंगलमे किसी शेरकी गुफा मे रहने लगी। वहीं अंजनाने हनुमानको जन्म दिया। वहांसे एक विद्याधर बज्रजघ (अञ्जना का मामा) अपने विमानसे कही जा रहा था। उसने उस भयानक जगलमे रोते हुए बालक की आवाज सुनी, विमानसे नीचे उतरा, अञ्जनासे सारा हाल पूछा, और फिर अपने विमान मे दोनोको बैठाकर चल पडा। रास्तेमे एक जगह बालक हनुमान खेलते खेलते विमानसे नीचे पत्थरोपर जा गिरा। वहाँ हनुमानके बचनेकी आशा न देख अञ्जना व उसके मामा वज्रजघ बडे दुःखी हुए। आखिर जब विमान नीचे उतारा और देखा तो क्या देखा कि बालक हनु-मान जिस पत्थरपर गिरा था उस पत्थरके टूक-टूक हो गए थे और बालक हनुमान आराम से पड़ा हुआ अपने पैरका अगूठा चूस रहा था। तो वहाँ यह समझ लिया गया कि यह बालक चरमशरीरी है, यह आगे चलकर भगवान होगा। उस समय सबने हनुमानको तीन प्रदक्षिणा देकर विमानमे बैठाकर ले गए। वज्राग पुरुषोके ऐसे मजबूत देह होते हैं।

(१९९) बज्रांग पुरुषोमें परीषहविजयका सामर्थ्य—

परीषह जय बजरग पुरुषोसे बनता है और जब जितना जिस समय होता है

यथायोग्य परीषह सहते हैं। तो ऐसे ठडके दिनोमे जिनके ठंडके मारे रोयें खिर रहे है, वहाँ दरिद्रोको बडा कष्ट हो रहा है, ऐसी अत्यन्त दुःख देने वाली शीत ऋतुमे चौहट्टेपर कहीं पर विराजमान होकर वे अपने तपश्चरणमे रत बैठे हुए सतोष कर रहे, समतासे सह रहे, और अपने आत्माके आनन्दका ध्यान पा रहे, वे साधुजन हम सबको कल्याण प्रदान करें।

कालत्रये वहिरवस्थितिजातवर्षाशीतातपप्रमुखसघटितोग्रदुःखे ।
आत्मप्रबोधविकले सकलोऽपि कायक्लेशो वृथा वृतिरिवोज्झितशालिवप्रे ॥६७॥

(२००) आत्मबोधसे पुष्ट आत्मावोके तपश्चरणकी सफलता—

धर्ममूर्ति, निसग सतजन वर्षा, शीत, गर्मी तीनो कालोमे होने वाले परीषह उपद्रव जो सहते है, घर छोडकर वाहर रहते हैं तब अनेक प्रकारके उपद्रव उनपर आते हैं, उन तीव्र कष्टोको सहते है। सो कष्ट सहना धर्म नही, किन्तु आत्मज्ञानमे इतना रत हो गए कि ये कष्ट भी उन्हे एक उपद्रव मालूम देते, ये दु खकारी नही मालूम होते। यदि कोई उन्हे कहे कि तुम ये कष्ट क्यो सहते हो ? चलो, हमारे साथ महलोंमे रहने लगो, तुमको सब प्रकारकी सुविधायें मिलेंगी, तो वे उसे पसद नही करते। विहार करने वाले उन सत जनोको नाना प्रकारके कष्ट उनको उपहार हैं, उनसे वे घबडाते नही, वे कष्टसहिष्णु हैं, अध्यात्मज्ञानमे रत है, इसलिए वे अन्तः प्रसन्न ही रहा करते है। जैसे कोई साधु अध्यात्मज्ञानसे रहित है, आत्माकी धुन जिसके नही है तो उसके तपश्चरण व्रतपालन ये सब ऐसे व्यर्थ हैं कि जैसे किसी खेतके धान कट गए हो और बादमे जो उसमे अकुर उगते है, उनकी रक्षाके लिए कोई खेतके चारो ओर बाड लगाये, कांटे लगाये तो जैसे वह काम हास्यास्पद है, क्योकि किसके लिए ब ड लगा रहे ? किसके लिए खेतके चारो ओर ये कांटे, बाड आदि लगा रहे ? खेत तो सूना है। ऐसे ही वे मुनि सत जो अध्यात्मज्ञानसे शून्य है आत्मतत्त्व जिनकी दृष्टिमे नही है और वे एक मैं साधु हू, मुझे ऐसा करना चाहिए, ये श्रावक हैं, इनके बीच मुझे यो रहना चाहिए, यह मेरा काम है, इस तरह पर्यायमे ही साधुता मानने वालोके ये व्रत तप सब व्यर्थ हो जाते हैं। भले ही मदकषाय होनेसे पुण्यबध है, पर मुक्तिमार्ग नही, क्योकि मोक्ष नाम है केवल आत्माके रह जानेका, तो केवल आत्माका रह जाना तभी तो सम्भव है जब कि यहाँ केवल आत्माका बोध हो कि यह है केवल आत्माका स्वरूप। और उसकी दृष्टि रहे, उसकी धुन रहे तो सर्व कलक दूर होकर यह केवल रह जायगा।

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणिः,
तद्वाच परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिका ।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालम्बनम्,
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षज्जिनः पूजितः ॥ ९८ ॥

(२०१) वर्तमान कालमें साधु पूजाका महत्त्व—

इस कालमे कही केवली प्रभु भगवान नही मिलते, इसका नाम है कलिकाल । इस कलिकालमे लोगोके आचार विचार प्रायः गिरावटकी ओर चलते है । ऐसे इस युगमे निष्कलंक, निष्कषाय पवित्र आत्माका दर्शन होना बड़ा कठिन है । होता ही नही । पुराणोमे सुना जाता है कि २४ तीर्थंकर हुए, श्रीराम, हनुमान आदिक अनेक केवली भगवान हुए हो गए सब, पर अब बतलावो, इस समय ऐसा कौन है ? तो इस कालमें केवली भगवान नही हैं, यह कलिकाल है । इस कलिकालमे कलिकी ओर, पापकी ओर, पतनकी ओर चित्तका प्रवाह चलता है । गुरुजी एक कलिकालका चित्रण सुनाया करते थे कि कलिकाल लगनेके एक दिन पहले एक आदमीने किसी दूसरेके हाथ अपना टूटा-फूटा मकान बेचा । खरीदने वाले बहुतसे मजदूर लगाकर उसी दिन नीव खुदवाना शुरू कर दिया । तो नीव खोदनेपर जमीनके नीचे अशर्फियोसे भरा हंडा मिला । वह हंडा लेकर मकान बेचने वालेके पास पहुंचा और बोला—भाई यह अपना अशर्फियोसे भरा हंडा लो, यह मेरा नही है, यह तो जमीनके नीचे निकला है, तुम्हारा है । तो वह बेचने वाला कहता है—अरे यह हंडा मेरा कैसे ? मैं तो मकान बेच चुका, मेरा उससे अब क्या मतलब ? वह तो तुम्हारे भाग्यसे तुम्हे मिला, सो तुम्हे ही अपने पास रखना पडेगा । इस सम्बन्धमे दोनोमे ऐसा विवाद बढा कि न्यायके लिए केस न्यायालय पहुंचा । दोनोने राजाके सामने अपनी-अपनी बात रखी तो राजाने बहुत समझाया दोनोको कि भाई तुम्ही रख लो, तुम्ही रख लो, पर वे दोनो अपने पास रखनेको तैयार न हुए । राजा बडा हैरान हुआ, और कहा—अच्छा आज जावो, इसका न्याय कलके दिन होगा । यहां आप लोग शायद सोचते होगे कि यदि आजकलकी ऐसी बात होती तो मैं न्याय करवा देता याने कह देता कि यह धन तुम दोनोका नही यह तो मेरा है (हँसी) । खैर, वह दिन तो व्यतीत हुआ, रात्रिको सभी लोग अपने-अपने घरमे सो रहे थे । आधी रात्रिके बाद कलिकाल लग गया । वहां सभी लोग अपने-अपने घरमे लेटे हुए क्या विचार कर रहे थे सो सुनो—मकान खरीदने वाला सोचता है कि वाह मैं कितना मूर्ख निकाला, मेरी जमीनमे वह धन निकला इसलिए मेरा है, मुझे मिलना चाहिए, कलके दिन यही कह देंगे । मकान बेचने

वाला सोचता है कि अरे मैं कितना मूर्ख निकला ? वह मुझे धन देने ही तो आया था, लेने तो न आया था, कलके दिन मैं उस धनको ले लूगा। उधर राजा क्या सोचता है कि अरे वह धन न तो बेचने वालेका, न ही खरीदने वालेका। वह तो जमीनके अन्दर निकला इस लिए राजाका है। ठीक है, कलके दिन यही न्याय होगा। तो भाई यह कलियुग है। इस युगमे तीर्थप्रवृत्ति बस ज्यादहसे ज्यादह अशमे १८ हजार वर्ष तक और चलेगी। इसके बाद इस कालमें, इस क्षेत्रमे यह धर्मप्रवृत्ति न रहेगी। और धर्मप्रवृत्ति मेटनेके तो अभीसे लक्षण दिखाई दे रहे हैं। जैसे इस आर्य क्षेत्रमे प्रलय होनेके लिए अभी कितने दिन बाकी हैं ? करीब ३६ हजार वर्ष और रह गए। प्रलय हो जायगी सिर्फ आर्य खण्डमे। भाई अभी यह बात सुनकर डरो मत। अभी काफी समय बाकी है। हां प्रलय होनेके लक्षण तो अभीसे दिखाई पड रहे हैं। ये जो अनेक प्रकारके बम तैयार किये जा रहे है इनका आखिर एक दिन होगा क्या ? ये फूटेगे। बताया है कि जब प्रलय होगी तो ७ दिन बराबर अग्निवर्षा होगी, ७ दिन खूब तेज हवा चलेगी और खूब तेज ७ दिन लगातार जलवृष्टि होगी। तो उस प्रलय के साधन तो सब अभीसे शुरू हो गए। तो इस पंचमकालके अन्त तक यह धर्मपरम्परा मिट जायगी। वास्तवमे धर्म तो मिटता नही, धर्म तो वस्तुका स्वरूप है। सब जगह प्रलय तो न होगी और प्रलयके बाद याने अबसे ४२ हजार वर्ष बाद फिरसे धर्मप्रवृत्ति चलने लगेगी, तीर्थंकर उत्पन्न होगे। मगर अभी तो धर्मके ह्रासके लक्षण दिखने लगे। श्रद्धाविहीन समाज बन रहा, देव, शास्त्र, गुरुके प्रति जिन्हे श्रद्धा ही न रही। खैर जितनी जो श्रद्धा है सो ठीक है।

(२०२) साधुपूजामे जिनेन्द्रपूजाके दर्शन—

इस कलिकालमे भगवान केवली तो है नही और तीन लोकके चूडामणि श्रेष्ठ प्रभु तो है। वीतराग सर्वज्ञ परमपवित्र आत्मा। तब उनके वचन ही इस भरत क्षेत्रमे जो पाये जा रहे वही जगतका प्रकाश करने वाले जानो और रत्नत्रयके धारी मुनिवत उनका आलम्बन, सत्सग, वैयावृत्ति, विनयपूर्वक पूजन वार्ता करना—यह समालम्बन तो है आजकल। तो यो गुरुवोकी पूजा, शास्त्रकी पूजा जो करता है सो मानो साक्षात् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करता है। जो जिनका रूप है सो मुनिजनोका रूप है। उसको देखकर जो घृणा करते, उनके प्रति दुर्भावना रखते, उपेक्षा करते, ऐसे जन मानो देव, शास्त्र, गुरु सबका विरोध रखते है तो क्वचित कदाचित् ही तो प्रेम होता है और फिर उनके सत्सगसे लाभ न उठाया जाय, उनकी सेवा-शुश्रूषा न की जाय तो बताओ यह जीवन किसलिए है ? बस रोज-रोज वही धन कमाना

और घरमे रहना। गुरुजनोका, सज्जनोंका, धर्मात्माजनोका, निर्ग्रन्थ मुनिजनोंका कोई आवा-गमन ही न हो सके और फिर कुछ दुर्भाव रखा जाय तो फिर ऐसे पुरुषोकी जिन्दगी काहेकी जिन्दगी? श्रावकजनोंका कर्तव्य बताया है कि जो क्षोभ करके, कष्ट करके पाप कमाया, आरम्भ परिग्रहके बीच रहकर पाप होते ही हैं तो गुरु जनोके चरण किसी बहाने अपने घरें आना, उनकी सेवा करना, पात्रदान करना आदि इन कर्तव्योके करनेसे बहुतसे पापकर्म स्वयमेव ही विलयको प्राप्त हो जाते है। तो यहाँ यह बताया गया कि प्रभुका जैसा तप है जिन साधु-सतोका, उनका पूजन विनय करके हमे अपना जीवन सफल करना चाहिए।

स्पृष्टा यत्र मही तदङ्घ्रिकमलैस्तत्रैति सत्तीर्थताम्,
तेभ्यस्तेऽपि सुराः कृताञ्जलिपुरा नित्यं नमस्कुर्वते।
तन्नामस्मृतिमात्रतोऽपि जनता निष्कल्मषा जायते,
ये जैना यतयश्चिदात्मनि पर स्नेह समातन्वते ॥६९॥

(२०३) साधुवोंकी उपासनासे पापोंका प्रक्षय—

कहते है कि जिस जगह जो पृथ्वी गुरुदेवके चरणकमलोंको स्पर्श हो जाय उस जगह तो तीर्थंकर बनते हैं और फिर ऐसी भूमि, ऐसी तीर्थभूमिके लिए देवगण भी नम्रीभूत होकर हाथ जोडकर नित्य नमस्कार करते हैं, जिस तीर्थपर आये हुए मुनिजनोके नामके स्मरणसे ही, प्रभावसे ही जनसमूह पापरहित हो जाते है। आखिर उपयोग ही तो है। जहाँ सदाचार चारित्र, चारित्रवान आत्मस्वरूपकी ओर उपयोग गया, लो उपयोग पवित्र बन गया। जिस उपयोगमे पाप बसते हैं, जिस उपयोगमे अहंकार रहता है, अविनय बसती है, वह उपयोग पवित्र नही कहा जा सकता। जब तक हृदयकी सफाई न हो तब तक धर्मपालनके स्वप्न देखना व्यर्थ है। यह तीर्थ है जहाँ पहुचना है। इस तीर्थपर रहते हुए गुरुजनोके जब स्मरण मे आता है तो उपयोग पापरहित हो जाता है। ऐसे निर्ग्रन्थ निरारम्भ मुनिजन जो कि एक चैतन्यस्वरूप चिदानन्दघन अतस्तत्त्वमे ही अपनी रुचिको विस्तारते हैं, ऐसे मुनिजन उनके स्मरणसे ही जनसमूह पापरहित हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तनिचित शान्त शिवैषी मुनि-
र्मन्दै स्यादवधीरितोऽपि विशदः साम्य यदालम्बते।
आत्मा तैर्विहतो यदत्र विषमध्वान्तश्रिते निश्चितम्,
संपातो भवितोग्रदुःखनरके तेषामकल्याणिनाम् ॥ ७० ॥

(२०४) साधुओंकी अवधीरणासे नरकादि दुर्गतियोंकी प्राप्ति—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका भरपूर शान्त, कल्याण चाहने वाले मुनि जन जिनका सौभाग्यशाली पुरुष अरघावतारण करें, उनके प्रति भक्ति रखकर पुण्यार्जन करें, ऐसे मुनिजनोका भी जो मूढ मद पुरुष तिरस्कार करते है, कषाय करते हैं, पर वे साधु जन उसे समतासे सह लेते हैं। तो यहाँ उन मुनिराजोंने तो अपना ध्यान विशुद्ध किया, किन्तु तिरस्कार करने वालेने अपने आत्माका ही घात किया। और इस समय वे कषाय करने वाले लोग स्वय बडे घोर अंधकारमे पडे हुए है। जो भ्रममे आ जाय उसे कोई ज्ञानी कितना ही समझाये, पर वह अपनी हठसे बाज नही आता। क्योंकि भ्रम नाम ही फिर किसका है ? तो भ्रान्तिसे पीडित उन अज्ञानी जनोंने गुरु जनोका तिरस्कार कर अपने आत्माका ही घात किया और आगामी कालमे घोर दु ख वाले नरकोमे अपने आपको गिरायेगा। यह मुनिधर्म का प्रकरण चल रहा है। उसका अब एक अन्तिम छन्द आ रहा है। इसके बाद यह प्रकरण बदल जायगा और धर्मके स्वरूपकी व्याख्या चलेगी।

मानुष्य प्राप्य पुण्यात्प्रशममुपगता रोगवद्भोगजातं,
मत्वा गत्वा वनान्त दृशि विदि चरणे ये स्थिता· संगमुक्ताः।
क स्तोता वाक्पथातिक्रमणपटुगुणैराश्रिताना मुनीनां,
स्तोतव्यास्ते महद्भिर्भुवि य इह तदघ्रिद्वये भक्तिभाजः॥ ७१॥

(२०५) साधुवोंकी विषयवशातीतता—

मनुष्यजन्म पाया, यह कितना दुर्लभ है ? मानो समुद्रके एक किनारेसे बैलोंके कन्धोपर रखने वाला जुवा गेर दिया जाय और समुद्रके किसी अन्य छोरमे उसी जुवाके शैल निकालकर डाल दिये जायें, अब वे बह रहे हैं उस बडे समुद्रमे। कदाचित् कभी कोई ऐसा ढंग बन जाय कि उसी जुवाके शैल उसी जुवाके अन्दर पुन ज्योके त्यो प्रवेश कर जायें, तो यह एक बडे आश्चर्यकी बात है ना ? ऐसा होना बहुत कठिन है, इससे भी अधिक कठिन है इस मनुष्यजन्मका मिलना। ऐसा दुर्लभ मानव-जीवन हम आपने पाया तो इसमे अपना बहुत बडा सौभाग्य समझना चाहिए। तो अब हमे इन कषायोको शान्त रखना है। कषाय न करना, अज्ञान न रखना, सहज आत्मस्वरूपका दर्शन करते रहना। साधु सत जनोने तो भोगसमूहको रोगकी तरह छोडा। जैसे अपने शरीरमे रोग हो जाना किसीको पसद नही। बडे रोगकी तो बात क्या कही जाय छोटेसे-छोटा रोग भी किसीको पसद नही। बताओ सिरदर्द आपको पसद है क्या ? सर्दी, जुकाम हो जाना आपको पसद है क्या ? यो ही हर रोगकी बात समझो, कोई भी रोग किसीको पसद नही। तो जैसे किसी भी प्रकारका शारी-

रिक रोग किसीको पसंद नही ऐसे ही साधुसत जनोंको ये पञ्चेन्द्रियके विषयोके साधन पसंद (इष्ट) नही हैं। तो अब हम आप क्या करें? इन इन्द्रियोके व्यापारको बद करें, ये सब भोग रोग है। इन्हे रोग जानकर जो छोडकर बनमे गए और दर्शन ज्ञान चारित्रमें जो रम गए, सर्वसंगसे मुक्त हो गए, कहते है कि ऐसे बडे अतिशय गुणके आधारभूत जिनको वचनोसे कहनेमे कोई समर्थ नही उन मुनिजनोका कौन स्तवन कर सकता है?

(२०६) साधुवोकी समता—

अहा साधुजनोको शुद्ध आत्माकी धुन अपूर्व है। सब जीव उनकी दृष्टिमें एक समान हैं। शत्रु मित्र बराबर, महल श्मशान बराबर। जैसा गायको घाम डालनेके लिए चाहे कैसी ही स्त्री पहुचे, चाहे कोई स्त्री खूब सजधज कर साज श्रृङ्गार करके पहुचे, चाहे फटे पुराने वस्त्र पहनकर पहुचे, चाहे काले रूप वाली स्त्री पहुंचे चाहे गोरे रग वाली, चाहे युवा स्त्री पहुचे चाहे वृद्ध उस गायके लिए सब एक समान हैं। वह स्त्रीको नही देखती। उसकी दृष्टि तो उस हरी घासपर रहती है, ठीक इसी प्रकार ये साधुसतजन सबमे निष्प्रह हैं। आहार को आये तो मात्र उस आहार की शुद्धिपर दृष्टि रहती। आहार करते और तुरन्त वापिस चले जाते, जिनके लिए शत्रु, मित्र, महल, श्मशान सब एक समान, सुख दुःख दोनो समान और शुभ अशुभ भाव दोनोको ही विभाव जानकर जो एक सहजस्वभावमे रत रहे, उन मुनिजनोका कौन स्तवन कर सकता है? तब है तो वे स्तवन किये जाने योग्य ही। जो पुरुष उनके चरणकमलकी भक्ति करते हैं वे पुरुष बड़े बड़े पुरुषोके द्वारा स्तुति करने योग्य होते है।

(२०७) अपने ज्ञानप्रकाशको पानेका अनुरोध—

अन्दर देखो सही ज्ञानप्रकाश जगना चाहिए कि संसारका यह सारा सग समागम मेरे लिए अहित रूप है। मेरे लिए केवल मेरे स्वरूपका दर्शन यही हितरूप है। आप कहेंगे कि भूख प्यास तो रोज-रोज लगती है और लोगोने उसका भजन भी बना डाला "भूखे भजन न होय गोपाला। यह लो अपनी कंठी माला॥" तो ठीक है, भूख तो लगती है, पर यह तो बताओ कि भूख मिटाते रहनेसे भूख खतम हो सकेगी क्या? भले ही भूखका रोग है, उसका इलाज कर लो। भूख प्यास लगे तो खा पी लो, ठीक है, पर उसी उसीमें चित्त रहे, खाने खानेकी ही बात चित्तमे समायी रहे, ये जो पांच प्रकारकी संज्ञायें है—आहार, निद्रा, भय, मैथुन, परिग्रह इनमे ही चित्तको फसाकर इस अमूल्य मानवजीवनको व्यर्थ गंवाना योग्य नही। ठीक है, ये आये है, साथ लगे है तो इन्हे समतासे सह लें, इनका इलाज कर लें, पर भूख प्यासरहित, भयरहित, जन्ममरण रहित, विकार रहित एक निज शुद्ध चैतन्यस्वरूप

मात्रका प्रत्यय तो करें, अनुभव तो करें, मान लो कि यह मैं हू, यह दृष्टि इस भूख प्यासको मेटेगी, शरीरोका सम्बन्ध छुडायेगी, कर्मोंकी निर्जरा करायेगी। वह सम्बन्ध क्या ? केवल एक आत्मा ही आत्मा रह गया, प्रभुता पा ली, अब अनन्तकाल तक उन दुःखोका कोई अवकाश नही। वह काम हमे करना चाहिए जिससे आत्माको सदाके लिए मुक्ति प्राप्त हो जाय। कोई जब काम प्रारम्भ करता है तो पहले साल दो साल चार साल तो वह खर्च ही खर्च करता है, लाभकी बातको नही सोचता और जब वह काम बनकर तैयार हो जाता है, साल दो साल काम चल लेता है तब हानि लाभका पता पडता है। तो देखिये कामको शुरू करते समय खर्च करने मे वह कितना धैर्य रखता है ? यह तो एक लौकिक बात है, पर उससे अद्भुत कैवल्य सुख यदि प्राप्त करना है तो उसका उपाय है कि जाति, कुल, मजहब इन सब भ्रमजालोको छोडकर अपनेको मैं आत्मा हू, मुझ आत्माको कल्याण चाहिए, जो मेरे आत्माका स्वरूप है बडा शान्त ज्ञानमय, आनन्दघन उसका दर्शन करें, उसके ज्ञानमे रहे और उसके आश्रयमे बसकर तृप्त रहे, यह एक ऐसी चिकित्सा है कि जिससे सारे दुःख सदाके लिए दूर हो जायेंगे, उसका पुरुषार्थ करलो। जगत तो जैसा अब तक चलता आया, जो चल रहा, वह चलता रहेगा। पर अपनेको तो सर्वसकटोसे मुक्ति चाहिए और उसके लिए एक ही उपाय है—अपने को किसी जाति वाला, कुल वाला, मजहब वाला, किसी भी प्रकारकी बात चित्तमे, श्रद्धामे न जमा कर व्यवहारकी जगह व्यवहार है, पर जहां एक परमधर्मकी दृष्टिकी बात चल रही है वहां एक आत्माका नाता है। जिस नातेसे प्रभुमे और अपने स्वरूप मे साम्य दीखेगा। प्रभुका है व्यक्त स्वरूप और हम आपका है तिरोहित। बस उसकी धुन जिसके लगी है वह जगलमे, एकातमे रहते हुए कहाँ एकान्त है, बाहरमे। वे अपने प्रभुसे बात चीत किया करते है। वे कदाचित जनसमूहमे भी हो, कैसा जनसमूह ? थोडा आप भी अनुभव करते होंगे कि जब रेलमे आप मुसाफिरी करते हैं तो वहाँ आपके किसीके प्रति रागमोह जगता है क्या ? वहा आपको जगल जैसा लगता कि नही ? अरे जहाँ रागके विषयभूत न हो वही हमारे लिए निर्जन है ? ऐसे ये भगवान परमात्मतत्त्वकी उपासनामे रत साधुजनोंके गुणोका चिन्तन करे। गुणियोको देखकर चित्तमे हर्ष भाव लाना, अपनी यह एक आदत होनी चाहिए। गुणी जनोको देखकर उनके प्रति ईर्ष्याका भाव लाना, उनसे कषाय करना, उनके प्रति घृणाकी वृत्ति करना यह श्रावकका काम नही। आज यह साधुधर्मका वर्णन समाप्त हो रहा है। अब कलसे रत्नत्रयधर्मका बहुत सुन्दर प्रकरण आयगा जिसमे एक आत्मा आत्माकी ही बात कही जायगी, जिसके मननसे ध्यानसे इस जीवका कल्याण है।

तत्त्वार्थाप्ततपोभृतां यतिवराः श्रद्धानमाहुर्दृशं,
ज्ञानं जानदनूनमप्रतिहतं स्वार्थावसंदेहवत् ।
चारित्रं विरतिः प्रमादविलसत्कर्मास्रवाद्योगिनाम्,
एतन्मुक्तिपथस्त्रयं च परमो धर्मो भवच्छेदकः ॥७२॥

(२०८) रत्नत्रयलक्षण धर्मके प्रकरणमें सम्यग्दर्शनकी विवृतिमें जीवतत्त्वका प्रकाश—

इस ग्रन्थका उद्देश्य है धर्मका प्रकाश करना। जिस धर्मके प्रसादसे जीव सुखी शान्त होता है, उस धर्मको ५ परिभाषाओंमे कहा गया था। जीवदया धर्म है। दूसरी बात श्रावक और मुनिधर्मके भेदसे दो प्रकारका धर्म है। तीसरी बात रत्नत्रय धर्म है। चौथी बात क्षमा, मार्दव आर्जव शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दस लक्षण धर्म हैं और ५ वी बात कही गई—मोह, क्षोभसे रहित ज्ञानानन्दस्वभाव धर्म है। अब दो परिभाषायें तो वर्णित हो चुकी। अब तीसरी बातका प्रारम्भ हो रहा। रत्नत्रय धर्म है। रत्न मायने श्रेष्ठ, त्रय मायने तीन। श्रेष्ठ जो तीन बात हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह धर्म है। सम्यग्दर्शन नाम किसका है? तत्वार्थमे आप्तमे और तपस्वी जनोमे इन का श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन। तत्त्वार्थ मायने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये ७ तत्त्व हैं और इन तत्त्वोका समझना बहुत आवश्यक है। इस कारण जिनको अभ्यास है सो ठीक ही है और जो अभ्यास नही रख रहे, देखो बडे ध्यानसे सुनना, देखो पहली बात मैं क्या हू? जीव हू, यह पहला तत्त्व। दूसरी बात देखो—जीवका स्वभाव तो आनन्दका है, शुद्ध ज्ञान रखने का है, पर हालत क्या हो रही इस समय, सो सब लोग अपनी अपनी पहिचान लो। कितनी बडी विपत्ति है यह कि न कुछ साथ लाये, न कुछ साथ जाता, मगर इन थोडे दिनोके लिए जो संग मिला उसके पीछे आसक्त होना, मोह रखना कष्ट मानना, उद्विग्न होना, चिन्तित होना। सारा जीवन बिगड रहा। न कुछ साथ आया था, न कुछ साथ जायगा। कितनी बडी भयंकर विपत्ति, और फिर मरण होगा, जन्म होगा, मरण होगा, जन्म होगा। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय आदिकी खोटी खोटी योनियोमे कितने ही बार जन्म मरण किए। देखिये जिस दिन यहाँ बालक पैदा होता है याने पेटसे बाहर निकल आता है उस दिनको लोग उस बालकका जन्म दिन मानते हैं, पर वास्तवमे जन्मदिन वह नही है। उसका जन्म तो कोई ९ माह पूर्व ही हो चुका था। जब बालक गर्भमे आता वह उसका जन्मदिन है वास्तवमे नरभवका। जिस दिन पेटसे बाहर निकला वह तो उसका बाहर निकलनेका दिन है। जब

वह बच्चा बाहर निकलता है तो क्या कहता ? अरे कहता क्या है ? वह रोता है—कहाँ, कहाँ, कहाँ ? याने मैं कहाँ आ गया ? कहाँ था ? तो यह जीव न जाने कहाँ कहाँ जन्म लेना, कहा कहा मरता ? बड़ी कठिन विपत्ति है इस जीवपर ।

(२०६) तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनके प्रसंगमे अजीवादि शेष ६ तत्त्वोंका दिग्दर्शन—

इस जीवपर जन्म मरण विकल्प आदि विपत्ति हैं । इसका कारण है इसके साथ एक दूसरी चीज लगी है अजीव, मायने कर्म । जीव और कर्म बस दो के बधन है । सब मानते है कोई कहता तकदीर, रेखा, भाग्य, दैव, पर वह चीज क्या है असलमे ? उसका सुन्दर रूप स्वरूप और उसका विस्तार और समय-समयकी दखलें, उसकी शक्तियाँ, स्थितियाँ ये कैसे झडते है, कैसे बँधते हैं, इन सबका वर्णन विशाल जैनसिद्धान्तमे ही है । पढनेके लिए सारी जिन्दगी लगावो फिर भी पार न पाया जायगा करणानुयोगका तत्त्व । कर्मसिद्धान्तका समझ लेना कोई गप्पका काम नही । मेरे साथ लगे हैं कर्म । देखिये यह कोई कठिन बात नही हो रही, ध्यानसे न सुनोगे तो कामकी बात निकल जायगी । द्रव्यकी बात बोल रहे—जीव और कर्म दो बातें है । ये दोनो एक है । हैं तो अलग अलग, पर बधनमे आ गए, तो देखो जीवमे कर्म आये पहले और फिर कर्म बधे तब तो जीवमे ये कर्म ठहरेंगे नही । तो जीवमे कर्म आये सो आस्रव । बडी गुत्थी है आगेकी बहुत, पर हम साधारणतया बोल रहे और उस जीवमे कर्म बध जायें, मायने बहुत दिनके लिए ठहर जायें यह हो गया बध और जीवमे कर्म न आ सकें, ऐसे अपने जीवस्वरूपको संभाल लें तो वह हो गया सवर और ऐसा परिणाम बनायें, इच्छा दूर करें, राग हटायें, इसीसे कर्म चिपटते हैं तो क्या होगा कि पहले के बांधे हुए कर्म खिर जायेंगे, दूर हो जायेंगे, यह हुई निर्जरा । कर्म उदयमे आते वह भी निर्जरा और तपस्वी जन ज्ञानरमण द्वारा कर्म ये खिर जायें यह भी निर्जरा, जहाँ कर्म सामने आये नही, पुराने कर्म खिर जायें तो क्या हालत होगी ? पूरी मुक्ति हो जायगी, उसका नाम है मोक्ष । तो इन ७ तत्त्वोका यथार्थ श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन ।

(२१०) वस्तुस्वरूप जानकर प्रायोजनिक लक्ष्यके सम्बन्धमे तथ्यका दिग्दर्शन—

अच्छा किया जानन, अब और जानते रहो । जीवमे जीवका काम, कर्ममे कर्म का काम, और यह परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावसे यह व्यवस्था बन रही है, यथार्थ जानो । जानना क्या है अंतमे ? मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हू, अच्छा इससे लाभ क्या होगा ? यह जान जायेंगे कि यह मैं जीव केवल चैतन्यमात्र हू, सबसे निराला हू. मेरा कही कुछ नही है । मोह हटेगा, अहकार मिटेगा, अपने ज्ञानमे सतोष होगा, कर्म खिरेंगे. आत्माका उत्थान

होगा। तो तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

(२११) देव शास्त्र गुरुका श्रद्धानमें सम्यक्त्व लाभ—

आप्त आगम तपस्वीका यथार्थ श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन है, वहाँ उसमें भी तत्त्वार्थश्रद्धान आ ही जाता है। आप्त मायने क्या? पहुचा हुआ। यहाँ जैसे कहते ना कि जो खुद जानकार है और जिसके ज्ञानमे कोई दोष नही है और असारता आदिक गुण प्रकट हो गए हैं तो कहते हैं कि भाई यह तो पहुंचे हुए महात्मा है। तो पहुचे हुए आत्माका याने शुद्ध निर्दोष, राग द्वेष रहित सर्वज्ञ और फिर जिसके उपदेशसे जगतका कल्याण हो रहा वह कहलाता आप्त। आप्त कहो, सशरीर परमात्मा कहो, सगुण ब्रह्म कहो, उनका श्रद्धान करना। एक आत्मा है, जिसमे दोष कुछ रहा नही, गुण समस्त पूर्ण हो गए, प्रकट हो गए, बस वह आत्मा आप्त है। ऐसा मैं हो सकता हू। श्रद्धान बनाओ कि यदि मैं पापोसे मुख मोड़ लू, मोह ममता मिटाऊँ, विकल्प छोड़ूं, अपने ज्ञानमे रमूं तो सहज ही सर्वज्ञता प्रकट होगी। अच्छा, आप्तका श्रद्धान सम्यग्दर्शन और तपस्वी जनोका गुरुजनोका श्रद्धान सम्यग्दर्शन, ये गुरुजन जिन्होने सर्व कुछ त्यागकर एक अपने आत्माकी साधनाका ही उद्देश्य बनाया है पाप रहित, उनमे गुरुत्वका श्रद्धान करना यह है सम्यग्दर्शन।

(२१२) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप धर्मकी संसारसागरताकता—

यह रत्नत्रयकी बात चल रही है। तीन श्रेष्ठ बातें हैं, पहली बात क्या? सम्यग्दर्शन- जिसका निष्कर्ष क्या निकला कि आत्माके सहज विशुद्धस्वरूपमे यह मैं हूं, इस प्रकार का अनुभव करना, प्रतीति रखना, मानना सो सम्यग्दर्शन। अच्छा दूसरा श्रेष्ठ रत्न क्या? सम्यग्ज्ञान। ज्ञान मायने जानना। स्वको जाने, परको जाने, अपने आपको जाने। मैं आत्मा क्या हूं, और परको जाना, ज्ञान अपने स्वरूपको जाने परको जाने। न कम जाने, न ज्यादह जाने, न कुछ सदेह करे उसका नाम है सम्यग्ज्ञान। तीसरा रत्न है—सम्यक्चारित्र। प्रमादसे कर्मोंका आस्रव हो रहा था उस आस्रवसे विरक्त होना, पापसे विरक्त होना, आत्मस्वभावमे लगना यह है सम्यक्चारित्र। अपनेको जानना, अपना परिचय करना, अपनेमे रमना यह है मुक्तिका कारण। यह है रत्नत्रयधर्म। तीन टिकट महाविकट। ऐसा क्यो लोग कहने लगे? अरे जहाँ ये तीन बातें मिलें वहाँ फिर ससार न रहेगा, ससारसे मुक्त हो जायेंगे। अच्छा तो यह तो बडी अच्छी बात हो जायगी। फिर महाविकट क्यो कह रहे? महाविकट यो कह रहे, कौन कह रहे? जो ससारमे प्रेम रख रहे मोहीजन, क्योकि उन साधु संतजनोका तो मोह मिट गया, न कुछ मोह रहा, न घर रहा, न उनके लिये देह रहा, तो ऐसी बात सुनकर

तो मोहीजन चौंक उठेंगे कि हमे तो न चाहिए ऐसा कठिन मोक्ष जिसमे सब कुछ छोडना पडे। तो ये तीन चीजे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन मोही जनोके लिए बडी विकट हैं। और वैसे तो इस संसारसागरसे पार होनेका मार्ग तो यह रत्नत्रयरूप धर्म ही है।

हृदयभुवि दृगेकं बीजमुप्त्त्वशङ्काप्रभृति गुणसदम्भःसारिणीसिक्तमुच्चैः ।
भवदवगमशाखश्चारुचारित्रपुष्पस्तरुरमृतफलेन प्रीणयत्याशु भव्यम् ॥७३॥

(२१३) सम्यक्त्वबीजसे बढ़ाये गये ज्ञानशाखा वाले व चारित्र पुष्प वाले धर्मवृक्षके अमृत शाश्वत सहजानन्दफलसे भव्यका आनन्दन—

देखो हृदयरूपी भूमिमे सम्यग्दर्शनका बीज बोवो। अपने आपमे देखो—क्या चाहिए ? मोक्षफल। तो क्या करें ? पहले बीज बोवो। उसमे पानी सीचो, उसमे शाखायें फूटेंगी और वह पेड बढेगा, उसमे फूल होंगे, फिर फल होंगे। आखिर फल ही तो चाहिए। फल प्राप्त करनेकी यह ही तो तरकीब है। तो मोक्षफल जिसे चाहिए सो पहले अपने आत्मा मे सम्यग्दर्शनका बीज बोवो अर्थात् सम्यक्त्व पैदा करो, विपरीत अभिप्राय हटाओ। देखो अगर किसी जीवके प्रति विरोध नही है, सब जीवोंके प्रति समता है, स्वरूपको देखकर प्रसन्नता है तो तत्काल ही आप देखो कि आनन्द मिलता ना, श्रद्धान होता ना ? अपना हृदय जो है वह मथा नही जाता। यही निरख लो, पर यह बात बन किसे सकेगी ठीक सही मायने मे कि जिन्होने अपने आपको यह समझ लिया, यह परख लिया कि सबसे निराला एक ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व हू, शरीर मैं नही। अभी एक भाई साहबने एक भजन गाया था ना कि अंत समयमे ईंधन होगा। यह शरीररूपी चरखा चलते-चलते पुराना हो गया अर्थात् यह शरीर वृद्धावस्थाको प्राप्त हो गया तो अब इसकी क्या हालत हो, गई यह चलाया नही चल रहा। इस बातको कोई बूढा आदमी अपने ऊपर घटाते हुए बोले तो उसपर इसका बडा असर पडेगा। आखिर होगा क्या अंतिम परिणाम ? यह जीव यहांका सब कुछ एकदम छोड़कर चल देगा, इसके साथ कुछ भी न जायगा। तब फिर यहाके प्राप्त समागमोसे क्या प्रीति करना ? जब कभी आप रेलगाडीसे मुसाफिरी करते तो वहाँ हुए समागमसे आप मोह तो नही करते ? आप भली भांति जानते हैं कि ये सब लोग अभी थोडी ही देर बाद स्टेशन आनेपर मेरेसे बिछुड जायेंगे। तो ऐसे ही इस जीवनकी यात्राको भी उसी तरहकी यात्रा समझ लो। यह १००—५० वर्षका प्राप्त जीवन इस अनन्त कालके सामने कुछ गिनती भी रखता है क्या ? नही रखता ना ? जब ऐसी बात है तो फिर यहाँ यह अज्ञान अपने चित्तमे

बसाना योग्य नही कि ये प्राप्त समागम ही मेरे लिए सर्वस्व है। मोहीजन तो ऐसी बात सुनकर बडी हैरानी अनुभव किया करते है कि यदि सब कुछ छोड दिया तो फिर न जाने मेरा क्या हाल होगा ? वे तो इस छोडनेकी बात सुनकर उसे एक अपने ऊपर आफत समझते हैं। तो यहाँ की सब प्रकारकी विपत्तियां मिट सकेगी सच्चे ज्ञानसे और वह सच्चा ज्ञान बस यही है कि जो पदार्थ जिस तरहसे है उस पदार्थको उस तरह मान जायें। तो इस उपयोग भूमिमे सम्यक्त्व बीज बोया। उस बीजको क्या करें कि निःशकित आदिक गुणोंका जो एक अतिम जलप्रवाह है उससे सीचो।

(२१४) सम्यक्त्वके अङ्गोंमें से चार अङ्गोंका वर्णन—

सम्यक्त्व बीजसे ज्ञान और चारित्रका फल कब मिलेगा कि उनको ८ प्रकारके गुणोसे सीचो। क्या है वे ८ गुण ? पहला है निःशक्ति—अपने स्वरूपमे शंका न रखना, भगवान की वाणीमे सदेह न रखना, निर्भय रहना। दूसरा गुण है निकांक्षित– धर्मके एवजमे ससारके कुछ भोगकी चाह न करना, मेरा यह काम बन जायगा तो मैं अमुक जगह यो चढा-ऊँगा मै ऐसा करूँगा या प्रार्थना कर रहे कि प्रभु मेरा यह काम बन जाय। अरे क्या भीख मांगना प्रभुसे ? आप प्रभुको जानते नही क्या ? उन देशोमे भी तो बडे-बड़े धनाड्य लोग पडे हैं जहाँ प्रभुके सम्बन्धकी कोई मान्यता ही नही है। भगवानसे धन वैभव आदिक मिलने की प्रार्थना न करो। हा यदि कुछ मांगना ही है तो यह मांगो कि हे प्रभो मेरेमे वह ज्ञान प्रकाश जगे कि जिस प्रकाशको पाकर हमारे जन्म मरणके सकट सदाके लिए छूट जायें। मुझे और कुछ न चाहिए। ये ससारिक छोटी-छोटी बातें, बेकारकी बातें, जिनसे इस आत्मा का कुछ सम्बन्ध नही, उनकी चाह न करें। तीसरा गुण है निर्विचिकित्सा—गुणीजनोंकी वैयावृत्ति करते समय उनसे घृणा न करना। सेवा हो रही, नाक बह रही, मलमूत्र निकल रहा, शरीरके सारे अग शिथिल हो गए, गुरुजन किसी व्यथामे व्यथित हो गए तो उनसे ग्लानि न रखकर उनकी सेवा करें। देखिये मातायें तो करती है ना सेवा अपने बच्चोकी, पर वे सेवा करते हुएमे अपने बच्चोंसे ग्लानि तो नही करती। कदाचित [illegible] बच्चा हो, वह ऊपर टट्टी, पेशाब कर दे तो मां कही उस बच्चेसे [illegible] फेंक तो नही देती। वह तो उस साडीको बदल देगी, मल मूत्रको [illegible] ग्लानि रच न आयगी। कदाचित् बापको तो ऐसा हो सकता [illegible] मूत्र कर देनेपर गुस्सेमे आकर बच्चेको नीचे पटक दे, पर [illegible] बच्चेसे ग्लानि नही [illegible] उन्हे उससे प्रेम है

प्रेम होता वे उन धर्मात्माओंकी सेवा करते हुएमे उनसे घृणा नही करते । और कोई धर्मात्माजनोकी सेवा करके मनमे सोचे कि इस सेवाके फलमे मुझे सम्पन्नता होवो, तो यह तो एक ससार है । यहाँ सब पुण्य-पापका नाटक है । ऐसा जानकर समता रखना और एक अपने स्वरूपकी आराधना करना निर्विचिकित्सा अग है । चौथा गुण है—अमूढदृष्टि, ये मिस्मरेजम का खेल दिखाने वाले लोग या कोई कुगुरुजन यदि कोई चमत्कारकी बात दिखायें तो उनमे प्रभावित न होकर यह समझें कि अरे इस चमत्कारका भी क्या महत्त्व ? सार तो आत्माके ज्ञान, श्रद्धान, आचरणसे उत्पन्न हुए आनन्दके भोगमे है । बाहर कही कुछ नही, इस श्रद्धासे न डिगना, चाहे कोई कितना ही अपनी करतूत दिखाये ।

(२१५) सम्यक्त्वके आठ अङ्गोमे के अन्तिम चार अङ्गोंका वर्णन—

५वां गुण है—उपगूहन (उपवृहण) साधक गुरुजन आखिर ये मनुष्य ही तो हैं । उनसे कदाचित् कोई दोष हो जाय तो उसे प्रचारमे न लाना, जनतासे न कहना, क्योकि धर्म को अप्रभावना करनेसे उसे क्या लाभ मिलेगा ? लोग धर्मसे घृणा न करें । तो समाजमे, धर्म मे घृणा न बने इसके लिए उपाय है उपगूहन । हा कर्तव्य यह है कि अगर दोषीक है तो उसे समझायें, ठीक करें; मगर एक समाजमे प्रसार होनेपर लोगोकी धर्मसे अरुचि हो जाती है । ओह ! ऐसा होता है क्या ? होता है ऐसा । साथ ही साथ उपवृहण अर्थात् अपने गुणो की बढवारी करना, ये ज्ञानीके गुण बताये जा रहे हैं कि ऐसे-ऐसे गुणोंसे यह सम्यग्दर्शनका बीज सीचा जाता है, जो अकुरित होकर ज्ञान और चारित्रको प्रकाशित करा देता है । छठवां गुण है स्थितिकरण—कोई व्यक्ति अपने धर्मसे चिग रहा है, विमुख हो रहा है किसी कारण तो उसे धर्ममे सावधान करना, धर्ममे लाना, सो स्थितिकरण अग है । ७वा गुण है वात्सल्य अग—साधर्मी जनोसे प्रीति करना, जो लोग साधर्मी जनोंसे प्रीति नही कर सकते, बल्कि उनसे मुख मोडकर चलें, उनसे घृणा करें तो क्या उनसे ऐसी आशा की जा सकती कि उन्हे सम्यक्त्व है ? धर्मात्मा जन तो सब प्रकारके होते हैं । कोई पुरुष कुछ अधिक, कोई कुछ कम । गुणोंकी अधिकता किसीमे कम, किसीमे बेशी, पर आखिर हैं तो वे सब साधर्मी जन । उनमे वात्सल्य रखना सो वात्सल्य अग है । ८वा गुण है प्रभावना—अपना ऐसा चरित्र बनायें कि लोगोंमे धर्मकी प्रभावना होवे । ये है धर्ममूर्ति । दूसरोके अज्ञानको हटायें, उपदेश सुनवायें ज्ञानदान दिलवायें, ताकि लोगोकी समझमे आये कि आत्माका उत्थान इस-इस रास्तेसे चलने मे है । तो ऐसे अष्ट गुणरूपी नदीके जलसे सीचा जाय यह सम्यक्त्व बीज, जिससे फिर ज्ञान की शाखायें पैदा हो, सम्यग्ज्ञान बने, चारित्रके जिसमे पुष्प लगें, ऐसा परिचय बने और

उसका फल अमृत मिलेगा मायने अविनाशी पद मिलेगा। इस तरह यह सम्यक्त्व बहुत ही शीघ्र इस जीवसे यथार्थ प्रीति करता है, इसकी उन्नति करता है, बढ़ाता है। यह रत्नत्रय धर्म कहां मिलेगा ? धर्म बाजारमे न मिलेगा, धर्म शरीरकी क्रियावोंमे न मिलेगा, धर्म मायने ज्ञान। ज्ञानको विशुद्ध रखनेसे धर्मकी प्राप्ति होगी। रागद्वेष, पापादिकका त्याग करें, प्रभुमे, अपनेमे अपना ध्यान लगायें, यह है कल्याणका बीज।

दृगवगमचारित्रालंकृत सिद्धिपात्र, लघुरपि न गुरुः स्यादन्यथात्वे कदाचित्।
स्फुटभवगतमार्गो याति मन्दोऽपि गच्छन्नभिमतपदमन्यो नैव तुर्गोऽपि जन्तुः ॥७४॥

(२१६) तप आदि अन्य गुणोंमे मन्द होनेपर भी रत्नत्रयविभूषित पुरुषकी सिद्धिपात्रता—

सब जीव शान्ति चाहते हैं, तो शान्ति चाहने वाले पुरुषो ! जो शांति च ह रहा है उसको तो समझो कि शान्ति चाह कौन रहा है ? मैं शान्ति चाह रहा हू तो उस मै को तो जानो कि वह कौन है जो शान्ति चाह रहा है। सुगम है, परिचय कठिन कुछ नही है, बाह्य परिचय हटाकर एक अपने आपमे विश्राम ले लें तो अपना परिचय सुगम हो जाता है। मैं हू एक ज्ञानपिण्ड, ज्ञानज्योतिर्मय पदार्थ, जिसमे ज्ञानस्वरूप ज्ञानघन है। बस जान लिया, बस यही जानते रहे और इस ही मे तृप्त रहे शान्ति मिल जायगी। इसीको कहते हैं दर्शन, ज्ञान चारित्र। खुदका श्रद्धान करना, ज्ञान होना और खुदमे रम जाना, तृप्त होना, ऐसा दर्शन ज्ञान, चारित्र जिस मुनिके है, साधुके है वह चाहे तपस्यामे कुछ कम हो तो भी वह सिद्धिको प्राप्त होता है और जिसके सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र नही है वह तपश्चरणमे चाहे कितना ही बढा-चढा बन जाय लोकव्यवहारमे तो भी उसको सिद्धि नही है। इस छंदमे इसकी पुष्टि की गई—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' ससारके दुःख छूटनेका उपाय खुदको जानना, खुदका श्रद्धान करना कि मैं क्या हू, और इस ही मे सतुष्ट रहना, यह मार्ग है मुक्ति पानेका। जिसको मार्गका पता है वह कितना भी तेज चले तो भी पहिचानना कठिन है। लोकमे घटा लीजिए। जैसे आपको जाना है यहासे (सहारनपुरसे) चिलकाना। तो चिलकानाका रास्ता पता हो और आप धीरे-धीरे भी जायें तो भी आप और नही तो ६ घटेमे तो पहुंच ही जायेंगे, क्योकि कुल ८-९ मील जगह है और अगर आपको उस रास्तेका पता ही नही है और चल दें घघेडीकी ओर है ना रामपुर मनियारानके पास याने विपरीत दिशामे चल दें तो कितना ही तेज चलें तो भी क्या आप चिलकाना पहुच जायेंगे ? नही पहुंच सकते। ठीक ऐसे ही जिसको अपने स्वरूपका श्रद्धान है, मुक्तिके मार्गका परिचय है वह धीमा चले तो भी पहुंच जायगा याने बाहरी व्रत तप सयनमे धीमा भी हो तो भी पहुच जायगा और जिसको मार्गका

पता नही कि मुक्ति किसका नाम ? मुक्त होना कहते किसको, वह कितना भी तेज चले तो भी पहुचना कठिन है । तो इससे यह सिद्ध हुआ कि अपनेको जानो, अपनेको मानो, अपनेमे रमो, यह बात बन सकेगी तो भला है और एक यह बात न बन सकी तो चाहे लोकमें कितने ही बडे बन जायें चलासे, धनसे, प्रतिष्ठासे, यशसे, पर वहाँ शान्ति न मिल सकेगी ।

वनशिखिनि मृतेऽन्ध सचरन् बाढमङ्घ्रिद्वितयविकलमूर्तिर्वीक्षमाणोऽपि खञ्जः ।
अपि सनयनपादोऽश्रद्दधानश्च तस्माद्दृगवगमचरित्रै सयुतैरेव सिद्धिः ॥ ७५ ॥

(२१७) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनोंकी एकता पूर्णतामें ही सिद्धि—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र–इनकी पूर्णता यह साक्षात् मोक्षका मार्ग है, यह बात चल रही है याने श्रद्धा हो, ज्ञान हो, आचरण हो तो सिद्धि होती है । एक दृष्टान्त लो, बनमे आग लगी हो और वहाँ तीन तरहके मनुष्य हैं—एक दोनो पैरोका लंगडा है, एक दोनो नेत्रोका अधा है और एक बहुत ही मदबुद्धिका मनुष्य है । जैसे बच्चे लोग आगको भी पकडकर खेलने लगते नासमझीसे, इतना ही नासमझ पुरुष था वह । उसे यही नही बुद्धिमे आता कि यह बढती हुई आग यहाँ आयगी और हमे भस्म कर देगी, और जो अन्धा है तथा जो लंगडा है, वे दोनो जगलसे भागकर अपने प्राण कैसे बचा सकें ? असमर्थ हैं । हाँ एक उपाय करें तो शायद बच जायें । अधेके दोनो कधोपर लगडा और कम बुद्धि वाला, ये दोनो बैठ जायें और अधेको लगडा यह बताता चले कि अब अमुक तरफ चलो, अब अमुक तरफ चलो । तो इस तरहसे वे जगलसे भागकर अपने प्राण बचा सकते, पर जब तीनो मिल जायें तभी तीनोके प्राण बच सकते । अलग-अलग रहनेपर तो उनके प्राण नही बच सकते । अधेके प्राण तो यो नही बच सकते कि उसे तो कही कुछ दीखता ही नही, आखिर कहाँ भागकर जाग, लगडेके प्राण यो नही बच सकते कि वह दोनो पैरोसे चल सकनेमे असमर्थ है, और जिसकी मद बुद्धि है उसके प्राण यो नही बच सकते कि उसे यह विवेक ही नही जग पाता कि यह आग बढती हुई आयगी और हमे भस्म कर देगी । तो जैसे अग्निका श्रद्धान न होनेसे वह मंदबुद्धि वाला पुरुष जगलमे अग्नि लग जानेपर अपने प्राणोकी रक्षा न कर सका, ऐसे ही श्रद्धाविहीन जीव कही भी सिद्धि नही पा सकते । जिनका ज्ञानके नेत्र नही मिले वे सिद्धि न पायेंगे । जो चल सकते नही, चारित्र नही, वे सिद्धि न पायेंगे । तो ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये संयुक्त हो, मिल जायें तो उसकी सिद्धि है । जैसे वे तीनो व्यक्ति जंगलमे मिल जायें, चल देवें तो वे बच भी सकते, इसी तरह श्रद्धान, ज्ञान और आचरण—ये तीनो मिल जायें तभी सिद्धि मिल सकती, अन्यथा नही । यह रत्नत्रय ही संसार-

छन्द

संकटोंसे पार करने वाला एकमात्र साधन है।

बहुरपि किमन्यैः प्रस्तरै रत्नसंज्ञैर्वपुषि जनितखेदैर्भारकारित्वयोगात्।

हृतदुरिततमोभिश्चारुरत्नैरनर्घ्यैस्त्रिभिरपि कुरुतात्मालंकृतिं दर्शनाद्यैः॥

(२१८) रत्नत्रयकी ही आत्मालंकाररूपता—

जैसे कोई अपने पास बड़े-बड़े रत्न पाषाण रख ले तो उससे लाभ क्या? और जो श्रेष्ठ रत्न है वह एक अन्य भी है तो भी उसको बहुत मगर्ल श्रेष्ठ है लोकमे, ऐसे ही बहुत बहुत क्रियाकलाप, क्रियाकाण्ड, तप, सयम, व्रत कुछ भी कर ले और एक रत्नत्रय साथ नही, श्रद्धान, ज्ञान, आचरण साथ नही तो उससे क्या सिद्धि हो सकती? तो हे कल्याण चाहने वाले पुरुषो! अपने आपकी समझ बनाओ कि मैं कौन हूं, क्या हू? इसकी सच्ची समझ होते ही सब काम बनने लगेंगे, तत्काल शान्ति होने लगेगी, मुक्तिका मार्ग मिल जायगा। सबसे बडा काम है यह। दिमाग बदलना चाहिए। एक भीतरके भावसे ही तो सब बात बनती है। धन वैभवको जो महत्त्व दे रखा है इतना यह बढ जाना चाहिए, इसकी यह तरकीब हो और उसकी बढोतरीमे चलते जा रहे तो बजाय एक इस भावके इस भावमे आना है कि यह मैं जीव अकेला ज्ञानमात्र हू। कुछ समयके लिए यहां आये, यहांसे जाना ही तो होगा। यहांकी कोई स्नेहभरी बात कभी काम न आयगी। उससे तो निरन्तर घात हो रहा है इस जीवका, इस भगवान आत्मतत्त्वका, फिर भी यह मोही जीव उसीमें अपनी उन्नति समझता है। मैंने इतना काम सिद्ध कर लिया, बडी शान समझता और हो क्या रहा?

देखिये बडी कठिनाईमे तो यह मनुष्यजन्म पाया और इसे पहले जैसे ही खोटे सस्कारोमे गवा दिया तो फिर इस दुर्लभ जन्मके पानेका सदुपयोग क्या किया? ऐसी एक कहानी है कि जगलमे कोई एक संन्यासी रहा करता था। उसके पास एक चूहा भी रहा करता था। वह पालतू जैसा बन गया था। वह सन्यासी उस चूहेसे बडा प्यार करता था। एक दिन हुआ क्या कि उस चूहेपर बिल्ली झपटी तो संन्यासीको चूहेपर दया आयी और आशीष दिया—बिठालो भव, अर्थात् तू भी बिल्ली बन जा, लो चूहा भी बिल्ली बन गया। अब चूहे को बिल्लीका कुछ भय न रहा। एक दिन उसपर झपटा कुत्ता, तो फिर संन्यासी को दया आयी और आशीष दिया—स्वानो भव, अर्थात् तू भी कुत्ता बन जा, लो वह चूहासे बिल्ली और फिर बिल्लीसे कुत्ता भी बन गया, अब इसे कुत्तेका भी भय न रहा। एक दिन उसपर झपटा तेंदुवा तो फिर सन्यासीने आशीष दिया—व्याघ्रो भव, तू भी तेंदुवा बन जा, लो वह तेंदुवा बन गया। फिर एक दिन झपटा उसपर सिंह तो फिर सन्यासीने आशीष दिया

सिंहो भव, अर्थात् तू भी सिंह बन जा, लो वह भी सिंह बन गया। अब उसे सिंहका भी भय न रहा। एक दिन उस सिंहको लगी बड़ाकेकी भूख कुछ खानेको मिला नही तो उसके मन मे आया कि ये सन्यासी महाराज बैठे हैं, इन्हीको खाकर मै अपनी क्षुधा मिटाऊँ। उस सिंह के मनकी बात सन्यासी समझ गया और आशीष दिया—पुन मूषको भव, अर्थात् तू फिरसे चूहा बन जा, लो वह सिंह फिर चूहा बन गया। यह तो एकमात्र कहानी है बच्चोकी। शिक्षा इससे क्या लेनी है कि यह जीव अनादिकालसे निगोद अवस्थामे था। वहाँ इस जीव की बडी दयनीय अवस्था थी। लोग तो यहाँ की जरा-जरासी बातोसे ही घबडा जाते और समझते कि मेरेको तो बडा कष्ट है। पर्याप्त धन नही, मकान महल नही, ठाठबाठके साधन नही, यश प्रतिष्ठा आदिक नही, मेरा गुजारा कैसे चलेगा? यो बडा कष्ट मानते हैं। अपना एक ऐसा निर्णय कर रखा तो बताओ वहाँ कम ही तो रहेगा उनके पास धन। ऐसा ही सोचकर सभी लोग यह ठाने बैठे है कि मेरेको तो अभी कुछ भी पासमे धन नही है। अभी तो बहुत धन जरूरी है, पर अपनेसे अधिक गरीबोकी ओर देखो जरा, गरीब मित्र, गरीब रिश्तेदार, गरीब मनुष्य, जरा उनकी ओर दृष्टि तो दो, उनका कैसे गुजारा चल रहा है? वही तो मनुष्य हम आप हैं। तो गुजारा तो सब होता और गुजारेकी बात क्या? अगर यहाँसे मरकर झोटा बैल आदि कुछ भी बन गए तो बताओ वहाँ गुजारा होगा कि नही? तो यहाँके संगमे तृष्णाका भाव, यह जीवको मथ डालता है। सबके चित्तमे यह बात आना चाहिए कि हमे जो कुछ मिला है वह जरूरतसे ज्यादह मिला है। क्योकि औरोंसे ज्यादह धन है ही। सबके पास आवश्यकतासे ज्यादह धन है। यह तो एक ऊधमबाजी है, जो कहते हैं कि हमारे पास आवश्यकता लायक भी धन नही है। अरे इसका परिचय तब मिलेगा जब अपनेसे अधिक गरीबोपर दृष्टि करें। अच्छा, ऐसा सोचनेसे लाभ क्या है? तृष्णा घटेगी, आत्मकल्याणके लिए चित्त चाहेगा, ज्ञानकी उपासनाके लिए चित्तमे एक उत्सुकता बनेगी। यह ही तो चाहिए इस मनुष्यको। मनुष्यभवकी सफलता बस इसीमे है, तो अन्य और रत्न, धन दौलत, ढेला पत्थरसे क्या लाभ है? वह तो इस शरीरके लिए और भी दुःखका ही कारण बनेगा, क्योकि वह तो भार करने वाला है।

(२१६) रत्नत्रयकी उपासनामे ही लोकोत्तमता—

अगर यह आत्मा अपने अमूल्य रत्नपर आवे, पौद्गलिक रत्नोका तो भार ही कहलायगा, इस ओर आवे, आत्माका जो एक अमूल्य रत्न है अपना ज्ञान, अपना श्रद्धान, अपनेमे रमण—इस निधिको पाये तो वह ही वास्तवमे लोकोत्तम है। ज्ञानमात्र हू, अन्य कुछ

नहीं हू । अगर एक कानसे सुना दूसरे कानसे निकाल दिया, इतनी ही मात्र बात बनी, इससे तो कुछ लाभ न पाया । निर्णय करो, निश्चय करो कि मुझको तो इन सबसे निराला इस ज्ञानमात्र आत्माको निरखकर इस ही मे रमना है । उसके रमनेके लिए जगतमे और कोई चीज नही है । किसमे रमे ? सब जगह धोखा है । देखो धोखा तो तब विदित होता है कि जब दूसरे पदार्थसे कोई चोट मिलती है तब, तो यह कह बैठते है कि बडा धोखा है, कुटुम्ब क्या है ? धोखा, उसके कोई सुख नही । कब यह बात सोचते ? जब कषायके अनुकूल स्त्री पुत्रादिक न चल रहे हो, तभी कहते कि बस कुछ नही है दुनियामे और अगर मर गए तो ? कुछ है क्या दुनिया ? कषायके अनुकूल अगर कुटुम्ब मिल गया तो क्या उससे धोखा न मिलेगा, क्या चोट न मिलेगी ? मानो सारे जीवनभर बहुत प्रेमपूर्वक घरमे रह रहे, सब बडी हाव भगत कर रहे, बडे अच्छे दिन गुजर रहे तो इसका परिणाम क्या निकलेगा कि जिस दिन वियोग होगा उस दिन तो अतीव सक्लेश करेंगे—हाय मेरा प्यारा बच्चा, मेरा प्यारा अमुक, जिसने मुझे जीवनभर सुखसे रखा, जो मुझे हृदयसे प्यारा था, आज वह मेरेसे छूट रहा है । तो मौज मौजमे ही जिन्दगी बितानेके फलमे तो अन्तमे गहरी चोट ही मिलेगी, धोखा ही मिलेगा । तो देखो विवेककी बात बनी रहेगी तब तो भला है और अगर विवेक नही रख रहे हैं तो बड़ा कष्ट मिलेगा । इससे बस एक विविक्त भावना भावो । एक ही काम तो है बडा । सबसे निराला अपनेको समझें । यह बात चित्तमे समा जायगी तो भला होगा और यह बात अगर चित्तमे नही समाती तो वह जीवन बेकारका जीवन है । यहां मिलना-जुलना कुछ नही है, केवल एक मोहकी नीदका स्वप्न है ।

(२२०) मोहनिद्राके विकल्पस्वप्नोंको त्यागकर ज्ञानप्रकाशमें आनेका अनुरोध—

कोई ४-६ घसियारे जा रहे थे । गर्मीके दिन थे । करीब दोपहरके १२-१ बजेका समय था । रास्तेमे एक बरगदके पेड़के नीचे अपने-अपने सिरके नीचे घासका गट्ठा रखकर लेट गए, आराम करने लगे । वहाँ सभीको नीद आयी, सो गए । उन घसियारोका जो मुखिया था वह तो ऐसा सोया कि घनघोर स्वप्न भी देखने लगा । क्या स्वप्न देखा कि मैं किसी जगहका बादशाह बन गया हूं । मेरे पास दरबार लगा है । बड़े बड़े राजा तक भी आ आकर मुझे नमस्कार कर रहे है । सब लोग मेरी आज्ञामे चल रहे हैं, मेरे पास बड़ा ठाट-बाट है··· , धीरे-धीरे शामके चार बजे, वहांसे चलनेका समय हुआ तो वे एक दूसरेको सोते हुएसे जगाने लगे । जब उस मुखियाको जगाया, उसकी निद्रा भंग हुई, उसका स्वप्न भंग हुआ तो वह उस घसियारेसे लड़ने लगा कि तूने मुझे क्यो जगा दिया, मेरा सारा राज्य, सारा

ठाठ, सारा वैभव क्यों खतम कर दिया ? तो वह समझाने लगा—अरे कहाँ खतम कर दिया, वे तो तेरी सब स्वप्नकी चीजें थीं, झूठ थी। तो ऐसे ही देखो यहाँ भी किसको क्या मिला ? सब स्वप्न है। अपने पूर्वजोंकी बात विचारो—वे किस ढगसे रहते थे, कैसे बैठते थे, और वे जब गुजर गए तो लग रहा ना कि वह तो उनके लिए सब स्वप्न था। वही बात खुदके लिए है। मेरे लिए भी तो यह सारा स्वप्न है, ऐसा जानें। इसमे रमनेकी कोई बात ही नहीं दिखती कोई गुण ही नही है इस सारे अनात्मतत्त्वमे कि इसमे यह उपयोग रम जाय। उपयोगको रमाइये, अपने विशुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी ही, यह मैं हूं, यह मैं हूं, तो अपने आत्माका अलकार, आत्माकी शोभा दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे कीजिए। जैसे लोकमे कहते ना हाथको सजावो काहेसे ? आभूषणोंसे। पुराने जमानेमें तो हाथोंमे पहननेके बहुतसे आभूषण हुआ करते थे, आजकल भी कुछ आभूषण हैं, ऐसे जिनसे कहो सारा हाथ ढक जाये। पहले जमाने मे तो खैर गहना पहननेका बहुत रिवाज था। आजकल कुछ कम है। आजकल कोई गहना पहनकर घूमे तो उसके प्रति किसीकी आस्था बनेगी क्या, बल्कि कोई लोग पीछे गाली देते कि देखो कैसा बन-ठनकर निकल रहे ? यहाँ तो लोग भूखो मर रहे और यहाँ इन्हे बनने बननेकी पड़ी है। इन हाथोकी शोभा आभूषण पहननेसे नही, बल्कि दान देनेसे है। दान देने वालेके प्रति लोगोंकी बडी आस्था बढती है। तो हाथकी शोभा है दान देनेसे, पैरोकी शोभा है परोपकारके लिए, अथवा तीर्थवदना आदि धार्मिक कार्योंमे जानेमे। जिह्वाकी शोभा है सद्वचन बोलनेसे। ऐसे वचन बोलें कि जिससे सुनने वालेको सतोष हो, खुशी हो, यह भी खुश रहेगा। तो इस शरीरकी शोभा विषयोके साधनोसे नही होती, बल्कि त्याग, दान, क्षमा, नम्रता आदिक बातोसे होती है।

जयति सुखनिदानं मोक्षवृक्षैकबीज, सकलमलविमुक्त दर्शनं यद्विना स्यात्।
मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्र, भवतु मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव ॥ ७७ ॥

(२२१) ज्ञान, चारित्रकी समीचीनताके हेतुभूत सम्यक्त्वका जयवाद—

प्रकरण चल रहा है रत्नत्रयरूपी धर्मका, मायने आत्माका अपना सहज जो स्वरूप है उसका विश्वास होना, मैं यह हू, उसका परिचय होना और उस ही मे रम जाना, यह है मुक्तिका मार्ग। उसके विषयमे कह रहे हैं कि यह सुखनिधान विज्ञान सुख कैसा है ? जीवका सुख कहीं बाहर धरा है क्या ? परिवार, धन दौलत आदिकमे कही सुख भरा है क्या कि उनको हिलावो तो उनसे सुख निकल आये। इसका सुख कही बाहर नही है, यह तो स्वयं सुखस्वभावी है। सुखस्वभावका परिचय हो गया तो उसके सुख प्रकट हो जायगा।

जब तक अपनेको जान ही नही रहे और यह मानते रहे कि मैं तो सुखरहित हूं, मुझको सुख इस जगहमे मिलेगा तब तक इसकी दृष्टि बाहरकी ओर ही रहती है।

अब समझ लो अपनी अपनी बात। चित्तमे कितना बसा हुआ है यह कि मेरेको सुख अमुकसे मिलेगा, मेरेको आनन्द कुटुम्बसे घरसे मित्रोसे प्राप्त होगा। ऐसी श्रद्धा करके उनका विघटन कर रहा यह जीव। अपने आपकी सुध भूले हुए हैं। और जो यह ज्ञान जग जाय कि मेरा आनन्द मेरे स्वरूपमे है, बाहर नही। उस आनन्दका हमने ही घात किया है चाह करके, द्वेष करके, राग करके, विकल्प करके। यदि मैं इन विकल्पोको दूर करूँ। मेरा मैं वहीका वही आनन्दमय हूं। देखो जिसको धर्म और धर्मका फल चाहिए, सही आनन्द चाहिए उनको कषाय मोह ममता इन सबका बलिदान करना होगा। अपनेको ऐसा निरखो कि मैं एकाकी केवल ज्ञानमात्र हूं। अपने अपने हृदयसे नाप लो जरा कि कितना हम धर्ममार्ग मे आये। जीवन भर भी धर्म किया, और दसो बीसो दशलक्षणोमे भारी समय दिया, सब कुछ करनेके बाद भी आज यदि कुटुम्ब धन-वैभव इनके प्रति ममता है, तृष्णा है तो आनन्द तो मिला नहीं, कर्मबंध भी रुका नही, फिर तुमने क्या किया? कोई एक साल भी या कुछ माह भी इस तरह लगा सकते कि जैसे मानो मरणके बाद फिर साल तो है ना उसका खाली। ऐसे ही समझ लो कि मानो हमारी जिन्दगी नही। किसी भी मौके पर ऐसी ऐसी बडी आफतें आ जाती हैं कि जहां जिन्दगीका भरोसा न था। सबके जीवनमे ऐसा मौका दो एक बार आया ही होगा। मानो तब ही यह जीवन न रहता तो यहांका यह सब कुछ मेरे लिए कुछ तो न था। समझो कि ऐसा ही हो गया। मेरे लिये यहां कुछ नही है, केवल मेरा आत्माराम और उसकी सुधके लिए प्रभुस्वरूप, बस दो जगहका निर्णय है। जो अपने आपके स्वरूपको समझ लेगा उसको सुख मिलेगा, और जो नही समझता उसको कष्ट ही होगा। तो यह सम्यग्दर्शन है सुखका निधान और मोक्षरूपी वृक्षका एकमात्र बीज। जैसे बीज बोये बिना वृक्ष नही बन सकता, ऐसे ही सम्यक्त्व बिना चारित्र नही बन सकता, मुक्ति नही बन सकती।

(२२२) सम्यग्दर्शनका दर्शन—

देखो सम्यक्त्व क्या? अपने आपके सहजस्वरूपका श्रद्धान होना कि मैं यह हूं, जब तक मैं को भूला है और-और तरह मान रहा है तब तक यह दुःखमें है। एक कथा कहते है कि चैत वैसाखके दिनोमे जब कि फसल कट रही थी। शाम हो गई, कुछ अंधेरासा आ गया तो किसान बोला मजदूरोसे कि भाई जल्दी करो, अब अंधेरी आने वाली है। जितना

डर मुझे शेरका नहीं उतना डर अंधेरीका है। यह बात सुन ली वहीं पासमे रहनेवाले शेर ने। शेरने सोचा कि शायद अंधेरी मेरेसे भी बढकर कोई जानवर है तभी तो यह कह रहा है। खैर सब लोग काम खतम करके चले गए, बडा अंधेरा छा गया। उसी समय क्या हुआ कि एक कुम्हारका गधा खो गया, तो कुम्हार निकला गधा ढूंढने। ढूढते-ढूंढते वह वहां भी पहुंचा जहा वह शेर बैठा था। कुम्हारकी समझमें कुछ आया कि शायद यही तो बैठा है हमारा गधा। साफ साफ तो दिखता न था, कुछ अंदाज मात्र लगा सका था। खैर उसके कान पकडे और दो-तीन डडे जमाये। उधर शेरको क्या भ्रम हुआ कि अरे आ गई वह अधेरी, जो मेरेसे भी बलिष्ट चीज है। आखिर डरके मारे वह शेर कुम्हारके पीछे पीछे चल पडा। कुम्हार उसे कान पकडकर खींचता हुआ अपने घर ले गया और जिस वाडेके अन्दर गधे बंधे थे उसीमे उसको भी बांध दिया। जब सवेरा हुआ तो शेरने क्या देखा कि अरे मैं तो यहा गधोके बीचमे बंधा हू। यह दृश्य देखकर शेर सोचता है कि अरे क्या मामला है कि मैं गधोंके बीच पड गया? उसने एक दहाड दी और भाग गया।

तो जब यह ख्याल हो जाता है कि मैं अमुक हूं, दूकानदार हू, सर्विस वाला हूं, बच्चो वाला हूं तो उसको बाहरमे हर जगह आकुलता ही आकुलता रहती है, क्योकि जो अविनाशी अमर आत्माराम है उसका विश्वास तो खो दिया और जो विनाशीक बात है, उसको मानले कि यह मैं हू तो वह तो डडे जायगा। तो सम्यक्त्व बिना आगे प्रगति नही होती धर्ममे। धर्मका मूल है सम्यग्दर्शन और धर्म—'चारित्त खलु धम्मो' धर्म है चारित्रका नाम और चारित्र जो धर्म है उसकी जड है सम्यग्ज्ञान। बीज कहो, तो यह सम्यग्दर्शन मोक्ष वृक्षका एक बीज है। समस्त मलोसे विमुक्त जहां सम्यक्त्व जग गया वहां विपरीत अर्थ नही रहता। जगतके सब जीवोमे उस ही सहजस्वरूपका निरीक्षण करता है, ऐसा यह दर्शन, जिसके बिना मतिज्ञान तो कुमतिज्ञान रहता, ज्ञान तो मिथ्या ज्ञान रहता है और चारित्र मिथ्या चारित्र रहता है। जब पता ही नही है उस निज स्वरूपका जो स्वय शान्त अविकार अनादि अनन्त सहज सिद्ध है उस स्वरूपका जब भान नही तो कहां उपयोग रख करके यह प्राप्त हो? बाहरमे कोई स्थान नही ऐसा कि जिसकी दृष्टि रखकर आनन्द प्राप्त हो। इसके बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान, इसके बिना चारित्र मिथ्या चारित्र जो सम्यक्त्वके बिना यह मनुष्य-जन्म पा लेना न पानेकी तरह है। क्या लाभ हुआ? अगर सम्यक्त्व नही, ज्ञान नही, सच्चा बोध नही, जिस बोधसे आत्मामें शान्ति प्राप्त हो वह चीज ही न पायी तो मनुष्य बनकर क्या किया? कोई दो भाई थे उनमे से एक भाई गुजर गया, लोग आये, सो पूछने लगे कि

भाई तुम्हारा भाई अपनी जिन्दगीमे क्या कर गया याने कितना कितना क्या-क्या दान पुण्य आदि धर्म के काम कर गया ? तो वह भाई बोला—"क्या बतायें यार, क्या कारोनुमाया कर गए। बी. ए. किया, सर्विस की, पेन्सन ली और मर गए।।" अच्छा यह कोई एककी बात नही। हर एककी जिन्दगीमे यही बात है। चाहे कोई सर्विस पेशा करने वाला हो, चाहे कोई कुछ काम करता हो, हर एक की यही बात है। कोई दूकानका काम पहले सीखता, फिर उसको चलाता और बूढा होकर मरकर चला जाता। हर एककी यही बात लगा लो। तो ज्ञान बिना, आत्मबोध पाये बिना मनुष्य जन्मके पानेको क्या पाना कहा जा सकता है ?

भवभुजगनागदमिनी दुःखमहादावशमनजलवृष्टिः।
मुक्तिसुखामृतसरसी जयति दृगादित्रयी सम्यक् ।। ७८ ।।

(२२३) रत्नत्रयधर्मकी भवभुजंगनागदमिनीरूपता—

यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म यह रत्नत्रयी क्या है ? संसाररूपी सर्पके लिए नागदमिनीके समान है। नागदमिनी कोई टोना टोटका या कोई जंत्रमन्त्रकी चीज होगी जिसके होनेपर भुजग (सर्प) अपना प्रभाव नही दिखा सकते अथवा नष्ट हो जाते, भाग जाते। ऐसे ही रत्नत्रयधर्मसे ये भव दूर हो जाते है। जीव भवरहित हो जाते। देखो दृष्टि आपके पास, ज्ञान आपके पास। इनका सदुपयोग करना चाहिए। थोड़ी देरके लिए सारे विकल्प छोडकर अपने आपका दर्शन तो करें कि यह जो चैतन्यज्योति है, जो अपने आप एक सामान्य है, जिसमे विशेष यह रूपक मुझमे नही है। केवल एक प्रतिभास प्रतिभास ही है, उस तक दृष्टि जाय कि मैं यह हू, अन्य कुछ नहीं हू, इतनी अगर श्रद्धा बन जाय तो सर्व समृद्धि पा ली समझो। अब कोई गप्प तो कर कि मैं ऐसा हू, यह है वह है, मगर उसकी तृष्णा नही छूट रही, लोभ नही छूट रहा, मायाचारी चल रही, जरा-जरासी बातमे कषाय उमड रही, घमडके मारे नाक चढीसी रहे, तो कोरी गप्प करनेसे काम नही बनता। यह तो जो अपने चित्तमे उतारेगा, अनुभव करेगा कि मैं एक चैतन्यज्योतिके सिवाय और कुछ नही, मेरा कही कुछ नही, उसको सही मार्ग मिलता है। तो यह रत्नत्रयरूप धर्म यह भवभुजगको नष्ट करनेके लिए और नागदमिनीस्वरूप है।

(२२४) रत्नत्रयधर्मकी दुखःमहादावशमनजलवृष्टिरूपता एवं मुक्तिसुखामृतसरसीरूपता—

यह रत्नत्रयधर्म दुःखरूपी महान् वनकी अग्निका शमन करनेके लिए घनघोर जलवृष्टिकी तरह है। वनमे लग जाय आग तो उसको बुझानेमे कौन समर्थ है ? जलवृष्टि। अगर जलवृष्टि हो जाय तो वह आग बुझ जायगी। तो ऐसे ही जो महान् ससारके कष्ट है

उनका शमन करनेके लिए यह रत्नत्रयधर्म जलवृष्टिके समान है। यह रत्नत्रयरूप धर्म मुक्तिके सुखरूपी अमृतसे भरा सरोवर है अर्थात् रत्नत्रयधर्मके प्रसादसे मुक्तिकी आनन्द प्राप्ति होता है। आनन्द तो वास्तविक शाश्वत सहज अनन्त मुक्तिमें ही मिलता है। इस सहज आनन्दका बीज रत्नत्रय धर्म है अथवा कहिये रत्नत्रयकी पूर्णता ही कृतकृत्यदशाका विशुद्ध आनन्द है। वह रत्नत्रय धर्म ही जीवको ससारदुःखसे छुटाकर मुक्तिके पार लगाता है, दूसरा कोई पार नही कर सकता। धर्मात्मा जनोसे प्रीति करो, धर्मात्मा जनोंमे वात्सल्य रखो। और फिर यह तुलना करो कि हमारा यह वात्सल्य परिवारके लोगोके प्रति ज्यादा है या धर्मात्मा जनोके प्रति। अगर परिवारके प्रति ज्यादा चल रहा है तो समझो कि वहा मोहका रंग चल रहा। अभी तो कुछ धर्मके नामपर पहल-पहल भी कर रहे, अनेक प्रकारके धार्मिक क्रियाकाण्ड भी कर रहे, पर परिजनोंके प्रति और धर्मात्माओंके प्रति यदि प्रेममे फर्क नहीं आता है याने परिवारके लोगोके प्रति तो बड़ा प्रेम उमडना और धर्मात्मा जनोके प्रति वह बात नही बन पाती, तो समझो कि वहा अभी मोहका काम चल रहा। मान लो मन्दिरमे जाकर भगवानके सामने पूजन वंदन कर रहे, पर वहां भी चित्तमे ये परिजन ही चित्तमे बसे हैं तो बताओ वहा पूजा किसकी हो रही ? परिवारके लोगोकी, न कि देव शास्त्र गुरुकी। जब ऐसी बात है तो पूजा करते हुएमें यह क्यों कहते—देव, शास्त्र, गुरुभ्यो नमः। अरे स्पष्ट यह कहो—पुत्रमित्रस्त्रिभ्यो नमः ? (हँसी) अरे जो चित्तमें बसा है पूजा तो उसीकी कहलाती ना ? बात तो ठीक है, पर मोहका मत्र बोलनेमें शर्म आती है। वह मोह ममताका काम कुछ अच्छासा नही है, तो कुछ क्षण ऐसे तो व्यतीत करो। मान लो ऐसा ही अब तो हमारा जीवन एक लगनके साथ धर्मके लिए है। और ऐसा अगर चित्तमें आ जाय तो उसके अनुकूल अपना वातावरण बनने लगेगा, कोई शिकायत नही रह सकती। और चित्तमे धर्मकी भावना नहो है तो अनेक असुविधायें रहेंगी। अभी हमको इतना तो कर लेने दो, फिर करेंगे धर्म। ऐसा प्रमाद तो रहेगा ही।

(२२५) आत्मपरिचयमूलक आत्महितकी भावनाके बिना सर्वत्र असुविधायें व विपत्तियां—

एक किम्बदन्ती ऐसी है कि एक बार नारद नरकमें घूमने गए। वहां क्या देखा कि जीव इतना ठसाठस भरे कि खडे होनेकी जगह नहीं। फिर बैकुण्ठ घूमने गए तो वहां क्या देखा कि साराका सारा खाली पडा है, सिर्फ वहां पडे हैं आरामसे विष्णु और पडे-पडे हुक्का पी रहे हैं, तो वहां नारद बोले—हे विष्णु भगवान ! यह तो तुम बडा अन्याय कर रहे। कैसा अन्याय ? अरे नरकोमे तो खडे होनेकी भी जगह नहीं मिलती और यहा तुम

मजे से अकेले पडे हो। तो विष्णु बोले—अरे मैं क्या करूँ, यहाँ कोई आता ही नहीं। अब मैं तुम्हे इजाजत देता हूं कि तुम जावो और जितने जीव यहाँ ला सकते हो ले आवो। तो बडे खुश होकर नारद मनुष्यलोकमे आये। सोचा कि पहले बूढ़ोंसे मिले। वे तो स्वर्ग जानेके लिए तैयार ही हो जायेंगे। सो एक बूढा व्यक्ति मिला, नारद ने कहा—बाबा जी चलो हम तुम्हे स्वर्ग ले चलेंगे। यह तो सभी जानते हैं ना कि बिना यहांसे मरे तो स्वर्ग मिलता नही तो वहा वह बूढा झुँभलाकर बोला—अरे चलो चलो यहासे. एक हमी मिले तुमको स्वर्ग ले जानेके लिए। नारद फिर आगे बढे, कई बूढोसे कहा, पर सबने वैसा ही जवाब दिया।

नारदने सोचा—अब जवानोको देखें—शायद वे जानेको तैयार हो जायें। एक जवान मिला, नारद बोले—भैया! चलो हम तुम्हे स्वर्ग ले चलेंगे। तो उसने अपनी सारी समस्यायें सामने रख दी, अभी यह काम पडा है, अभी वह काम पडा है, अभी यह दुकान सभालनी है, अभी उस फर्मका काम पूरा करना है, हमको आपके साथ स्वर्ग जानेकी अभी फुरसत नहीं। इस तरहसे नारद कई जवानोसे मिले, पर सबने वही उत्तर दिया। फिर नारदने सोचा—शायद लडके लोग स्वर्ग जानेको तैयार हो जायेंगे, सो निकले लडकोकी खोजमे। एक जगह क्या देखा कि एक बालक अपने द्वारके चबूतरेपर तिलक लगाये हुए, माला लिए हुए बैठा हुआ है, सोचा कि यह तो तैयार ही हो जायगा तो उससे नारद बोले—बेटा, तुम हमारे साथ चलो, तुमको हम स्वर्ग ले चलेंगे। तो स्वर्गकी बात सुनकर वह बडा खुश हुआ और बोल उठा—हाँ महाराज हम चलेंगे आपके साथ स्वर्ग, मगर····। मगर क्या? अरे अभी अभी दो दिन बाद हमारी सगाई होनी है, रिश्तेदार लोग भी घर आ चुके हैं, इस मौकेपर तो आपके साथ जाना ठीक नही, हा कृपा करके आप ५ वर्ष बाद आना तब आपके साथ हम जरूर चलेंगे। अच्छा भाई ठीक है। ५ वर्ष बाद ही चलना। इधर ५ वर्षके अन्दर अन्दर उसका विवाह भी हो गया, एक बालक भी हो गया, ५ वर्ष बीते, नारद फिर आये बोले चलो बेटा अब तो चलो—तो वह बालक बोला—महाराज बडे भाग्यसे तो बालक हुआ अब उसका पालन पोषण करके कुछ बडा करदें, वह अपने पैरो खडा हो जाय, सो आप कृपा करके १५ साल बाद आना तब हम चलेंगे। ···· ठीक है। इधर १५ वर्षोंमे क्या हुआ कि बालक अपने पैरोपर खडा हुआ, मगर निकला कुपूत, फिजूलखर्ची। खैर १५ वर्ष बीते जब फिर नारदजी आये और कहा—चलो बेटा, अब तो चलो। तो वहाँ उसने यही जवाब दिया कि महाराज क्या बतायें, बालक कुपूत निकल गया। यदि हम घर छोड़ देंगे तो यह बालक सब धन नष्ट कर देगा। इसलिए कृपा करके आप २० वर्ष बाद आना

तब चलेंगे। अच्छी बात। इधर २८ वर्षोंमें आ गया उसका बुढ़ापा। खैर २० वर्ष बाद फिर नारद जी आये, बोले– चलो अब तो चलो तो वह बोला– महाराज यदि हम आपके साथ चल दिये तो धनकी रक्षा कौन करेगा ? सो कृपा करके इस भवमें तो नही, अगले भव मे आना तब हम जरूर आपके साथ चलेंगे। खैर नारद फिर वापिस लौट गए। इधर वह व्यक्ति मरकर साप बना और वही रहने लगा जहाँ उसका धन गडा था। वहा भी नारद ने पीछा न छोडा। पहुंचे और बोले– चलो अब तो चलो–तो वह सांप अपना फन हिला-हिला कर यही कह रहा था कि अब हम तुम्हारे साथ कैसे जा सकते ? धनकी रक्षा करनेके लिए ही तो हम यहा पैदा हुए। तो नारद लौट गए और विष्णुके पास जाकर बोले—आप सच कहते थे– यहाँ कोई आना नही चाहता। यह तो एक किंवदन्ती मात्र है। यहां समझना क्या है ? भाई यहा यह समझो कि जिसको धर्मको रुचि नही है उसके लिए अनेक असुविधायें हैं और जिसे धर्मकी रुचि है उसके लिए कही कोई असुविधा नही। मेरे को अभी यह करनेको पडा है, यह करनेको पडा है, ऐसा सोच सोचकर सारा जीवन यो ही बेकार चला जाता है। इससे भाई इस संसारका सही स्वरूप जानो, यहाकी कोई चीज चित्त रमाने लायक नही। अपने ज्ञानस्वभावको देखो, उस ज्ञानज्योतिको देखो जो सुखका घर है, उसका यदि उपयोग हो तो यही एक संसारके समस्त सकटोंमे छूटनेका मौका है।

वचनविरचितैवोत्पद्यते भेदबुद्धिर्दृगवगमचारित्राण्यात्मनः स्वं स्वरूपम्।
अनुपचरितमेतच्चेतनैकस्वभावं व्रजति विषयभावं योगिनां योगदृष्टे ॥७६॥

(२२६) भेदविज्ञानके प्रसादसे दर्शनज्ञानचारित्रात्मक अन्तस्तत्त्वका प्रकाश—

रत्नत्रय लक्षण धर्मका प्रकरण चल रहा है। धर्म क्या है ? किसका धर्म ? बिच्छूका कि सापका ? किसका धर्म जानना चाहते ? पुद्गलका, देहका या आत्माका जानना चाहते ? तो जिसका जो स्वभाव है वह उसका धर्म है। बस यह कुञ्जी है धर्मकी। धर्मके स्वरूपमे कही पक्षपात नही। किसने कहा, किसने समझा, किसने बताया ? यह समझना कि हैरान गति नही करनी। यह जानना कि जिसका जो स्वभाव है उसका वह धर्म है। क्या चाहिये आपको ? आत्माका धर्म। आत्माका जो स्वभाव है सो आत्माका धर्म। अब यह निरख ले कि आत्माका स्वभाव क्या है ? अच्छा यह बतलावो— स्वभाव हमेशा रहता है कि नही ? अगर कोई बात हमेशा नही रहती किसीमे तो समझना कि वह उसका स्वभाव नही। परख लो—इस जीवमे क्रोध निरन्तर रहता है क्या ? कोई लगातार आधा घटा भी क्रोध कर सकता है क्या ? निरन्तर तो नहीं रहता। कोई दो-तीन मिनटको क्रोध आया तो उसमे भी बहुत भेद है। तो क्रोध क्या आत्माका स्वभाव हो गया ?

नही। अच्छा घमंड कोई सदा कर सकता है क्या ? नही। तो वह भी स्वभाव नही है। स्वभावके पहिचाननेकी दो कुंजी है, जो सदा रहे और समान रहे, बस समझ लो कि वह स्वभाव है। माया, लोभ स्वभाव है क्या ? वे भी नही रहते। कोई क्रोध करे तो न करे तो माया, लोभमे आये तो, न आये तो, ज्ञान निरन्तर रहता कि नही ? अगर ज्ञान न रहे निरन्तर तो ये बातें भी नही आ सकती। ज्ञान एक स्वच्छता है। स्वच्छता न हो तो वहाँ छाया भी नही आ सकती, प्रतिबिम्ब भी नही हो सकता। तो यह प्रतिबिम्ब, यह कषाय यह बात बताती है कि जिसमे यह कषाय उमडी है वह है ज्ञानस्वरूप। तो आत्माका स्वभाव क्या हुआ ? ज्ञान। तो जाननेके लिए क्या करना चाहिए ? बस ज्ञान ज्ञान ही करें, रागद्वेष न करें, ज्ञातामात्र रहें, पर रागद्वेष मोह मत करें, यह हो गया धर्मपालन। अब बतलावो यह धर्म सबके साथ लगा है कि नही ? वह स्वभाव जो नही मान रहा उसके साथ भी वह स्वभाव है। तो ज्ञाता दृष्टा रहना, रागद्वेष न करना, बस यह ही मात्र धर्मपालन है। अब ऐसा जब नही रह सकता कोई ज्ञान, वह जग जाय, मालूम भी हो जाय, वह मैं आत्मा तो ज्ञानज्योति हू, चैतन्यस्वरूप हूं, मेरेमे गडबडीका क्या काम ? मेरे स्वभावसे अविकारका क्या प्रयोजन ? मैं तो एक चैतन्यज्योति मात्र हू, लेकिन हो तो रहा है सब कुछ गडबड। विकल्प तरग विचार मेरे ये कोई उपाधिके सम्बन्धसे है और उपाधिकी झलक मात्र हैं। जैसे स्फटिक मणि स्वच्छ है, उसमे स्वयंसे कोई दूसरा रंग नही, वह तो साफ है, लेकिन जब लाल पीला दिख रहा है तो कोई लाल पीला कपडा या वस्त्र लगा रखा है। उससे झलक है। जब है तब, दर्पणमे है और उस स्फटिकमे है सब, मगर वह नैमित्तिक है, उसके आधीन नही है कि वह राग बनाये रहे। निमित्त हटा कि रंग खतम। ऐसे ही जीवका स्वरूप तो मात्र एक ज्ञातादृष्टा रहना है, उसमे कहाँसे आयगा विकार ? ये विकार औपाधिक नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, मेरे स्वरूप नही है, ऐसा जिसने जान लिया उसे भी देखो वेदना साता है, सुख दुःख आता है, भूख-प्यास लगती है और समय-समयपर क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भी जगते हैं तो क्या करे अब वह ज्ञान ? तो बस उसका ही यह उपाय है व्यवहारधर्म। व्रत करें, सयम करें, भक्ति करें, स्वाध्याय करें, सत्सगमे रहे—ऐसा करनेसे वे पाप, वे कषायें आक्रमण न करेंगे। हम सुरक्षित रहेगे और फिर अपनेमे अपने स्वभावका ध्यान कर लेंगे।

(२२७) अखण्ड अन्तस्तत्त्वके प्रकाशमे कृतार्थताका अभ्युदय—

आत्माके स्वभावका श्रद्धान बने कि मैं तो यह हू और उसका ज्ञान बनता, जानकारी रहती और ऐसी जानकारी बनाये रहनेमे उपयोग कही और जगह न फसे, यह हुआ

चारित्र । तो ऐसे जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं सो कहनेको तो ये तीन बातें है, मगर ये तो एक ही बात है । जैसे अग्नि जलाते है तो अग्नि जलाती है, अग्नि खाना पकाती है, अग्नि प्रकाश करती है । अग्निमे ये तीन बातें यहां नजर आयी, पर तीन बातें अग्निमे कही अलग धरी है क्या कि अग्निका इतना हिस्सा जलायगा, इतना खाना पकायगा और इतना प्रकाश करेगा ? अरे वह सारी अग्नि एक ही काम कर रही है, मगर भेददृष्टिसे वहां तीन बातें कही जाती है । ऐसे ही यह आत्मा केवल ज्ञानस्वभावी है । भेददृष्टिसे तीन बातें कही गई हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र । सो देखो—यह आत्मा तो एक चैतन्यस्वभावी है, एक है, अनुपचरित है, सही, सीधा यथार्थ है, अखण्ड है । उसे योगीजन अपनी दृष्टिसे परख लेते है । बात देखो—कहाँकी कही जा रही है, किसकी कही जा रही है, और कौन सुन रहा ? सारी बात एक ही है, आप ही सुन रहे, अपनी ही बात सुन रहे, अपनेमे ही सुन रहे, अपने ही मे निरख रहे तो यह विदित हो जायगा कि मेरा स्वरूप तो मात्र एक ज्ञानानन्द है, चैतन्य है, चिदानन्द स्वरूप है, अन्य कुछ मेरा नही तो आपको बस अपने स्वरूपमे ही प्रीति होगी और उसीमे आनन्द चलेगा ।

निरूप्य तत्त्व स्थिरतामुपागता, मति' सतां शुद्धनयावलम्बिनी ।
अखण्डमेक विशद चिदात्मकं निरन्तरं पश्यति तत्पर मह ।। ८० ।।

(२२८) शुद्धनयका आश्रय करने वाली बुद्धिके प्रसादसे चैतन्यस्वरूप उत्कृष्ट तत्त्वका अवलोकन—

यह बुद्धि पहले तो तत्त्वका निरूपण करती है याने बुद्धिसे जाना कि मैं जीव यह हू, यह देह अचेतन है, इसका स्वरूप जुदा है, मेरा स्वरूप मुझमे है, बुद्धिसे यह पदार्थको जाना और उसके बाद यह ही बुद्धि स्थिर बन जाती है और फिर शुद्धनयका आलम्बन लेकर जो एक अखण्ड अंतस्तत्त्वको परखा, उसके जाननेमे यह स्थिर हो जाता है, तब फिर यह ही एक अखण्ड निर्मल चैतन्यस्वरूप अपने आपको परखता है—मैं यह हू । देखो जैसे किसी माँ का बच्चा गुम गया, वह बच्चा छिप तो गया घरके ही किसी कोनेमे पर माँ घरसे बाहर सब जगह बहुत-बहुत पता लगाती फिरती, बडी हैरान होती । आखिर जब बहुत-बहुत पता लगाकर थक गई, घरमे आकर बैठी तो उस बच्चेको एक कोनेमे छिपा हुआ बैठा पाया । वहां उसे तुरन्त दो चीजें उत्पन्न हुईं । एक हर्ष और एक रोष । हर्ष तो हुआ इस बातमे कि बच्चा मिल गया और रोष इस बातसे हुआ कि अरे अभी तक कहां छिपा हुआ था, सब जगह पता लगा-लगाकर बडी हैरान हो गई । तो ऐसे ही समझो कि यह प्रभु, चिदानन्द स्व-

रूप तो आनन्दका आधार है, परमपवित्र है, वह भगवत तत्त्व जो सुखमय है उसको ढूंढनेके लिए मानो बाहर निकला । बाहरमे सुख खोजनेके मायने है अपने आपकी खोज करना । क्योकि सुख और दु खमे क्या फर्क ? ज्ञान और आत्मामे क्या फर्क ? ज्ञान आत्माकी ही परिणति है । यहा देखा वहाँ देखा । खोजते खोजते कभी सुयोग ऐसा मिला, देशनालब्धि मिला कुछ सम्यग्दर्शन ऐसा मिला कि पता पाडते-पाडते खुदमे यह दिख गया कि यह है वह भगवत्स्वरूप, यह है वह परमात्मतत्त्व, ज्ञानानन्दनिधान । सो आनन्द तो बहुत जगा, पर एक रोष भी जगा कि अरे तू तो मेरे ही अन्दर छिपा बैठा था । मैं बाहरमे ढूंढने-ढूंढते बहुत हैरान हो गया और तू मिला अपने आपके अन्दर । तो हमारा स्वरूप अपने आपके अन्दर है उसीकी बात चल रही है कि वह स्वरूप क्या है ? बुद्धिसे उसे जानें और फिर उसमे स्थिर हो तो एक परम आनन्दमय जातिका स्वरूप यह ज्ञानी निरख रहा है, यह ही है धर्मपालन ।

दृष्टिनिर्णीतरात्माह्वयविशदमहस्यत्र बोध· प्रबोध: ।
शुद्ध चारित्रमथ स्थितिरिति युगपद् बन्धविध्वंसकारि ।।
बाह्यं बाह्यार्थमेव त्रितयमपि पर स्याच्छुभोवाऽशुभो वा ।
बन्ध: संसारमेव श्रुतिनिपुणधियः साधवस्त वदन्ति ।। ८१ ।।

(२२९) विशुद्ध रत्नत्रयस्वरूपका कथन—

किसका नाम है सम्यग्दर्शन ? आत्मा नामका जो एक विशद तेज निर्मल एक ज्योति प्रतिभास, उसमे निर्णय होना कि यह मैं हू, यह है सम्यग्दर्शन और उसके सम्बन्धमे प्रकृष्ट बोध होना यह है सम्यग्ज्ञान और उस ही मे स्थिर होना यह है सम्यक्चारित्र । यह सब एक साथ बध विध्वस करने वाला है । अब तक तो कहा गया निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप, अब व्यवहाररत्नत्रयकी बात देखिये—यह है बाह्य अर्थविषयक याने जीवादिक ७ तत्त्वो की यहाँ परख करना, ज्ञान करना, ५ प्रकारके पापोका त्याग करना, जीवोकी रक्षा करना । देखो इन सबके पाये बिना आप अपने भीतर प्रवेश न कर पायेंगे । ये सब क्रियायें शुभोपयोग हैं, इनसे पुण्यबध है । मगर शुभोपयोग बिना शुद्धोपयोगमे प्रवेश नही होता । तो शुद्धोपयोग से पहले जो शुभोपयोग है उसको कहते हैं व्यवहाररत्नत्रय । तो ये बाह्य अर्थविषयक जो जो इसमे शुभ अशुभ दोनो प्रकारके भाव आते हैं, मगर शुभभाव विशेष है, जिसका फल कर्मबध ही है । जैसे खेत जोता जाता है और उसे जोतकर बीज बोये, तो वृक्ष तो बीजसे बनेगा ना । उस खेतमे बीज डाल देनेसे फिर खेत जोतनेकी प्रक्रिया निष्फल न कहलायगी । और कोई खेत जोतकर रह जाये, उसमे बीज डाले नही तो वह वृक्ष और वृक्षसे बीज पा सकेगा क्या ?

नही पा सकता। फल तो बीजमे ही मिलेगा। मगर खेत जोतना जैसे उसका वातावरण बनाना है ऐसे ही व्यवहार सम्यक्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्र—ये एक जुत ई है कि जिसमे आत्मा इस लायक बने कि यह अपने निश्चयरत्नत्रयको धारण कर सके। इस तरह जो श्रुतवेदी साधुजन है वे कथन करते है कि यह व्यवहार रत्नत्रय है, तो व्यवहाररत्नत्रय होते-होते दृष्टि रखें अपने आपके अन्दर, इस विधिसे आपको उस निश्चय धर्मके दर्शन होंगे।

जडजनकृत बाधाक्रोशहासाप्रियादा सति न विकारं यन्मनोयाति साधोः।
अमलविपुलविपुलचित्तेरुत्तमा सा क्षमाद्री शिवपथपथिकाना सत्सहायत्वमेति।।८२।।

(२३०) धर्मकी चतुर्थ परिभाषाके अन्तर्गत दशलक्षण धर्ममे उत्तमक्षमाका निर्देश—

इस ग्रथके प्रारम्भमे बताया गया था कि धर्मका व्याख्यान करेंगे। धर्म ५ प्रकार के परमावधियोंने बताया था। जीवदया धर्म है पहली बात, दूसरी बात—मुनिधर्म और श्रावकधर्म। उस भेदसे यह ६ प्रकारका है। तीसरी बात रत्नत्रयधर्म है, यो तीन प्रकारकी परिभाषावोका वर्णन हो चुका। अब चौथी बात कह रहे हैं उत्तम क्षमा आदिक दशलक्षण रूप धर्म है, उनमे प्रथम है उत्तमक्षमा। क्योकि कषायें चार हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। आप लोग सोचेंगे कि इस तरहसे क्यो कहा, लोभ, मान, माया, क्रोध, इस तरहसे या कोई और तरहसे कहते। चारो कषायोका इस तरहसे नम्बर क्यो दिया ? तो मोटी बात तो यह है कि क्रोधका सस्कार ज्यादा देर तक नही रहता। मानका उससे ज्यादा रहता, और मायाका सस्कार बहुत देर तक रहता और लोभ तो बहुत ही देर तक रहता। यह तो एक बहुत मोटी बात कही कि जब इन कषायोका क्षय होता है सज्वलन करके विनाश होता है तो उनको कृष करनेका भी विधान है, और प्रत्येक कषायको कृष करनेके लिए क्षपण करने के लिए तीन-तीन बातें आती हैं। जिनका नाम है सग्रह। कृष्टि, १२ सग्रह कृष्टमे चारो कषायें दूर की जाती हैं। तो सबसे पहले क्रोध दूर होता है, उसके बाद मान, उसके बाद माया और उसके बाद लोभ। एक यह प्राय मिटनेकी पद्धति है। तो पहली कषाय है क्रोध। क्रोध न हो तो कौनसा गुण आये ? क्षमा। तो उस क्षमाका ही वर्णन चल रह है कि ये मुनिजन ऐसे-ऐसे कठिन प्रसगोमे भी क्षमा धारण करते है या मूर्ख लोग उनको बाधा डाल दें, जो नही जानते कि मुनि किसका नाम है वे तो अभी भ्रममे है, मगर एक ऐसा ही रूप देखकर जैसे कामी पसद नही करते, उनको एक विरूप मानकर बाधायें देते अथवा और तरह। तो कर्म जिसके द्वारा बाधायें दी जायें तिसपर भी उसके प्रति उसके अकल्याणका

भाव नही रहता ।

(२३१) अकषाय अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि हुए बिना ही उत्तमक्षमाकी अशक्यता—

देखो बात बहुत कठिनसी लग रही होगी कि ऐसा कैसे हो जाता कि कोई मूर्ख उसे बाधा दे और जरा भी उसके प्रति अकल्याणका भाव न जगे तो यह बात तब तक अचरजकी लगती है जब तक कषायरहित आत्माके स्वभावका अनुभव नही बनता । तब तक यह सब ऐसा ही लगता कि क्या कही ऐसा भी हो सकता ? जिन सत पुरुषोने यह जाना कि देह निराला, मै जीव चेतनामय, मुझमे विकारक स्वभाव नही, ऐसा एक एक अद्भुत प्रताप वाला मैं चैतन्यमात्र हू, पदार्थ हू, सो मुझको कोई बाधा नही है और जो दूसरा जो कुछ चेष्टा कर रहा, बाधा डालनेकी, सो यह भी आत्मा अपने स्वभावमे निर्विकार है । लेकिन कर्मोदयका ऐसा प्रसग है, वह कर्मरसको ऐसा चख रहा है कि उसे आत्माकी सुध नही, बाहरी पदार्थोंमे ही कुछसे कुछ मानता रहता है तो उसकी यह चेष्टा प्रासगिक है । मूलमे तो यह आत्मा भी एक पवित्र अविकारस्वभावी है, यह ध्यान जब रहता है तब दूसरेका अनर्थ करनेका भाव नही जगता । और क्या क्या परिस्थितियां ? मूर्ख जन उनको गाली दें तो भी जरा भी उनके मनमे खेद विकार नही होता । जिसने अपना यह प्रोग्राम बनाया है कि मुझे तो इस ससारसे अलग हटना ही है, संसारको अब छोडना ही है, एक दूसरा ही उनका प्रोग्राम बना है तो वे कितने भी व्यवहारके काम करें, पर उनपर उसका असर नही होता । क्षमा धर्मका वर्णन चल रहा है, क्षमा करना एक धर्म है याने कषाय न जगे, अपनेको भी शान्ति मिले, दूसरे भी दुःखी न हो ऐसी जो एक अन्तः परिणति है वह क्षमाधर्म है । यह क्षमा कर दो, किसको क्षमा कर दो ? अपनेको ही क्षमा करते रहो । क्रोध न जगे, यों अपनेको ही क्षमा करते रहो । ये दुष्ट जन कोई उनका हास करें, मजाक करें, अप्रिय वचन बोलें तिसपर भी उनके हृदयमे विकार नही आता, ऐसा उन साधु पुरुषोने जिन्होने निर्मल विशाल ज्ञान पाया है उनके उत्तम क्षमा होती है । जो सर्वप्रथम मोक्षमार्गमे चलने वाले पथिक हैं उनके लिए बड़ी सहायताको करते हैं । क्रोध आनेपर पहले उस क्रोधपर विजय करना चाहिए । हर एककी बात है औरसे तो वातावरण चाहे इतना न बिगडे या बिगड़े भी तो देरमे बिगडे, मगर क्रोधका परिणाम ऐसा है कि इसमे वातावरण तुरन्त बिगड़ता है । और क्रोधकी आगमे खुद भी झुरसता है, और दूसरे भी दुःखी हो जाते है । क्रोध न करना । कभी कभी तो जब किसीके घर हम जाते तो कोई कोई कह बैठता— महाराज हमारे मुन्नेको बहुत क्रोध आता है इसको क्रोध न करनेका नियम दिला दो । अब भला बताओ—क्रोध

न करनेका नियम कैसे दिया जा मकता ? वह क्रोध कोई बाहरकी चीज नही है। वह तो एक भीतर की बात है। तो क्रोध छुटानेके लिए तो कई वर्ष चाहिएँ। जब समझमे आया ज्ञान द्वारा कि यह क्रोध तो कर्मका नाच है, मेरा स्वरूप नही है, उससे मेरी बरबादी है। मैं तो चेतनामात्र हू, उसको क्रोध न आयगा। तो ऐसा जो एक क्षमा है सो यह मोक्षमार्गमे लगने वाले भव्य जीवोके लिए एक सहायक भाव है।

श्रामण्यपुण्यतरुरुच्चगुणौघशाखा-पत्रप्रसूननिचितोऽपि फलान्यदत्वा।
याति क्षय क्षणत एव घनोग्रकोप दावानलात्त्यजत त यतयोऽति दूरम्।।८३।।

(२३२) क्रोधाग्निसे उत्तम गुणोका दहन न होने देनेका उपाय उत्तमक्षमा—

कहते हैं कि कोई ऐसे मुनिजन जो अपने व्रत तपमे सावधान है, श्रमणत्वरूपी एक पुण्य वृक्षको लिए हुए है, जिसका फल मिलना चाहिए और बडे बडे गुण समूहकी जहाँ शाखायें पत्र फूल ये सब गुण व्रत आदिक इनसे सहित हैं ऐसा चारित्र वृक्ष है। सो वह भी क्रोधकी अग्निमे जलकर फलको न देकर पहले ही क्षयको प्राप्त हो जायगा। क्रोध ही से तो दुर्वचन कहे जाते हैं, क्रोधसे ही तो मनमुटाव हो जाता है। दूसरे जीवोंसे कुशलताका व्यवहार नही बनता तो एक इसी बातसे तो नही बनता। जिसके वचनोमे प्रेम होता है उसके वचनोसे तो सद्व्यवहार बनता और जिसके वचनोमे क्रोध भरा है उससे कैसे वातावरण भला बनेगा ? तो क्रोध एक ऐसी तेज आग है कि क्रोध आ जाय तो बडे-बडे चारित्र भी निष्फल हो जाते हैं। श्री नेमिनाथ भगवानके सम्बन्धमे जब श्रीकृष्ण नारायण थे उस समय भगवानके उपदेशमे यह बात आयी कि बारह वष बाद यह द्वारिकापुरी जल जायगी और यह जलेगी द्वीपायन मुनिके निमित्तसे। सो भाई द्वीपायन तो नगरीको छोडकर बहुत दूर चला गया। सोचा कि न हम होगे और न द्वारिका जलेगी और यह द्वारिका नगरीमे क्या हुआ कि जो शराब वगैरह नशीली चीजें थी उनको बावडियोमे फिंकवा दिया, सब लोग संतोषसे रहने लगे और उधर द्वीपायन मुनिका ज्ञानबल इतना बढा, चारित्रबल इतना बढा कि वही तैजस ऋद्धि उत्पन्न हो गई और एक सर्वारिसिद्धि भी उत्पन्न हो गई। कैसी है वह सर्वारि सिद्धि कि दाहिने कधेसे एक तैजस पुतला निकलता है और वह चारो ओर बहुत दूर तक फैलकर सुकाल (बडा सुखद समय) ला देता है, जिससे कि वहाँकी सारी जनता सब प्रकारसे खुशहाल हो जाती है। और यदि कभी उन मुनिको क्रोध उत्पन्न हो जाये तो उनके बाये कधेसे एक तैजस पुतला निकलता है जो चारो ओर दु.ख ही दु ख ला देता है। तो वहा हुआ क्या कि श्रीकृष्ण नारायण थे। उन्होने सब प्रकारकी ऐसी व्यवस्था कर रखी थी कि

जिसमें द्वारिका नगरीका जलना असम्भवसा बना दिया था।

पर बात क्या हुई कि वह साल भी इस ७४ वें वर्षकी भाति १३ माहका था। इस बातको भूल गए। ठीक १२ वर्ष बीत गए, एक माह जो अधिक वाला था वह ध्यानसे उतर गया। द्वीपायन मुनि उसी १३ वें माहमे द्वारिका नगरी पहुंचे। वहाँ कुछ गुंडोंने देख कर पहचान लिया कि अरे यह तो द्वीपायन मुनि है जिसके कारण द्वारिकापुरी भस्म होना बताया गया है। तो उन मनचले गुण्डोंने द्वीपायन मुनिपर कुछ ढेला पत्थर बरसाये। वहाँ द्वीपायन मुनिको वही बायें कधेपर विक्रिया ऋद्धि निकली जिससे भयकर अग्निकी लाटें निकलने लगी। इधर उधर बाहरमे नशीली चीजोके पडे होनेसे अग्निकी ज्वालायें बढती ही गईं। सारी नगरीमें आग फैल गई। और उस समय श्रीकृष्ण नारायण और उनके बड़े भाई बलदेव ये दोनो नगरीसे बाहर जाने लगे। वे अपने माता पिता और कुछ मित्रोको साथ ले गए। रथसे जा रहे थे, नगरी जल रही थी, वे भागते-भागते जब कोर्टके फाटकके पास पहुंचे तो उनके पहुंचते ही फाटक स्वयं ही जोरसे लग गया और वहां आकाशवाणी हुई कि इस समय नारायण और बलदेव दो के सिवाय और कोई नही बच सकता। आखिर विवश होकर नारायण और बलदेव ये दोनो ही फाटकसे बाहर जा सके। फिर आगे क्या हुआ ? यह एक लम्बी कथा है। बात यह बतलायी जा रही कि जब चारित्रधारी साधुजनो को भी क्रोध उमड आता तो चारित्र फल नही दे पाता, पर वह क्षयको प्राप्त हो जाता है। बल्कि एक उसका उल्टा ही प्रभाव बन जाता है। क्रोध ऐसी बुरी चीज है तो इस क्रोधको जिन्होंने दूर किया है ऐसे मुनिजन हम आप सबका कल्याण करें। और मुनिजनोको इस छदमे उपदेश किया कि ऐसी इन कषायोको तो दूरसे ही त्याग कर देना चाहिए।

तिष्ठामो वयमुज्ज्वलेन मनसा रागारिदोषोज्झिता:,
लोक: किंचिदपि स्वकीय हृदये स्वेच्छाचरो मन्यताम्।
साध्या शुद्धिरिहात्मन: शमवतामत्रापरेण द्विषा,
मित्रेणापि किमु स्वचेष्टितफलं स्वार्थः स्वय लप्स्यते ॥८४॥

(२३३) शत्रुमित्रमें समभाव रखकर आत्मशुद्धि करनेका शान्त्यभिलाषियोंका कर्तव्य—

ग्रन्थके इस परिच्छेदमे धर्ममे परिभाषा चल रही है। बताया गया था कि धर्मका स्वरूप ५ प्रकारोमे जानना। धर्म तो एक ही है, मगर पदवीके अनुसार उसका एक क्रम बताया गया। पहली बात क्या कही जाती ? दयाधर्म। दूसरी बात कही मुनिधर्म और श्रावक धर्म दो प्रकारका धर्म है, तीसरी बात कही रत्नत्रयधर्म। सो इन तीनका तो वर्णन हो चुका।

अब चौथी बात कही है उत्तमक्षमा आदिक दसलक्षण हैं ५वी बात, मोह, क्षोभ, मलीन ऐसे जीवका शुद्ध परिणाम वह धर्म है। तो दसलक्षण धर्ममें क्षमाका वर्णन चल रहा। मुनिजन सोचते हैं, भजन करते हैं तो कुछ पवित्र मनसे रागादिक दोषोसे विराम लेकर छुट्टी पाकर कुछ तो यहाँ बैठे हैं। चाहे मुझे स्वेच्छाचारी जन समस्या चाहे कैसी ही मानें, पर हम तो रागद्वेषसे विराम पाकर उज्ज्वल मनसे यहाँ बैठे हैं। यहाँ क्षमाके भावका जब बहुत विचारना चलता है तो एक मनमे जो बात आती है उसका चित्रण किया है। नही करना राग, नही करना द्वेष, निष्पक्ष, मध्यस्थ आत्मदर्शन करते हुए बस विश्रामसे ठहर जाना, बैठ जाना, ऐसी स्थितिको देखकर लोग कितनी ही बातें करते हैं। कोई कहता विकार दोषके लिए काम है। कोई कहता— अजी कुछ करते नही बनता इसलिए एक जगह बैठ गए। स्वेच्छाचारी जनोका समुदाय चाहे कुछ कहे, उस परसे अपना निर्णय तो नही बनता। इतना तो निर्णय है कि रागद्वेष छोडकर उज्ज्वल चित्त होकर रहते। इसकी ओर सोचा जाय, भलेका मार्ग समझमे आये, हमको तो उसपर चलना है। मगर जनसमुदायकी बात देखें तो कोई अपने कार्यमे सफल नही हो सकता। कहने वाले क्या क्या कहते हैं? उनको निरखना कि अपना आत्मा और अपने एक विशुद्ध प्रोग्रामको निरखना यह महापुरुषोकी एक चर्चाकी पद्धति होती है, क्योकि एक कविने कहा है—ऐसा जगतमे कोई उपाय नही जो सारे समाजमे लोगोंके जन-समुदायको सतोष उत्पन्न करे। छोटी-छोटी बातें वक्ता अगर यहाँ वहाकी लटक चटक की बातें बोले, जिन्हे कहते है सरल तो उनके किसे कहते हैं अजी ऐसी सरल बातें क्या सुनना, वहाँ तो कुछ खास बात ही नही होती। और कोई तत्त्वकी बात बोले तो कुछ लोग कहेगे—क्या सुनना, वहाँ कुछ पल्ले ही नही पडता, कुछ बोलने की कुशलता ही नही है। कहा जायें कि जहाँ सारा जनसमुदाय राजी हो? विशेष कर जिनको धर्मसे रुचि नही, धर्ममे कुछ काम आ सकते नही, वे ही ऐसा कहते फिरते है। तो अपनी चर्चासे चलना यह ही बात ठीक समझकर बडे बडे संतजन अपने अन्दरसे बोल रहे हैं कि रागद्वेषसे दूर रहकर अपनेको तो उज्ज्वल मनसे ठहर जाना, बैठ जाना, उसको चाहे स्वेच्छाचारी पुरुष किसी प्रकारसे मानें। देखिये यह क्षमाके अतिशयमे कथन चल रहा। यहाँ तो सदा जो शान्ति चाहने वाले पुरुष हैं उनका कार्य है कि वे आत्माकी शुद्धि करें। आत्मशुद्धि करना और अब यह दूसरे शत्रु और मित्र से भी क्या प्रयोजन है? जो भी हो शत्रु हो तो, मित्र हो तो, सेवामे लीन रहने वाला हो तो और विरोध रखने वाला हो तो वे सभी अपने किए हुए कर्मके अनुसार ही फल पाने वाले होते हैं और अपनी ही योग्यता के अनुसार वे चेष्टा करने वाले होते हैं। उनसे क्या

अपनेको बुरा मानना ? मैं तो क्षमाशील होकर बस यहां अपने उज्ज्वल मनसे ठहरा रहू ।

दोषानाघुस्य लोके मम भवतु सुखी दुर्जनश्चेद्धनार्थी,
तत्सर्वस्व गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवित स्थानमन्य: ।
मध्यस्थस्त्वेवमेवाखिलमिह जगज्जायता सौख्यराशि:,
मत्तो माभूदसौख्यं कथमपि भविन. कस्यचित्पूत्करोमि ॥ ८५ ॥

(२३४) उत्तमक्षमाशील पुरुषोंकी जीवोंके प्रति सुखी होनेकी भावना—

क्षमाशील सत जन चिन्तन कर रहे है कि कोई दुर्जन पुरुष अगर मेरे दोषकी घोषणा कर करके लोकमे अगर वह सुखी हो रहा है तो हमारा समर्थन है कि सुखी हो जावो । मेरा क्या बिगाड ? वह बेचारा किसी प्रकार सुखी तो हुआ । ऐसा सत्य मनन करने वालेके दोष नही होते । पर दोष बनाकर घोषणा की जा रही तो वहां भी ऐसा चिन्तन करना है कि मेरे दोषकी घोषणा कर करके जगह जगह कहकर, दूकान-दूकान घर घर गांव गांव कही भी कह कहकर, वह सुखी होता हो तो हो, बडा एक हर्षके साथ चिन्तन चल रहा है । जो कोई भी क्षमाशील पुरुष हो, कुछ गृहस्थ भी ऐसे होते है, साधुजन तो होते ही है । तो सभीके लिए यह चिन्तनकी बात चल रही है । सोचता है क्षमाशील श्रावक कोई धनका अर्थी, अगर सर्वस्व धनको ग्रहण करके सुखी होता है तो हो, क्षमा की बात है यह, क्षमामें यह ही सोचा जाता है । यद्यपि एक कर्तव्य गृहस्थका यह भी बताया गया कि कोई जीवन हरे, शील हरे, धन हरे, प्राण हरने आये तो उसमे सामर्थ्य है कि उसका मुकाबला करे शस्त्रमे और उस कालमे शान्त हो जाय वह आक्रमण करने वाला मर जाय तो उसका नाम है विरोधी हिंसा । हिंसाका तो दोष होता है, पर इस हिंसाका त्याग गृहस्थको नही बताया गया है । पर गृहस्थो मे भी तो अनेक तरहके भाव वाले लोग होते है । अगर कोई सारा धन लेकर सुखी होता हो तो हो । बड़े बडे लोगोके चरित्र पढे होगे । एक सेठ बनारसीदास थे, जिनके घर चोर आया । उसने चोरी करके कीमती कपडोका बहुत बड़ा बडल बनाया । जब वह उठाने लगा तो उससे उठता न था, यह देखकर बनारसीदास स्वयं आये और उस चोरको वह गठरी उठवा दी । चोर बडा खुश होकर कपडोकी गठरी अपने घर ले गया । घर जाकर वह चोर अपनी मासे बोला—मा आज तो मै ऐसी जगह चोरी करने पहुच गया जहां चोरी करके गठरी बनाया तो उस घरके मालिकने खुद गठरी उठवा दी । तो वह मा बोलती है—बेटा, तो तुम बनारसी-दासके घर गए होगे । वह बडा धर्मात्मा पुरुष है, जावो उसके सारे कपडे वही वापस डाल कर आवो । वह लेकर फिर बनारसीदासके घर गया । बनारसीदासने उसे देखकर कहा—

अरे यहाँ इस गट्ठेके लानेकी क्यो तकलीफ किया ? तो वह मारे शरमके झुक गया, चरणोंमे लोटकर माफी मागने लगा। तो अनेक प्रकारके लोग होते। क्षमाशील पुरुष चिन्तन कर रहे है कि यदि कोई मेरे धनको लेकर सुखी होता हो तो हो जाय अथवा कोई शत्रु मेरे प्राण हर कर सुखी होता हो तो हो जाय और कोई पुरुष मेरे स्थानको ग्रहण करके सुखी होता है तो हो जाय, स्थानके मायने बैठनेकी जगह भी है, प्रेसीडेन्ट, मन्त्री, खजाची आदिक पदोकी जगह भी है। होता है ना कि जो जिस जगह चिपक जाता वह उस कुर्सीसे अपने मनसे उठना नही चाहता, पर क्षमाशील पुरुष कहता है कि कोई मेरे स्थानको लेकर सुखी होता है तो हो ले। जैसे जब ट्रेनमे कोई सीट पा जाता है, पर जरा सा वह पेशाब करने चला गया, उसी बीच कोई दूसरा बलवान पुरुप उस जगह आकर बैठ गया अब उस जगह शक्ति नही चलती तो वहा कह बैठता है—चलो अच्छा मेरी जगह पा जाने से इसको सुख हुआ तो होने दो, तो यह बात कोई क्षमा कर देनेकी नही हुई। यह तो लाचारीमे हुई। बडे-बडे मुनीश्वर सुकौशल जिनपर सिंहने उपद्रव किया, स्यालिनियोंने उपद्रव किया, उनमे क्या इतना बल न था कि वे शेरकी तरफ दृष्टि भी करते तो वह दुम छुपाकर दूर भाग खडा होता ? ये स्याल स्यालिनी जिनकी ओर देख लेते तो वे कहीके कही भाग जाते, पर उनके चित्तमे ज्ञानके प्रति इतना ऊँचा परिणाम था कि वे एक क्षण भी ज्ञानसे च्युत होना नही चाहते थे। भीतरमे ज्ञायकभावकी उपासना ही प्रिय थी। क्षमाशील हो गए। तो यह क्षमाशील गृहस्थ अथवा मुनि चिन्तन कर रहे है कि कोई मेरे स्थान ग्रहण करके सुखी होता हो तो हो, कोई पुरुष मध्यस्थ रह रहा। अच्छा पुरुष है, रहना चाहता किसी भी प्रकारसे यह सारा जगत सुखी हो जायें, सभी जीव सुखी हो जाय, कोई विपत्तिको प्राप्त न हो, ऐसा चिंतन क्षमाशील पुरुष के चित्तमे चल रहा है। किसीको कष्ट न हो ऐसा एक दृढताके साथ उच्च स्वरसे कहा जा रहा है।

> किं जानासि न वीतरागमखिलत्रैलोक्यचूडामणि,
> किं तद्धर्म समाश्रित न भवता किं वा न लोको जडः।
> मिथ्यादृग्भिस्सज्जनैरपटुभि किञ्चित्कृतोपद्रवात्,
> यत्कर्मार्जनहेतुमस्थिरतया बाधा मनो मन्यसे ॥ ८६ ॥

(२३५) परमात्मस्वरूपको जानकर चैतन्यकुलोचित वृत्ति करनेका अनुरोध–

क्षमाशील पुरुष अपने आपके आत्मासे ही बात कर रहे है—हे आत्मन् क्या तुम वीतराग पवित्र जिनराज ऐसे आत्माको नही जानते हो ? क्यो नही ध्यान रख रहे ऐसा

कि जो प्रभुका स्वरूप है वही तो मेरा स्वभाव है। प्रभु रागद्वेषरहित अपने ज्ञानस्वभावसे रच भी चलित नही हो रहे तो वही तो मेरे स्वभावकी बात है, मेरा भी वही स्वभाव है। अपने ही आपके लिए कह रहा कि तुम वीतराग पवित्र आत्माको नही जानते। क्या इसके भीतर और-और आवाजे हो सकती हैं ? हमे क्या किसी की घटना देखकर क्षुब्ध होना चाहिए ? तुम तो वीतराग पवित्र आत्माको जातिके ही तो हो, क्या तुम वीतरागको नही जानते ? जिस घरका लडका, जिसका बाप, जिसका बाबा बडे धर्मात्मा थे, संयमी थे, शान्त-चित्त थे उस घरका कोई बालक अगर बिगड जाय, व्यसनमे लग जाय, जुवा ताशमें समय देने लगे तो लोग कहते—अरे तुम अपने बाप दादाको नही जानते ? मायने कैसे तुम्हारे पिता थे, कैसे तुम्हारे बाबा थे और तुम यह क्या कर रहे हो ? तुम्हे शरम आनी चाहिए। यह भाव बसा है। ऐसे ही वीतराग पुरुष ज्ञानीजन संतजन इन सब संसारी अज्ञानी जनोको समझा रहे हैं कि क्या तुम वीतराग परमात्माको नही जानते हो ? अरे तुम उसी कुलके तो हो, उसीकी सतान तो हो, उसीकी जातिके तो हो, उसीके कुलके तो हो इसका क्षोभ करना उचित नही, यह कह रहा है क्षमाशील पुरुष अपने आपमे। वे वीतराग जिनेन्द्र तीन लोकके चूडामणि, जैसे शिखरपर कलश उसके समान है वह परमात्मा, जिसकी तुम सतान हो। जैसे कोई बच्चेसे कहे कि जो इस नगरमे सर्वाधिक मुखिया पूजा जाने वाला बडा नायक था, क्या तुम उसे नही जानते ? यो ही परमात्माकी सुध लेकर अपने आपको दोषोसे, कषायोंसे, हटा लो।

(२३६) धर्मका समाश्रय करके स्वभावानुरूप परिणमनेकी ओर ध्यान देनेका अनुरोध—

यहाँ समझाया जा रहा है क्या वीतराग परमात्माके द्वारा बताया गया धर्म, उस का क्या हमने सहारा नही लिया, अगर थोडा बहुत चित्तमे क्षोभकी बात आनेको हो उस समय का सम्बोधन है। खुदमे आये हुए धर्मका भी सहारा नही लिया। वीतराग भावके द्वारा बताने पर धर्मका हम कुछ उपयोग नही कर पाये, क्यो नही क्षमा भाव रखते अथवा कुछ यही नही जानते कि ये लोग अज्ञानी है। जो निन्दा करे, मारे, बाधा दे तो ऐसी प्रवृत्ति करने वाला, धर्ममे बाधा करने वाला, अपनी साधनामे अतराय डालने वाले जो कोई लोग है उनके प्रति विचार रहता है कि ये लोग तो अज्ञानी हैं। देखिये कोई घृणाकी दृष्टिसे नही सोच रहा है ऐसा, किन्तु वास्तविकता क्या है कि जब अपने आत्माके पवित्र स्वरूपको नही समझते तब ही तो इतना ऊटपटांग मन वचन कायकी चेष्टा हो रही। जो कषायने प्रेरणा की वैसे ही वचन बोल रहा है। तो यह तो आत्माके तत्वको नही जानता। यह अज्ञानी है। यह चिन्तन क्यो

कर रहा है सत की अज्ञानी जनोंके द्वारा जो व्यवहार बना, जो उपद्रव आया उसका, तुम क्यो बुरा मानते हो, क्यो चित्तमे क्षोभ करते हो ? क्षमाशील रहो। हाँ देखे परमेष्ठीजन उत्तम अभिप्राय न रखने वाले लोग, जो धर्मके मार्गमे कुछ भी चतुराई नही रखते, उनके द्वारा अगर कोई उपद्रव हो रहा है और उस उपद्रवसे विचलित होकर तुम कोई अपनेको बाधक समझते हो तो यह काम करना उससे यो उचित नही कि बेचारा आत्मस्वरूपसे, वास्तविक ज्ञान-ज्योतिसे अपरिचित है। उनके द्वारा हुए उपद्रवो से तुम अपने चित्तको विचलित क्यो करते हो ? कितना कितना सम्बोधन है आत्मतत्त्वको कि सबके अन्त स्वरूपको समझें और यह ध्यानमे रखें कि यह ब्रह्मस्वरूप तो निरपराध है स्वरूपमे।

(२३७) अपने अपराधके कारण ही क्लेशका विधान जानकर निरपराध अन्तस्तत्त्वकी उपासना करनेका सुझाव—

आत्मस्वरूपमे कोई विकार नही स्वरूपसे, पर ऐसी ही परिस्थिति है, कर्मोदय है कि यह विषय घटना आ गई। उस कर्मोदयको इसने अपना स्वरूप मान लिया। इसलिए सोया हुआ सा अपना मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति कर रहा है। इसका अन्त स्वरूप देखें क्या अपराध ? बाह्य स्वरूप देखें तो अज्ञान है। उस अज्ञानमे क्या-क्या उपद्रव हो रहे ? देखिये आत्माके प्रकरणमे जितनी बात कही गई, श्रद्धा तो भीतरमे सभीके सभी अपने चितमे रखते हैं। रह गई एक व्यवहार की बात सो जैसी योग्यता है उस माफिक जैसी कषाय है, जैसी कुछ प्रीति, परिस्थिति है उसके अनुकूल चेष्टा बनेगी। मगर भीतरी श्रद्धामे तो इस प्रकारकी भावना होनी चाहिए। क्षमाशील होवो, सबको क्षमा करो। सब मुझे क्षमा करो, मैं सबको क्षमा करता हू और क्षमाकी बात कोई किसी दूसरेको क्षमा नही करता, पर दूसरे जो कोई क्षमा मुक्त है तो वह सब एक आधार है कि जिस बहाने जिस माध्यमसे यह अपनेको क्षमा कर लेता है। अपराधी भी इसे किसी दूसरेने नही किया। जब जब भी यह जीव दु खी होता है तो यह अपने अपराधसे ही दु खी होता है। जगतमे यह बात तो खूब ध्यानमे लायी जाने योग्य है, इससे दु खका बहुभाग खतम हो गया समझिये। जब जब मैं दु खी होता हू तब-तब भी अपने अपराधसे दु खी होता हू। यह सभीकी एक निशानी बतायी है। हम आप अपने अपराधसे कितना दुःखी होते हैं ? अजी बच्चे लोग यो नही चलते, ऐसा ध्यान हम भी रखते हैं, बतावो यह अन्याय नही है क्या जो हम व्यर्थ दु खी हो रहे ? अरे उस बच्चेके प्रति जो मोह है उस अपराधने दु खी किया। आप कोई सी भी जगतमे घटना रखें, समान और यथार्थतासे विचार करें तो यह बात बनेगी कि जो भी जीव दु खी होता है सो अपने अपराधसे

दु.खी हो जाना, दूसरेके कसूरसे कोई दूसरा दुःखी न होगा। भले ही ऐसा लगता कि अजी मैं बेकसूर हूं और इसने उपद्रव कर लिया, एक एक घटना सामने रख दी। एक मुनि महाराज पर कोई शत्रु लाठीका प्रहार कर रहा तो मुनिका तो कोई अपराध नही, अपराध तो प्रहारक का है। अगर मुनि दुःखी होता है उस समय तो वह बेकसूर नहीं है, वह कोई कसूर कर रहा है तब दुःखी हो रहा। उसका पहला कसूर तो यह है कि वह कल्पना कर रहा कि यह मुझे मार रहा। ऐसा अज्ञान भाव। उसमे कर्म बंधे थे, उनका यह उदय है। आज यह स्थिति बन रही है। विना कसूरके कोई दुःखी नही होता। तो स्वयंके अपराधसे दुःखी है तो स्वयको क्षमा करके यह सुखी भी हो सकता। उसी क्षमाके प्रकरणमे यह चर्चा चल रही है और आजमे क्षमाका प्रकरण समाप्त हुआ।

धर्माङ्गमेतदिह मार्दवनामधेय, जात्यादिगर्वपरिहारमुशान्ति सन्तः।
तद्धार्यते किमुत बोधदृशा समस्तं, स्वप्नेन्द्रजालसदृशं जगदीक्षमाणैः ॥८७॥

(२३८) स्वप्नेन्द्रजालसदृश ससारको निरखने वाले महापुरुषों द्वारा श्रेयस्कर उत्तम मार्दव धर्मका पालन—

मार्दवभाव धर्मका अंग है। मार्दव शब्द बना है मृदुसे। मृदु कहते है कोमलको, कोमल परिणामको मार्दव कहते। ज्ञान हममे कब आता? जब मान कषाय नही रहता। मान कषायमे रहते हुए नम्रता आ नही सकती। तो मार्दव धर्म है—मान कषायका जहाँ अभाव है उस मार्दव धर्मका कथन चल रहा है। मार्दव उसे कहते हैं जहाँ जाति कुल आदिक का गर्व नही रहता। घमंड करनेके आश्रय ८ हुआ करते हैं। ज्ञानका मद होना, जैसे इन्द्रभूति को जो कि महावीर भगवानका गणधर हुआ गौतम उसको बड़ा ज्ञानका गर्व था। जैन धर्म का बड़ा विद्वान् था। बहुत बडा विद्वान था अपनी भाषाका, पर इन्द्र वृद्धका रूप बनाकर उसके पास गया और वहाँ एक प्रश्न पूछा। उसका जवाब इन्द्रभूतिसे न बना, तो उस समय वह घमंडसे पूछने लगा इन्द्रभूति कि तुम्हारा गुरु कौन है? तुमको हम क्या तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दें, सीधे तुम्हारे गुरुको उत्तर देंगे। तो वह वृद्ध बोला—हमारे गुरु तो महावीर स्वामी है। अच्छा चल, बता कहाँ है तेरा गुरु। यो अहंकारमे भरे हुए इन्द्रभूति महावीर स्वामीके पास पहुचे। तो जैसे ही महावीर स्वामीके पास इन्द्रभूति गए वैसे ही उनका मान नष्ट हो गया, वैराग्य जगा, ज्ञान जगा। वही दीक्षा ली और गणधर हुए। गौतम गणधरके नामसे प्रसिद्ध हुए। किसीको होता है जातिका घमड किसीको होता है कुलका घमंड, किसीको होता है अपनी चला प्रतिष्ठाका घमड, किसीको होता है अपने बलका घमड, किसीको होता

है अपने वैभव सम्पदाका घमड । किसीको अपने तपश्चरणका भी घमड होता है । किसीको अपने शरीरकी सुन्दरताका घमड होता है । तो इस तरह ८ आश्रय होते हैं घमंड करनेके, मगर जिनके मान कषाय नही है उसके किसी भी प्रकारका गर्व नही होता । गर्व करना अच्छी बात नही । जो मायाचार घमड रखते हैं तो उनको कोई और ढगका मिल जाय सेर को सवा सेर जैसा तो उनको फिर बडी विडम्बना भोगनी पडती है । तो कहते हैं कि जिसको सम्यग्ज्ञान जगा है वह पुरुष इस ससारको स्वप्नवत्, इन्द्रजालवत् असार देखता है और इस कारण अपनी यह सब पायी हुई परिणति वह भी असार दिखती है तो वह कैसे घमडको कर सकता है ? जब तक आत्माके सही स्वरूपका बोध न हो तब तक मूलसे मान कषाय मिट नही सकता । यो तो मानके वश होकर बड़ी अदा और कलाके शब्द बोले जाते हैं, बडी नम्रताके शब्द बोलते जिससे लोग तारीफ समझें । तो गर्वकी बहुत चेष्टा होती है, पर जिसने यह ज्ञान किया है कि मैं ज्ञानमात्र आत्मा हू उसको गर्व नही होता । देखो कमसे कम अपने जीवनमे यह लाभ तो जरूर ले लें जिसको पानेसे आगेका जीवन पूरा सुधर जाय । वह लाभ क्या है कि अपनेको ऐसा बना लें कि मैं ज्ञान ज्ञान हू, अन्य कुछ नही हू । यह कोई बडी बात नही है, क्योकि ज्ञानमय ही तो हैं हम आप सब । ज्ञानमय होकर अपने ज्ञानस्वरूपको न जान सकें, यह कैसे हो सकता ? जान लेंगे, पर ऐसा ध्यानमे लावें कि सारा जगत सब असार है । किसकी आशा रखना ? कौन मेरा क्या हित करेगा ? सब चौहट्टे पर मिलने वालो की तरह हैं । इतना बाहरमे थोडा बोध रहे, जिससे कि सब बेकार जंचने लगे तो वह अपने आपमे सोच सकता है कि मैं क्या हू, और मेरेमे सार क्या है ? मैं ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञान-मात्र हू, मेरा कर्तव्य यही है । यही हो सकता है कि मैं ज्ञानका ही कोई परिणमन करूँ सुख रूपसे, दुःख रूपसे, शान्तिके रूपसे ज्ञानका ही कोई परिणमन करूँ, इतना ही तो मेरा कर्तव्य है । इसके आगे मैं कुछ नही कर सकता । मैं ज्ञानमात्र हू, ऐसा अपने आपमे एक अनुभव जगना चाहिए । तो जब ऐसा आत्मबोध हो तब उसके मान कषाय नही रहता ।

काऽऽस्था सद्मनि सुन्दरेऽपि परितो दन्दह्यमानाग्निभि.,
कायादौ तु जरादिभि॰ प्रतिदिन गच्छत्यवस्थान्तरम् ।
इत्यालोचयतो हृदि प्रशमिनः शश्वद्विवेकोज्ज्वले,
गर्वस्यावर कुतोऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि ।। ८८ ।।

(२३९) विनश्वर वैभवमे आस्था न होनेसे महापुरुषोके अभिमानका अनवसर —

कहते हैं कि यह कोई सद्म मकान नेत्रोको प्रिय लगे, ऐसा सुन्दर भी हो, तो भी

उसमें क्या आस्था करनी ? सब विनश जाने वाली चीजें हैं, भिन्न है, जड है। तो क्या सम्बंध है किसी महलसे ? भला बतलावो कोई बहुत बडा रईस भी हो, सुन्दर महल भी हो और परिवारमे वह बडा सबका एक प्रेमपात्र भी हो, लेकिन क्षण भरमें उसका जीवन नष्ट हो जाय तो उसके लिए उसका कुछ महल रह जाता क्या ? अरे शरीर ही कुछ नही रह रहता। शरीरको लोग बहुत जल्दी जलानेकी कोशिश करते हैं। शरीर बडा भयकर लगता है, प्राण निकलनेके कुछ ही देर बाद उस मुर्दाकी कोई शक्ल नही देखना चाहता, उसे जल्दी ही मरघट ले जानेकी पड़ती है। तो जहाँ यह देह भी अपना नही तो फिर ये महल मकान तो अपने होंगे क्या ? अपने अन्दर ज्ञानकी किरण जगायें। यहाँके मकान महलमे क्या आस्था अथवा उस शरीरमे क्या आस्था जो शरीर जलता रहे मकानकी तरह। यह शरीर तो अस्थि-पिंजर है, केवल एक पतले चामसे मढा हुआ है, ऐसे उस कायामे क्या आस्था है जो बुढापा आदिक परिणतियोसे निरन्तर जीर्ण दशाको प्राप्त हो रही है। भला बतलाओ उम्रमे बढते जा रहे, बुढपेके सम्मुख आ गए, मरणके सम्मुख आ गए, ऐसे इस शरीरमें कौनसे आदरकी बात है ? इस शरीरको देखकर बडा खुश होते, मैं ठीक हू, बडा अच्छा हू। नहाते, घटो लगाते, तेल साबुन बार-बार लगाते, घंटो कघा करते। यों बहुत बहुत साज शृङ्गार करते। अरे इस जरजर जीर्ण शरीरकी क्या आशा ? ऐसा जो चिन्तन करते हैं, ऐसा विवेक करने वालेके उज्ज्वल हृदयमे किसीके प्रति घमड नही आता। गर्व वे करते हैं जिनको अपने सही स्वरूपका पता नही है। स्वरूपका जिन्हे पता है उन्हे किसी बातका गर्व नही रहता।

हृदि यत्तद्वाचि बहिः फलति तदेवार्जव भवत्येतत्।
धर्मो निकृतिरधर्मो द्वाविह सुरसद्मनरकपथौ ॥८६॥

(२४०) छल कपटका अभाव होनेसे महापुरुषोंके उत्तमार्जव धर्मका दर्शन—

मार्दवधर्मका वर्णन करके आर्जवधर्मकी बात कह रहे हैं। आर्जव मायने सरलता। ऋजुके भावको आर्जव कहते है। कैसी सरलता ? जैसा मनमे है सो वचनमे है। जो मनमे है सो वचनमे है, सो ही कायकी चेष्टामे। ऐसे लोग तो भयंकर होते कि मनमे कुछ, वचनमे कुछ और कायसे चेष्टा और कुछ करें। जो बात मनमे हो, वही वचनमे हो और वही कायमे भी हो उसे आर्जव धर्म कहते है। और ठगना, इसे कहते है अधर्म। क्यो जो जो दूसरेको ठगना चाहता है वह अच्छा है या जो दूसरेके द्वारा ठगा गया वह अच्छा है ? अरे दूसरेको ठगनेमे तो बडा पाप बध होता है, हृदय खराब होता है। जो दूसरेको ठगे नही किन्तु खुद ठगा गया क्योंकि जीवको जो कुछ प्राप्त होता है वह सब उसकी परिस्थिति है। इस प्रकरणमे एक

साधारण भाषामे वर्णन चल रहा है। धर्मका फल है देवगतिमे जन्म होना और अधर्मका फल है नरकगतिमे जन्म लेना, ऐसा इस छंदमे कहा जा रहा है। यह धर्मकी व्याख्याका एक माध्यम है—जिसे व्यवहारमे कहा करते हैं—ठगना धर्म है और ठगा गया तो उस समय कुछ पैसे ही तो ज्यादह गए मगर वहाँ पाप तो न बधा। नरकगति जैसी दुर्गतिका बध तो नही होता। तो ठगनेकी अपेक्षा ठगा जाना अच्छा है, मगर ठगना अच्छा नही। मनमे और, वचनमें और, करे कुछ और इसे कहते है मायाचार। जब मायाचार नही रहता है तब यह आर्जव धर्म प्रकट होता है। एक दृष्टान्त दिया है कि एक कोई बुढिया मुसाफिर एक गाँवसे दूसरे गाँवको चली जा रही थी। वह अपने सिरपर काफी बडा एक बडल भी रखे हुए थी। उस बडलके भीतर अपना कीमती जेवर भी रखे हुए थे। गर्मीके दिन थे। वह चलते चलते थक गई। एक जगह एक घुडसवार मिला तो उससे वह बुढिया बोली— बेटा थोडी दूर तक हमारी गठरी अपने घोडे पर रख लेना, हम बहुत थक गई हैं, अभी काफी दूर जाना भी है। तो उस मुसाफिरने उस बुढियाकी बात अनसुनी कर दी और कहा—चल हट, हम नही रखते तेरी गठरी अपने घोडेपर। घुडसवार आगे जाकर सोचने लगा कि यदि मैं उस गठरीको रख लेता और आगे बढकर फिर अपने गाँव निकल जाता तो गठरीका सब धन मेरा हो जाता। मैं कितना मूर्ख निकला जो गठरी न रखा। यह सोचकर मुसाफिर पीछे लौट आया और कहा—बुढिया माँ लावो हम तुम्हारी गठरी घोडेपर रख लें तो वह बुढिया बोली माफ करो। हम तुम्हारे मनकी बात समझ गए तुम हमारे मनकी। तो सरलता ही धर्म है और मायाचारी करना धर्म नही।

मायित्व कुरुते कृत सकृदपिच्छायापिघात गुणे—
ष्वाजातेर्यमिनोऽर्जितेष्विह गुरुक्लेशैः समादिष्वलम्।
सर्वे यदत्र यदासतेऽतिनिभृना. क्रोधादयस्तत्त्वत',
तत्पाप बत येन दुर्गतिपथे जीवश्चिर भ्राम्यति ॥६०॥

(२४१) कपटव्यवहारकी वृत्तिसे गुणच्छायाका भी विनाश—

कहते हैं कि कोई भी पुरुष प्रकरणमे ले लो, मुनिराज यदि एक बार भी माया का आचरण करलें तो बडे-बडे जो तप किए उन सबका नाश हो जाता है। एक बार भी मायाचार रूप वृत्ति होनेसे त्याग गुणका विनाश होता है। जो गुण ऐसा प्रकट होते थे कि बड़े बडे कष्ट क्लेश तपश्चरण आदिकसे जो कुछ प्राप्त हुआ था, जो ऋद्धि प्राप्त की थी उन सबका विनाश हो जाता है और क्रोधादिक जितनी भी दुर्गतियां हैं वे सब अड्डा जमा

लेती है। तो आप समझिये कि मायाचारी करना कितना बड़ा पाप है जिसके फलमें यह जीव चिरकाल तक दुर्गतिके मार्गमें रहता है। अपनेको शान्त रखना है तो ये सभी कषाय छोड़ना, मंद करना और उन कषायोंमें एक मायाचारकी बात कही जा रही कि यह माया कषाय कितनी बड़ी तेज कषाय है जिसका रात दिन शल्य रहता है, उसका संस्कार बना रहता है और प्रयोजन क्या है? गृहस्थजनोंका प्रयोजन दो ही बातका तो है—धन कमाना और धर्म धारण करना। धनार्जन बिना गृहस्थीमें रह सकते नहीं, बस यही बात देख लो कि जिन बातोंमें हमारा प्रयोजन न तो धनार्जनसे सिद्ध होता और न धर्मपालनसे सिद्ध होता, गप्प सप्प हो, मायाचारी हो, वे सब करने योग्य हो, तो अपने अपने जीवनमें यह देख लो कि हम अनर्थ दण्ड कितना करते हैं? बिना प्रयोजन पापकी बात कितनी किया करते हैं? यहाँ वहाँकी बातें कहते, चुगली निन्दा झूठ बोलते, इन सब बातोंमें क्या धन मिलता है, माया मिलती है। कमसे कम अपने जीवनमें इतना तो करना चाहिए कि जहाँ धर्मपालनसे सम्बन्ध हो ऐसी-ऐसी जगह तो मायाचार न करें। बहुतसे लोग तो समाजके धर्मकी संस्थावोंके कोई काम हो तो उनमें भी मायाचारी करते। यह धर्मपालनके प्रसंगकी बात चल रही है। यह सब जो चल रहा है यह तो एक प्रवेश है। पहले पूर्वजोंने सभाला, आज हम आप संभाल रहे। उस सम्बन्धमें हमारे चित्तमें किसी भी प्रकारका मायाचाररूप परिवर्तन न हो, और फिर जिसका ऐसा विशुद्ध भाव है उसको तो समाज आगे आगे रखता है। आपके किसी भी प्रसंगमें मायाचारीकी बात नहीं। आप कहें कि जब धनार्जन करते तो मायाचार बिना तो नहीं चलता, तो यह बात असत्य है। पब्लिकमें जितना साफ शब्द बोलने वालेका धनार्जनका ढंग बनता है उतना मायाचारी रखनेसे नहीं बनता। वह असत्य व्यवहार कभी खिरता तो उसके बाद वह साफ हो जायगा। तो ऐसा व्यवहार रखो कि अपने जनसमुदायके बीच जिनके अन्दर रहते हैं उनमें मायाचारीकी कोई बात न होनी चाहिए।

स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च।
वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेयं धीधनैर्मौनम् ॥ ६१ ॥

(२४२) स्वपरहितवचनव्यवहारमें अथवा मौनमें उत्तमसत्य धर्मका पालन—

अब सत्य धर्मकी बात चल रही है। वर्णन तो बहुत अच्छे ढंगसे यों भी हो सकता है कि क्षमा मार्दव आर्जव और शौच। चौथा नम्बर लाभका लीजिए। चार कषायें होतीं और चार प्रकारके धर्म बताए हो जाने तो ये चारों नम्बरपर सत्य धर्मका व्याख्या अभी यहाँ सोच सो भी। इसमें इस ग्रन्थमें पाँचवें नम्बरपर सत्य धर्मका व्याख्या चली।

मुनिजनोको अपने और हितके रूप सत्य वचन बोलना चाहिए, जिससे अपनी भलाई हो, दूसरोकी भलाई हो, वह अमृतसम है प्रिय मुखकारी, ऐसे वचन बोलना चाहिए जिससे अपना भी कल्याण हो, दूसरेका भी कल्याण हो। किन्ही पुरुषोको बहुत बहुत झूठ बोलनेकी आदत भी बन जाती। और कुछ ऐसे झूठके व्यसनी हो जाते कि जाते कि दो एक बार कभी झूठ बोले बिना चैनसी नही पडती। बताओ क्या रखा है उस भावमे ? बडप्पन तो यह है कि भाई गम्भीर रहें, सबके प्रति अच्छे वचन बोलें, और अपने कामसे मतलब रखें, आजीविकाका काम और धर्मपालन। व्यर्थकी यहाँ वहाँ की अधिक बातें बोलना अच्छा नही। जिनको अधिक बोलनेकी आदत है उनको वे उस अधिक वार्तालापसे कितनी हानियाँ हो जाती है। एक तो अपने आत्मामे गम्भीरता नही रहती, ज्ञानबल नही रहता, कुछ अधेरापन जैसा रहता जिसमे अपने आपको खुद एक लघु और शुद्ध जैसा अनुभव होता है, ऐसी कठिन स्थिति बन जाती है। दूसरी बात—अधिक बोलने वालेसे कुछ वचन ऐसे भी निकल बैठते हैं कि जो असत्य हो, दूसरेको कष्ट देने वाले हो, फिर उससे बैर बनने लगता है। फिर अधिक प्रलाप करने वाला एक ऐसी शक्तिका सचय नही हो पाता जिससे पुण्य बढे, पाप घटे। तो अधिक बोलना उचित नही। कम बोलना उचित है। जब बोले तो हित मित सत्य मधुर वचन बोलें। ऐसा जिनका व्यवहार है उन पुरुषोको कभी अशान्तिका अवसर नही आ पाता। सब एक बोलमे सही बात आ जाती है। सबके प्रिय बन लें अथवा अप्रिय। जैसे एक दिन सुना था कि जीभ और दाँतकी लडाई हुई। तो दाँत बोलें—अरी तू अधिक बात मत बगरा, तू हम ३२ दाँतोके बोचमे एक है, तुझे दबाकर दा टुकडा कर देंगे। तो जीभ बेचारी उस समय चुप रह गई। दो तीन दिन बाद जीभने क्या किया कि किसी बलवानको कुछ अटपट गाली बोल दिया, तो उस बलवानने उसके मुखमे दोनो ओर ऐसे ऐसे तमाचे जड दिए कि सारे दाँत टूट गए। तो भाई इससे यह समझो कि सेवा नही कर सकते तो इनका दुरुपयोग तो न करो। अगर धर्म प्रसग कानेका, दोष व्यवस्था बनानेका कौशल नही है तो कमसे कम ऐसे वचन तो न बोलें कि जिससे धर्ममे विघ्न आये, किसीपर आपत्ति न आये। तो सत्य वचन बोलना, जीवनका निर्विघ्न बननेका एक बहुत बडा स्थान है। सो मुनियोकी ही बात नही, श्रावकोको भी इस ओर ध्यान देना चाहिए। हमसे वचन ऐसे हित मित प्रिय निकलें कि जिन वचनो द्वारा मेरा भी अहित न हो और दूसरेका भी अहित न हो।

सति सन्ति व्रतान्येव सूनृते वचसि स्थिते।
भवत्याराधिता सद्भिर्जगत्पूज्या च भारती ॥ ९२ ॥

(२४३) सत्य वचनोंके होनेपर व्रतोंमें समीचीनताकी संभवता—

दसलक्षण धर्म है। इस प्रकरणमें यह सत्य धर्मका वर्णन चल रहा है। सत्य वचनके होनेपर ही व्रत समीचीन होता है। वैसे भी अंदाज कर लो—कोई आदमी व्रत करता हो, उपवास करता हो और झूठ बहुत बोला करता हो तो उसे लोग क्या समझेंगे? और उसके भीतर क्या बात रही? जब झूठ बोलनेकी प्रकृति है और चित्तमे मिथ्यारूप है तो व्रत उपवास वगैरह सही कैसे हो सकते हैं? जिसको अपना उत्थान करना है उसको ढंगसे ही चलना होगा। अटपट कही धर्मकी प्राप्ति नही होती। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें दूर करना और अपनेमे सच्चाई रखना। तो जो सत्य वचन बोलता हो उसके ही ये व्रत, तप शोभा देते है, समीचीन होते हैं और असत्य वार्तालाप क्यो करना? असत्यमे बडे झंझट होते हैं। चाहे सम्बन्ध हो चाहे न हो, असत्य वार्तालापमे नियमसे पीडा होती है। तब ही तो लोग कह देते है, मास्टर कहता है बच्चोसे कि सच बताओ तो तुम्हारा कसूर माफ। कोई कसूर किया हो बच्चोने और वे सच कह देते है तो कहते हैं चलो तुम्हारा कसूर माफ। तो देखो सचमे इतना गुण है कि कसूर भी माफ कर दिया जाता है। सच्चाई वहाँ ही प्रकट होती है जहाँ किसी भी प्रकारका लालच न हो, जहाँ अपने लिए किसी प्रकारका लोभ नही, सच्चाई वहाँ ही प्रकट होती है, तो सत्य वचनकी जब स्थिति हो तब ही व्रत समीचीन होता है। और देखो ये सत्यवादी, ये सद्वचन बोलने वाले सज्जन पुरुषोके द्वारा ये आराधित होते हैं और ये जगतपूज्य है। अच्छा यहाँ भी एक बातका निर्णय रखो कि जो आत्माके कल्याणमे सत्यताकी वाणी है? उसे कहा है सर्वोपरि सत्य और लौकिक बातोमे सच भी बोले तो भी वह उत्तम सत्य नही है। सच तो हो गया है लौकिक हिसाबसे, पर उसको उत्तम सत्यकी संज्ञा नही है जिस जीवको ज्ञान हो, सम्यक्त्व हो और आत्मकल्याणके साधक वचन बोलता हो उसे कहते हैं उत्तम सत्य। तो यह उत्तम सत्य तो जगतपूज्य है। लोग भगवानको जपते है तो सभी लोग श्रद्धा रखते हैं कि प्रभु उत्तम है, तो प्रभुमे क्या बात प्रकट हो गई? सच्चाई प्रकट हो गई और पहले भी वे सत्य बोलते रहे। अब बोलना तो नही रहा प्रभुके, मगर जब तक शरीर है तब तक दिव्यध्वनि-वह भी सत्य वचन है और सिद्ध भगवानके तो सर्वरीतिसे सच्चाई प्रकट है। बोलनेकी बात तो नही है, शरीर ही नही है, मगर जैसा अकेला आत्मा सत्यरूप होता है वही रह गया तो जो सत्य वचनकी ओर अनुराग है, भक्ति है, सत्य वचनका पालन करता है उसका ही व्रत समीचीन हुआ करता है।

आस्तामेतदमुत्र सूनृतवचाः कालेन यल्लप्स्यते,
सद्भूयत्वसुरत्व ससृतिसरित्याराप्तिमुख्य फलम् ।
यत्प्राप्नोति यश शशाङ्कविशद शिष्टेषु यन्मान्यतां,
तत्साधुत्वमिहैव जन्मनि पर तत्केन सवर्ण्यते ॥९३॥

(२४४) उत्तम सत्यधर्मके पालनके फल यशोलाभ, सद्गतिलाभ व अन्तमें मोक्षलाभ—

जो सत्य वचन बोलता हो ऐसा पुरुष आगे समय पाकर अनेक बातें पायगा सो तो सही है, जिसकी बात तो दूर जाने दो, याने वह तो पायगा ही, मगर वर्तमानमे भी उसगे वडा यश प्राप्न होता है सत्य वचनके प्रभावसे पर लोकमे क्या क्या बातें पैदा होती हैं? समीचीन रूप मिलेगा, सुन्दर रूप। अभी सामुद्रिक शास्त्रमे जो शरीरको देखकर, हस्तरेखा देखकर या मुखकी बनावट देखकर. हाथोकी बनावट, पैरोकी बनावट, अगुलियाँ गोल देखकर जो यह निर्णय बनाते हैं कि इसका अच्छा फल है, इसका बुरा फल है, उसका मूल आधार यह है कि अगर सब बातें सुन्दर हैं, शुभ हैं तो यह समझना चाहिए कि यह पुण्यवान जीव है। रेखासे मूल अनुमान यह बनाया जाता है, पर उसकी सुभगता किन-किन रचनाओंमे है सो वे सब जानते है, तो यह पुण्यवान है। उसके लिए लोग कहते कि इसका भविष्य अच्छा है। यह लक्ष्मीवान होगा, यह बुद्धिमान होगा। यह एक मूल आधार है सामुद्रिक शास्त्रका और जहाँ कुरूपता है हाथमे, पैरमे अथवा मुखमें, शरीरमे तो उससे अनुमान तो हुआ कि इसके पापका उदय है। सुभग, असुभग, शुभ अशुभ आदिक नाम कर्म तो हैं। यह एक साधारण बात है। कही ऐसा न समझना कि यह बात शतप्रतिशत ऐसी ही है, पर प्राय करके ऐसा होता है। कोई पुरुष रूपवान न हो, पर सुभग माना जाता है और कोई रूपवान होकर भी सुभग होता है तो यह एक अपवादरूप बात है, मगर मुख्य आधार है कि शरीरकी रचना देखकर लोग अनुमान करते कि यह पुण्यवान जीव है। वही बात यहाँ बतला रहे हैं कि जो सच्चाईसे अपना जीवन बिताता है उसको परलोकमे उत्तमरूप मिलेगा। देव गति प्राप्त हो और ससार नदीके पार हो जाय, यहाँ तक भी बात होती, याने मनुष्यभव उत्तम पाये और वहाँ सम्यक्त्व ज्ञान संयमकी एकता बने तो वह मुक्त भी हो जायगा। तो यह बात समय पाकर होती है तो यह बात तो सही है। जो बात निःशक होती है उसके लिए कहते हैं कि मायने वह तो है ही है। मगर सत्य वचन बोलने वाला पुरुष जो इस भव मे चन्द्रके समान निर्मल यशको प्राप्त करता है और बडे बडे सज्जन महापुरुषोमे मान्यताको प्राप्त करता है और एक बहुत बडी साधुताको प्राप्त होता है, कहते हैं कि उसका भी कौन

वर्णन कर सकता ? सत्यवादीका इस भवमें ही बडा मान्यपना होता है और आनन्दमे रहता है ।

(२४५) अज्ञानवश लौकिक जनोंको असत्यताके लाभका भ्रम—

आजकल प्रायः यह दृष्टि बन गई—देखो अमुक अफसर रिश्वत नही लेता या अमुक कोई किसी प्रकारका गलत काम नही करते । तो आजकल तो ऐसे सरल लोगोको लोग बुद्धूसा कहते है, ऐसे ही गृहस्थजनोमे कोई व्यक्ति ऐसा है कि जो ब्लेक करके कितनी ही कमाई कर लेता, कोई ऐसा है कि ब्लेक वगैरहके काम नही करता, अपनी न्यायनीतिकी कमाईमे सतुष्ट रहता है तो ब्लेक करने वाला समझता कि देखो हम कितना चतुर है, कितना समझदार है जो धन ज्यादह कमा लेते और यह तो बिल्कुल बुद्धू है जो समयका लाभ नही उठाते । अरे अधिक धन हो जानेसे मान लो लोगोने थोडा आदर सत्कार दे दिया, सभा सोसाइटियोमे कुछ स्वागत कर दिया, पर इससे इस आत्माको क्या लाभ मिलता है सो तो बताओ, उस आत्माको आरम्भ परिग्रहकी आकुलता होनेके कारण नरकआयुका बध होता । और, क्या मिलता है ? जनताके लोग मूर्ख नही है, भले ही एक विशेषके कारण वे सामने मान्यता करें, लेकिन पीठ पीछे कहते ही हैं कि अमुक तो यो है याने करोडो अरबोकी सम्पदा पाकर भी आखिर इस आत्माको मिलेगा क्या ? हाँ न्यायनीतिसे रहकर जो कुछ प्राप्त होता है तो उससे धर्ममे भी मति रहती है और विवेक भी रहता है और फिर उस समतापरिणाममे उसकी मृत्यु होती है । आगे अच्छा ही पायेंगे, मगर ऐसा विवेक तो किसी बिरले पुरुषके ही जग सकता है, नही तो देखनेमे यो लगता कि भाई करें काम जितना भी बन सके, क्यो कोई लालसा लगे ? तो सच्चाईका जहाँ आदर नही वहाँ न स्वय सुखी है और न उसके वातावरणमे रहने वाले लोग सुखी हैं । तो जो सत्य वचनका पालन करने वाला है वह इस लोकमे भी मान्यता पाता, यश पाता और साधुता प्राप्त कर लेता है । यह उत्तम सत्यका वर्णन हुआ । अब आगे शौच धर्मके विषयमे कहते हैं । इस ग्रन्थमे पहले सत्य धर्मकी बात बताई, बादमे शौचधर्मकी और अनेक स्थलोपर पहले शौच धर्मका वर्णन है फिर सत्यका वर्णन है, तो ठीक है । जिस जिसकी विवक्षा है, जहाँ शौचको पहले कहा है वहाँ अभिप्राय है यह है कि चारो प्रकारकी कषायोका अभाव होनेसे क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच ये चार गुण प्रकट हो जायें वहाँ सच्चाई प्रकट होती है ।

यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निःस्पृहमहिंसकं चेत ।
दुश्छेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौच पर नान्यत् ।।९४।।

(२४६) परस्त्री, परधन आदिमे निःस्पृह जीवोंके उत्तमशौचधर्मका लाभ—

शौच धर्म किसे कहते ? शौच शब्दकी व्युत्पत्ति है शुचेः भाव शौचम् । पवित्रके भावको शौच कहते है याने जो मल भरा था इस आत्मामे वह मल निकाल दिया तो शौच हो गया, पवित्र बन गया । उत्तम शौच वहा होता है जहाँ परस्त्री और परधनमे कोई लिप्सा नही और सर्वप्राणियोमे जिसकी दयावृत्ति हो, हिंसा न करता हो ऐसा अहिंसक जो चित्त है वही उत्तम शौच है, उत्तम पवित्र भाव है । पवित्रता कही बहुत बहुत तेल साबुन आदिसे नहानेसे नही आती । मानो आप खूब रगड रगडकर नहालें, शरीर भी खूब रगडनेसे लाल पड जाय और मनमे आ जाय गंदा भाव, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रहका परिणाम बन जाय तो वहाँ कुछ पवित्रता हुई क्या ? पवित्रता वहाँ है जहाँ हृदय शुद्ध है, दयालुताका भाव है, पापोसे दूर रहनेका भाव है । ज्ञानी जनोको ये सब बातें आसान हैं, और मोही जनो को अच्छी बात बडी दुस्तर होती है । जहाँ ज्ञानीने यह पहिचाना कि मेरे आत्माका तो मेरा ज्ञानस्वरूपके सिवाय कुछ है ही नही । बस यह ही मेरी दुनिया है, यह ही सब वैभव है, इस पर ही मेरा भरोसा है, यह ही मेरा भगवान, यह ही मेरा रक्षक, यह ही मेरा सर्वस्व । दूसरा प्राणी मेरा क्या है ? कोई मेरा क्या सर्वस्व है ? यह तो एक रागका, मोहका उदय है जो परस्पर सम्बन्ध बनाया जा रहा और परिस्थितिमे करना पडता है, मगर तत्त्व यह कहता है कि इस जीवकी रक्षा कर सकने वाला तो खुदका ज्ञानबल ही रक्षा कर सकता है । दूसरा कोई किसीका रक्षक नही । मानो पापका उदय आया, निर्धन हो गए, कोई सता रहा, मुनियोपर भी तो कोई उपसर्ग करता है तो बतलावो क्या वह मुनिके पुण्यका उदय है ? वह तो पापका उदय है, क्योकि उपसर्ग हो रहा । लेकिन ज्ञानबल है उनके और ज्ञानबलके द्वारा अपने ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानको रमा लिया तो उनको कोई खोटा फल नही मिला, वे तो अन्दरमे प्रसन्न है । तो ऐसे ही जो अपनेको ज्ञानमात्र निरखकर, बाहरी बातोकी उपेक्षा करके क्योकि उनमे कोई तत्त्व नही, अन्तः निर्मल रहते हैं, उनके उत्तम शौच धर्म होता । ज्ञानी जन तो इतना भी सोचते कि अगर कोई मेरे दोष बखानकर सुखी होता है तो हो । भला हम काम तो आये उसके सुखी होनेमे । अरे लोग तो दूसरेको सुखी करनेके लिए धन खर्च करते है और यहाँ तो हमने कुछ खर्च भी नही किया । दूसरे लोग हमारी कोई निन्दा करके सुखी होते हैं तो हो । भला हमारी वजहसे किसीको सुख तो हुआ । कोई किसी प्रकार विघ्न डालकर सुखी होता है तो यह सुखी तो हुआ, इतना तक ज्ञानीजन चित्तमे चिन्तन किया करते हैं । वे भला दूसरेको दुखी करनेका परिणाम कैसे रखेंगे ?

(२४७) कषायभावोंके सम्पर्कसे आत्माकी अशुचिता—

कषाय इस जीवके बैरी हैं। किसीको जब क्रोध आता है तो उसके सारे गुण फुक जाते है। कोई मान करता है तो फिर लोग उसको आदर नही देते। कोई मायाचारका परिणाम रखता है तो वह तो निरन्तर शल्यमे रहता है, रातको उसे नीद नही आती, क्योकि उसका मन भीतरमें भय खा रहा है। जिसके तीव्र लोभ कषाय जग जाती उसकी बहुत खोटी दशा हो जाती है है। हदकी बात दूसरी है, मगर हदसे अधिक जो गृहस्थ लोभ कषाय करता है वह अन्तमें उससे कई गुना नुकसान पाता है। कषायोंसे परे होनेमे पवित्रता प्रकट होती है। तो जो परस्त्रीमे, परधनमे अपना चित्त फंसाता हो, देखो ये दोनो बडी बेकार बातें है खुदके लिए। परस्त्रीसे स्नेह हो तो एक तो वह बडा आधीन हो जायगा, दूसरे वह चोरी चोरी ही चेष्टा करता है। उसका चित्त जानता है कि मैं पाप कर रहा हूं वह समझ रहा है ना खुद, इसलिए वह व्यग्र रहता है, और एक दीनसा हो जाता है। लाभ क्या क्या मिलेगा ? बताओ परस्त्रीसम्बधसे लाभ क्या मिला ? लाभ कुछ नही मिला बल्कि खोया ही खोया है। चरित्र खोया, धन खोया, समय खोया, शक्ति खोया, ज्ञान खोया। इसी प्रकारकी बात परधनकी है। मान लो किसी चोर डाकूने किसीका धन हडप लिया तो उससे उसका क्या भला होगा ? अरे चोर डाकू कही धनिक नही सुने गए। और कोई धनिक हो भी जायें तो वह बेकार। जब पब्लिकमें जाहिर नही हो सकता, लोगोमे बैठ नही सकता तो उस धनसे उसे लाभ क्या ? आखिर धन तो सचित किया था अपना महत्त्व स्थापित करनेके लिए, पर कहाँ उसका महत्त्व स्थापित हो पाता ? तो जो परस्त्री, परधनमे अपना चित्त नही फसाता उस पुरुषके शौच धर्म प्रकट होता है।

(२४८) तृष्णाके त्यागमें उत्तमशौचधर्म—

उत्तमशौचधर्मकी पवित्रतामे यह सामर्थ्य है कि कठिनसे कठिन मल पाप जो बडी मुश्किलसे छेदे जा सकें, दूर किए जा सकें उन मलोको हटा देती है। पवित्रता वहाँ ही है जहाँ लोभ कषाय नहीं है। लोभके रहने पर पवित्रता नहीं है। लोभ जहाँ है है वहाँ वह हिंसा करेगा, झूठ भी बोलेगा, चोरी भी करेगा। लोभ जहाँ है तो लोभ तो जाति है। धनके विषयमे लोभ हो, मूड बदल जाय तो कुशीलका भी लोभ हो सकता और परिग्रह पाप लोभ कषाय वालेको सर्व ओरसे पाप घेर लेता है और लोभ करना किस बातपर ? कोई अधिक दिन नहीं हुए होंगे, जब सम्राट सिकन्दरने बहुतसे देश जीत लिये, और जब वह मरने लगा तो उसको अपनी करतूत पर बडा पछतावा हुआ। उसने कह दिया कि देखो जब मेरी

अर्थी निकालना तो साथमे बहुत बडा वैभव भी ले जाना और मेरे दोनो हाथ अर्थीसे बाहर निकाल देना ताकि दुनिया यह समझ ले कि देखो सम्राट सिकन्दर ने अपने जीवनमे कितना कितना दूसरोको सताकर धन वैभव जोडा, मगर आज खाली हाथ जा रहा है। यह जीव मुट्ठी बाँधे तो आता है और हाथ पसारे जाता है। मायने जब यह पैदा होता है तो अपने साथ पुण्य लेकर आता है। तभी तो देखा होगा कि जब बच्चा पैदा होता है, थोडे दिनोका होता है तो उसकी मुट्ठी बँधी रहती है। वह पुण्य साथ लेकर आता, तभी तो माता पिता, बुआ, मौसी, नौकर चाकर आदि सभी उसे गोदमें लिए लिए फिरते हैं, उसे सदा मुस्कराते देखना चाहते है। वह सब उसके पुण्यकी ही तो महिमा है। लेकिन वही बालक जब कुछ बडा होता है, कुछ पापोमे, विषयकषायोमे लगता है तो उसका पुण्य क्षीण हो जाता है, और मुट्ठी खुल जाती है। जब यह जवानीमे आता है तो कितनी ही तरह के खोटे भाव बनाता है, सक्लेश बनाता है तो वहाँ पुण्य एकदम बरबाद हुआ और यो अन्तमे हाथ पसारे चला जाता है। तो जीवन उनका धन्य है जो जीवनमे पवित्रताका भाव रखते हैं। पवित्रता वही बन सकती जहाँ लोभ न छा जाय। अभी आपके नगर सहारनपुरमें ही देख लो एक वैद्यराज रहते हैं, वे सब लोगोकी दृष्टिमे कितना प्रशसाके पात्र बने हुए है? कितना सरल, कितना सतोषी उनका जीवन है? उनके जीवनमे बडी पवित्रता है। तो जहाँ पवित्रता है वहा प्रसन्नता है। धन कम हुआ तो क्या, बढ गया तो क्या? आखिर एक दिन वह आयगा जब कि सब कुछ छोडकर जाना होगा। बात तो दोनोमे एक समान है। धन कम हो तो, अधिक हो तो। रही आकुलताकी बात तो अधिक धन छोड गए तो आप सोचते होगे कि आखिर वह धन हमारे बच्चोके तो काम आयेगा, पर मरनेके बाद कौन किसका बच्चा, कौन क्या? एक बडा विवेक करनेकी जरूरत है। यह लोभ कषाय अपनेमे न फटकना चाहिए। विवेक रहना चाहिए, वहां उत्तम शौच धर्म प्रकट होता है।

> गङ्गा सागरपुष्करादिषु सदा तीर्थेषु सर्वेस्वपि,
> स्नातस्यापि न जायते तनुभृतः प्रायो विशुद्धि परा।
> मिथ्यात्वादिमलीमस यदि मनो बाह्येऽतिशुद्धोदकै—
> र्धौत किं बहुशोऽपि शुद्धयति सुरापूरप्रपूर्णो घट ॥९५॥

(२५१) मोहमलीमस प्राणीके गङ्गासागरस्नानादिसे पवित्रताकी असभवता—

लोकमे ऐसा एक रिवाज चल रहा है कि लोग गगा, या कोई पुष्कर पोखरियाँ या कोई समुद्रमे नहा आते और उसमे अपनी यह श्रद्धा रखते कि इसमे नहा लेनेसे हमारे

सारे पाप धुल गए, पर जरा सोचो तो सही कि ऐसा करनेसे पाप घुले कि चढे ? अरे पाप तो धुलेंगे सम्यग्ज्ञानसे । यहाँ तो एक ऐसा मिथ्यात्व बनाया कि इसमें नहानेसे पाप धुलते है; एक तो यही बडा पापका काम कर डाला गलत धारणा बनाकर । अरे पाप तो धुलते हैं पवित्रताके भावोंसे । बहुतसे लोग शिखरजी जाते तो वे भी सोच बैठते कि वहाँ जानेसे, वदना करनेसे हमारे पाप धुल जायेंगे, पर उनकी यह धारणा भी गलत है । अरे कही उस स्थानमें जाने मात्रसे पाप न धुलेंगे । हाँ वह एक साधन है पवित्र भाव बनानेका और पाप धोनेका । वहाँ जब यह ख्याल आता कि ऐसे ऐसे मुनीश्वर इस इस तरहसे तपश्चरण करके मोक्ष गए तो वहाँ एक पवित्र भाव बनता जिससे पाप धुलते । तो यहाँ तो एक आत्मामे पवित्रता आने की प्रेरणा मिली, पर उन नदियोमे उन पोखरोमे स्नान करनेसे पाप धुलते है—यह मान्यता तो मिथ्यात्वभरी है । इस मान्यतासे तो पाप और बढते हैं । ऐसा भी तो होता कि नहा रहे गंगामे और कोई उस जगह जरा सी बाधा दे दे तो कहो उससे लड बैठें । तो पवित्रता वहाँ कैसे आये ? सुना है कि सिद्धवर कूटके पास एक नदीके घाटके पास कोई पहाड़ी है, उसके प्रति ऐसी प्रसिद्धि है कि उस पहाडीसे जो ढकेल दिया जाता वह नीचे गिर जानेपर सीधे बैकुण्ठ पहुचता । अरे उस पहाड़ीसे नीचे नदीमें गिरनेपर तो उसके शरीरका चूर चूर हो जायगा, उसका पता ही न पडेगा । और और भी करोत करवट आदिकके स्थान ऐसे बताये गए हैं जहाँसे लोग मरण करनेपर बैकुण्ठका मिलना बताते है । तो भला बतलावो यह मान्यता कितनी मिथ्यात्व भरी मान्यता है ? यह तो एक उल्टी क्रिया है, आत्मघातकी क्रिया है, इससे आत्मामे पवित्रता नही आती, शौच धर्म प्रकट नही होता । गगामे सागरमे पोखरियोमे किसी भी जगह स्नान करनेसे आत्मामे विशुद्धि नही बनती ।

(२४०) गङ्गानदीकी पवित्रताका तथ्य—

देखो यह रूढि क्यो बनी कि गंगा पवित्र है ? इसका मूल कारण यह है कि जम्बूद्वीपमे जहाँ भरत क्षेत्र है, और उस भरत क्षेत्रके बीचमें हिमवान पर्वत है । उस हिमवान पर्वतमे एक पद्म नामकी बहुत लम्बी चौडी चूलिका है । वहाँसे गंगा और सिधु नामकी दो नदियाँ निकलती है । यहां जो गंगा है यह वह गंगा नही है । वह गंगा तो शाश्वत है बहुत बडे विस्तारकी है, जहां तक कोई आजकल पहुच भी नही सकता और ऐसा होना है कि वह गगा नदी जब पर्वतसे नीचे गिरती है तो वहाँ एक कुण्ड है, वहाँ गंगादेवीका निवास है और उसके बीचमे एक अकृत्रिम चैत्यालय बना हुआ है । उस चैत्यालयमे जिनेन्द्र भगवानकी मूर्ति है, उस मूर्तिपर उस नदीका जल प्रपात होता है, और वह बहता हुआ पानी यो समझिये

कि वह गंगोदक है। मगर वह गगा नदी बहुत दूर है। उसके बाद म्लेच्छ खण्ड है। एक तो यह बात है जो प्रसिद्धि चल रही कि गगा बहुत पवित्र है। दूसरी बात सुनो—जब आदिनाथ भगवान ऋषभदेवके समयमे भरत चक्रवर्ती थे तो भरतचक्रवर्ती कैलाश पर्वतपर आये, वहाँ स्मरणके लिए स्वर्णके तीस चौबीसीके ७ जिन मन्दिर बनवाये। वे भी चले गए। बहुत समय बादमे जब सागर चक्रवर्ती हुआ तो उस समय यह ध्यान आया कि ये जो कैलाश पर्वतपर मन्दिर बने हैं तो कोई समय ऐसा आयगा कि लोग लोभके वश होकर इन जिनमन्दिरोंको तोड डालेंगे और लूट लेंगे।

इस कारण उनकी सुरक्षाके लिए सगर चक्रवर्तीके कई हजार पुत्रोंने उस कैलाश पर्वतके चारो तरफ एक बडी खाई बनायी और उस विषयमे चिन्ह थोडे थोडे अब भी वहाँ विदित होते हैं। और उस खाईको फिर एक ओरसे चौडा करके बही है नदी। वह अनेक जडी बूटी वाले पर्वतोसे होकर आयी है, इसलिए वैज्ञानिक दृष्टिसे भी उस गगाके जलमे कुछ अतिशय है। कही उस गगाके जलमे ऐसी पवित्रता नही है कि उसमे स्नान करने से पाप धुलें। हाँ यह बात और है कि जब उस जलमे स्नान कर लिया जाय तो उस समय शरीरका मैल, गदगी कुछ दूर हो, शरीरमे हल्कापन आये, उस वक्त प्रभुके स्वरूपका ध्यान हो जाय, इतना तो हो सकता, मगर आत्मविशुद्धि तो कषायोका त्याग करनेसे ही होगी, अन्य प्रकारसे आत्मामे पवित्रता न होगी। तो ऐसा सागर गगा, पोखर आदिमे स्नान कर लेने मात्रसे आत्मामे पवित्रता कैसे हो सकती? जैसे मदिरासे भरा हुआ घडा है, उसे ऊपरसे कितना ही धोया जाय पर वह भीतरसे पवित्र नही हो सकता, इसी तरह जिस आत्मामे अज्ञान भरा है उसे कितना ही सागर, गगा, पोखर आदिमे स्नान कराया जाय, पर उसमे पवित्रता आ नही सकती। आत्मामे पवित्रता तो लोभ कषायके त्यागसे ही हुआ करती है।

जन्तु कृपार्दितमनसः समितिषु साधो प्रवर्तमानस्य।
प्राणेन्द्रिय परिहार संयममाहुर्महामुनय ॥६६॥

(२५७) संयमके आधार अहिंसाका ईर्यासमितिमे दर्शन—

इस ग्रन्थमे प्रथम परिच्छेदमे यह बताया गया था कि धर्मसे ही जीवकी उन्नति हो सकती है, पूर्णविकास हो सकता है। तो वह धर्म क्या है? धर्मकी ५ परिभाषायें की थी—जीवदया धर्म है। दूसरी बात श्रावकधर्म मुनिधर्मके भेदसे दो प्रकारका धर्म है। तीसरी बात रत्नत्रय धर्म है। इन तीन बातोका वर्णन हो चुका था। अब चौथी बात दसलक्षण धर्म है, इसका वर्णन चल रहा है और इसके बाद ५वी बात कही जायगी कि शुद्ध

स्वरूप मोह क्षोभरहित परिणाम धर्म है। तो दसलक्षण धर्मके प्रसगमे शौच धर्मका वर्णन हुआ। अब आज संयम धर्मका वर्णन चल रहा। सयम किसके प्रकट होता है ? साधुपरमेष्ठी के याने जो विषयोकी आशासे रहित हैं, आरम्भ परिग्रहसे अत्यन्त विमुख हैं ज्ञान ध्यान तपश्चरणमे जिनका उपयोग चलता है ऐसे महापुरुष सयमके धारी होते है। जिनको प्राणियो के प्रति इतनी कृपा बनी है कि जिसके कारण उनका मन वडा गीला हो गया अर्थात् दया से जिनका मन भरा हुआ है और समितिके प्रवर्तनसे चूँकि दयासे भरा हुआ हृदय है मुनि महाराजका अतएव समितिमे प्रवर्तन हुआ। समिति क्या ? जैसे ईर्यासमिति याने दिनमें चार हाथ आगे जमीन देखकर अच्छे कामके लिए अच्छा भाव रखकर गमन करनेको ईर्या-समिति कहते है। चार बातें कही गईं ईर्यासमितिमे—कोई दिनमे न जाय और रातको बडे बिजलीके उजेलेमे जो चार हाथ आगे जमीन देखकर और अच्छे कामके लिए जाय, अच्छे भाव रखकर जाय तो भी समिति न कहलायगी। दिनमे जाय, चार हाथ जमीन देखकर जाय और किसी खोटे कामके लिए जाय तो भी समिति न कहलायगी। अच्छा, अच्छे काम के लिए भी जाय, दिनमे जाय, देखकर जाय, लेकिन गुम्सा रखकर कोई बुरा भाव करके गमन करे तो वह ईर्यासमिति न कहलायगी, क्योकि समितिका प्रयोजन है सम् इति. जो भली प्रकारसे अपने आपको प्राप्त कराये, इस प्रयोजनसे अत्यन्त बहिर्भूत हो गए तो समिति नही है। तो ईर्यासमितिमे मुख्यता है कि प्राणियोकी हिंसा न हो सके। तब ही तो जो साधु होते है वे पैरोमे जूता या खडाऊं या चप्पल कुछ नही पहनते।

(२५२) संयमके आधार अहिंसाका भाषासमिति आदि समितियोंमें दर्शन—

भाषासमितिमे हित मित प्रिय वचन बोलते। साधुसत कभी कोई दोष हो जाय तो प्रायश्चित लेते हैं, छेदोपस्थापना करते हैं, पर उद्देश्य यह रहता है कि किसी भी प्राणीको मेरे द्वारा कष्ट न हो। थोडा बोलना, हितकारी बोलना, प्रिय बोलना, ऐसी जतुवो-पर कृपा है। साधु कभी अपने खानेका स्वयं प्रबन्ध नही रखते। रसोईघर हो, बगीचा हो, कमाई हो, खुद चेले लोग भोजन बनायें ऐसा साधु जन नही करते, क्योकि उसमे प्राणियोकी हिंसा सम्भव है। तब भिक्षावृत्तिसे गृहस्थ लोग जो शुद्धतासे करते हो वहाँ मिल जाये तो ले लेते है। कोई चीज धरें उठायें तो देखभाल कर। देखभाल करके मायने कोई प्राणी, जीवजतु न हो जिसपर चीज रखी जाय और उठाते समय कोई जन्तु उसपर न हो कि वह गिर जाय। देखकर धरने उठानेके मायने है हिंसा बचाकर। इसके विपरीत नही। एक बार एक मकान मालकिनने अपने नौकरसे कहा कि तू ऊपरसे कूड़ा नीचे फेंकता है सडकपर तो यो ही झटपट न फेंक दिया कर। बहुतसे भले आदमी भी निकलते हैं सड़कपरसे, उन्हे देख

कर कूडा करकट नीचे फेंका कर। अब नौकरने क्या किया कि कूडा लिए खडा, इतजार कर रहा था कि जब कोई भला आदमी निकले तो उसपर कूडा फेंके। आखिर एक बाबू जी उधरसे निकले तो उन्हे देखकर उस नौकरने कूडा फेंका। यह दृश्य देखकर मकानमालकिन नौकरपर बहुत झुँझलाई और बोली—अरे तू यह क्या करता है ? तो उसने कहा कि तुमने ही तो कहा था कि नीचेसे भले आदमी जाते हैं उन्हे देखकर कूडा फेंका करो। तो ऐसे ही समझो—जीव जतु देखकर चीज धरना उठाना ताकि जीवोकी हिंसा न हो। जब कभी मल-मूत्र क्षेपण करें तो निर्जन्तुस्थान देखकर करें तो वह समिति है। जो अपनी ऐसी प्रवृत्ति रखते वे दयाके सागर है। ऐसे महापुरुषोके ही तो प्राणिहिंसा और इन्द्रियविषय परिहार होता है याने दूसरे जीवोके प्राणोका बचाव और अपने इन्द्रिय सयम, दोनो प्रकारके सयमको महामुनि पालते हैं। हां उन्होने बोला, पर कुछ-कुछ काम गृहस्थका भी है कि नही ? अटपट तो न बोलना चाहिए। देख-भालकर दिनमे गृहस्थजन रसोई बनतो, किसी जीव-जतुको बाधा न हो। शुद्ध निर्दोष मर्यादित भोजन बनाते। देखो फर्क कुछ नही पड़ता खर्चमे चाहे शुद्ध खावे, चाहे अशुद्ध खावे। बल्कि शुद्ध खाने वालेका चाहे कम खर्च हो जाय। लग रहा ऐसा एक दिन करनेसे कि बडा खर्च पडता है। अरे रोज रोज तो कही चाट पकौडी खा रहे, कही अलग से चाय नास्ता कर रहे, अनाप-सनाप जब चाहे खा पी रहे, यो तो बडा खर्च बैठ जाता, पर एक दो बार शुद्ध भोजन बना तो उसमे कुछ विशेष फर्क नही पडता। हां एक मन चाहिए और थोड़ा श्रम हो जाता है। तो यह श्रम तो स्वास्थ्यप्रद है और सयमपूर्वक आहार होनेसे चित्त कितना प्रसन्न रहता और ऐसा मनमे भाव रहता कि आज तो हम बडा अच्छा काम कर रहे। निष्पाप रहना यह बहुत बडा बल है आत्माका। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोसे विरक्ति हो और हृदय निष्पाप हो तो एक बडा बल मिलता है, धैर्य मिलता है, सुख मिलता है और दुःख कट जाते हैं। जो कर्म बध गए वे आसानीसे नही मिटते। उदयमे आयेंगे, फल प्राप्त होगा। कोई बहुत ही बडा सम्यक्त्वका परिणाम और आत्मानुभव हो वहां कर्मोमे फर्क आ जाता है, मगर यह कोई आसान बात नही है। जैसे लोग कहते कि भोग भोगना बड़ा आसान है, मगर जितने सस्ते समझ रखा उतने ही वे महगे पडेंगे, उनका परिणाम कटु होता है। तो सयमरूप प्रवृत्ति पुरुषोमे मिलती है, उस सब मे अपनी-अपनी शक्ति अनुसार होना चाहिए।

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादय—
स्तेष्वेवाप्त वचः श्रुतिस्थितिर तस्तस्नाश्च दृग्बोधने।

प्राप्ते ते अतिनिर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते ।
स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयम ॥६७॥

(२५३) आत्महितमें प्रयत्न होनेपर वर्तमान प्राप्त मानुष्य, जात्यादि श्रुति आदिकी सफलता—

देखिये हम आपने जो आज समागम पाया है, जैसे मनुष्यभव, उत्तम जाति, उत्तम कुल धर्म श्रवणका सामर्थ्य, धर्म सुननेको भी मिलता है, स्वाध्याय, सत्सगके सब समागम । देखिये कितनी बडी सुविधायें हैं ? ऐसी सुविधावोको देखकर कोई जैसे उसने उसकी प्रवृत्ति की है वैसी ही प्रवृत्तिमे रहे तो यह उसके लिए एक कितना पछतावा जैसी बात है ? यह मनुष्यभव बहुत दुर्लभ है । जिसे इन्द्रदेव सुर तरसते हैं । जब तीर्थंकर विरक्त होते हैं । घरमे थे पहले, विरक्त होते हैं तो ब्रह्मलोकसे लौकांतिक देव आते हैं, उनके वैराग्यको प्रशसा करते है, इन्द्रदेव भी आते हैं और तीर्थंकर महाराजको बनमे ले जानेके लिए बडी अच्छी पालकी सजाते है । उस पालकीमे वे तीर्थंकर देव विराजमान है, उस समय इन्द्रदेव उस पालकीको उठाने लगता तो मनुष्य रोक देते, ठहरो, आप लोग इस पालकीमे हाथ लगानेके अधिकारी नही है । तो इन्द्रदेव बोले—अरे मनुष्यों जरा होशमें बात करो । तुम्हारी क्या ताकत ? गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक हमने मनाया, बड़े-बडे ठाठ-बाट करनेकी सामर्थ्य हममे है, तुम क्या कर सकते हो ? क्यो व्यर्थमे हठ करते हो ? तो मनुष्योने कहा—नही नही, इसमे तो हाथ हम ही लगायेंगे । ये तीर्थंकर देव हमारे कुलमे हुए है, हमारे ही घरके तो हैं और हम पहले पालकीमे हाथ न लगा सकें, यह कैसे हो सकता ? खैर बडा विवाद बढा । इसका न्याय कुछ वृद्ध लोगोके हाथ सौंपा गया, तो विचार करके वहाँ निर्णय दिया गया कि इस पालकीमें पहले हाथ वही लगा सकता है जो तीर्थंकरकी ही तरह दीक्षा ग्रहण कर सके । बस इतनी बात सुनते ही देवता लोग अपना माथा धुनने (ठोकने) लगे । देवता लोग संयम धारण नही कर सकते । उनका वैक्रियक शरीर है, ठड गर्मी भूख प्यास आदिकी उन्हे कोई बाधा नही, उनको किसी प्रकारका कष्ट नही, वियोग भी नही । अगर कोई देवी गुजर जाय तो थोडे ही कालमे उस ही स्थान पर नई देवांगनाओका नियोग मिल जायगा । उनके संयम नही होता । तो उस समय इन्द्र माथा धुनकर व मनुष्योके सामने हाथ पसारकर कहता है कि ऐ मनुष्यो ! मेरी सारी जो इन्द्रसम्पदा है वह ले लो पर मुझे अपना मनुष्यत्व दे दो । तो यों मांगनेसे कही उनको मनुष्यत्व मिल तो न जायगा, पर एक बात कही जा रही है कि यह मनुष्यभव मिलना दुर्लभ है ? तो भाई यह मनुष्य पर्याय हम आपने प्राप्त कर ली । अगर मान लो तुच्छसे तुच्छ पर्यायोमे उत्पन्न हो गए होते तो क्या लाभ था ? उत्तम जातिका

मिलना दुर्लभ है। उत्तम जाति भी प्राप्त हो जाय तो वीतराग वाणी जिनवाणी, जो सच्चा मार्ग बताती, जिसमे किसी तरहका पक्ष रागद्वेष नही, जो सीधे आत्माके नाते ही आत्माके कल्याणकी बात कहे ऐसी वाणीका श्रवण मिलना बहुत दुर्लभ है, और जिनवाणी श्रवण भी मिल जाय तो लो थोडा ही सुन पाये, जल्दी मर गए तो भी काम ना बना। तो आयुका विशेष मिलना यह दुर्लभ है।

(२५४) बोधिलाभ दुर्लभता व संयमकी अतीव दुर्लभता—

आयु भी मिल गई, मगर सबसे दुर्लभ बात है सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति। और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान भी मिल गए तो भी संयमके बिना मोक्षरूपी एक अद्वितीय फलको नही दे सकता है। तब सयमका कितना महत्त्व है, ऐसे संयमकी बात किसके द्वारा प्रशसनीय न होगी ? संयम एक बहुत पवित्र भाव है और अपनी शक्ति माफिक श्रावको को सयम पालना चाहिए। मुनिराज तो अपनी पूर्ण सामर्थ्यसे सयमका पालन करते हैं।

कर्ममल विलयहेतो र्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तत्।
तद् द्वेधा द्वादशधो जन्माम्बुधियान पात्रमिदम् ॥ ६८ ॥

(२५५) भवसागरतारणके लिये यानपात्ररूप उत्तम तपकी महिमामे अनशन व ऊनोदर-तपका निर्देशन—

दसलक्षणमय धर्ममे सयम तकका वर्णन हो चुका। अब उत्तम तपका वर्णन किया जा रहा है। कर्मरूपी मलोके नाश करनेमे कारणभूत होनेसे जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष हैं उनके द्वारा तप तपा जाता है। वह तप क्या है? सो तपके भेदके परिचयसे भली भाँति मालूम हो जायगा। ये तप १२ प्रकारके है और ये जन्मरूपी समुद्रसे पार होनेके लिए जहाज की तरह हैं। तप नाम केवल शारीरिक कष्टका नही है। तपके मायने है इच्छानिरोध। इच्छा इच्छा न रहे वहाँ आत्मबल बढता है, और उस तपश्चरणके प्रतापसे कर्ममल ध्वस्त होता है। १२ प्रकारके तपोमे यह ही बात निरखनी है कि इस विधिसे यहाँ इच्छावोको दूर किया गया है। ये तप १२ प्रकारके हैं। पहला तप है अनशन, उपवास, आहारका त्याग करना। आहारकी इच्छा न रखना और अपने आत्माके समीप निवास करना। ऐसी जो वृत्ति रखेगा कि आहारकी इच्छा ही न हो और आत्मध्यानमें चित्त लगे तो वहाँ कर्ममल दूर होता है। दूसरा तब है ऊनोदर, मायने उदरसे ऊन (कम) भोजन करना, भूखसे कम भोजन करना इसे कहते है ऊनोदर। इसमे प्रमाद नही रहता, भोजनकी आसक्ति नही रहती और आत्मा की सुध रहती है, इस कारण यह तप कहा गया है। मानो कल उपवास करना

है तो वह ऊनोदरमे हिसाब नही रखता कि कल उपवास करना है तो आज ऊनोदर करले ऊनोदर सहज वृत्ति है उनकी। इसमे इच्छाका अभाव है। इसमे भोजनविषयक आसक्ति नही है, इस कारण इच्छानिरोधकी वजहसे यह कर्ममल अपने आप दूर होता है। जीव कही कर्म को हटाता नही, किन्तु जीव अपने भाव सभालता है तो कर्म अपने आप हट जाते हैं। जैसे कोई महिमानसे अधिक प्रीति न करे तो महिमान अपने आप जल्दी घर छोडकर चला जायगा, बस यही नीति ज्ञानीकी है। ये कर्म महिमान है? महिमा नही जिसकी, पर घर आ गए हैं, इस आत्माके एक क्षेत्रमे बंधनबद्ध है, रहो, किन्तु यह जीव अगर उनके फलमें प्रीति न करे तो ये कर्म टिक नही सकते। तपश्चरणमे यह ही एक महिमा हुआ करती है।

(२५६) तपश्चरणका महत्त्व जानकर यथाशक्ति तप करनेका अनुरोध—

देखो तपश्चरण आत्माकी शुद्धि करता है, सो तो ठीक ही है। साथ ही शरीरकी भी शुद्धि करता। प्राकृतिक चिकित्सामे इसका महत्त्व है ही, पर वैद्य डाक्टर इलाज करते हैं तो पथ्यकी बात पहले रखते हैं। पथ्य १५ आने इलाज है, औषधि एक आना इलाज है। चतुर वैद्य, जानकार पथ्यपर अधिक दृष्टि रखते है। पथ्य क्या है? यह ही तो एक प्रकार का तपश्चरण है। जैसे सुना है और आगममे बताया है और यहां तक कि वेदमे भी जहाँ ऋषभ अवतारका वर्णन है तो वहाँ लिखा है कि उनके मलकी सुगधसे बहुत दूर दूर तकके कष्ट दूर होते थे। यद्यपि तीर्थंकरके मल नही होता, पर एक ऋद्धि और अतिशयकी बात वहाँ भी दिखाई गई है। वहाँ मल नही तो शरीरकी हवासे ही अनेक लोगोके दुःख दूर हो जाते है। तपश्चरणमे बहुत प्रभाव है। अच्छा देखो मंत्रमे भी प्रभाव है कि नही? सर्प का विष कैसे दूर होता? मत्रवादी लोग मत्र पढ़ रहे, बोला नही वह मंत्रकर्ता, उसमे घुमा नही, मत्रक शब्दोने वहां कोई चेष्टा नही की, वह तो मन ही मन जप रहा, किन्तु ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि जो साफ स्पष्ट है, विष दूर हो जाता है। और उसे उदाहरण रूपसे स्वय समयसारमे दिया है। तो फिर जो तपश्चरण करता है, अपनी निर्मलता बनाता है उसके उस परिणामके कारण अनेक अतिशय अपने आप प्रकट होते हैं। कर्म स्वयं दूर हो जाते हैं। जीवनमे संयम तप, ज्ञान—इन सबका बहुत प्रकारमे यत्न करके सेवन करना चाहिए। कोई जीव किसीका साथी नही, कोई किसीका रक्षक नही। स्वय ही स्वयका रक्षक है। खुद ही अपने परिणाम निर्मल रखे, निज ब्रह्मस्वरूपको ठीक ठीक पहिचाने, वहां प्रीति बनाये तो जीवका उद्धार है। कुटुम्ब मित्र और लोग पक्ष पार्टी ये कोई भी मददगार नही। यह देह भी तो मददगार नही है, फिर अन्यकी तो कथा ही क्या है? इससे अपने जीवनमे

शक्ति अनुसार शक्ति न छिपाकर सयममे लगना चाहिए। जब यह कहा जाता कि देखो शक्तिके अनुसार तप व्रत करो तो उसका अर्थ क्या लेते है लोग कि शक्तिसे अधिक न करना, कम ही रखना, पर अर्थ वहा यह है कि शक्तिको न छिपाकर डटकर व्रत तप सयममे लगना शक्तिके अनुसारका अर्थ हटाकर नही किन्तु उसके माफिक तपश्चरणमे सयममे लगना।

(२५७) उत्तम तपमे शेष चार बाह्यतपोका सक्षिप्त निर्देशन—

तीसरा तप है वृत्तिपरसख्यान। इसका उपयोग साधुजन अधिक करते हैं। कोई ऐसी आखिडी ले ली कि ऐसा होगा तो आज आहार लेंगे, न होगा तो न लेंगे। और उस विधिसे आहार न मिले तो भी वे प्रसन्न रहते, दु खी नही होते, यह अभ्यास चलता है साधु जनोका। चौथा तप है रसपरित्याग। रसका परित्याग करना। कोईसा भी रस, एक दो चीजका रस। ५वाँ तप है विविक्त शय्यासन। एकान्त जगहमे सोना, बैठना, रहना। जब कोई नजर न आये, एक खास अकेले ही हैं तो आश्रयभूत कारणका सग न होनेसे परिणामोमे बडी शान्ति रह सकती है और आत्मविचारके लिए उत्साह जगता है। यह विविक्त शय्यासन से अनेक इच्छायें दूर होती है। छठा तप है कायक्लेश याने शारीरिक दु ख हो उसमे भी प्रसन्न रहना, दु खी न होना, क्योकि अनेक सुविधायें रखे कोई कि हमको तकलीफ न हो, खूब आराम ही रहे तो क्या सुविधाओका साधन अधिक रखनेपर आराम मिलता है, तकलीफ नही मिलती क्या ? साधन जुटाते तो मनमे चिता बनी रहती कि कोई चीज चोर चुरा न ले जायें, कोई चीज कोई बिगाड दे। इन बातोका कष्ट नही होता क्या ? आरामके साधनोके बीच बहुलता कष्टकी रहती, और ज्ञानी जन तो इन आरामके साधनोसे दूर रहते है, वे अपने जीवन में बहुत सीधे सादे रहते, उन्हे आरामके साधनोसे क्या मतलब ? जमीन है, उसपर ही पड गए, और देखो जो प्राकृतिक बातें है वे तो इसको लाभदायक हैं। पलगपर पड़े रहने वालेको जब कोई बीमारी होती है तो डाक्टर फिर यही बताता है कि देखो पलगपर न सोना, तखतपर डटे रहना। अरे यह मिट्टी जैसा शरीर मिट्टीमें रहे तो उससे कितना स्वास्थ्य बनता है ? आखिर यह भी तो पुद्गल है। लोकमे प्रसिद्धि है कि भौतिक है शरीर। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारमेसे कुछ सम्बध न मिले तो शरीर चलता है क्या ? यह ही तो प्राकृतिक इलाज बतलाते हैं लोग। मिट्टीसे करो, पानीसे करो, भापसे करो, खुली हवामे रहो। तो प्रकृतिने स्वय सुविधा दी है, बाहरी साधनोको न रखनेसे, अनेक चितायें दूर होनेसे चित्त प्रसन्न रहता है, और फिर कभी कष्ट आ जाय तो उस कष्टमें भी प्रसन्न रहना, दुःखी न होना यह है तपश्चरण। ये ६ बाह्यतपश्चरण हैं, जिन्हे दूसरे लोग देख सकते है, जिसमे दूसरे

पदार्थोका सहारा हुआ करता है ।

(२५८) उत्तम तपोंमें प्रारम्भके तीन अन्तरङ्ग तपोंका निर्देशन—

बाह्य छह तपके अतिरिक्त ६ अंतरंग तपश्चरण है, जिनमे ७वाँ तप प्रायश्चित्त । कोई अपराध हो जाय तो उनके ज्ञानबलसे, क्रियाकलापसे कुछ त्याग नियम लेकर उसकी शुद्धि करना । जैसे कभी कोई गलत बोल जाता ना तो झट अपने कान पकड लेता और कहता—आइ एम सोरी, तो इतनेसे उसको विचार तो आ गया । वही एक प्रायश्चित्त बन गया याने प्रायश्चित्त दूसरेकी शुद्धिका हेतुभूत है, उसको विधिपूर्वक साधुजन करते है । विनय बहुत ऊंचा तप है । जो विनयरहित पुरुष है उनको यो समझ लीजिए कि जैसे बिना नकेलके बैल, भैंसा, ऊँट या घोडा । वह तो बडा खतरनाक है, न जाने कितने ही लोगोको कष्ट पहुंचा दे, ऐसे ही विनयरहित पुरुष कितने ही लोगोके कष्टका कारण बनता है और खुद भी कष्ट पाता है और विनयरहित तो वही पुरुष हो सकेगा जिसमें अज्ञान है, जिसे जीवके स्वरूपका बोध नही है । आखिर सभी जीव इस स्वरूपके ही तो समान हैं । जो कुछ यहाँ अन्तर है वह सब कर्मकृत अन्तर है । सो कर्म परवस्तु हैं, औपाधिक अन्तर है । इस अन्तरकी प्रतिष्ठा करना है क्या ? इस अन्तरकी उपेक्षा करके स्वरूपकी अपेक्षा करना चाहिए, और जो सब जीवोंमे इस प्रकार स्वरूपको निरखता है उससे अविनयका व्यवहार न बनेगा । वह तो अब तेज सम्यग्दृष्टि होनेकी प्रथा चल उठी है, याने विनय न करना, कोई संयम तपमे लगा हो तो उससे मुख फेरकर चलना और कहना कि मैं तेज सम्यग्दृष्टि हू, मगर विनय एक ऐसा गुण है कि वह ज्ञानीकी पहिचान होती है, ज्ञानी पुरुष अन्दर से इन एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय आदिक जीवोके स्वरूपमे भी आदर रखते हैं, चीज तो यह है, कर्मकृत लीला है, इसका ध्यान ज्ञानीको रहता है । तो विनय नामका तप—सम्यग्दर्शनकी विनय, सम्यग्ज्ञानकी विनय, सम्यक्चारित्र की विनय, सम्यक् तपश्चरणकी विनय और इनके धारक पुरुषोकी विनय । विनयसे ही पात्रता होती है, मोक्षमार्गकी पात्रता भी विनयसे होती है, और विनय मायने नम्र होना, नम्र मायने झुकना, बाहरमें झुकना यह बाह्य विनय है और अंतरगके स्वरूपमे झुकना यह अतरग विनय है । अध्यात्मविनय वह नही कर सकता जो बाहरमे सेव रहा हो । तो विनय एक बहुत उच्च तपश्चरण है ।

(२५९) उत्तम तपमें अन्तिम तीन अन्तरङ्ग तपोंका निर्देशन—

९ वाँ तप है वैयावृत्त । वैयावृत्तका अर्थ है सेवा करना । धर्मात्माजनोकी सेवा करना । देखो धर्मात्मा पुरुषोकी सेवा करना यह जानकर करनेकी बात नही, किन्तु क्यो

सहज होने लगती है ? परिस्थितिवश वह वैयावृत्त शब्द ही बता रहा है—व्यावृत्तस्य भाव वैयावृत्त । व्यावृत्त पुरुष ससार, शरीर, भोगोंसे विरक्त पुरुष याने रिटायर्ड पुरुष उसकी जो चेष्टा है, उसका जो भाव है, उसकी जो प्रवृत्ति है उसे कहते हैं वैयावृत्त याने जो समारसे रिटायर बन रहा, इसमे नहीं फंसता, ऐसे पुरुषोकी वृत्ति है ऐसी कि वे साधर्मी जन गुणी जनों की वैयावृत्ति करें और धर्मात्माजनोकी भी वैयावृत्ति करें । १० वां तपश्चरण है स्वाध्याय स्वका अध्ययन करना । जो वीतराग ग्रथ हैं जिनमें रागद्वेष मोह दूर करनेकी प्रक्रिया है । कथा द्वारा, चारित्र द्वारा, स्वरूप द्वारा, निर्णय द्वारा उन ग्रन्थोका बाचन करना, उसमे आत्माका मनन होता है । कोई विशेष बात हो तो पूछना, प्रश्न करना, ताकि उससे आत्म संतोषका समाधान मिले आत्महितका और पढना, पाठ करना, इन क्रियावोंमे भी आत्माका स्पर्श तो होता है । बारबार विचार करना, भावना करना और धर्मोपदेश देना । धर्मोपदेश जो देगा वह अपने आपको भी तो सुनायेगा । उसके कान तो बद नही होते और यदि वह योग्य है तो वह अपने आत्मामे साथ ही साथ मनन भी करता जायगा । इसीलिए धर्मोपदेश भी स्वका अध्ययन है । ११ वां तप है कायोत्सर्ग । शरीरसे ममताका त्याग करना, शरीर उपलक्षण है । और अतिम १२ वां तप है ध्यान । अपने स्वरूपमे अपने स्वरूपकी ओर एकाग्र चित्त होकर मनन करना, इन सबकी इच्छाका निरोध होना, इस कारण ये सब तप हैं और इससे कर्ममल दूर होता है ।

कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौघो हठात् तपः सुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः ।
अतो हि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रिया यतिः समुपलक्षित. पथि विमुक्तिपुर्यां सुखम् ॥६६॥

(२६०) विषय कषाय चोरोंपर विजय करने वाले उत्तम तप सुभट द्वारा मोक्षमार्गमे विघ्न दूर हो जानेके कारण मोक्षलाभकी सुगमता—

देखो इस जगतमे सब जगह लूट मार हो रही है । विषय कषायोंके चोरोका समूह इस मोक्षमार्गके बीचमे बहुत आता है । कहने लगते न लोग कि जब सामायिकमे बैठते हैं, जाप देते हैं तो न जाने कहां कहां की खबर आती है ? ऐसी ही सभीकी बात है । अच्छे काममे चलेंगे, ध्यानमे लगेंगे तो विषय कषायोंके चोर इसको लूटने आते हैं । यह मार्ग लुटेरा है । ससारमे ये सब विषय कषाय ये जीवोको लूट रहे । क्यो जी किसी मार्गमे अगर चोर डाकू बहुतसे हों तो वहां कोई अगर सुभट एक या अनेक सुभट बडे वीर बहादुर वहासे निकलें और उनकी ताडना करें तो वह मार्ग निरुपद्रव होगा । ऐसे ही विषय कषायोके चोर जहां बहुतेरे फिर रहे हैं उनको ये तपश्चरणरूपी सुभट बडे वेगसे उनकी ताडना करते हैं ।

तब उपद्रवरहित पंथ हो जाता है और जब निरुपद्रव हो गया तो वह मार्ग तो धर्म लक्ष्मी के साथ साथ यह बडे आनन्दसे प्रसन्नतासे चलेगा और मोक्षपुरीके सुखको प्राप्त करेगा। जैसे कोई पुरुष किसी नगरमे जा रहा है और रास्तेमे वे चोर डाकू बाधा करते है तो सुभट उनको दूर करता है और फिर वह वीर अपनी सम्पदाके साथ अपने इष्ट नगरमे पहुंच जाता है। इसी प्रकार विषय कषाय चोरोको तपश्चरणके द्वारा दूर करके ज्ञानी जन अपनी धर्मलक्ष्मीके साथ साथ मोक्षपुरीके सुखको प्राप्त कर लेते है। तपश्चरण एक जीवनकी सफलताका उपाय है।

मिथ्यात्वादेर्यदिह भविता दुःखमुग्रं तपोभ्यो,
जातं तस्मादुदककणिकैकेव सर्वाब्धितीरात्।
स्तोकं तेन प्रभवमखिलं कृच्छ्रलब्धे नरत्वे
यद्येतर्हि स्खलति तदहो का क्षतिर्जीव ते स्यात् ॥१००॥

(२६१) संसारके महाकष्टोंको दूर करने वाले उत्तम तपके पालनमें साधुजनोंको उत्साहन—

इस छन्दमे इस बातका समाधान दिया गया है कि जैसे कोई लोग सोचते है कि तपश्चरणमे तो बडा कष्ट होता। समझाया गया है यहाँ कि यह तो बताओ भाई कि मिथ्यात्वसे, रागद्वेष विषय कषायोंके करनेसे जितने यहां दुःख हो सकते है बतलावो तपश्चरण मे उससे अधिक दुःख हैं या कम दुःख ? अपने जीवनकी घटनाओमे अंदाज लगा लो कि मोह मे कितना दुःख होता ? कोई बच्चा या कोई घरका बडा इष्ट कठिन बीमार है, मरणासन्न है वहा जो यह कष्ट मानता है सो किस वजहसे मानता है ? मोहकी वजहसे। तो मोहके कारण जितने दुःख होते है क्या उतने दुःख तपश्चरणसे होते है, मानो दो बारका नियम कर लिया कि इससे अधिक बार न खायेंगे, एक श्रावकोकी दृष्टिसे कह रहे है तो बतलावो इसमे तुम्हे जन्म दुःखसे अधिक दुःख है क्या ? किसी भी प्रकारका व्रत नियम ले कोई, उसमे अगर कोई कष्ट भी समझा जाता हो तो वह कष्ट उतना है मोहजन्य दुःखके सामने जैसे कि समुद्रमे एक बूंद बराबर। सारा जीव लोक परेशान है। किस वजहसे परेशान है ? मोह रागद्वेषके चक्रमे घूम रहे है और तृष्णायें सता रही है और विषयसाधनोको उचक-उचक कर पकडते फिरते है। उस समय इसको बहुत दुःख उत्पन्न होता है ? तपश्चरणमे क्या दुःख है ? सो दुःख साधारण मोहजनित दुःखके सामने कोनसा दुःख है, और बडी कठिनाईसे पाया है यह मनुष्यजन्म, तो इस मनुष्यभवमे क्या मोह राग आदिकके दुःख बढाकर दुःखी कर मरने मरने के प्रोग्राममे ही भला लग रहा क्या ? या मोह रागद्वेषके दुःख निवारण करना, आत्मज्ञानसे

अपनेको प्रसन्न रखना और उस मार्गमे कोई कष्ट आ जाय, स्वाधीनताके मार्गमे कोई कठिनाई भी आ जाय तो उसे दुःख न मानना और तपश्चरण करके इस मनुष्य जीवनको सफल करना, अगर ऐसा न कर सका कोई और इन तपस्यावोंसे स्खलित होता है तो बतलावो इस जीवका कितना नुक्सान है। नुक्सान सोचते हैं इस बात पर कि धन कम हो गया। यह नही सोचते कि अगर हमारे पापके परिणाम बन रहे हैं तो मेरे आत्माकी कितनी क्षति है। धन तो पुण्यका सेवक है। जिसके पुण्यका उदय आता है, भले ही आज कुछ पापी जनोंके भी धन हो सके, जैसे कोई कषायीखाने खोले है, या कोई चमडेका व्यापार किए है, मछलियोका ठेका लिए है फिर भी धन खूब आता। विदेशोमे इस तरहका व्यापार करने वाले कितने ही लोग धनिक है तो वहाँ यह समझो कि खोटे कामके कारण धन नही आ रहा, किंतु उदय पूर्व पुण्यका है। आना तो था धन इससे भी बहुत अधिक, पर जो पापका काम करके बहुत सा पुण्य घटा लिया फिर भी वह उससे तृप्ति मानता। और फिर यह सोचना चाहिए कि परपदार्थोंका समागम इस जीवके लिए हितका कुछ भी कारणभूत नही है, बल्कि विकल्पका कारण है, आत्मा तो स्वय आनन्दमय है। आत्माके स्वरूपमे ज्ञान और आनन्द स्वभाव पडा हुआ है। इसे आनन्द कहीसे लाना नही है किन्तु दुःख न करें तो आनन्द अपने आप है। आनन्द नही पाया जाता प्रवृत्तिसे। प्रवृत्तिसे दुःख पाया जाता है याने दुःख बनाया जाता। दुःख बनाना कोई बद करदे तो आनन्द तो स्वरूप ही है। वह तो सहज ही प्रकट होता है। तो दुःख बनाना जीवका बद होता है सम्यग्ज्ञानके बलसे। निजको निज परको पर जान फिर दुःखका नहिं लेश निदान॥ यह सद्बुद्धि चाहिए कि मेरे आत्माका सहजस्वरूप विशुद्ध चेतनामात्र है। इसका अन्य कुछ नही। अन्य कुछ करता नही, अन्य कुछ भोगता नही। एक यह ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, सर्वस्व है, काम है और भोग है। ज्ञानसे अतिरिक्त मेरा कोई नाता नही है। उस ज्ञानस्वरूपकी सुधलें तो दुःखका बनना बद हो जायगा और आनन्द उसके स्वयमेव ही प्रकट हो जायगा। तो ये सर्व सुख सुविधायें शान्तिके साधनमे वह ही सफल होता है जो कष्टसहिष्णु है, तपश्चरणका अभ्यासी है, इसलिए जीवनमे तपसे घबड़ाना न चाहिए। शक्तिके अनुसार उसमे लगना चाहिए।

व्याख्या यत् क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकं
स्थान सयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा।
स त्यागो वपुरादिनिर्ममतया नो किंचनास्ते यते-
राकिंचन्यमिद च ससृतिहरो धर्मः सता संमतः॥ १०१॥

(२६२) ज्ञानवर्द्धक व वैराग्यवर्द्धक साधनोंके दान करनेमें उत्तम त्यागका पालन—

धर्म दशलक्षणमय है, इस प्रकारमें उत्तम तपका वर्णन हो, अब त्यागका वर्णन चल रहा है। उत्तम त्यागका अर्थ है त्याग करना, छोडना, दान करना, देना, और उत्तमका अर्थ यह है कि सच्चे प्रकाशमे रहकर सम्यक्त्वसहित होकर त्याग करना, सो उत्तमत्याग है। त्यागमे मुख्यता है ज्ञान और वैराग्य बढाने वाले साधनोको देनेकी, क्योकि जो ससारको बढाये ऐसा साधन बना देनेको त्याग नही कहते। लोकमे तो कह देते हैं कि भाई इसने बडा त्याग किया। एक धर्मशाला बनवा दी अथवा गरीबोको खाना खिला दिया अथवा लोगोंको रोजगारमे लगा दिया, यह भी किसी हदमें दया नामक धर्ममे आया, पर उत्तम त्यागमे नही आया। उत्तम त्यागका सम्बंध है कि जिसमे ज्ञान और वैराग्य बढे, ऐसे साधनको जुटाना। यह प्रकरण प्रकरणकी बात होती है। उत्तम त्याग ज्ञान और संयमके साधन जुटाने को कहते हैं। यो तो कितनी ही बातें दी जाती है। कोई गाली देता है, कोई किवाड देता है, कोई खिडकियोमे पेंच देना है। देनेकी तो बहुत बातें होती है, पर त्यागमय दान वही है जो ज्ञान और संयमका साधन देवे, क्योकि ससारमे जीव रुलते रहे है। इनको आवश्यकता है कि ऐसा उपाय पा लें जो अपने भीतर है। अहो देखना भर है कि दूर हो जाय। अपने को निरख लें तो सारी समस्या हल हो जाती है। तो ज्ञान और सयमसे ही यह जीव बढता है। दूसरेको साधन जुटायें ऐसा कि जिसमे ज्ञान और वैराग्य बढ़े।

(२६३) उत्तम त्यागधर्ममे ज्ञानदानकी सर्वोत्कृष्ट महिमा—

त्यागकी बात यहाँ यह भी कह रहे है कि जो शास्त्रमे व्याख्या की जाती है उसे उत्तम त्याग कहते है। अब देखो यह बात सुनकर लोग सोचते होंगे कि इसमे त्यागकी क्या बात आती? पडित आते, वक्ता आते, त्यागी आते, शास्त्र पढे जाते, यह तो एक चीज है, बात है, इसमे त्याग कहाँसे आया? पर देखो इस ग्रंथमे सबसे पहले यह ही बात कही गई है कि जो शास्त्रको व्याख्या की जाती है, व्याख्यान भाषण अर्थ किया जाता है उसे कहते हैं उत्तम त्याग। अच्छा इस त्यागको लोगोके चित्तमे प्रतिष्ठा क्यो नही है? सारा लोक मोही है। तो मोही जीवोको तो अगर धन दे दें य उसका कोई सम्बन्ध करा दें, सगाई करा दें मायने स्वकाई करा दें, अपना बना दें तो मोहियोको प्रिय लगता है कि यह बहुत उदार है, पर इस त्यागकी धर्ममे प्रतिष्ठा नही है। जहाँ ज्ञान मिले वहा त्याग हैं, ज्ञान बिना त्याग नहीं। ज्ञान ही त्याग है। जहां यह जान लिया जीवने कि मेरा तो मात्र ज्ञानस्वरूप है, और मैं अपनेमे ज्ञानको ही करता हूँ, ज्ञान ही तो निधि है, ज्ञान ही तो इहलोक है, परलोक

है, ज्ञानको छोडकर अन्य कुछ नहीं, तो उसकी तो सारी चिन्तायें दूर हो गईं, वीरता आ गई, आकुलता समाप्त। तो वह त्यागका ही तो फल मिला। संसारके समस्त पदार्थोंसे मोह हट जाना, राग हट जाना, यह कहलाता है उत्तम त्याग। तो जो श्रुतकी शास्त्रकी, ज्ञान वाक्यकी व्याख्या की जाती है उसे कहते हैं उत्तम त्याग। ज्ञानके लिए, प्रयत्नशील महापुरुषो के लिए जो शास्त्र दिए जाते है, पुस्तक दी जाती है उसे कहते हैं उत्तम त्याग। पुस्तक देने की बात तो आजकल दूर रहो, बल्कि पुस्तकोंसे उपेक्षा है और मोही जनोंके लिए तो वह कूडा कचरा है, उसका महत्व कैसे चित्तमे आयगा ? यहा उत्तम त्यागकी व्याख्यामे तीन बातें कही जा रही है। एक तो श्रुतकी व्याख्या करना, दूसरे यतिके लिए पुस्तकका दान करना और प्रीतिपूर्वक सदाचारी जनोंके द्वारा संयमके साधन आदिक देना, इसे कहते हैं उत्तम त्याग।

(२६४) उत्तम त्यागके बजाय होने वाली मोहियो की प्रवृत्तिमें विडम्बना—

त्यागके बजाय मोह यही आपसका लेन देन, इसकी कषाय उसने पूरी की, उसकी कषाय उसने पूरी की, तो परस्परमे एक दूसरेको बड़ी प्रशसा देते हैं, तुम बहुत बडे पुरुष हो, तुम बहुत वीर पुरुष हो, तुम बडे उदार पुरुष हो। कोई कषायकी पुष्टि की, इसीलिए इसके चित्तमे महत्त्व रहा। तो यह तो एक ऐसा खेल हुआ कि जैसे नीतिकार कहते हैं कि उष्ट्राणां विवाहेषु गीत गायन्ति गर्दभाः। परस्पर प्रशसति अहो रूपम् अहो ध्वनि॥ मोहीजन मोहियो की क्रियायें देखकर एक दूसरेकी प्रशसा करते हैं। तो यो तो मानो ऊँटका तो विवाह हो रहा था और उसमे गीत गानेके लिए गधोको बुलाया गया था। तो गधे लोग गीत गा रहे थे—वाह वाह—हे ऊँट तुम कितने सुन्दर हो, तुम्हारा रूप, तुम्हारा सौन्दर्य, तुम्हारे शरीरकी, आकृति कितनी सुन्दर है ? भला बतलावो ऊँट कही सुन्दर आकृतिके होते हैं ? उनका तो सारा शरीर टेढा मेढा होता है। गर्दन, पीठ, पेट, पैर सब टेढे होते, पर गधे लोग ऊँटोकी प्रशसा करते हुए कह रहे थे कि वाह वाह, तुम कितने सुन्दर हो। तो ऊँट कहते गधोको कि वाह-वाह तुम्हारी कितनी मधुर वाणी है ? अब भला बतलावो गधोकी वाणी कही मधुर हुआ करती ? पर जैसे गधे ऊँटकी झूठी प्रशसा करते और ऊँट गधेकी, ऐसे ही अज्ञानी मोही जन एक दूसरेकी प्रशंसा करते हैं। तो यह मोहियो मोहियोका आदान प्रदान कोई उत्तम त्याग नही माना गया, किन्तु उत्तम त्याग वह है जहाँ ज्ञानका साधन, वैराग्यका साधन, सयमका साधन जुटा दें। यह त्याग क्यो ऊँचा त्याग है कि उसे तो शरीरादिकसे ममता नही। यह त्याग मुनियोसे ही निभता है और यथा योग्य श्रावक गृहस्थोसे भी निभ सकता है। उत्तम त्याग

साधु-संतोंके होता है।

(२६५) उत्तम त्यागके पालनमें आकिञ्चन्यभावका सहयोग—

जहाँ शरीरादिकका भी महत्त्व नही, जिसके हृदयमे अन्य कुछ नही और जहाँ यह भाव आया कि मेरे आत्माका जगतमे कही कुछ नही है। बस यह ही आकिञ्चन्य धर्म की भावना है। जो बात सच है उसको ही माननेके लिए कहा जा रहा है। सच सच समझ लो बेड़ा पार हो जायगा। जगतमे प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी सत्तासे है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका सत्त्व नही करता, परिणति नही करता, गुण नही करता। भले ही उपादान खुद ही बिगडकर निमित्त सन्निधानमे विकार करके एक विसमपरिस्थिति बना ले, वह तो योग हुआ, इस पर भी कोई पदार्थ किसी दूसरेको कुछ नही परिणमाता। तब क्या करना? बस ज्ञाता द्रष्टा रहना चाहिए। देखनहार रहो। एक किसान किसानिनी थे। सो किसानिनी तो थी शान्त और किसान दुष्ट प्रकृतिका था। विवाह हुए कोई १०–१२ वर्ष हो चुके थे। किसानके मनमे कई बार ऐसा आया कि इस स्त्रीसे कोई गल्ती बने बस हमे दो चार मुक्के लगानेको मिल जायेंगे, पर कभी ऐसा मौका ही न आने पाता था। देखो छोटे लोग इसी प्रकृतिके होते हैं कि वे कोई कारण बनाकर अपनी स्त्रीको पीट लें तभी खुश रहते हैं। तो उस किसानने एक उपाय किया। जेठ आषाढके दिन थे। खेत जोते जा रहे थे। उसकी स्त्री रोज खेतोमे खाना पीना पहुंचा देती थी। एक दिन किसानने एक उपाय बनाया स्त्रीको पीटनेके लिए। क्या उपाय बनाया कि बैलोंको औंधा सीधा हलमे जोत दिया याने एक बैल का मुख किया पूरबको और एकका किया पश्चिमकी ओर, सोचा कि ऐसी घटना देखकर स्त्री कुछ तो बोलेगी ही, क्या ऐसे ही जोता जाता है, क्या इसी तरहसे काम चल जायगा, कुछ तो कहेगी, बस पीटनेका मौका मिल जायगा। पर हुआ क्या कि स्त्री आयी, उस घटनाको देखकर सारा हाल समझ गई, सो तुरन्त ही खाना धरकर और यह कहकर लौट गई कि चाहे औंधा जोतो चाहे सीधा, हमे कुछ मतलब नही। हमारा काम तो रोटी देनेका है, बस चली गई, किसान फिर भी टापता रह गया। तो इससे शिक्षा यह लें कि कोई कैसा ही चले कैसा ही परिणमे बस उसके ज्ञाता द्रष्टा रहो, कोई उल्टा चले तो, सीधा चले तो, अपनेमे एक ज्ञानवृत्ति बने तो वहां कष्ट नही होता और त्याग भी निभेगा तो आकिञ्चन्यभावसे निभेगा।

विमोहा मोक्षाय स्वहित निरताश्चारुचरिताः,
गृहादि त्यक्त्वा ये विदधति तपस्तेऽपि विरलाः।
तपस्यन्तोऽन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतः,

सहाया' स्युर्ये ते जगति यतयो दुर्लभतरा ॥१०२॥

(२७७) निर्मोह स्वहितनिरत विरक्त तपस्वी उत्तम त्यागधर्मके पालक मुनियों की उत्तरोत्तर विरलता—

त्याग और आकिञ्चन्य दोनो धर्मोमे, विषयोमे समन्वित रूपसे अब वर्णन कर रहे । त्यागका अर्थ क्या ? ज्ञान वैराग्य, साधन, सयमके साधन देना और आकिञ्चन्यके मायने क्या कि मेरा कही कुछ नही है । मैं केवल ज्ञानमात्र हू । इस प्रकार समस्त परसे विरक्त होना इसे कहते हैं आकिञ्चन्य । जो पुरुष, जो मुनिराज मोहरहित हैं, आत्माके हितमे लवलीन है, उत्तम चरित्रसे सहित हैं, ऐसे मुनि मोक्षप्राप्तिके लिए घर द्वार आदिक छोडकर ही तो होते हैं, तपश्चरण करते है, ऐसे साधु सत बहुत बिरले हैं । ससारमे कुछ प्रयोजन नही रहा । एक आत्महित हो, मेरा कल्याण हो । देखिये इस आवाजमे सबके कल्याणकी भावना तो है ही । क्या दूसरेका अकल्याण करनेका भाव रखने वाले पुरुष आत्माका कल्याण कर सकते हैं ? जो आत्मकल्याण चाहते है इस भावमे, जैसे कहते हैं ना अडर स्टुड भीतर छिपा हुआ, समझा हुआ, वह भावना तो बनी हुई ही है । तो ऐसे महामुनि जो आत्महितमे लवलीन होते हैं, इस जगतमे बिरले ही है । अहो कर्मका ऐसा रसभार कि इस जीवका उपयोग कैसा बिगड जाता है, सन्मार्गमे चित्त नही ठहरता, उल्टी ही बात सूझेगी । कुछ धर्मके मार्ग मे लगेंगे तो वहाँ भी उल्टी ही बात झट घर कर जायगी । सही बात दिलमे नही बैठाते । कितना एक विकट ससार है यह, ऐसा ससारमें ज्ञान और वैराग्य होना यह बहुत दुर्लभ बात है । जिसने ससारसे मुख मोडा वही धर्ममे बढ सकता है । और जो ससारके लोगोसे कोई इच्छा रखता है वह धर्ममे कैसे बढ सकता है ? प्रशसा होना, अरे जो प्रशसा चाहते हैं वे सत्कार्य नही कर सकते हैं । जो सत्कार्य करता है उसकी प्रशसा स्वयमेव होती है । सत्कार्य करना काम है या प्रशसाकी चाह करना ? उत्तम काम करे और ध्यान रखे केवल एक उत्तम कर्तव्यका, मेरे द्वारा किसी जीवको दुःख न पहुचे और जो बडे गुरुजन हैं, उनके प्रति भक्ति भाव रहे । ये दो बातें होनो चाहिएँ । बडेके प्रति भक्ति और समस्त जीवोके प्रति किसी को भी दुःख उत्पन्न न हो ऐसा भाव । अगर यह भावना रहती है चित्तमे तो कैसे नही उन्नति होगी ? हाँ ऐसे पुरुष बिरले है जो ससार, शरीर, भोगोसे विरक्त होकर एक आत्मकल्याण के लिए घर बार सब त्याग करके उसके ही ध्यानमे निरन्तर रहा करते हैं, और फिर जो मुनि तपश्चरण करते हुए अन्य मुनियोके लिए शास्त्र आदिक देकर सहायता करते है वे मुनियोमे भी अतिशयित हैं याने आत्महितमे बाधा न डालकर जो परहितमे भी चलते है

ऐसे मुनि और बिरल हैं।

(१६७) ज्ञानकी प्रभावनामें ही वास्तविक धर्मप्रभावना—

यहां उत्तम त्यागकी महिमा बतायी जा रही है। ज्ञानके साधनोको देना, इसीको यहां उत्तम त्याग कहा गया है। प्रभावनामे ज्ञान ही विषय होता है। जैसे रथयात्रामे पच-कल्याणकमे बडे-बडे और और भी विधानोके काम किए जायें तो बहुत करेंगे, पर ज्ञानकी बात न रखेंगे। उपदेश कराना, शास्त्रसभायें कराना, विद्वानोंको बुलाकर तत्त्वचर्चा होना, यो अगर ज्ञानके प्रोग्राम नही रहने है तो वह प्रभावना नही बतायी गई। प्रभावना वहाँ है जहा ज्ञानकी प्रभावना है। सभी गुण ज्ञानसे सम्बन्ध रखते है। ज्ञानसे प्रेम होना सो वात्सल्य। ज्ञानका प्रभाव बढना सो प्रभावना। दूसरेको ज्ञानमे स्थिर करना सो स्थितिकरण। सारा नाता ज्ञानसे ही तो है, किसीका दुःख आप कैसे हर सकेंगे? ज्ञानसे ही हर सकेंगे। देखो अज्ञानीके विचारमें और ज्ञानीके विचारमे कुछ दिशाका भी अन्तर है। जीवहिंसा न करना, तो अज्ञानी सोचेगा कि जीवहिंसा करनेसे पाप होता है, पुण्य मिटना है, नरक जाना पडता है, स्वर्ग खतम हो जाता है, सो जीवहिंसा न करना चाहिए। सुना तो होगा ऐसे शब्द बहुतसे लोग बोलते भी हैं, पर ज्ञानी पुरुष क्या विचार करता है कि किसी जीवकी अगर मेरे पैरोके नीचे आ जाने से, हमारे जरा प्रमादसे प्राणघात हो गया तो चूकि वह एक चपेटमे मरा, तो आकुलित होकर मरा, संक्लेशसे मरा, ऐसा जीव उस भवसे नीचा भव पायगा। कितना अकल्याण हो गया उसका? जगतमे अनन्तानन्त जीव तो एकेन्द्रिय हैं। जैसे पेड पौधे, ये बेचारे क्या करें, चल भी नही सकते, कुछ बात भी नही है। बहुतसे लोग तो इनको अचेतन ही कहते है, अब कोई कोई चेतन कहने लगे। पेड यदि हरा भरा हो तो इसमे समझते हैं कि हाँ इसमे जीव है, मगर पृथ्वी, जल, अग्नि वायु ये सब एकेन्द्रिय जीव है। इनकी दशा क्या है? आज हम आप कितनी सी जगहमे है और कोई न कोई कल्पनासे कमी मानकर यही दु खी होनेकी आदत बना डाली है तो ऐसा अज्ञान करके जो दु.खी होने की आदत बनाये उसको फिर शान्ति कहाँ मिलेगी? आज लोग कष्टसहिष्णु नही बनना चाहते, आराम-पसद अच्छे पलग अच्छी शोभा, पैदल न चलना पडे, बस दरवाजेकी नीचेकी सीढीपर पैर रखा और दूसरा पैर मोटरमे रखा। जरा भी पैदल नही चल सकते, बडे बडे ओटपाये करते है, क्योकि उदय है पुण्यका, साधन मिला है आराम करनेका, ऐसे पुरुष कल्पनायें कर करके अपनेको दुःखी कर डालते हैं। कोई आदमी सामनेसे निकल गया और वह राम राम न कर पाया तो यह बडा दु.ख मानता है, अरे यह मेरे पाससे निकल गया और मेरेसे राम राम भी

न किया, इसने मुझे कुछ समझा ही नही। यों दुःख तो सोच सोचकर बनाये जाते हैं और अज्ञानी जन ही इस तरहसे सोच सोचकर दुःख बनाया करते है। अगर इसे संसारके सब जीवोका ध्यान हो कि कैसे कैसे जीव हैं ? दुखी हैं, उनसे तो हमने बडे अच्छे साधन पाये। अब इन साधनोंमें हम कुछ सही उपयोगकी दिशा लायें, तो ऐसा जो त्याग भावमे रहता है, अपने आपमे कोई विभाव जगे उसमे भी रोष तोष नही करते है और अपने-स्वरूपकी सभाल बनाये रहते हैं, ऐसे सतजन ऐसे ही दूसरोंके प्रति साधन बनाते हैं तो वे उत्तम त्याग वाले हैं। हां तो जो दूसरोको भी शास्त्र आदिक देते हो, सहायक बनते हैं ऐसे यती जन तो ससार मे अत्यन्त दुर्लभ है।

(२६८) ज्ञानदानकी बड़ी महिमा—

देखिये ज्ञानकी और शास्त्रकी कितनी बडी महिमा प्रकट हो रही है ? जिसके सामने तीन लोकका वैभव भी तुच्छ, उनका जिकर ही नही कर रहे और एक ज्ञानसाधनाकी बात कही जा रही है दसलक्षणके अगोमे उत्तम त्याग अगमे। क्योकि यद्यपि दान चार प्रकार के कहे गए है—(१) आहारदान (२) शास्त्रदान (३) औषधिदान और (४) अभयदान। तो भी उनमे सर्वोत्कृष्टरूप ज्ञानदानका कहा गया है। अच्छा आहारदानका कितना फल है उसके लिए जिसको आहार दिया वह कितने समय तक तृप्त रहेगा ? मान लो १२ घटे या २४ घटे तक औषधिदानसे कितने दिन टिका रहेगा ? महीना दो महीना अथवा साल दो साल। और अभयदानसे ? किसीको आवास दे दिया, धर्मशालामे ठहरा दिया तो वह भी कुछ ही दिनो तक तृप्त रहेगा, मगर ज्ञानदान ऐसा है कि जिससे अनन्त काल तक यह जीव तृप्त रहेगा। जिसको एक अपने आत्मामे सद्बोध जगेगा वही ज्ञान तो पार करेगा। शरीरसे कर्मसे सदाके लिए छूट जाय, ऐसा कोई साधन है तो वह ज्ञान ही साधन है। इसी कारण शास्त्रके इस प्रकरणमे उत्तम त्यागके प्रकरणमे एक ज्ञानके साधनकी महिमा बतायी जा रही है, और फिर इससे हल्के त्याग सब ज्ञानदानमे गर्भित हो जाते हैं।

परं मत्वा सर्वं परिह्रतमशेष श्रुनविदा वपु.,
पुस्ताद्यास्ते तदपि निकट चेदिति मति।
ममत्वाभावे तत्सदपि न सदन्यत्र घटते
जिनेन्द्राज्ञाभङ्गो भवति च हठात्कल्मष मूर्ष.॥१०३॥

(२६९) उत्तम आकिञ्चन्य धर्मकी महिमा—

इसमे आकिञ्चन्य भावकी विशेषता कही कई है। मेरा कुछ नही, ऐसा तो

सभी बोल देते हैं। अभी कोई त्यागी भी पूछे जिसका कि घर हो कि साहब यह घर किस का है ? तो वह कहता महाराज यह घर आपका है और मानो वह त्यागी इस बातको टेप-रिकार्डमे ले ले और कचेहरीमें मुकदमा कर दे और उस मकानपर अपना कब्जा जमा ले तो क्या ऐसा हो नही सकता ? हो सकता है। ऐसी घटना हुई भी है कोडरमा ग्राममे। वहाँ एक घरमें भाई भाईमे जमीनका झगड़ा था। वहाँ अग्रेज अफसर आया पूछा—यह किस की जमीन है ? तो वह बोला—साहब यह जमीन आपकी ही है। उसका तो कहनेका मतलब था कि यह जमीन तो मेरी है, पर इस तरहसे बोल दिया और वे बयान उस साहबने लिख लिया, नीचे दस्तखत भी हो गए। अब वह जमीन उस अग्रेज अफसरने ले ली। सो लोग कहते तो है कि हमारा कुछ नहीं, सब आपका है, पर यह तो एक कहनेकी बात है। मगर आकिञ्चन्य भाव यह है जहाँ चित्त मे ज्ञानस्वरूप मात्र है कि मैं ज्ञानमात्र हू, अन्य कुछ नही हू, यह बात बहुत दृढताके साथ चित्तमे जम गई हो कि मेरा कही कुछ है ही नही। वास्तविकता यह ही है, परमाणु मुझसे अत्यन्त निराला है, उसका द्रव्य मैं नही, क्षेत्र मैं नही, परिणति मैं नही, गुण मैं नही, मेरा मैं ही हू, ऐसा अपने आकिञ्चन्य भावको जो ध्याता है उसके प्रसादसे यह जीव सर्व कर्म मलसे मुक्त हो जाता है। आकिञ्चन्य, कुछ नही, इसको तो लोग गाली समझते है, यह कुछ नही, इसके पास कुछ नही, यह लोकमे अकेला माना जाता है, कुछ नही, बेचारा, असहाय, और जिसको आकिञ्चन्यके तथ्यका परिचय है वह आकिञ्चन्यको बडा महत्त्व देता है। मेरा कही कुछ नही, मेरा मात्र मैं ही हू, अहो इस जीवपर मोह रागद्वेषके पिशाचने इतना बडा अन्याय किया कि यह भगवान आत्मा अनन्त चतुष्टयका धनी स्वभावतः स्वरूपतः धनी होकर भी दर दर भटकता फिरता है।

(२७०) उत्तम आकिञ्चन्य धर्मके पालनमे सर्व समृद्धि—

सब यहाँ चतुर बन रहे, मगर असली चतुराई करने वाले बिरले ही होते हैं। संसारमे कुछ ऐसा कर दिया, कुछ वैसा कर दिया, इसमे कोई चतुराई इसमे कौन सी सिद्धि है ? वास्तविक चतुराई तो यह है कि अपने आपके स्वरूपका ध्यान बन जाय, परिचय बन जाय और उस ओर ही धुन बन जाय, लगन हो जाय कि मैं तो यह हू, यह है मेरी वास्तविक चतुराई, तो असली चतुराई पाये बिना जो भी काम किये जायेंगे वे सब उल्टे ही है। मोहमें नही मालूम होता ऐसा कि हम उल्टे चल रहे, मगर जिससे संसार बढे, जन्म मरणके संकट बढ़ें वह काम क्या सीधा कहलायगा ? आकिञ्चन्य वृत। आकिञ्चन्यधर्म क्या है ? एक अमृत तत्त्व है, एक जगतस्तुतिमे कहा कि हे प्रभो ! आप अकिञ्चन है याने आप केवल हैं, घोर हैं,

दूसरे कुछ नही है आप, बस एक चैतन्यमात्र है । मगर अकिञ्चन होकर भी आपसे सब कुछ मिल सकता है । और जो सकिंचन है, जिसके पास सब कुछ भरा हुआ है ससारका धन, वहाँ वह चीज प्राप्त नही हो सकती । उदाहरण देते हैं कि देखो पर्वत अकिञ्चन है, ऊपर पानी की एक बूँद भी नही है । सारा पर्वत सूखा पडा है, तो अकिञ्चन कहेगे न पानीकी अपेक्षा, मगर नदियाँ पर्वत से ही निकलती हैं और समुद्र अथाह जलसे भरा हुआ है फिर भी समुद्रसे नदी निकलना कही सुना नही गया ? तो ऐसे ही प्रभु आप अकिञ्चन हैं, मगर आपके इस अकिञ्चन पवित्र ज्ञान ज्योतिर्मय स्वरूपकी जो उपासना करते है उनके बधन सब टूट जाते हैं, और अनन्त आनन्द प्रकट होता है । उस अकिञ्चन धर्मकी उपासनासे ससारके सारे संकट दूर होते हैं ।

यत्संगाधार मेतच्चलति लघु च यत्तीक्ष्णदुःखौघधार
मृत्पिण्डीभूतभूत कृतबहुविकृतभ्रान्ति ससारचक्रम् ।
ता नित्यं यन्मुमुक्षुर्यतिरमलमति· शान्तमोह. प्रपश्ये
ज्जामी पुत्री सवित्रीरिव हरिणदृशस्तत्परं ब्रह्मचर्यम् ॥ १०४ ॥

(२७१) उत्तम ब्रह्मचर्यकी सिद्धिमें जीवकी पूर्ण कृतार्थता—

इस जीवका धर्मके सिवाय और कोई न साथी है, न रक्षक है, न शरण है । वह धर्म क्या है, उसकी बात ५ प्रकारकी परिभाषाओ मे कही जा रही है । जिसकी यह चौथी परिभाषा है, याने दस लक्षण रूप धर्म है, जीव जहाँ क्षमाका भाव रखे, नम्रताका भाव रखे, कपट न रखे, सरलता रखे, लोभ न रखे, हृदयमे पवित्रता बनाये, सत्य व्यवहार करें, किसी भी प्राणीको दुःख न पहुचे ऐसी प्रवृत्ति करे, अपनी बेहोशी न बने, विषयोमे लगन न बनाये ऐसी प्रवृत्ति रखे, इच्छा कम करे, आवश्यकताओको दूर करे, कम आवश्यकतायें बनाये और अपनी शक्ति माफिक त्याग करे, दान करे और यह भावना रखे कि जगतमे मेरा कही कुछ नही है, मात्र मेरा यह स्वरूप ही है, ऐसी ६ प्रकारकी धर्मभावना रखने वाला जीव उत्तम ब्रह्मचर्यमे प्रवेश करता है । ब्रह्मचर्य नाम है आत्मामे स्थिर हो जाना । ब्रह्म मायने आत्मा, चर्य मायने स्थिर होना, आत्मस्वरूपमे रमण होना सो ब्रह्मचर्य । अब देखिये हिंसा करता है कोई तो ब्रह्मचर्य तो न रहा याने आत्माके स्वरूपकी दृष्टि न रही । झूठ बोले, चोरी करे, परिग्रह रखे, तृष्णा करे, ये बातें तो ब्रह्मचर्यसे अलग हो गईं और कुशील सेवन करें वह ब्रह्मचर्यसे अलग हो गया । पाँचो ही प्रकारके पापोंसे ब्रह्मचर्यका घात है । फिर भी देखिये कुशीलसे, परस्त्रीसेवनसे ब्रह्मचर्यका घात है या स्त्रीसेवन, पुरुषसेवनसे ब्रह्मचर्यका घात होता

है यह बात क्यो अधिक प्रसिद्ध हुई ? ब्रह्मचर्यका घात तो प्रत्येक पापसे होता है, किसी भी विषयकी इच्छा हुई उससे ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है। ब्रह्मचर्यके मायने ब्रह्ममे आचरण होना स्थिर होना। आत्मस्वरूपमे स्थिर न हो सके तब समझिये कि यह जीव ब्रह्मचर्यसे दूर हो गया। तो सभी बातें है, विकार है, जिससे ब्रह्मचर्य नही रहता, फिर भी शरीरका वीर्य-घात, शक्ति, ब्रह्म को दूर करना, इतना क्यो ब्रह्मचर्यका घात कहा है याने परस्त्रीसेवन, पर-पुरुषसेवन मायने मैथुन, विषयसेवन इनको ही क्यो ब्रह्मचर्यका घात कहते है ? इसका कारण यह है कि यह कुशील पाप इतना खोटा भाव है कि इसके समयमे आत्माकी कुछ सुध नही रहती। झूठ बोलते हुए ध्यान रख सकता यह जीव कि मै झूठ बोल रहा, ठीक नही कर रहा, चोरी करते हुए भी इसको डर रहेगा, इसी तरह अन्य सभी पापोमे भय भी रहता है और कुछ ख्याल भी रहता है, मगर मैथुन प्रसगमे इस जीवको कोई सुध नही रहती। इसलिए ब्रह्मचर्य घातकी लोकमे बडी कुरीति चल रही है।

(२७२) स्वहितार्थीको अब्रह्मसे हटकर ब्रह्मचर्यकी साधनाका आवश्यक कर्तव्य—

भैया, अपनी भलाईकी बात लेना, ब्रह्मचर्यसे रहना, क्योंकि यह जीवन है, मनुष्यभव मिला है, शरीर है, इसकी शक्ति नष्ट होती जाय तो यह रुग्ण हो जायगा, परेशान हो जायगा, आत्मबल घटेगा, पापका बध होता है। तो इन सब बातोका ख्याल रखकर यह कर्तव्य है गृहस्थ जनोका कि अपनी शक्ति न छुपाकर ज्ञान और वैराग्यके वातावरणमे बढ़कर ब्रह्मचर्यका पालन करें, जिसमे मैथुनका व्यसन हो जाता है उसमे देखा होगा कि उसका चित्त स्थिर नहीं रहता, शरीर बल भी घट जाता है, किसी काममे उसका मन नही लगता, उसकी जिन्दगी बेकार बन जाती है। इससे जिसको अपने जीवनमे शान्ति चाहिए, ओज चाहिए तो उसका यह कर्तव्य है कि वह ब्रह्मचर्यका आदर करे। ब्रह्मचर्यका भग करने वाले पुरुषके यह ससारचक्र चलता रहता है। सो देखिये स्त्रीप्रसंगके आधारपर यह सारी ससारकी विडम्बना है। वैसे भी वर्तमान जीवनमे देखो तो एक स्त्रीके हो जाने पर फिर कितना चक्र, कितना जाल, घर भी बसाना पडता, धन भी जोडना पडता, संतान हुई तो उनके प्रति भी बहुत बहुत धनकी तृष्णा बन जाती है। यह एक लौकिक बात कह रहे है, यह भी एक विडम्बना होती है, तो परलोकके जन्ममरणकी तो बडी विडम्बना है ही। वे जीव धन्य हैं जिनको बचपनसे हो इस ब्रह्मचर्यकी प्रीति होती है और बालब्रह्मचारी रहकर अपने जीवनको पवित्र बना लेते है। गृहस्थोको भी अपनी शक्ति अनुसार शक्ति न छुपाकर इस व्रतमे बढना चाहिए। पुरुषोको सम्बोधन करते हुए कह रहे है कि देखो जैसे कुम्हार चक्र घुमाता है और

उसपर मिट्टीका पिण्ड घूमता है, उसका आधार कीली है और बडी तीक्ष्ण धारा वाले हथियारोंसे जैसे पिण्ड छुडाया जाता है ऐसे ही एक स्त्रीके प्रसगके आधारपर यह सारा ससारचक्र चल रहा है। जिस ससारमे बडे दुःखकी धारा है, जहाँ बहुत विभ्रातियाँ, बहुत कान्तियाँ हैं, यह ससार जो विविध कष्टमय है, एक कुशीलके आधारपर चलता है। तब जो बुद्धिमान जन है उनको इस कुशील सेवनका सर्वथा परित्याग करना चाहिए और ब्रह्मचर्यका आदर करना चाहिए।

(२७३) **ब्रह्मचर्यकी महिमा—**

ब्रह्मचर्यपालन बहुत बडा कार्य है, यह तो असिधारा व्रत है। एक ऐसी घटना हुई है कि एक सेठके एक लडका था उसको धर्मकी बहुत रुचि थी। समय पाकर लोग ब्रह्मचर्यव्रत ले रहे थे तो उस बालकने भी यह नियम लिया कि हम शुक्लपक्षमे पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहेंगे। याने एक माहमे १५–१५ दिनके दो पक्ष होते हैं तो शुक्लपक्षमे ब्रह्मचर्यसे रहनेका नियम लिया। उधर किसी दूसरे नगरमे किसी सेठकी कन्याने यह नियम लिया था कि हम प्रत्येक माहके कृष्णपक्षमे ब्रह्मचर्यसे रहेंगी। सयोगकी बात कि उन दोनोका विवाह हो जाता है। जब वह लडकी घर आती है और कृष्णपक्षमे वह लडका कुछ कुचेष्टायें करता है तो वह लडकी कहती है कि मैंने तो हर माहके कृष्णपक्षमे ब्रह्मचर्यसे रहनेका नियम लिया है। जब शुक्लपक्ष आता है, वह लडकी कुछ कुचेष्टायें करती है तो वह लडका कहता है कि हमने तो हर माहके शुक्लपक्षमे ब्रह्मचर्यसे रहनेका नियम लिया है। अब क्या था दोनो खुश थे। प्रसन्नतासे अपना जीवन भाई बहिनकी तरह बिताते थे। वे बडी विडम्बनासे बचे। देखो जिनका भवितव्य अच्छा होता है, धर्मरुचि होती है उन्हे ये वैषयिक सुख बहुत बेकार असार जचते हैं और इन वैषयिक सुखोको तो बेकार असार आप सब लोग भी समझते होगे। सभी मनुष्य समझ लेते हैं मगर कब समझते है, कितनी देरमे समझते हैं, जब वैषयिक प्रसग कर चुकते और शरीर कुछ बलहीन नजर आता और कुछ ऐसा अनुभव बनता कि बस मैंने तो सब कुछ खो दिया, पाया कुछ नही, समय खोया, शक्ति खोया, ज्ञान खोया, होश खोया। जिन्होने अपने सहज अतस्तत्त्वके आश्रयसे अपूर्व आनन्द प्राप्त किया है, ब्रह्मानन्दको पाया है उन्हे सब असार लगता है। खैर दोनो ब्रह्मचर्यसे रहे जीवन भर और उसका प्रताप इतना बढ़ा कि दोनो बहुत आनन्दमे रहते थे बहिन भाईकी तरह एक जगह। एक बार किसी जगह ऐसी घटना हुई, कोई बात थी, किसी श्रावकके घर मुनिराजने बताया कि तुम्हारे घरका उत्थान, तुम्हारे पापका विनाश, तुम्हारा कल्याण लाभ उस दिनसे होगा जिस दिन तुम्हारे

यहाँ असिधाराव्रतीका आहार होगा। वे दोनो असिधाराव्रती थे याने तलवारकी धारको जैसे कहते है कि बडा कठिन काम है, ऐसे ही एक घरमें रहना, सदाका वार्तालाप और फिर भी ब्रह्मचर्यके विरुद्ध किसीकी भावना नही। पूछा श्रावकने कि महाराज मुझे कैसे पहिचान होगी कि आज असिधाराव्रतियोका आहार हुआ? तो उन महाराजने बताया कि देखो जो तुम्हारे घरका नीला मैला चदोवा है वह बिल्कुल उज्ज्वल, साफ, स्वच्छ हो जायगा। आखिर उन दोनो असिधाराव्रतियोका आहार हुआ और वैसा ही चमत्कार देखनेको मिला। यह था उनमे अतिशय। तो बात यह कही जा रही है कि दिलको वशमे करना और इस जीवनमे एक बहुत बडा आत्मबल, देह बल पाना और अपनी प्रभावना अपने आपमे बनाये रहना, ये सब बातें एक ब्रह्मचर्यके आधारपर होती है। भोग भोगना बडा आसान, भोग छोडना वीरों का काम। भोग छोडो और आत्मीय आनन्दका भोग करो। तो यह ब्रह्मचर्य एक पवित्रधर्म है। ऐसे धर्मकी जो उपासनामे रहते हैं वे अपना जीवन सफल करते है। जो पुरुष ब्रह्मचर्यके प्रेमी होते है वे मुनिजन समस्त स्त्रियोको माता बहिन पुत्रीकी तरह देखते है और जो ब्रह्मचर्य अणुव्रतके धारी गृहस्थजन है वे भी अन्य समस्त परस्त्रियोको माता बहिन पुत्रीकी तरह देखते है। उनके ब्रह्मचर्यव्रत होता है। ब्रह्मचर्यके खिलाफ विचार बनानेमे इस जगतको बड़ी वेदना है। शल्य, चिन्ता और क्या क्या कहा जाय? उसके कहनेको वचन नही, कितनी अशान्ति, कितनी विडम्बना, कितनी तरहकी खोटी स्थितियाँ बनती है और एक दिलसे उस विकारका हटा दें और एक ब्रह्मचर्य, आत्मस्वरूपकी प्रीति जग गई कि उसको एक अद्भुत आनन्द पैदा होता है।

> अविरतमिह तावत्पुण्यभाजो मनुष्या,
> हृदि विरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति।
> कथमपि न पुनस्ता जातु येषा तदङ्घ्री,
> प्रतिदिनमतिनम्रास्तेऽपि नित्य स्तुवन्ति ॥ १०५ ॥

(२७४) उत्तमब्रह्मचर्यके पालक विरक्त साधु पुरुषोंका स्तवन—

देखो कैसी विचित्रता विकारी और अविकारी की है। स्त्रीके हृदयमे बडे पुण्यवान पुरुष बने रहते हैं, चित्तमे बसे रहते है, पर जो वास्तविक पुण्यवान है, पवित्र है वे पुरुष उनके हृदयमे कामिनी नही बसती और फिर ऐसे भी बडे-बडे श्रावक जन मुनि जनोके चरणो मे अपना सर्वस्व समर्पण करते है वे पुरुष पुण्यवान हैं। उनसे भी अधिक पवित्र हैं ब्रह्मचर्य की मूर्ति साधु-संत जन। ब्रह्मचर्यका एक पवित्र कर्तव्य है और इसालिए सबसे अन्तमे दस-

लक्षणके दस धर्मोंमे अन्तमे इसका काम गिनाया है।

(२७५) ब्रह्मचर्यकी सिद्धिमे यथाक्रम वर्णित नव धर्मोंकी साधनाका अपूर्व सहयोग—

कैसे ब्रह्मचर्यकी सिद्धि कैसे प्राप्त होती है, उसकी पद्धति, ये ९ प्रकारके धर्म हैं। क्या ? क्रोध मिटावें, अगर वास्तविक ब्रह्मचर्यको पाना है, आत्मस्वरूपमे स्थिरता पाना है तो क्रोधको दूर करें, मानको हटावें, मायाचारको चित्तमे स्थान न दें, बाहरी संग प्रसंगमे तृष्णा का भाव न रखें, लोभका त्याग करें। इन चारो प्रकारकी कषायोके मिटनेपर आत्मामे एक पवित्रता जगेगी और आत्मामे सही बात प्रकट होगी। तब संयम धारण करें तपश्चरण द्वारा, त्याग द्वारा अपने मैलको, गंदगीको बिल्कुल हटायें जिससे कि यह जीव अकिञ्चन रहे जाय मायने इसमे और कुछ जाल न रहे तो ब्रह्मचर्यकी सिद्धि होती है। कैसे ये १० नाम हैं ? जैसे एक उदाहरण लो—एक काच आता है जिसे आक्सी काँच बोलते हैं। उसे यदि सूर्यके सामने ढंगसे रख दिया जाय और उसके पीछे कागज या रुई रख दी जाय तो सूर्यकी किरणोके केन्द्रित हो जानेसे वह रुई या कागज जल जाता है। तो पहले तो उस काँचको साफ करें तभी उसमे उस तरहसे सूर्यकी किरणें आ सकेंगी। तो उस सफाईका नाम है इस आत्मामे क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक समस्त प्रकारकी कषायोका त्याग। इन कषायोंकी सफाई करें आत्मामे ताकि आत्मा शुद्ध बन जाय।

अब वह प्रयोग कीजिए कि जैसे उस आक्सी कांचने सूर्यकी किरणोको संयत कर दिया, संक्षिप्त कर दिया तो उसमे एक ऐसा प्रताप प्रकट होता कि नीचेकी चीजोमे जो उपाधि है, मैल है वह सब छूटने लगेगा, ऐसे ही इस आत्मामे, इस ज्ञानमे उस ज्ञानकी जो बिखरी किरणें हैं उन किरणोको अगर संकुचित कर दिया जाय तो एक ऐसा प्रताप पैदा होता है कि ऐसा संयम, ऐसा तप पैदा होता है कि जिसके प्रतापमे मल, उपाधि इनका त्याग हो रहा। संयम, तप, त्याग। देखो है ना अपना ज्ञान चारो ओरसे बिखर रहा है। किस किसका ख्याल, किस किसका उपयोग, किसीमे राग, किसीमे विरोध, किसीका ख्याल, कहा-कहा यह ज्ञान घूम रहा है ? ऐसा जो ज्ञान चारो तरफ फैल गया उसको संकुचित करनेमे, हटानेमे और उस ज्ञानरश्मिको ऐसा अपने आपमे संक्षिप्त कर दिया कि इस आत्मापर ही उसका लक्ष्य हो जाय तो ऐसा तब प्रकट होगा कि जिससे विषयकषाय, विभाव, विकार इनका त्याग होने लगेगा और उस त्यागका फल क्या है ? आकिंचन्य याने फिर आत्मा अन्य कुछ न रहेगा निर्भार। तब ब्रह्मचर्य मायने अपने आत्मस्वरूपमें आचरण होगा। संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य—ये ५ धर्म तो एक उत्तम प्रवर्तन है। कैसे आत्मा खोटे भावोसे हटकर

अपने आपके एक सहजसिद्ध भावोमें रम जाय ? और पहलेके कहे चार धर्म क्या हैं ? सफाई करना, क्रोध, मान, माया, लोभ हटे ताकि अपनी ज्ञानभूमिका, यह उपयोगभूमि सत्य बन जाय अर्थात् आत्माकी कषायरहित वाली सफाईसे ५वाँ धर्म सत्यकी पूर्ति होती है। भूमि समीचीन हो जाय, फिर प्रयोग करें संयम, तप, त्यागका, तो आकिंचन्य हो गया। फिर ब्रह्मचर्य प्रकट हो जायगा।

(२७६) मानवजीवनको धर्ममें प्रवृत्त बनाये रखनेका अनुरोध—

इस प्रकरणमे शिक्षाकी बात यह लेनी चाहिए कि रहा-सहा जीवन ब्रह्मचर्य पूर्वक व्यतीत हो। और कोई मानो छोटी उम्रका है, नही निभा सका है तो उसके ऐसा नियम होना चाहिए कि एक माहमे २५-२६ दिन ब्रह्मचर्यमे रहेगे, ब्रह्मचर्यका आदर करने से बुद्धि ठीक रहेगी, मन ठीक चलेगा, वाणी ठीक रहेगी, अन्दरमें प्रभाव रहेगा और विवेक बुद्धि होनेमे जिस विषयमे विचार करेंगे वह विचार बहुत सही बनेगा। इस ग्रन्थमे प्रथम ही बताया था मगलाचरणमे कि आपके धर्मका व्याख्यान होगा, जिसको ५ तरहसे बताया जायगा कि जीवदया धर्म है, यह है पहली बात। जिसके चित्तमे बहुत क्रूरता है, जीवदयाका भाव ही नही आता वह अपने आत्माकी सुध क्या करेगा ? तो पहली बात है जीवदया। दूसरी बात कही कि मुनिधर्म और श्रावकधर्म जैसा कि निभा रहे है श्रावक और मुनि। तीसरी बात कही गई—रत्नत्रयधर्म याने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, आत्माके सही स्वरूपका विश्वास करना कि मेरा स्वरूप, मेरा हित करेगा उस मुझमे जो सहज स्वभाव है। चेतना, जानना, देखना, बस यह ही मेरा शरण है, और मुझे सुख शान्ति करेगा, ऐसे हितकारीपनेका विश्वास होनेका नाम है सम्यग्दर्शन। और इसकी कला, लीला स्वरूप इनका परिचय करना, आत्मामे सो सम्यग्ज्ञान। और इस ही स्वरूपमे स्थिर होना सो सम्यक्चारित्र। ये रत्नत्रय कहलाती श्रेष्ठ तीन बातें। चौथी परिभाषामे यह बताया कि दसलक्षण धर्म हैं, उन ही मे यह अन्तिम ब्रह्मचर्यका वर्णन चल रहा है।

> वैराग्यत्यागदारुद्वयकृतरचना चारुनिश्रेणिका यैः,
> पादस्थानैरुदारैर्दशभिरनुगता निश्चलैर्ज्ञानदृष्टेः।
> योग्या स्यादारुरुक्षोः शिवपदसदनं गन्तुमित्येषु केषां,
> नो धर्मेषु त्रिलोकीपतिभिरपि जदा स्तूयमानेषु हृष्टिः ॥ १०६ ॥

(२७७) दशलक्षणधर्मका स्तवन व अभिनन्दन—

इस छन्दमे उपसहाररूपसे बताया जा रहा है कि जो इस दस धर्मके सहारे बढेगा

वह मोक्ष पायेगा। उसका एक अलकारका वर्णन है। उस मोक्षमार्गसे जानेकी एक सीढी है। और उस सीढीमे क्या क्या होता ? एक तो लम्बे दो बांस होते हैं। जिनकी लम्बी सीढी हो उसने ही लम्बे दो-काठ या बांस होते हैं और उनमे पैर धरनेके लिए छोटे-छोटे डडे लगे होते हैं। उस सीढीके उदाहरणको लेकर यह बताया जा रहा है कि वैराग्य और त्याग—ये दो तो जिसमे लम्बे काठ लगे है और वैराग्य मायने ससार, शरीर, भोगोंमे राग न रहना और त्यागके मायने इच्छावोका निरोध करके इन विषयके साधनोका परित्याग करना। तो ऐसे वैराग्य और त्याग काष्ठोके आधारपर जिस श्रेणीकी, सीढीकी रचना बनी है वह श्रेणी बहुत हितकारी है, जिसमें १० पादस्थान लगे हैं याने पैर रखनेके, कदम रखनेके डडे लगे हैं, जिन पर बडे भव्य पुरुष चढते हैं आरोहण करते हैं और मुक्तिपदको प्राप्त करते है। जैसे किसी ऊपरी मजिलपर चढनेके लिए नसैनी (सीढी) उपयुक्त है, ऐसे ही मुक्तिरूपी बडी पदवीको पाने के लिए यह दसधर्म वाली सीढी बहुत उपयुक्त है। सो जो निश्चल पुरुष है, जिनका चारित्र कलकित नही, जिनका श्रद्धान बिगडा नही, वे तो दसलक्षण धर्मकी सीढीपर चढे हैं और उस मुक्तिकी मजिलपर पहुचे हैं तो ऐसे जो पुरुष अपने आपमे स्वच्छताको प्राप्त करते हैं वे तीन लोकके यतियो द्वारा, इन्द्रोंके द्वारा सदा स्तुत्यमान होते हैं।

देखो जब कोई पुरुष मुक्तिको प्राप्त होता है तो तीनो लोकके इन्द्र आ आकर उसके चरणोमे भक्ति नमस्कार करते है। कैसे तीनो लोकके इन्द्र ? स्वर्गोंके इन्द्र, ये तो ऊर्ध्वलोकके इन्द्र हैं और चक्रवर्ती और सिंह ये मध्य लोकके इन्द्र हैं। तिर्यञ्चोका राजा शेर और मनुष्यो का राजा महान् चक्रवर्ती और पाताल लोकमे रहने वाले भवनवासी व्यन्तरोंके इन्द्र भी आते है। तो जहां तीनो लोकके इन्द्रोने वीतराग प्रभुके चरणोमे नमस्कार किया तो उसका अर्थ है कि तीनो लोकके सब जीवोने नमस्कार किया। जो दसधर्मकी इस सीढीसे चढकर एक परमपवित्र मुक्ति मंजिलमे पहुचते हैं उनके प्रति बडे बडे विद्वज्जन, बुद्धिमान मुनि जन सदा उनकी भक्तिमे रहते हैं। देखिये फल मिलता है प्रयोगसे, ज्ञान तो प्रयोग करनेकी दिशा बतला देता है, पर धर्मका लाभ उसे मिलता है जो धर्मकी बातपर कुछ तो चलता हो। उससे फिर आगे और बढेंगे तो किस तरह चलना चाहिए, उनके लिए स्पष्ट बताया है कि क्षमा रखें, नम्र बनें, सरल होवें, लोभरहित होवें, हृदयको साफ रखें, बिषयकषायोसे मुख मोडें, इच्छावो को दूर करें और बाह्य प्रसगोका त्याग करें और अपने आपको अनुभव करें कि मैं ज्ञानमात्र हू, मेरा कुछ दूसरा नही है, फिर आत्मस्वरूप ही का दर्शन करें, उस ही मे तृप्त होवें। ये १० प्रकारके प्रयोग इस जीवको सदाके लिए ससारसंकटोंसे छुटकारा देते हैं।

निःशेषामलशीलसद्गुणमयीमत्यतसाम्यस्थितां,
वन्दे ता परमात्मनः प्रणयिनी कृत्यान्तगां स्वस्थताम् ।
यत्रानन्तचतुष्टयामृत सरित्यात्मानमन्तर्गतम्,
न प्राप्नोति जरादिदुःसहशिखः ससारदावानल ।।१०७।।

(२७८) धर्मकी पांचवीं परिभाषामें कहे गये परमार्थ स्वास्थ्य धर्मका वर्णन—

इस ग्रन्थमे प्रथम परिच्छेदमे धर्मकी परिभाषा बतायी गई है। सबसे पहले यह बताया था कि धर्मकी बात समझनेके लिए उसे ५ पद्धतियोंसे जानें। ५ प्रकारकी परिभाषायें की। पहली परिभाषा थी—जीवदया धर्म है, दूसरी परिभाषा थी कि मुनिधर्म और श्रावक-धर्मके भेदसे दो प्रकारका धर्म है। तीसरी परिभाषा थी कि रत्नत्रय धर्म है। चौथी परिभाषा थी कि उत्तम क्षमा आदिक धर्म है और ५वी परिभाषामे बताया था कि मोह क्षोभसे रहित सहज आनन्दमय आत्माकी परिणति धर्म है। ये चार परिभाषायें बतायी जा चुकी है। अब ५वी परिभाषा शुरू कर रहे है। इसका नाम है स्वस्थता। चाहे यह कहो कि जहाँ मोह नहीं, क्षोभ नहीं, विकार नही और आनन्दमय परिणति है, जहाँ समताभाव है उसे धर्म कहते है। चाहे इतने लम्बे शब्दोमे बोलो और चाहे यो कहो कि स्वस्थताका नाम धर्म है। स्वस्थता कहते हैं—स्व मायने अपने आत्मामे स्थित याने ठहर जाना। अपना ज्ञान अपने आत्मस्वरूप मे बस जाय, इसका नाम है स्वस्थता। स्वस्थता ही धर्म है निश्चयसे वास्तवमे, बाकी तो और क्रिया व्यवहार आदिक निरखकर कहा जाता कि यह धर्म है। असलमे धर्म है स्वास्थ्य। स्वास्थ्यका नाम सुनकर जरा जल्दी समझमे आ रहा होगा कि आज तो बहुत बढिया बात कही जा रही, डाक्टर वैद्य भी छूट जायेंगे और आज स्वास्थ्यकी बात कह रहे, स्वास्थ्य मिल गया तो बडा आराम मिल गया, पर यहाँ शरीरकी स्वस्थताकी बात नही चल रही, और वास्तवमे तो स्वास्थ्य नाम शरीरकी तंदरुस्ती नही। उस शब्दमे यह अर्थ भी नही हैं। जो स्वमे ठहर गया उसे कहते हैं स्वास्थ्य।

अब शरीरमे देखो क्या बात है? लेकिन स्वास्थ्य एक बहुत ऊची चीज थी। लोग समझते थे और यही कल्याणकी बात थी। इससे वह बात तो चित्तमे रखी नही और स्वास्थ्य उत्कृष्ट चीज है यह बात ध्यानमे रही तो शरीरकी तंदुरुस्तीका नाम स्वास्थ्य रख दिया। कुछ पता नही पडता कि स्वास्थ्य नाम तदरुस्तीका क्यो रखा? क्योकि स्वास्थ्य शब्दका वह अर्थ ही नही है। खैर स्वास्थ्य नाम है अपने आत्मामे अपने ज्ञानको रमा लेनेका। यह ही वास्तविक स्वास्थ्य है। धर्मके बिना सुख नही है, शान्ति नही है, कल्याण नही है। तो वह धर्म क्या

चीज है ? ज्ञानस्वरूप मैं आत्मा हूं, सो ज्ञानद्वारा मैं ज्ञानस्वरूपमे ही बसा करूं और कुछ तो चित्तमे न रहे, ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही मेरे ज्ञानमे बसा करें, यह ही हुआ स्वास्थ्य और यह ही है वास्तविक धर्म। तो उसी स्वास्थ्यके सम्बन्धमे कह रहे कि यह स्वास्थ्य समस्त निर्मल शील और गुणोसे मण्डित है। जिस आत्माका शील पवित्र है, जिस आत्माके गुण सही हैं, ठीक विकास है वही तो स्वस्थता मिलेगी। तो यह स्वस्थता गुण और शीलसे भरी हुई है और यह अपनी आत्मामे स्थित है, समताभावमे स्थित है, साम्यभावमे स्थित है यह स्वस्थता अर्थात् जहां समता वहां स्वास्थ्य। आत्मस्वभाव अपने आत्मामे कब स्थित रह सकता जब इसमे समताभाव होता हो। जहां राग है, द्वेष है वहां स्वास्थ्य नही। जहां राग नही द्वेष नही मोह नही, एक सहज ज्ञानस्वरूप, परमात्मतत्त्व ही ज्ञानमे बसता हो वहां होती है स्वस्थता।

(२७९) परमार्थस्वस्थता परमात्मवल्लभा—

यह स्वस्थता परमात्माकी प्रिया वल्लभा है। तो परमात्मामे यह स्वस्थता पूर्ण रूपसे मौजूद है। जो स्वस्थ न हो और दुनियाकी सृष्टि करे, सुखी दुःखी करे, स्वर्ग नरक भेजे यह ही फैक्टरी जो चलाता रहे वहां परमात्मापन नही रह सकता। परमात्माका स्वरूप है तीनो लोकालोकके जाननहार हैं, फिर भी अपने आनन्दरसमे लीन है यह है परमात्माका स्वरूप। सो जो साम्यभावमे स्थित है, परमात्माकी वल्लभा है, जो कृतकृत्य है, जहां स्वस्थता है वहां फिर कोई काम बाकी नही बचा। कृतकृत्यता कहते ही उसे हैं कि जहां सभी कृत्य कर चुके। जो कुछ करनेके काम है सो सब कर चुके उसे कहते है कृतकृत्य। जैसे लोग अपने कल्पित कामको पूरा करके कहते कि मै तो अब कृतकृत्य हो गया। जो चीज चाह रखी थी वह चीज मिल जाय तो कहते है कि हम तो कृतकृत्य हो गए पर वह कोई वास्तविक कृतकृत्यता नही है। कृतकृत्यता तो वहा होती है जिसे कोई चाह नही है। चाहको रख करके कोई कृतकृत्यता पा नही सकता। जहा किसी प्रकारकी इच्छा न रहे, इच्छावोका विनाश हो जाय वहा कृतकृत्यता बनती है। जहा कुछ करनेको बाकी न रहा, कोई प्रकारकी इच्छा न रही वहा यह समझ रहती कि इन परपदार्थोंमे करनेका मेरा कुछ काम नही पडा। अरे अन्दरमे एक चैतन्यस्वरूप है, वहा कुछ अधूरापन है नही। इस ज्ञानको कुछ करनेकी आवश्यकता नही रही। तो इस कृतकृत्यताको, इस स्वास्थ्यको नमस्कार करते है। देखो सभी कोई नमस्कार करते हैं तो वहा भी स्वस्थताको नमस्कार कर रहे और यदि स्वस्थता सिद्धमे नही है, परमात्मामे नही है तो आप परमात्माको नमस्कार नही कर रहे। यो डरके मारे तो यहां भी छोटे लोग बडे लोगोको नमस्कार करते हैं। यह कोई वास्तविक नमस्कार नही

है। परमात्मा यो पूज्य हैं कि वे स्वस्थ हैं, अपने ज्ञानमय आत्माके स्वरूपमे स्थित है। तो स्वस्थताको ही वास्तविक नमस्कार है। अरहंतोको नमस्कार मायने स्वस्थताको नमस्कार सिद्धोको नमस्कार मायने स्वस्थताको नमस्कार। आचार्य, उपाध्याय, साधुवोंको नमस्कार मायने जो स्वस्थताके उपायमे लग रहे और जिसमे कुछ कुछ स्वस्थता है ऐसी स्वस्थताको नमस्कार किया है। चैतन्यस्वस्थता याने आत्माकी ऐसी परिणति कि जो ज्ञानमे ही बना रहे, बाहरी पदार्थोंमे डोले नही, उस वृत्तिको नमस्कार किया जा रहा है।

(२८०) स्वस्थतामे गुणविकास और सहजानन्द लाभ—

इस ५वी परिभाषामे स्वस्थताके बारेमे पहले वर्णन चलेगा और चलना चाहिए, क्योकि वास्तवमे स्वस्थतासे ही जीवका कल्याण है। अपने आत्मामें रम जाना। तो वह तो रमेगा जो यह जानता है कि आत्माका स्वरूप क्या है और आत्माकी विशुद्ध परिणति क्या है? देखो जहाँ स्वस्थता होती है वहाँ इस जीवको कष्ट नही। जो प्राणी, जो जीव, जो भव्यात्मा, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, ऐसे अनन्तचतुष्टयकी अमृतकी नदीमे अन्तर्मग्न है, ऐसे पुरुषको यह ससाररूपी दावानल भी अमृतकी तरह है। यह संसार जिसमे बुढ़ापा जन्ममरण आदिक दु.खोकी लपटें जल रही है यह ससार दावानल उस आत्माको नही सता सकता जो अनन्त चतुष्टयरूप नदीमे डूबा हुआ है। याने भजो अपने आपको। देखो सारे लोक का ज्ञान हमे हो चाहे न हो, उसकी कोई तृष्णा नही है, पर मैं इस ज्ञानस्वरूपको ही जानता रहू, बस इतना ही तो चाहता हू। ज्ञानीका चिंतन चल रहा है। ज्ञानी पुरुष यह नहीं चाहता कि मुझे तो केवलज्ञान हो, मै सारे लोकालोकको जानूं मैं ऐसा सर्वज्ञ बन जाऊँ, क्योकि चाहने से होता कुछ नही। ज्ञानी तो यह रुचि रख रहा है कि मेरा ज्ञान मेरे ज्ञानस्वभावमे ही रहे, हम अन्य कुछ नही चाहते। इसका फल यह अवश्य है कि फिर तो यह सर्वज्ञ बन जायगा, मगर चाह नही रहती है इस ज्ञानीको। तो जो अनन्त चतुष्टयरूप नदीमे डूबा है, ऐसे आत्मा को याने जो धर्मका शरण लिए हुए है उस आत्माको यह संसाररूपी दावानल भी जल नही सकता।

आयातेऽनुभव भवारिमथने निर्मुक्तमूर्त्याश्रये,
शुद्धेऽन्यादृशि सोमसूर्यहुतभुक्कान्तेरनन्तप्रभे।
यस्मिन्नस्तमुपैति चित्रमचिरान्नि शेषवस्त्वन्तरम्,
तद्वन्दे विपुलप्रमोदसदन चिद्रूपमेकं महः॥ १०८॥

(२८१) स्वानुभवप्रसिद्ध भवभयहारी अनन्त चैतन्य तेजकी आराधना—

यह ध्यानमे रख रहे कि यहाँ वर्णन स्वस्थताका चल रहा मायने जो आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामे रम गया है, ऐसी दशाको यहाँ नमस्कार किया जा रहा, उसे ही दृष्टिमें लिया जा रहा तो यह बात कब बनती है ? जब यह आत्मा अपने अनुभवमे आता है। क्या है यह आत्मा ? एक तेज है, चैतन्यस्वरूप है, एक जगमग है, ज्ञानानन्दस्वरूप एक सम्पूर्ण प्रकाश है वह आत्मा। सो जब यह चैतन्यस्वरूप अनुभवमे आता है तब यह महान् अद्भुत सहज परम आनन्दका स्थान है। यह चैतन्यस्वरूप तेज याने आगे भीतरमे निहारो, देहका भान छोड दो, देहमे है, पर भीतरमे एक उपयोग ऐसा ले जावो कि आप यह महसूस ही न करें कि मैं इस देहके बन्धनमे पडा हू। आवश्यकता है इसकी कि सारे रागद्वेष छोडें, मेरा कही कुछ नही है, मैं यह आत्मतत्त्व हू, ऐसी दृष्टि रखकर केवल आत्माका चिन्तन करें। यह चैतन्यस्वरूप ससारभवरूपी शत्रुका मथन करने वाला है। जो इस भवरहित चैतन्यस्वरूपकी उपासना करेगा उसे भवकी शका नही, उसे भव रहते नही। भव मायने जन्ममरण, पशु-पक्षी आदिक नाना ससारपरिभ्रमण, यह ससारका क्लेश उसको नही रहता जो अपने चैतन्य-स्वरूपमे 'यह मैं हू,' ऐसा अनुभव करता है। अब यही अन्तर देख सकते हैं। कोई शरीरमे फोडा हो जाय या आँखमे फुमी हो गई, पक रही, अब उसका इलाज तो यह ही है कि उसे फोड दिया जाय, तो मानो कोई चिकित्सक उस फोडेको फोड रहा है और रोगी यह ध्यान रखे हो कि यह मेरे फोडेको फोड रहा, उस शरीरपर ही ध्यान हो तो इस समय यह बडा कष्ट मानता है, इसको बडी पीडा होती है और तब वह इस देहका ध्यान छोडकर मैं तो एक चैतन्यस्वरूप हू, यह तो बाहर पडा है, यह पुद्गल है, मैं तो चैतन्यमात्र हू—ऐसी भीतरमे चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि रखे तो उसको उस फोडेका कुछ भान भी नही हो पाता। यह ही फर्क होता है। तो ऐसे ही जो अपने अन्तःज्ञानस्वरूप आत्माका उपयोग रखता है—मैं ज्ञानमय हूं, ज्ञानसिवाय अन्य कुछ हू ही नही, न कोई मनुष्य हू, न कोई सम्पदा हू, मैं तो एक चैत-न्यस्वरूप पदार्थ हू तो ऐसा जो भान करता होगा उसको कष्ट नही होते। हाँ यह चैतन्यस्व-रूप तेज कैसा है कि इस मूर्तिकके आश्रयसे रहित है। इसमे रूप, रस, गध, स्पर्श कुछ नही हैं।

(२८२) सकलसंकटहारी अनंत चैतन्य तेजकी आराधना—

देखो मोह और राग जिसे सता रहा है उसका चित्त कही पडा हुआ होगा, और जिसका चित्त बाहरमे पडा हुआ है उसे जिन-वचनोका पता ही नही पडता कि क्या कहा

गया है, फिर अपने आपपर घटावेंगे कैसे ? तो दुःखी भी हो रहे हैं चौबीसो घंटे और जो दुःखके साधन हैं उन्हीं का ख्याल बना रहे हैं। देखो कैसी गजबकी बात है कि यहाँ लोकमें तो किसी पुरुषकी वजहसे कष्ट होता हो तो उस पुरुषको बिल्कुल छोड देते हैं। तो यहाँ देखो कि जिस कषायके कारण, मोहके कारण, रागभावके कारण बडी वेदना होती है तो वह वेदना भी सह लेते और उस राग और मोहको छोडना भी नही चाहते। जैसे लाल मिर्चके खाने वाले लोग लालमिर्चके खानेसे सी-सी भी करते जाते, आखोंसे अश्रु भी बहाते जाते और कहते कि और लावो लाल मिर्च। ऐसा एक चरफरा खानेका शौक हो गया कि जिस लाल मिर्चके खानेसे दुःखी होते, उसीमे मौज मानते। खैर लाल मिर्चके खानेकी बात तो चाहे थोडा ठीक भी मान ली जाय, मगर जिन विषय कषायोके कारण रात दिन दुःखी होते रहते उन्ही विषय कषायोमें मौज मान रहे तो यह कितनी मूर्खता भरी बात है ? यहाँ किसकी बंदना की जा रही है ? स्वस्थता की। बाहरमे किसीको नही निरखा जा रहा, अपने आपमे अपने उस चैतन्य तेजको निरखा जा रहा है। जो शुद्ध है, सबसे निराला है, जिसकी सानीका अन्य कुछ नही है, जिसका तेज, जिसकी प्रभा चन्द्र सूर्य अग्नि, इनसे अनन्तगुणी है। ज्ञानका विस्तार, ज्ञानका प्रकाश इतना अद्भुत होता है कि इस ज्ञानका प्रकाश तो सारे लोकमे फैल रहा। तो जिसका तेज, जिसकी प्रभा समस्त प्रभावान चीजोसे अनन्तगुणी है और जिस तेज मे अन्य समस्त वस्तुओका ध्यान अस्तको प्राप्त होता है, ज्ञानमे ज्ञानके रमनेपर ज्ञानस्वरूप ही रहा करता है, अन्य समस्त वस्तुओका परित्याग हो जाता है, ऐसे बहुत बडे प्रमोदको उत्पन्न करने वाले अपने इस चैतन्यस्वरूपको नमस्कार करता हूं। देखो जो शरण है, परमपिता है, रक्षक है, भगवान है वह आपका आपमे है, उसके खोजनेके लिए कही बाहरमे व्यग्रता नही करनी है। थोड़ा राग मोह दूर हो, बाहरी पदार्थोंको असार समझने लगें तो अपने आपमे अपना भगवान मिल जायगा।

जातिर्याति न यत्र यत्र च मृतो मृत्युर्जरा जर्जरा
जाता यत्र न कर्मकायघटना नो वाग् न च व्याधयः।
यत्रात्मैव पर चकास्ति विशदज्ञानैकमूर्ति प्रभु-
र्नित्य तत्पदमाश्रिता निरुपमा सिद्धाः सदा पान्तु वः ॥१०६॥

(२८३) जन्मजमरणरहित मोक्षतत्त्वका ज्ञानियों द्वारा प्रतीक्षण—

सिद्ध महाराज सदा हम आपकी रक्षा करें, वे सिद्ध जो कर्मोंसे मुक्त हो गए, शरीरसे भी अलग हो गए उनकी बदना की जा रही है और कहा जा रहा कि वे हम आपकी

रक्षा करें, क्या वे अपना सिद्धालय छोडकर हम आप जैसे लटोरे खचोरोकी कुछ रक्षा करनेके लिए उतरेंगे ? उनका जो ध्यान करेगा सो उस ध्यानके प्रतापसे यह भव्य आत्मा स्वयं सुरक्षित हो जायगा, क्योकि भ्रम करनेसे यह अरक्षित है। जहाँ भ्रम समाप्त हुआ वहाँ इसकी रक्षा अपने आप है ही, क्योकि इसका कौन नाश कर सकता है ? जीवको कोई कष्ट करना पडता है क्या ? अरे इस जगह न रहे और जगह चले गए। टूटा-फूटा पुराना मकान छोड-कर नये अच्छे मकान मे पहुचनेमे किसी पुरुषको तकलीफ महसूस होती है क्या ? अरे वह तो बडी हँसी खुशीसे जाता है। वहाँ कष्टका क्या काम ? अगर यह मोह बसा ले कि यह मेरा घर, मेरी खेती, मेरा धन मेरेसे छूटा जा रहा है, लोकमे इन सब बातोंपर जब दृष्टि देते हैं तो मरण समयमे इसको कष्ट होता है। तो एक अपने आपका ही ध्यान रखें तो इसको मरण समयमे कष्ट नही हो सकता। तो सिद्ध प्रभुके ध्यानसे उनके स्वरूपका निर्णय है और वैसा ही मेरा स्वरूप है तो उन प्रभुका ध्यान करके एक अपनेमे विशुद्धि जगती है और स्वय ही सुरक्षित होता है। कैसा है वह मुक्तिका स्थान याने आत्माका अनन्त कालके लिए एक ही ही जगह रहना बने ऐसा कुछ स्थान है, मायने आत्माका पद है तो वह है मोक्ष। जब तक जीवको मोक्ष नही तब तक ससारमे भ्रमण है। भ्रमण खतम हो तो मोक्ष हो। तो अपने लिए चाहे उस ही मोक्षको जिस मोक्षके बारेमे ज्ञानीकी श्रद्धा होती है।

इसके लिए छहढालामे एक बहुत सुन्दर चरण दिया है— "शिवरूप निराकुलता न जोय" याने मोक्षका जो स्वरूप है, निराकुल दशा है उसकी यह बाट नही जोहता। जैसे यहां एक बच्चा अपनी मांकी बाट जोहता है कि मेरी माँ कब आयगी ? ऐसे ही आप लोग, बडे लोग जिसको जिसके प्रति प्रेम है वह उसकी बाट जोहता है कि वह कब आयगा ? कोई धनिक होनेकी बाट जोहता है कि मुझे इतना लाभ कब होगा ? तो जो पुरुष मोक्षकी बाट जोहता है उसको आत्माका अनुभव कब न मिलेगा, समस्त सकटोंसे छुटकारा कब न मिलेगा ? ऐसा जो कोई मोक्षकी बाट जोहता है उसे कहते हैं कि इसको मोक्षकी श्रद्धा है, सम्यग्दृष्टि है। तो उस मोक्षकी बाट जोहो जिस मोक्षमे जन्मका जन्म नही है याने जन्म होता ही नही है इस मोक्षमे। मृत्यु मर गई है मायने अब मृत्यु नही होती। शरीरमे बुढापा आ गया याने जीर्ण-शीर्ण शरीर हो गया, ऐसा वहाँ बुढापाका कोई काम नही है। देखिये तीन रोग बताये गए—जन्म, जरा, मरण। भगवानकी पूजा करते हुएमे भी जब जराका छद पढते हैं तो कहते हैं—जन्म जरा मृत्यु विनाशनाय, हे प्रभो ! मैं जन्म, जरा और मरणको मिटानेके लिए नमस्कार करता हूं। तो ये जन्म, जरा और मृत्यु—ये तीन रोग हमारे छूट जायें।

(२८४) **कष्टग्रस्त होनेपर भी विषयरमणकी मोहमें दुर्बुद्धि—**

जन्म होना, बुढापा होना और मरण होना—यह तो बडा कष्ट है हम आपपर। यह ही चक्र चल रहा है और फिर इसके बीचमे बुढापा आ जाता है। तिर्यञ्चको बुढापा, मनुष्यको बुढापा। बुढापेका भी कठिन दुःख पाते है। तो जन्म, जरा, मरण यह बहुत कठिन विडम्बना है, जिसमे हम आप पडे हैं, लेकिन जिसे चेत नही रही, वह बाहर ही बाहर ढूक रहा है, ऐसी स्थिति कर ली है कि जैसे कोई मूर्ख पुरुष जलते हुए जंगलमे है और वह एक पेडपर चढ गया। दूसरी ओरसे आग लग गई। अब वह पेडपर चढा हुआ चारो तरफ देख रहा है, वह देखो हिरण जला, वह देखो खरगोश जला, वह देखो गाय जली, यो देख-देखकर वह खुश होता, पर उस मूढको यह पता नही कि यह आग बढती हुई आयगी और जिस पेड पर मैं बैठा हू उसे भी जला देगी और मैं भी इसमे जलकर खतम हो जाऊँगा। तो जैसे उस मूर्खको अपने आपके जल जानेकी कुछ खबर नही हो रही, ऐसे ही जन्म, जरा, मरण ये सता रहे हैं, उस बीचमे फसे हुए हैं, लेकिन यहाँ यह मनुष्य कुछ परवाह नहीं कर रहा। वही मोह, वही ममता, वही राग जो पहले था सो अब भी है। इस जीवनमे ज्ञानका कोई प्रकाश नही किया तो ऐसा जीवन बितानेसे कोई लाभ है क्या? यह जीवन तो एक तरहका अभिशाप हो गया।

(२८५) **जन्मजरादिदोषरहित मोक्षस्थितिकी ही प्रतीक्ष्यता—**

जहाँ जन्म, जरा, मरण नही, जहाँ कर्म शरीरकी कोई घटना नही, जहां न वचन है, न राग है, उस मोक्षकी बात कह रहे, उसकी बाट जोहे। धन-वैभव, कुटुम्ब आदिक बाह्य पदार्थोंकी बाट न जोहे। बाट इसकी जोहे कि मैं कब केवल बन जाऊँ, जो मेरा कैवल्यस्वरूप है बस वैसा ही मैं रह जाऊँ, ऐसी उसकी स्थिति हो जाती है। सो चाहे हम मोक्ष जहा परमात्मा उत्कृष्ट रूपसे शोभायमान हैं, जहाँ ये प्रभु विराजे है, जो निर्मल ज्ञानमूर्ति है, ऐसी स्थिति भगवानकी हो गई है। जो मोक्षपदको पा चुके हैं, जिनका आभार प्रकट करनेके लिए यहां कुछ भी नही है, ये सिद्ध प्रभु हम आप सबकी रक्षा करें याने ऐसी हम आपमे सद्बुद्धि जगे सिद्ध भगवानकी, उस स्वस्थताकी. हे प्रभो! आप स्वस्थ हैं। आप अपने आत्मामे ही बस गए, वहा ही स्थिर हो गए, इसलिए आप पूज्य हैं, महान् है। उस स्वस्थताकी ओर ध्यान देकर सिद्ध भगवानको यहाँ नमस्कार किया है। चाहे सिद्धभगवानका नमस्कार कहो चाहे स्वस्थताका नमस्कार कहो, बात एक है। एक परिभाषामे आत्मामे आत्माका रमण हो जाय, इस स्थितिको नमस्कार किया जा रहा है।

दुर्लक्ष्येपि चिदात्मनि श्रुतवलात् किञ्चित्स्वसंवेदनात्,
ब्रूमः किंचिदिह प्रबोधनिधिभिर्ग्राह्यं न किंचिच्छलम् ।
मोहे राजनि कर्मणामतितरा प्रौढान्तराये रिपौ,
दृग्बोधावरणद्वये सति मतिस्तादृक् कुतो मादृशाम् ॥ ११० ॥

(२८६) धर्मको पञ्चम परिभाषामें निश्चयधर्मका वर्णन—

धर्मके ५ प्रकारसे लक्षण किए गए थे—जीवदया धर्म है । मुनि और श्रावकधर्म से दो प्रकारसे धर्म हैं, रत्नत्रय धर्म है, क्षमा, मार्दव आदिक दसलक्षणधर्म हैं । ये चार परिभाषायें तो व्यवहारसे हैं और ५वी परिभाषा निश्चयनयसे यह है कि जहा आत्मा विकल्पसे हटकर सहज विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमे मग्न होता है, ऐसी स्वस्थता धर्म है याने ५वी बात कही जा रही है स्वस्थताकी । यह ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूपमे ठहर जाय इसका नाम धर्म है । तो उसी सम्बधमे वर्णन चल रहा है । कहाँ ठहरना ? अपने आत्मामे । आत्मामे तो ठहरे ही हैं सब । कोई अपने जीवको छोडकर दूसरेमे थोड़े ही ठहर पाता है ? एक वस्तु दूसरी वस्तु मे नही प्रवेश करती, फिर अपनेमे जब ठहरता ही है यह जीव, सभी जीव, फिर क्यो स्वस्थताको धर्म बतला रहे ? यो बतला रहे कि ज्ञानमय तत्त्व स्वय होनेपर भी इसकी दृष्टि किसीमे नही है, किसीमे है । तो बात यह है कि जैसे किसीकी मुट्ठीमे अगूठी हो और उसे उतारकर वह लिए हो अपनी मुट्ठीमे और ध्यान न रहे कि मेरी मुट्ठीमे अगूठी है तो वह सब तरफ उसे देखता फिरता है, कही बक्समे देखता, कही कपडे झिटककर देखता, पर कही नही मिलती । क्यो नही मिलती अगूठी ? इसलिए कि उसके ज्ञानमे यह बात नही है कि वह अगूठी हमारे ही हाथकी मुट्ठीमे है । ऐसे ही यह ज्ञानस्वरूप आत्मा सबका अपने अपनेमे है, कही बाहर भागकर नही गया, लेकिन जिसको अपने स्वरूपकी खबर नही उसका ज्ञान तो सूना रह गया । ज्ञान ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञानसे सूना रह गया । इसमे और अचरजकी बात क्या हो सकती ? समुद्र जलमय होकर जलसे सूना हो गया, ऐसा कोई कहे तो वह ठीक बात तो नही है ? ऐसा हो ही नही सकता । अरे समुद्र जब जलमय है तो कैसे कह सकते कि अब जलसे शून्य है ? लेकिन आत्मामे यह बात चल रही है । ज्ञानरूप होकर आत्मा ज्ञानसे सूना है । जो बहिरात्मा हैं तो उनको उपदेश है यह कि बाहरी पदार्थोंमे अपने उपयोग को न फंसाकर अपने आत्मामें आवो । कहा आवो ? अपने चैतन्यस्वरूपमे ।

(२८७) आत्मतत्त्वकी दुर्लक्ष्यता होनेपर भी आत्माके सम्बंधमे परिभाषा करनेके दो कारण—

प्रश्न— जब देखने चलते तब आत्मा तो दिखता ही नही और जो दिखता नहा

उनके बारेमें आचार्य महाराज तुम कह क्या रहे हो ? जो है ही नही, दिखता ही नही उसके बारेमें इतना बोलचाल करनेका क्या फायदा ? तो आचार्य महाराज उत्तर देते है कि यह चैतन्यस्वरूप आत्मा दुर्लक्ष्य है, मायने कठिनतासे लखनेमें आ पाता है । खुद जीव है ज्ञानमय और यह ही खुद अपने ज्ञानमें जाना नही जा रहा है कि मैं यह हू ? तो यह चैतन्यस्वरूप आत्मा बडी कठिनाईसे लखनेमे आता है । लेकिन हमने कुछ आगम देखा तो शास्त्रके बलसे हम कह रहे है और कुछ-कुछ हमे अपने आपमे अनुभव जगा, स्वसम्वेदन हुआ, खुद हमने अपने आपको समझ पाया कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं । यो इन दो कारणोसे याने शास्त्रका अध्ययन किया इस कारणसे और अब हमने अपने आत्मस्वरूपका अनुभव किया इस कारणसे मैं उस स्वच्छताके बारेमे, उस चैतन्यस्वरूपके बारेमे कुछ बोल रहा हू ।

देखो अगर चूक जाऊँ याने यह बात हम समझा न सकें तो ज्ञानी पुरुषोको छल ग्रहण न करना चाहिए । उन लोगोको ऐसा न मान लेना चाहिए कि सब बकवास है, आत्मा तो कोई चीज ही नही । वे खुद निर्णय कर लें, क्योकि बताने वाले जो हम ग्रन्थकार कह रहे सो किस स्थितिमे है कि कर्मोंका राजा मोह, चारित्रमोह हमपर हावी हो रहा है । जिससे राग द्वेषके विकार चलते हैं और अन्तराय कर्म यह बड़ा जवान बन रहा है । जिससे मैं कुछ बोल नही सकता, बता नही सकता । सो अंतराय कर्म बलवान बन रहा और ज्ञानावरण दर्शनावरण इन कर्मोका मेरे चैतन्य स्वरूपपर आवरण पड रहा, ऐसी स्थितिमे मुझ जैसेमे यह बुद्धि कहाँसे आ सकती कि मैं चैतन्यस्वरूपके बारेमे स्पष्ट कुछ कह सकूँ । लेकिन कहना जरूर चाहता, सुनना जरूर चाहता । आत्माकी बात सुनना बहुत आवश्यक है । कुछ आयगा समझमें कुछ ध्यानमे रखेंगे, तो चाहे बुद्धि न पकड सके आत्माकी पहिचानके बारेमे लेकिन चाहते जरूर हैं कि हम आत्माके विषयमे कुछ बोलें । देखिये शान्तिका रास्ता पाना हो तो उसका उपाय यह ही है कि आत्माकी बात सुनें, समझें और किसी तरह आत्माको बोल न सकें, स्पष्ट न कह सकें तो भी करना यही चाहिए कि आत्माकी बात बोलें । अरे वही बोलना चाहिए, वही करना चाहिए, वही सुनना चाहिए, जिससे यह आत्मा अज्ञानदशाको छोड़कर ज्ञानप्रकाशमे आये ।

विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बरा,
शृङ्गारादिरसै प्रमोदजनक व्याख्यानमातन्वते ।
ये ते च प्रतिसद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो,
येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषय ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ।।१११।।

(२८८) कुमार्गप्रेरक काव्यके कर्ताओकी बहुलता और सन्मार्गस्थापक काव्यके कर्ताओंकी विरलता—

क्या बात कही ऊपरके छेदमे कि यह चैतन्यराजा, यह चैतन्यस्वरूप बडी कठिनाईसे लखनेमे आ पाता है फिर भी इसके बारेमे हम जितनी जो कुछ मेरी समझ है उसके अनुसार बताता हू । अब यहाँ दूसरे छदमे कह रहे कि बोलनेके लिए तो लोकमे बहुत है—अपनेको विद्वान मानकर सभावोमे बहुत-बहुत उद्दण्ड वचनोंका आडम्बर छा देते हैं, ऐसे कविजन तो घर घरमे मौजूद हैं, याने जो शृङ्गार रसकी बात, रागकी बात, मोहकी बात बोल सकें, कविता गढ सकें, ऐसे कविजन लोकमे घर-घर मौजूद हैं । अरे कोई तुकबदी कर लेते कोई नही करते गुनगुनाते तो सभी हैं ना । तो सभी कवि हो रहे हैं जो अपने-अपने घरमे शृङ्गार रसके लिए, प्रीतिकी बातके लिए यहां वहां की मोह प्रेमकी बातोंके लिए घर घरमे कविजन पडे हुए है । शृङ्गार आदिक रसोके द्वारा दूसरोको प्रमोद हो, हर्ष हो, ऐसा व्याख्यान करें, भाषण करें, ऐसे कवि घर घरमे मौजूद हैं, लेकिन उसके सुननेसे लाभ क्या ? एक व्यामोहका ही फैलाव और हुआ । कुछ तो मोहमे अंधे ही हैं जन समूह और फिर शृङ्गार आदिकका प्रेम मोहका वर्णन एक कलासे करे कोई तो यों समझिये कि वह जलती हुई आगमे घी डालनेकी तरह काम हुआ । मोह तो था ही, उसको सुनकर और अधिक बढ गया, तो ऐसे कविजन, वक्ता, व्याख्याता घर घरमे मौजूद हैं और जिनके द्वारा परमात्मतत्त्व के विषयमे ज्ञान मिले ऐसे वक्ता, ऐसे बोलने वाले अत्यन्त दुर्लभ हैं । यह बात यो कही जा रही कि स्वस्थता नामक धर्मकी बात बहुत बडे विस्तारसे आयगी । उससे पहले कुछ यहाँ भूमिका रूपमे कह रहे है कि उस चैतन्यस्वरूप अतस्तत्वकी व्याख्या करने वालोकी बहुत दुर्लभता है । सो एक मैं (ग्रन्थकार) यदि आत्माकी बात कहते हुएमे कुछ चूक जाऊँ, क्योंकि मोहका उदय है, ज्ञानावरण दर्शनावरणसे आच्छन्न हू, अंतराय कर्म प्रबल हो रहा है, ऐसी स्थितिमे अगर मैं आत्मतत्त्वको न बता सकू तो विद्वानोको, समझदारोको दोष न देना चाहिए ।

> आपद्धेतुषु रागरोष निकृतिप्रयेषु दोषेष्वल,
> मोहात्सर्वजनस्य चेतसि सदा सत्सु स्वभावादपि ।
> तन्नाशाय च सविदे च फलवत्काव्य कवेर्जायते
> शृङ्गारादिरस सर्वजगतो मोहाय दु:खाय च ॥११२॥

(२८६) रागद्वेषादि दोषोंकी आपत्तिहेतुता—

देखो ससारमे जितने पुरुष हैं उनका चित्त काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग द्वेष मोह आदिक विकारोमे ही लग रहा है, यही आपत्तिका कारण है। भला बताओ ऐसी अज्ञानदशामे रहकर क्या किसीने अब तक शान्ति पायी ? तो शान्ति पानेके लिए अपने ही भीतरमे एक ज्ञानप्रकाश पाना है। बाहरमे बडे बडे परिग्रह भी जोड लिये, बडा चला भी बना लिया तो भी इन बातोसे आत्माको शान्ति नही मिल सकती। आत्माको शान्ति मिलने का उपाय तो एक सम्यग्ज्ञान है। सही ज्ञान करलें तो सारे सकट मिट जायेंगे। देखो बात तो सुनते हैं बहुत दिनोसे रोज रोज, मगर वह क्षण जिसका आ जाय कि जिस क्षण भीतर मे यह ज्ञानविद्युत् चमक जाय और यह अनुभव बन जाय कि मैं तो सहज आनन्दमय हूं. पवित्र हूं, सहज ज्ञानस्वरूप हूं। यह तो मैं परिपूर्ण हूं, कोई अधूरापन नही। मै तो कृतार्थ हूं। बाह्यपदार्थोंसे उपयोग हटाकर एक अपने इस अंतस्तत्त्वमें ही अपना उपयोग लगाये वह क्षण धन्य है। तो ये रागद्वेष विषय कषाय, इच्छा—ये आपत्तिके कारण है और दोषोका बढावा देने वाले है। सो मोहसे सभी मनुष्योंके चित्तमे प्रकृत्या ही सारे दोषोका निवास है। प्रभुमें एक भी दोष नही। इस जगतके प्राणियोमे इन दोषोका विस्तार बन रहा है।

(२९०) प्रभुमे गुणनिवास व संसारियोंमें दोषनिवासका एक चित्रण—

भक्तामर स्तोत्रमे कहा है कि हे प्रभो! आपमे इतने गुण आ गए याने आप सर्वगुणसम्पन्न हुए; क्षमा, मार्दव, आर्जव, सरलता, पवित्रता आदिक सभी बातें आपमे आ गईं, सर्व गुण आ गए, अनन्त ज्ञान उत्पन्न हो गया तो इसमे हमे कुछ आश्चर्य नही मालूम होता। यह कोई बडी बात नही जंचती आपमे। क्यो नही बडी बात जच रही ? यो नही जच रही कि इन सब गुणोने समस्त जीवोमे ठहरनेके लिए जगह ढूंढा, मानो इन गुणोने सब जीवोंसे कहा कि हमे रहनेके लिए जगह दे दो, पर सभी जीवोंने इन गुणोको दुदकारा, हटो हटो तुम्हारे रहनेके लिए यहाँ जगह नही है, तो सारे जगतमे जब कही इन गुणोको ठौर न मिला, जगतके प्राणियोमे इन गुणोको ठहरनेको स्थान न मिला तो ये बेचारे सारे गुण झक मारकर हे भगवन् आपमे आ गए तो इसमे कौनसी बडी बात है ? यह देखो एक अलकारके ढगसे प्रभुका स्तवन करनेकी पद्धति है। निष्कर्ष यह है कि ये गुण संसारके प्राणियोमें कही नही पाये जाते और प्रभुमे पाये जाते है, तो उसका कारण यह है कि लोगोने इन गुणोको पसंद नही किया, भगवानने आश्रय दिया याने भगवान सर्वगुणसम्पन्न है। तो अच्छा, इन गुणोको तो ठहरनेको कही संसारमे स्थान न मिला, पर हे प्रभो! यह तो बताओ कि आपमे दोष एक भी नही है, इसका क्या कारण है ? तो कहते हैं कि देखो इन

दोषोको सब जीवोंने निमंत्रण किया कि ऐ दोषो ! तुम सब मेरे पास आ जावो, मेरे पास ठहरो, खूब आरामसे रहो, रागद्वेष मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या आदिक दोषो को जगतके इन सब जीवोंने आमत्रण दिया कि तुम खूब आवो, खूब रहो और अन्यत्र कही जावो नही, तो उन समस्त दोषोको और चाहिए ही क्या था ? आनन्दसे रहनेको कोई घर मिल जाय और खूब उनकी पूजा होवे और उनकी बडी महिमा गायी जाय, तो इससे बढकर दोषो को और चाहिए ही क्या था, सो ये सब दोष इन संसारी जीवोमे बस गए । तो ये सब दोष विषय, कषाय, इच्छा आदिक प्रकृत्या ही सब मनुष्योके चित्तमे बस रहे हैं ।

(२६१) दोषनाशके लिये रचित काव्यकी महत्ता—

दोषोके नाशके लिए और ज्ञानके प्रकाश के लिए यदि कविका काव्य बने, रचना बने, ग्रथरचना की जाय तो वह फलवान है वह तो ठीक है, मगर शृ गार आदिक रसोकी जो गदी बातें कही जाती है वे तो इस ससारके मोह और दु खके बढाने वाली ही बातें हैं । क्या होता है ? जैसे लोग सनीमा देखते हैं तो उसमे तृष्णा बढती है, क्रोध बढ़ता है । मुख्यता तो तृष्णाकी होती है । जब कोई सुन्दर चित्र देखनेमे आता तो वहाँ तृष्णा हो जाती । कोई जब धनकी बात दिखती तो वहाँ तृष्णा हो जाती । अच्छा और देखो जब कभी कवि-सम्मेलन होता है तो कौनसा कवि जनताको अधिक पसद आता ? जो कवि खूब प्रेमकी, मोह की बातें सुना सुनाकर जनताको खुश करे । और कविसम्मेलन होनेके बाद लोग खूब चर्चा करते है कि कविसम्मेलन तो अच्छा हुआ । एक कोई पंडितजी थे । जिनका नाम था मनीराम । वह रामायण पढते थे, शास्त्र पडतें थे और कथा भी पढते थे । और वही एक कोई कचनिया नामकी वेश्या भी थी, सो एक किसी बडे सेठने अपने बालकके विवाहमे उस वेश्याको भी नृत्य करने के लिए बुलाया और पडितजी को भी विवाहकार्य करनेके लिए बुलाया । देखिये यह बहुत दिन पहलेकी बात है जब कि शादी विवाहमे वेश्यावोका नृत्य कराने का रिवाज था । आजकल तो यह रिवाज रहा नही । खैर विवाह हो चुका तो सेठने उस कंचनियाको तो ३००) भेंट मे दिए और पडित जी को ३०) भेंटमे दिए, तो वहाँ पंडित जी ने एक दोहा बनाया "फूटी आँख विवेक की, कहा करे जगदीस । कचनिया को तीन सौ, मनीरामको तीस ।" हर जगह यही बात है । अभी धर्मकी बात हो तो बडी कठिन लगती और थोडा अगर रागरसकी बात आ जाय तो कहते कि वाह वाह बात तो यह ही है सुहावनी । अरे जिसका ज्ञान किए बिना ससारके जीव अब तक रुलते चले आ रहे हैं और रुलनेके ही कारण बना रहे । अरे जहाँ कोई मजाकसे या बचनोसे प्रेमरस उमडे, आनन्द आये,

मौज माने तो वह तो दुःखका कारण है कि आनन्दका कारण है ? सो कह रहे कि शृंगार आदिक जो रस हैं ऐसी जो वाणी है, वचन हैं, जो एक मनको मौज पैदा करे, हास्य उत्पन्न करे, दिलको प्रसन्न करे, सासारिक सुखकी बात कहे तो ऐसी तो वह सब वाणी दुःखके लिए है और आत्माकी बेहोशीके लिए है । सफल काव्य तो कविका वही है जो रागद्वेष विषय कषाय आदिक इन दोषोका नाश करनेमे समर्थ हो ।

कालादपि प्रसृतमोहमहान्धकारे मार्गं न पश्यति जनो जगति प्रशस्तम् ।
क्षुद्राः क्षिपन्ति दृशिद्रुश्रुतिधूलिमस्य न स्यात्कथ गतिरनिश्चितदुःपथेषु ॥११३॥

(२९२) महामोहान्धकारमें सन्मार्ग न देख सकने वाले प्राणियोंपर कुकवियोंका वज्रपात—

देखिये यह बहुत बडा स्थल है, अधिकारमे जिसमे वास्तविक धर्मका वर्णन चलेगा । वास्तविक धर्म क्या है ? स्वस्थता याने ज्ञानस्वरूप जो यह निज परमब्रह्म है इस ही मे उपयोग रम जाय यह है धर्म । उपयोग तो रमता है हर एकका, पर रम रहा है विषयोमे, कषायोमे, बाहरी बातोमे, प्रेममे, रसमे, मोहमे वहाँ न रमे और एक निराकुल शान्त ज्ञान-स्वरूप निजमे रम जाय यह है स्वस्थता और महान धर्म । जिसमे आकुलता रंच भी न रहे । आप देखो बाहरमे कही भी चित्त रमायेंगे तो आकुलता मिलेगी और एक इस ज्ञानतत्त्वमें चित्त रमायेंगे तो आकुलता न होगी । यह स्वाधीन काम है, अपनी दृष्टि है, अपना उपयोग है, अपना स्वरूप है । उपयोगको अपने स्वरूपमे लगा दें, इसमे कोई पराधीनताकी बात नही है और बाहरी प्रसंग जहाँ है, चित्त लगाते हैं, लोग दुःखी भी हो जाते, कष्ट पाते है, पराधी-नता अनुभव करते है झुँझलाते हैं, पर मोहका ऐसा उदय है कि वही रम जाते है । एक मियाँ बीवी थे । उनमे अक्सर करके रोज रोज झगडा हो जाया करता था, और शाम तक फिर सुलह हो जाती थी । मियाँका नाम था बेवकूफ और बीबीका नाम था फजीहत । एक दिन उनमे ऐसा झगडा हुआ कि फजीहत घर छोडकर कहीं चली गई । अब वह पुरुष (बेवकूफ) सब जगह ढूँढता फिरे, पता लगाता फिरे कि तुमने क्या हमारी फजीहत देखी ? तो सब लोग जानते ही थे सो सभीने यही कहा कि हमने तो कही नही देखी । क्या आज ज्यादह लडाई हो गई ? हाँ हो तो गई । यो दसो लोगोसे पूछा । एक बार किसी देहाती अपरिचित आदमीसे पूछ बैठा—भैया क्या तुमने हमारी फजीहत देखी ? तो वह कुछ मतलब ही न समझ सका । बोला—भैया आपका नाम क्या है ? तो वह बोला—मेरा है बेवकूफ । तो वह देहाती पुरुष बोला—भैया जावो अपने घर, तुम बेवकूफ होकर फजीहतको कहाँ ढूढ़ाते फिरते ? बेवकूफके लिए तो सब जगह फजीहत है । पद पदपर फजीहत है । जहाँ भी जरा

से अपशब्द बोल दिए कि वही लात घूंसे तैयार है तो ऐसे ही समझिये कि जहां मोह है, मेरा घर, मेरा धन, मेरा परिवार, मेरी इज्जत ऐसा भाव रख रहे, और इस पर भी अपनी बडी चतुराई समझ रहे कि मैं बडा चतुर हू । अरे इस दु:खभरे ससारमे इन बाहरी बातोसे अपनी चतुराई समझे तो यह सब बेकार बात है । अगर धन दौलतसे या इन बाहरी बातोसे सुख मिलता होता तो भला बडे-बडे पुरुष तीर्थंकर जैसे क्यो इसको त्यागते ? उनके पास सब कुछ था, वे चक्रवर्ती थे, पर उन्होने इस वैभवको क्यो छोडा कि उन्होने जान लिया कि इस धन वैभवमे सार कुछ नहीं ।

(२१३) जीवनमें शीघ्र चेत जानेमे लाभ—

भैया ! कोई पहले से चेत जाय तो भला है उसका और न चेते तो बडा मुश्किल है कि मरते समय चेत आ जाय और जब मरण बिगड गया तो अगला सारा भव दु:खमे ही जायगा । मरणसमयमे यदि असावधानी रही तो आगे जो जन्म मिलेगा वह दु:खमे जायगा । जैसे कोई काम शुरू कर रहे हो और उसमे शुरू शुरूमे ही विघ्न आ जाय तो कहते हैं ना कि इसका मगलाचरण ही खराब हो गया, प्रारम्भ ही खराब हो गया, फिर वे उस कामको ऐसा छोड देते हैं कि यह काम निभेगा नही । तो ऐसे ही जन्म समयमे जिसको कष्ट है याने मरण समयमे जिसको सक्लेश है वही जन्म, वही मरण, बहुतसे जन्म मरण मिलते । तो जिसकी शुरुआत सक्लेशमय है उसका जीवन सक्लेशमे जायगा । इस कारण बहुत सावधानी बनाना है कि मरण समयमे सक्लेश न हो । बेहोशी न हो, आत्माकी सभाल बने और मरण समयमे आत्माकी सभाल उसके बनती है जो जीवनभर सभालका प्रयत्न रखता है अन्यथा देखो ससारमे सुनाने वाले कविजन वक्ता लोग प्राय शृङ्गार आदिक रसकी बात कहकर इस को एक बहकावेमे डाले रहते हैं । सो एक तो कालका दोष है ऐसा कि मोहका महान अधकार छाया है, लोगोको सन्मार्ग नही दिख रहा है कि हमको कैसे व्रत तप सयम भक्तिके मार्ग से चलना चाहिए, यह कलिकालका एक दोष है और तिसपर जो छुद्र कवि हैं, तुच्छ वक्ताजन हैं, जो मोहके प्रेमी हैं ऐसे कविजन खोटी बात सुनाकर, खोटी रचना सुनाकर रागभरे शेर छद सुनाकर इस जगतकी आंखोमे धूल झोक रहे, तो भला बतलावो कि ऐसा तो आदमी ऐसा हो कि जिसे बहुत कम दिखता हो, कुछ अधासा है और फिर कोई उसकी आंखोमे डाल दे धूल तो उसकी क्या दशा होती है ? ऐसी ही जगतके जीवोकी दशा है कि कालके दोषसे अथवा अपने सस्कारसे प्रकृत्या राग, प्रेम, मोहमे ही चित्त जमता है और फिर वक्ता, व्याख्यान करने वाले लोग ऐसी ही बात सुनाते कि जिससे उनका

मोह पुष्ट हो। तो उससे सुनने वालोका तो एक विनाश ही हुआ और प्राय· वक्ता स्वार्थी होते है तो ऐसी बात ढूँढते, हैं, बोलते है कि जिससे सुनने वाले सब राजी होते हैं, प्रसन्न होते है, वाह-वाह करें, इनकी रुचि उस ओर जाप ऐसा खुद भी भाव रखते है तब ऐसी कविता या ऐसा व्याख्यान बोलते है।

(२६४) आत्मतत्त्वके वचनोंकी ही श्रेष्ठता—

मोहमे फसाव बढ़े जिन वचनोसे ऐसा बोलने वाले तो जगतमे सुलभ है, घर घरमे मिलते है। आजकल तो ५-५ वर्षके बालक भी रागभरी गदी चीजें गाते है सनीमाओके गीत गाते हैं। भले ही तोतली बोलीमे बोलते, पर घरोमे खूब बोलते रहते है, जिनको सुनकर समझदार लोग तो शर्मिन्दा हो जाते। तो ऐसी प्रीति भरी, कुशील की बतें बोलने वाले तो घर घरमे मिलेंगे, वे ही घरके छोटे छोटे बच्चे कविका रूप रख रहे और वहाँ बडे लोग भी कुकविसे बने हुए घर घरमे हैं तो उन कवितावोसे जीवका हित नही है। वह काव्य हो, वह वचन हो जो आत्माके इस ज्ञानानन्दस्वरूपकी खबर करा दे। तो चूंकि इस प्रकरण में इस ही का वर्णन चलेगा आत्मस्वस्थताका तो उस गहन वर्णनसे पहिले थोडी भूमिका रूप मे यह बात बतायी गई कि आत्मतत्त्वको समझने वाली वाणी बहुत दुर्लभ होती है और दुर्लभ होने पर भी हम बता भी न सकें तो इसमे कोई छल ग्रहण न करना। अपना जो आत्मतत्त्व हैं वही अपने लिए शरण है, उसीकी दृष्टि करनी है और उसीका यत्न करना है।

विण्मूत्रक्रिमिसङ्कुले कृतघृणैरन्त्रादिभिः पूरिते।
शुक्रासृगरयोषितामपि तनुर्मातु. कुगर्भेऽजनि।
सापि क्लिष्टरसादिधातुकलिता पूर्णा मलाद्यैरहो,
चित्र चन्द्रमुखीति जातमतिभिर्विद्वद्भिरावर्ण्यते ॥११४॥

(२६५) आत्मस्वस्थताके बाधक विषयोके साधनमे प्रीतिकी अनुचितता—

स्वस्थताके बाधक पञ्चेन्द्रियके विषयभूत बाहरी पदार्थ है और उनमे भी जो उपस्थ इन्द्रियके विषयभूत पदार्थ है वे स्वस्थताके अत्यन्त बाधक है। इस कारण इन पौद्गलिककी स्वस्थताके बहुत अधिक विरोधी विषयभूत स्त्रीके सम्बंधमे कह रहे है। जैसे-पुरुषो को स्वस्थताकी बाधक स्त्रीजन है ऐसे ही स्त्रियों को स्वस्थताके बाधक जितनी उनकी योग्यता है उतना स्वस्थतामे बाधा देने वाले पुरुष लोग है। तो स्त्री जन पुरुषो के सम्बंधमे ऐसा चिन्तन करें जैसा कि इस छदमे पुरुषो को सम्बोधित किया जा रहा है। स्त्रियों को इस लोकमे उत्तम चीज माना जाता है, और कहते भी हैं कन्यारत्न, स्त्रीरत्न। तो जो मोही

जीव हैं, लौकिक जन है उनके कहनेमे ही तो उत्तम पदार्थ है, पर आत्मदृष्टिसे देखें तो जीवकी स्वस्थतामे कितनी बाधा आती है, उन स्त्रीजनोको विषय करके कि जैसे किसी ज्ञानी को एक ब्रह्मस्वरूपकी धुन ही हो जाती है ऐसे ही स्त्रीके मोहीजनोको स्त्रीकी ही धुन हो जाती है और स्वरूप देखें उस स्त्रीका तो घृणित शरीर है । घृणित तो पुरुषोका भी शरीर है, पर यहापर पुरुषोको सम्बोधन करके कहा जा रहा है कि देखो यह शरीर जिसे कि लोग एक उत्तम स्त्री मानते हैं, इस शरीरकी रचना किन वस्तुओंसे है ? जैसे वह किससे उत्पन्न हुआ है ? रज और वीर्यसे उत्पन्न हुआ । मनुष्योका शरीर भी रज और वीर्यसे उत्पन्न हुआ है और कैसे गर्भमे रहा था यह शरीर ? तो माताकी उस कुक्षिके उदरमे विष्टा मूत्र और छोटे क्षुद्र कीडोसे व्याप्त है और घृणित आंतोसे कसा हुआ है, वेढा हुआ है, ऐसी जगह इस शरीरकी रचना हुई है और फिर वह शरीर भी क्लेशजनक धातु उपधातु मल आदिकसे भरा हुआ है, जिस शरीरके विषयमे अशुचि भावनामे विस्तारसे वर्णन हुआ है । राध रुधिर मल आदिककी यह थैली है, ऐसे कुत्सित शरीरमे भी व्यामोही जन प्रीति करते हैं और अपनी स्वस्थताका विघात करते है, सो स्वस्थतारूप धर्मको चाहने वाले पुरुषोको चाहिए कि मैथुन प्रसंगके विषयभूत शरीरसे उपेक्षा करें, विरक्त रहे ।

कचा यूकावासा मुखमजिनबद्धास्थिनिचय-
कुचौ मासोच्छ्रायौ जठरमपि विष्ठादिघटिका ।
मलोत्सर्गे यन्त्रजघनमबलाया· क्रमयुग
तदाधारस्थूणे किमिह किल रागाय महताम् ॥११५॥

(२९६) मैथुनप्रसगविषयक साधनके व्यामोहमें स्वास्थ्यधर्मका व्याघात—

यह शरीर क्या महान पुरुषोके लिए रागका कारण बन सकता है ? नही बन पाता । क्यो नही बन पाता कि महान पुरुषोको एक तो अपने आत्मस्वरूपका बोध है जो अति पवित्र है, लोकमे उत्तम है, उसकी उपासनाका आनन्द पाया है और दूसरी जो यह बात है कि शरीरका घिनावनापन इस ज्ञानीके चित्तमे भले प्रकार निर्णीत है । यह ही कारण है कि सुन्दर सुन्दर स्त्रीजन भी महान पुरुषोके लिए रागका कारण नही बन पाती । कैसा है यह घृणित शरीर कि जिसके बाल तो जुवोके स्थानभूत हैं । स्त्रीजन बाल मुडवाकर रहे ऐसा तो कही दिखनेमे आता नही । कोई रोग आदिकसे मुडा ले वह दूसरी बात है । ऐसी ही पद्धति है कि बाल रखायेंगी और बहुत बडे बाल होंगे तो वहाँ जू की उत्पत्ति होती ही है और मुख हड्डियोका ही तो बना हुआ है और बडा रुचता है मोही जनो को और जिस हड्डी

पर थोडा मांसका कीचड लपेट कर उसपर चमड़ेकी पतली चादर ढक दी गई है और वह मोहीजनोको देखनेमें बडी प्रिय मालूम होती है, लेकिन तथ्य क्या है ? मांस है, हड्डी है, चमडा है। जिसके कुक्ष मांसके पिण्ड हैं, कुछ सारभूत बात नही है। मांस तो एक घिनावनी वस्तु है पेट विष्टा आदिकके छुद्र घडेके समान। जैसे घडेमे विष्टा भरी हो तो यहां उस उदरमे विष्टा पडी है, ऐसी अपवित्रता जैसे स्त्रीशरीरमे है वैसे ही पुरुषशरीरमे भी है, पर पुरुषोको सम्बोधन करनेके लिए बताया जा रहा है कि कैसा तो स्त्रीका शरीर जिसपर व्याकुल होकर पुरुष अपनी बरबादी कर रहे हैं। यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती है कि जब पुरुषोंके लिए उनकी स्वस्थताका विघातक स्त्रीशरीर है और स्त्री जनोके लिए स्वस्थताविघातक पुरुषोका शरीर है तो केवल स्त्रीशरीरका ही यहाँ वर्णन क्यो किया जा रहा है ? सो बात तो ठीक है। सभीको ही करना चाहिए क्योंकि पुरुषजन ऊँची धर्मसाधना कर सकते है और मुक्तिको पा सकते हैं तो ऊंची साधना कर सकने वाले पुरुषोको सम्बोधन करके ही कहा जाना उचित हो रहा है। उसे सुन कर स्त्रीजन भी उसके अनुरूप पुरुषोके बारेमे चिन्तन कर सकते है। तो कैसा है यह स्त्रीशरीर ? जिसकी जंघायें मल छोडनेके यत्रके समान है और उस यत्रके आधारभूत ये दोनो पैर एक खम्भेकी तरह हैं। ऐसी जहा अपवित्रताका दर्शन हो रहा हो वे स्त्रीजन क्या महापुरुषोके लिए रागका कारण हो सकती है ? नही हो सकती हैं। तो जो कल्याण चाहने वाले पुरुष हैं उनका कर्तव्य है कि वे मैथुन प्रसंगके विषयभूत साधनोसे उपेक्षा करें, विरक्ति लायें और स्वस्थतारूप धर्मका आदर करें। ऐसी भावना रखें कि मेरा हित तो अपने ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्वमे उपयोगको स्थिर रमा देनेमे ही है।

परमधर्मनदाज्जनमीनकान् शशिमुखीबडिशेन समुद्धतान्।
अतिसमुल्लसिते रतिर्मुमुरे पचति हा हतकः स्मरधीवरः ॥११६॥

(२६७) कामधीवरकी क्रूरतासे प्राणीका घात—

जैसे कोई ढीमर नदीमे से बसीके द्वारा जिसमें कि लोहेका कांटा फंसा होता है उसके द्वारा मछलीको निकालकर बाहर फेंकता है और उसे आगमे भूनता है। जैसी वहाँ एक मछलीकी दशा हो रही है, जो एक दयनीय घटना है, इसी तरह यहाँ भी क्या हो रहा है कि यह कामदेव तो ढीमरकी तरह है याने विषयोंमे प्रेम होना ऐसा जो विभाग है वह ढीमर है और इस विषय मैथुन भावरूपी ढीमरने धर्मरूपी नदीमे बस रहे मनुष्यरूपी मछलीको स्त्रीरूपी कांटेके द्वारा निकाल दिया अर्थात् जैसे ढीमरने बसी कांटेके द्वारा नदीमे से मछलीको निकाल-कर बाहर कर दिया, ऐसे ही इस कामदेवने मैथुन प्रसगके भावने वेदने इस पुरुषको जो कि

उत्तम धर्मरूपी नदीसे अवगाहन कर रहा था, अच्छे विचारमे चल रहा था, उसे भी स्त्री के माध्यमसे स्त्रीके कांटे द्वारा निकालकर धर्मकी नदीसे दूर भगा दिया है है और फिर ऐसा फसा हुआ मनुष्य किस तरह अनुराग मोहव्बतकी आगमें पक रहा है तो यह तब कामदेवने ही तो पकाया। इस मनुष्यको विषयानुरागने पकाया। इस तरह यह मनुष्य कैसा बिकट जल रहा है ? यह एक बडे खेदकी बात है। तब यहाँ सोचिये लोग ढीमरको हत्यारा कहते हैं मगर यह कामदेवरूपी ढीमर इसको कितना बडा हत्यारा कहा जाय जो इस जीवको भव-भवमे जन्म मरणकी आगमे पकाता रहता है। निष्कर्ष यह है कि इस कामवासनाने मनुष्योको धर्मसे भ्रष्ट किया और यह विषयभोगकी आगमे इसे संतप्त कर रहा है, ऐसा जानकर मुमुक्षु जिज्ञासु पुरुषोको मैथुन प्रसगके आश्रयभूत स्त्रीजनोमे अत्यन्त विरक्ति लाकर अपने स्वरूपमे स्थिर होनेका यत्न करना चाहिए, क्योकि स्वस्थता ही एक परमधर्म है, जिसके प्रसादसे संसारके सर्वसकट दूर होते है।

येनेद जगदापदम्बुधिगत कुर्वीत मोहे हठात्
येनैते प्रतिजन्तु हन्तुमनस क्रोधादयो दुर्जया।।
येन भ्रातरिय च संसृतिसरित्संजायते दुस्तरा
तज्जानीहि समस्तदोषविषम स्त्रीरूपमेतद्ध्रुवम ।।११७।।

(२६८) रूपसौन्दर्यकी महती आपत्तिकरता—

लोकमे पुरुष स्त्रियोंके सौन्दर्यपर मोहित हुआ करते हैं पर वह सौन्दर्य है क्या ? एक नाक, आंख, ओठ की बनावट ही तो है, एक आकार प्रकार ही तो है और ऊपर का रग क्या, एक ऐसा चमडा पड़ा हो तो वह भी तो सूखकर ऊपर एक पपडीसी बना लेता है। यहाँ तो चेतनका सम्बध है, वह मासकी एक पपडी बन गई है। जो कुछ रूप रग आदिक का श्वेत आदिक है उसीको लोग सौन्दर्य कहते हैं, मगर यह समस्त सौन्दर्य दोषोसे युक्त है, और यह कष्टदायक है तभी तो कविजन कहते है—भार्यारूपवती शत्रु. और ऐसी अनेक घटनायें होती हैं। इसी सौन्दर्यके कारण घरमे बडी-बडी बिडम्बनायें खडी हो जाती है। पुरुष स्त्रीपर सदा शंका करते रहते है, क्योकि स्त्रीको एक सौन्दर्य मिला है। तो जिस सौन्दर्यसे स्त्री का खुदका बिगाड है वह सौन्दर्य दूसरेका बिगाड कैसे रोक देगा ?

हे भाई ! उस सौन्दर्यको तुम निश्चयसे सर्वदोषोसे युक्त समझो, कष्टदायिनी समझो, जिस सौन्दर्यके प्रभावसे जगतके प्राणियोको यह मोह जबरदस्ती आपत्तिरूपी समुद्रमे गिरा देता है, याने सौन्दर्य एक ऐसा साधन है कि जिससे मनुष्य बडी विपत्तिमे पड जाते हैं।

उस सौन्दर्यके ही कारण निरन्तर अनेक शल्य रखते हैं, अपना अधिक आकर्षण बनता है और दूसरोके प्रति सदा शकाका भाव रखते हैं। तो यह सौन्दर्य क्या सम्पत्तिका साधन है, क्या शान्तिका साधन है ? अरे वह तो एक कष्टका ही साधन है। इस सौन्दर्यके द्वारा ही तो ये क्रोधादिक कषायें प्राणियोंका घात करनेमें तत्पर रहा करती है। क्रोध आता है क्यों पद पदपर ? उस स्त्री सौन्दर्यके कारण। कभी स्त्रीपर शंका रखते हैं, कभी दूसरे पुरुषोपर शंका रखते हैं। स्त्रीने अगर किसीसे कोई थोडी साधारण बात भी की हो तो पुरुष उसका एक अधिक शल्य रख लेते हैं और स्त्रीके प्रति, पुरुषके प्रति विरोधभाव रखने लगते है। इन सबका कारण क्या है ? स्त्रीका मिला हुआ सौन्दर्य। जैसे सुगधित गुलाबके फूलका लोग क्या करते है ? उन्हे तोडते हैं, उनकी माला बनाते है, देवी देवताओं पर चढ़ाते हैं। अरे क्या चढाते ? फूल तो स्वयं दुःखी रहा, तोडा गया, मारा गया, सुखाया गया, कूटा गया, ऐसे ही जिन स्त्री पुरुषोको सौन्दर्य मिला तो उस सौन्दर्यके प्रेममें जीवको कितनी आपत्ति होती है और तभी पद-पदपर क्रोध, मान, माया, लोभ आदि ये सब सताते रहते हैं और जब क्रोधादिक कषायें इन पुरुषोके घातमे तत्पर है तो इनका भला कैसे होगा ? तो इन सब बुराइयोका कारण सौन्दर्य ही तो हुआ, जिससे कि अनेक कषायोका शिकार बनकर इतना अशक्त हो जाता है कि यह ससाररूपी नदीको पार करनेमे बिल्कुल असमर्थ हो जाता है। तो ऐसे स्वस्थतारूपी धर्ममे बहुत अधिक बाधा देने वाले स्त्री सौन्दर्यसे विरक्त हो रहना चाहिए जिसको स्वस्थताका लाभ लेनेकी चाह है।

> मोहव्याधमटेन ससृतिवने मुग्धैणबन्धापदे,
> पाशाः पङ्कजलोचनादिविषयाः सर्वत्र सज्जीकृताः।
> मुग्धास्तत्र पतन्ति तानपि वारानास्थाय वाञ्छन्त्यहो,
> हा कष्टं परजन्मनेऽपि न विदः क्वापीति धिङ्मूर्खताम् ॥११८॥

(२६६) जगतके प्राणी मोहव्याधके शिकार—

यह मोह बडा सुभट व्याध है। व्याध कहते हैं शिकार करने वाले पुरुषको। इस मोह सुभटने इस पुरुषका किस तरह शिकार किया ? जो वड़ी दयनीय बात है। यह जीव ससाररूपी बनमे मूढ़तासे मृगोकी भाँति अभव्य होता हुआ डोल रहा है। इन मोही मृगोको याने जीवोको बधनमे आपत्तिमे डालनेके लिए, डालता क्या है ? स्त्री आदिकका विषय। भले ही कोई जाल बहुत सफेद हो, चिकना हो, देखनेमे सुन्दर हो, पर उस जालका, क्या गुण गाना जो जाल केवल पशुओका शिकार करनेका साधन बनता है ? यह कमलके समान नत्रा

वाली, सौन्दर्य वाली स्त्री आदिक ये विषयरूपी जाल हैं, इन जालोंने इस जीवको एक बधनमे डाल दिया है और जब यह मूर्ख प्राणी अज्ञानवश इन्द्रिय विषयरूपी जालमे फंस जाता है और उन विषयभोगोको बडा उत्तम समझता, स्थायी समझता, अपनी शान्तिका साधन समझता और ऐसा अज्ञान बसाकर केवल इस लोकमे ही नही, किन्तु परलोकमे भी उन विषय भोगोकी इच्छा करते हैं, यह बडे दु खकी बात है। लेकिन मोहीजन इस विपत्तिमे पड रहे हैं तो पडें, किन्तु समझदार पुरुष मैथुनप्रसगके विषयभूत साधनोका, पञ्चेन्द्रियके विषयभूत साधनो का न इस लोकमे सग्रह करते हैं न उनकी याद करते है और न परलोकके विषयमे भी अभिलाषा करते है। केवल जो आत्मस्वरूपमे अपरिचित हैं ऐसे पुरुष ही अपना चित्त कहाँ रमायें ? जो शान्तिका साधन है वह तो उन्होने देखा ही नही, वहाँ तो चित्त रमा नही सकता। तो विवश होकर वे कर्मरसकी प्रेरणासे व्याकुल होकर इन्द्रियके विषयभूत बाह्य पदार्थोमे अपना चित्त रमाया करते हैं। अस्वस्थता तो इसीका ही नाम है। जहाँ अस्वस्थता है वहाँ शान्ति रचमात्र भी नही हो सकती, क्योकि जो स्व नही है उस पदार्थमे अपनी शान्तिका अभाव है। चाहे कोई जीवपदार्थ भी हो। दूसरे लोग कुटुम्बी जन मित्रजन जिनमे अनुराग बसाया जाता है, यद्यपि वे चेतन पदार्थ स्वय ज्ञानानन्दके निधान हैं, लेकिन उनका ज्ञान और आनन्द किसी दूसरेमे, मुझमे आ नही सकता और वे भी अपने ज्ञान और आनन्द की पहिचान न करनेके कारण व्यग्र रहते हैं और वे भी परपदार्थोमे ही अपना उपयोग डुलाते रहते हैं तो उसको भी अस्वस्थता हो रही। तो जहाँ अस्वस्थता है वहाँ न तो धर्म है और न किसी भी प्रकार वहा शान्ति हो सकती है।

(३००) ज्ञानको कुमार्गमे न लगाकर अन्तवृत्तिमे प्रवर्तानेमें शान्तिका लाभ—

शान्तिका साधन तो एक निज सहज स्वभावका परिचय है। यह परिचय मिलता है इस तरह अपनेको परखनेमे कि मेरी वास्तविक सत्ता क्या है, केवल मैं क्या हू ? जब मैं हू तो सत् हू और अकेला हू और मुझ अकेलेका कोई स्वरूप है। भले ही अनादिकालसे कर्म बधनसे बद्ध है यह जीव और उन कर्म उपाधियोसे प्रभावित भी है, मलिन हो रहा है, इतने पर भी जब कोई सत् है तो उसका निजी स्वरूप अवश्य है। तो मैं आत्मतत्त्व भी सत् हू तो मेरा कोई निजी स्वरूप है और वह स्वरूप है चैतन्यमात्र। यदि अपने को कोई मुमुक्षु विश्वासके साथ देखे कि मैं केवल चैतन्यस्वरूप हू, जो स्वय स्वभावतः निराकुल है, आकुलता की जहाँ रच गुंजाइश नही है, स्वय आनन्दका निधान है, ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र हूं और यह ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। ज्ञानभावको छोडकर मेरा कुछ स्वरूप ही नही, मेरा कुछ सर्वस्व

ही नही । यह मैं ज्ञानमात्र हू । ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है और मैं ज्ञानको ही करता हूं । जिस किसी भी स्थितिमे होऊं मैं ज्ञानको ही कर रहा हू, अन्य कुछ मैं कर ही नही सकता, क्योंकि वस्तुस्वरूपकी ऐसी सीमा है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थमे कुछ परिणति नही करता । तो जब मेरी क्रिया किसी परद्रव्यमे असम्भव है तो मैं अपनेमे ही तो कुछ करता हूं । क्या करता हूं ? एक ज्ञानभाव, जानना, जिसे लोग सुख कहते है वह भी एक जाननेकी विधि है । यह पदार्थ इष्ट है, यह पदार्थ सुखकारी है, इस प्रकारका चिंतन जितना चलता वह सुख कहलाता है । जब कभी दुःख होता है तो यह पदार्थ अनिष्ट है यह मेरा विराधक है, यह कब दूर हो, इस प्रकारकी कल्पनाके रूपमे ज्ञानकी जो क्रिया चलती है बस यही दुःख है । तो हर समय किसी भी परिस्थितिमे हो, यह जीव ज्ञानको ही करता है । जब यह ज्ञान अपनी शुद्ध वृत्तिको करने लगता है, मैं केवल जाननहार हू, जाननेमे अन्तर कुछ नही है, केवल प्रतिभास है, ऐसा प्रयोग जब बनता है तो उसे शान्ति कहते हैं । तो शान्ति भी क्या वस्तु है ? ज्ञानकी ही शुद्ध परिणति इसको शान्ति कहते है, यह बात मिलनी है स्वस्थ होनेमे । इसी कारण स्वस्थताको धर्म कहा गया है । स्वस्थता अर्थात् स्वमे स्थित हो जाना, स्व है ज्ञानस्वरूप और स्थित किसको करना है ? जो भटक रहा हो उसे ही तो स्थित करना है । भटक कौन रहा है ? उपयोग । यह उपयोग यद्यपि ज्ञानसे अलग वस्तु नही है, पर ज्ञान ही एक क्रिया उपयोग ज्ञानमे न ठहर कर, ज्ञानमय होकर ज्ञानसे बाहर अन्य पदार्थोंमे चलता है, ठहरता है, तो इस ही को कहते हैं अस्वस्थता । जो प्राणी अस्वस्थ है वे दुखी हैं और जो स्वस्थ है वे सुखी है । स्वस्थता आध्यात्मिक लेना है, अपने आपके आत्मामे स्थित होना यह ही धर्म है, और इस परिच्छेदमे जो धर्मकी ५ परिभाषयें कही गई थी उनमे अन्तिम परिभाषा है स्वस्थता । उस ही का यह सब प्रकरण चल रहा है ।

एतन्मोहठकप्रयोगविहितभ्रान्ति भ्रमच्चक्षुषा
पश्यत्येष जनोऽसमञ्जमसद्बुद्धिध्रुव व्यापदे ।
अप्येतान् विषयाननन्तरकक्लेशप्रदानस्थिरान्,
यत् शश्वत्सुखसागरानिव सतश्चेतः प्रियान् मन्यते ॥११९॥

(३०१) मोह ठग द्वारा भ्रान्त किये गये प्राणीकी दुर्बुद्धिका दिग्दर्शन—

आत्माका धर्म क्या है, यह प्रकरण चल रहा है । आत्माका धर्म है स्वस्थता, मायने अपने आपके स्वरूपमे मग्न हो जाय, इसका नाम है धर्म । सो जिन जीवोको मोहठगने ठग रखा है, उस मोह ठगके प्रयोगसे जिसको भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है, उस भ्रान्तिसे जिसके

अज्ञाननेत्र घूम गए हैं, ऐसे पुरुष आपत्तिमे भी दुर्बुद्धिता बना रहे याने विषयोकी आपत्ति है इस जीवपर, जो इन पदार्थोमे राग जाता है, लेकिन जब विपरीत बुद्धि हो गई तो उनको ऐसा समझते है कि जैसे मानो ये सुखके सागर हों, चित्तको बड़े प्रिय लगते हो, जैसे विषय-सुख, भोजनका सुख, सुगधित पदार्थ भोगनेका सुख, अच्छे-अच्छे रूप सनीमा देखनेका सुख, बडे अच्छे राग भरे वचन सुननेका सुख, कोई यश कीर्ति गाये तो उसके माननेका सुख—इन सब सुखोको यह बडा प्रिय मानते, पर यह नही मालूम कि इन सुखो के बहाने ही यह मोह ठग इस जीवको ठग रहा है, मगर जो विवेकी पुरुष हैं वे इस तथ्यको जानते हैं और इस मोहके बहकावे मे नही आते। वे अन्दरमे अपने ज्ञानस्वरूपको समझ रहे है। यह मैं ज्ञानमात्र हू, सो मैं ज्ञानको ही करता हू, ज्ञानको ही भोगता हू, इसके अतिरिक्त और कुछ करनेका मेरा स्वरूप नही है, ऐसा तथ्य जिसको ज्ञात हो गया वे पुरुष इस मोह ठगके बहकावेमे बहकते नही हैं।

ससारेऽत्र घनाटवीपरिसरे मोहष्ठकः कामिनी
क्रोधाद्याश्च तदीयनेटकमिद तत्सनिधौ जायते।
प्राणी तद्विहितप्रयोगविकलस्तद्वश्यतामागतो
न स्व चेतयते लभेत विपद ज्ञातु प्रभो कथ्यताम् ॥१२०॥

(३०१) मोह ठगके वशीभूत प्राणीके स्वचेतनकी अशक्यता तथा विपत्तियोंका मार—

यह ससार क्या है? घनघोर जगल जैसा। इस घनघोर जंगलमे जिसकी कि कुछ म्याद नही, मोहकी क्या अवधि है, मोहसे यह क्या क्या नही सोचता, तो ऐसा यह मोहपना ही, यह मोह ठग ही इस जीवको बहका रखता है और उसके सहायक यह सम्पदा कुटुम्ब, स्त्री, क्रोधादिक कषायें ये सब उस मोह ठगके सहायक हो रहे हैं, क्योकि यह मोह ठग इन चीजोको जुटा कर ही ठग पाता है। तो ऐसा यह ठगा हुआ प्राणी उस मोहको जो प्रयोग बना उसमे विकल हो गया। जैसे कोई ठग कोई मत्र तत्र जादूका रूपक बनाता है, अपनी आंखोको तेज फैलाकर दूसरोको देखने आदिक प्रयोगोसे जैसे दूसरेकी बुद्धि विपरीत कर दी जाती है और बुद्धिसे विकल होकर जैसे वह पराधीन हो जाता है, इसी तरह मोहके आधीन यह ससारका प्राणी हो रहा है, सो यह मोह ठगसे ठगा-हुआ अपने आत्माका बोध नही कर पाता और फिर ऐसी बेहोशीमें जहाँ अपनी सुध नही है, वह क्या क्या विपत्तियाँ नही पाता, तो उन विपत्तियोसे डरकर अगर कुछ विवेक है तो ज्ञाताप्रभुकी शरणमें जाइये। जैसे जिसके राज्यमे कोई महाठग ठग रहा हो तो लोग राजासे ही निवेदन करते हैं, इसी तरह यह सारा लोक एक प्रभुका राज्य है यो समझलो, किस दृष्टिसे कि प्रभुके ज्ञानमें यह

सारा लोकालोक ज्ञात हो जाता है और यही जब दुःखी हो रहे, मोह ठगका नृत्य हो रहा तो इस ज्ञाताप्रभुसे ही निवेदन करें, तो ज्ञाताप्रभुके स्वरूपको निरखकर अपने प्रभुकी तुलना करो, साहस बनाओ— कि मै इस मोहके बहकावेमे न आऊँगा, मैं अपने इस ज्ञानस्वरूपको ही निहारता रहूगा ।

ऐश्वर्यादि गुणप्रकाशनतया मूढा हि यत्कुर्वते
सर्वेषां टिरिटिल्लितानि पुरत· पश्यन्ति नो व्यापदः ।
विद्युल्लोलमपि स्थिरं परमपि स्वं पुत्रदारादिकम्
मन्यन्ते यदहो तदत्र विषमं मोहप्रभो शासनम् ।।१२१।।

(३०३) मूढ़ोंके अहंकार और विपरीतमान्यताका प्रदर्शन—

इस जगतमे मूढ पुरुष अपनी शान बगरानेके प्रयोजनसे, अपने ऐश्वर्य आदिक गुणोका प्रकाश करनेके ढंगसे वे सभी जीवोकी एक दिल्लगी किया करते है । और ऐसा अभिमान करनेके फलमे यह नही समझते कि भविष्यमे इसका कितना कटुक फल भोगना पडेगा ? कषाय करना एक पाप है । किसीसे विरोध रखना, किसीका बुरा विचारना यह पाप है । इससे जो कर्म बँध जाते तो उसके उदय कालमे यह विवश हो जायगा और कष्ट भोगना पडेगा । देखो कर्म सिद्धान्तपर भी विश्वास रखना चाहिए । जो जैसा करता है उसको वैसा भोगना पडता है । तो जो किसी जीवको घात पहुचाये, ऐसी भावना रखता है तो ऐसा ही प्रसग आता है कि दूसरोके द्वारा इस जीवका घात होने लगता है । इसलिए किसीकी दिल्लगी (मजाक) न करना चाहिए । सबका महत्त्व अपने दिलमे बसाना चाहिए । सब जीव प्रभुसम है, कोई छोटा नही है । उस स्वरूपकी दृष्टिसे देखें, किसीको तुच्छताकी दृष्टिसे न देखें । इस हँसी, मजाक दिल्लगीका परित्याग करना चाहिए । तो ये मूढ प्राणी क्या क्या कर रहे हैं धर्मके विरुद्ध ? धर्म तो यही है ना कि अपना जो आत्माका ज्ञानस्वरूप है उसमें स्थिर हो जाना, पर ऐसा नही कर पाते वे । कुछ वैभव प्राप्त किया या कोई चला प्राप्त किया तो उससे एक व्यामोहमे आकर दूसरे जीवोको तुच्छताकी दृष्टिसे देखते है । लेकिन इसका फल आगे बहुत कठिन भोगना पडता है, और यह व्यामोही प्राणी इन विषयके साधनोमे, रूप, रस, गध, स्पर्शमे जिसमे व्यामोह उत्पन्न होता है, आकर्षण होता है वे प्राणी इस समस्त वैभवको देखकर भी कुछ अपनी चिन्ता नही करते । यह समस्त प्राप्त समागम बिजलीकी तरह चचल है । जैसे बिजली चमकी कि तुरन्त समाप्त हो जाती है ऐसे ही ये पदार्थ जितने मिले सो ये तुरन्त समाप्त हो जाते है । आप कहेगे कि तुरत कहाँ समाप्त होते हैं ? रहते तो

हैं १० २०-५०-१०० वर्ष तक ? अरे तो इस अनन्त कालके सामने इतनासा समय कुछ गिनती भी रखता है क्या ? ज्ञानी पुरुष बिजलीकी तरह चचल देख रहे हैं इन सब पदार्थोंको, फिर भी इस मोहका बडा विषम प्रभाव है । देखो — देख रहे हैं ये मोही भी कि ये पुत्र स्त्री आदिक दूसरे जीव हैं, ये मेरे कुछ नही लगते, फिर भी इनमे मुग्ध हो रहे है तो इसका फल किसे भोगना पडेगा ? जो करेगा उसीको भोगना पडेगा तो इस व्यामोहमे न फसकर अपना जो कर्तव्य है चित्तशान्ति के लिए सो ही करना चाहिए ।

> क्व याम किं कुर्मः कथमिह सुख किं च भविता ।
> कुतो लभ्या लक्ष्मी क इह नृपतिः सेव्यत इति ।।
> विकल्पाना जाल जडयति मन' पश्यत सता ।
> अपि ज्ञातार्थानामिह महदहो मोहचरितम् ।।१२२।।

(३०४) मोहका विडम्बनामय चरित्र—

मोहका चरित्र और धर्मका पालन–ये दो बातें बिल्कुल अलग अलग हैं । जिनपर मोहकी चर्चा चल रही है उनके पास धर्म नही फटकता और जो धर्ममे स्थिर हो गए हैं उनको मोह नही सता सकता । देखिये जो इस मोहसे अधीर हुए हैं वे किस किस प्रकारका भाव रख रहे हैं—मैं कहां जाऊं, क्या करूं, कैसे सुख होगा, क्या होगा, लक्ष्मी कहासे प्राप्त होगी, कौनसे राजाकी सेवा करना चाहिए ? ऐसे कितने ही विकल्प उत्पन्न होते हैं मोहमे । तो विकल्पोका जो जाल है सो यह जाल इस मनको, इस आत्माको जडकी तरह बना रहा है । जैसे जड पदार्थ कोई अपना भला नही कर सकते इसी तरह मोहमे फसा हुआ यह प्राणी किसी भी तरह अपना भला नही कर सकता । तो देखो मोहका चरित्र जिनको पदार्थका विज्ञान है, ज्ञानी पुरुष हैं उनको भी यह मोह चरित्र सताता है । बडे-बडे पुराणोंमे आप क्या देखेंगे—एक मोहकी लीला, मोहका चरित्र । जो जीव अन्तमे सर्वबाधावोंमे हटकर, केवल आत्मामे रमकर, निर्ग्रंथ दशा पाकर मुक्त हो गए है उनके मोहकी लीलाका बडे चावसे व्याख्यान होता है । देखो एक बात—जैसे जो पुरुष मोक्ष गया, तीर्थंकर मोक्ष गए, रामचन्द्र महाराज मोक्ष गए, हनुमान जी मोक्ष गए, जो जो भी गए हो, सिद्ध भगवान हुए, उनका जो पहला चरित्र है मोहदशामे रहनेका, प्रीतिसे रहनेका उसकी भी चर्चा होती है भक्तिभावसे । तो जिनका अतिम जीवन सुधर गया उनकी पहली लीलावोसे भी लोग उन्हे दोषी नही कहते किन्तु उपदेश है कि कैसे कर्मोंका उदय आया कि ऐसा भी भोगना पडा । श्री रामचन्द्र जी को राज्याभिषेक होनेको था, पर दो मिनट पहले ही क्यासे क्या हो गया, भरतको राज्य हुआ

कैकेईने वरदान पूरा कर पाया और खुद श्रीराम यह सोचकर बनवास सिधारे कि मेरे रहते सहते हमारे भाई भरतका प्रभुत्व न फैल सकेगा। न जाने उन श्रीरामके जीवनमे क्यासे क्या घटनायें नही गुजरी ? मोहकी लीला देखो कितनी विचित्र है ? जो मोहचरित्र बडे-बडे विद्वान पुरुषोको, संतोको भी विह्वल कर डालता है ऐसा यह मोह चरित्र साधु संतजनोके सेवने योग्य नही है।

विहाय व्यामोहं धनसदनतन्वादिविषये, कुरुध्वं तत्तूर्णं किमपि निजकार्यं बत बुधाः।
न येनेदं जन्म प्रभवति सुनृत्वादिघटना, पुनः स्यान्न स्याद्वा किमपखचोडम्बरशतैः ॥१२३॥

(३०५) धन, मकान, शरीर आदिमें व्यामोह छोड़कर जन्मादिविडम्बनाविनाशक निज कार्य करनेका संदेश—

देखो बात दो ही है। अपने आत्मामें अपना ज्ञान समा गया तो बस कल्याण हो गया और अपना ज्ञान अपने स्वरूपमे न समाये और बाहर बाहरमे ही यह राग मोह करता रहे तो इसको आपत्ति है, यह बात सब जानते है। अब कैसा विचित्र उदय है कि सब बातें जानकर भी उस मार्गमे नही चल पाते, मोह उत्पन्न हो जाता है। जहाँ घरके छोटे-छोटे बच्चोको, नाती पोतोको देखा कि बस उनके प्रति मोह उत्पन्न हो जाता है, उनके प्रति एक आकर्षण हो जाता है, सो कहते हैं कि धन, मकान, शरीर आदिकके विषयका मोह बिल्कुल छोड दो, क्यो छोड दो कि ये परवस्तु हैं और ये मेरा साथ नही निभा सकते। क्षणिक हैं, मिट जाने वाले है, मेरे साथी नही बन सकते।

तो ऐसी दशा जानकर इन पदार्थोंमे व्यामोह को छोड दो। मोह न रखना मायने अज्ञान न रखना। इससे मेरा हित होगा, यह मेरा सुखकारी है, इस तरहका व्यामोह न करना, और वह काम जल्दी से जल्दी करना जिस कामके करनेसे फिर जन्म मरणकी परम्परा नही रहती। सबसे अधिक कठिन रोग लगा है इस जीवको जन्म लेना, मरण करना। सो लोग मोहसे तो डरते हैं और जन्मसे नही डरते। मरणमे दुख होता है, पर जन्ममे दुःख होता कि नही ? अरे जन्ममे दुख मरणसे कही कम नही है। तो जन्म और मरण—ये दोनो ही दुःखरूप हैं। ऐसी भावना रखें कि मुझे ऐसा कार्य बने, ऐसा ज्ञान बने कि जन्म मरणकी परम्परा न रहे, मुझे जन्म मरण दोनोसे उपेक्षा है, ऐसा अपनेमे दृढ निर्णय रखें। तो स्त्री पुत्रादिकका व्यामोह छोड़कर अपने कार्यको करें। क्या है अपना कार्य ? बस राग-द्वेष मिटाना, अपनेको ज्ञानमात्र निरखना। मैं ज्ञानस्वरूप हू, अन्य रूप नही हूं, यह है कल्याणका एक कार्य, सो करें। जिससे जन्म न होगा, और फिर देखो जो मनुष्यभव पाया,

जो सत्सग पाया, इसके मिटनेके बाद क्या यह कहा जा सकता है कि ऐसी सुख सम्पदा हमको आगे भी मिलेगी ? नही कहा जा सकता । तो फिर अन्य बहुत बहुत वचनोके बकवादसे क्या प्रयोजन है ? एक अपने इस आत्मस्वरूपको देखिये ।

वाचस्तस्य प्रमाणं य इह जिनपतिः सर्वविद्वीतरागो
रागद्वेषादिदोषैरुपहृतमनसो नेतरस्यानृतत्वात् ।
एतन्निश्चित्य चित्ते श्रयत बत बुधा विश्वतत्त्वोपलब्धौ
मुक्तेर्मूलं तमेकं भ्रमत किमु बहुष्वन्यवद्दुःपथेषु ॥१२४॥

(३०६) वीतरागके वचनोंमे प्रमाणता—

देखो किसका वचन प्रमाण है ? इस मोही जगतमे जब कोई जो कुछ बात पेश करता है तो उसकी बात सुनकर ऐसा लगता है कि सत्यवादी तो यह ही है बाकी और कोई भी एक महत्त्वशाली नही है, लगता है ऐसा, मगर क्या उसके वचन प्रमाणभूत हैं ? अरे वचन उसके प्रमाणभूत है जिसमे रागद्वेष मोहकी गध नही । प्रभुका वचन, प्रभुकी दिव्यध्वनि उसकी परम्परासे चले आये हुए ये वचन, आर्ष आगम, ऋषि सतोके द्वारा प्रणीत ये वचन प्रमाणभूत हैं और इसके विपरीत अन्य लोगोका वचन प्रमाणभूत नही है, जिनका मन राग द्वेषकी वासनाओसे दूषित है ऐसे किसी भी पुरुषके वचन प्रमाणभूत नही होते । वचन प्रमाणभूत होते हैं निष्पक्ष पुरुषके, जिसके किसीके प्रति पक्ष न हो वह प्रमाणभूत नही है । एकबार कुछ हस एक मानसरोवरमे रहते थे । उनमे से एक जोडा याने हस और हसिनी कही बाहर जा रहे थे । रास्तेमे हो गई शाम तो उन्होने सोचा कि आज यहाँ ठहर जाय, सबेरा होत ही फिर आगे चले जायेंगे । तो हस हंसिनी वही ठहर गए एक जगह कौवोके मुहल्लेमे । उनसे इजाजत ले ली कि क्या हम रातभर यहाँ ठहर जायें ? कौवोने इजाजत दे दी । जब सबेरे हस हसिनी जाने लगे तो एक कौवेने उन्हे रोक लिया, ठहरो तुम नही जा सकते । तुम्हें शरम नही आती हमारे यहा रात भर रहे हो और फिर भी तुम हमारी स्त्रीको लिए जा रहे हो ? याने उस हसिनीको कौवा अपनी स्त्री बता रहा था । तो हस बोला—अरे यह हसिनी तुम्हारी स्त्री कैसे ? तुम काले हो, देखो हम दोनो सफेद है । यह तो हमारी स्त्री है । तो फिर वह कौवा बोला तो क्या यह कोई नियम है कि कालेकी स्त्री काली ही हो, सफेद भी तो हो सकती है । आखिर दोनोमे विवाद बढा, फिर यह तय हुआ कि इसकी पचायत की जाय, ठीक है । ५ कौवे चुने गए पंचायत करनेके लिए । चार पच और एक सरपच । दो कौवोने यह निर्णय दिया कि यह हसिनी तो इस कौवेकी स्त्री है । दो ने यह निर्णय दिया कि यह

हंसिनी तो इस हसकी है। अब सरपचके ऊपर निर्णय रह गया। जो बात सरपंच साहब कह दें वही ठीक। आखिर सरपंच कौवा ने यह निर्णय दिया कि यह हंसिनी तो इस कौवा की स्त्री है। इस बातको सुनकर वह कौवा जो हसिनीको अपनी स्त्री बताता था वह बेहोश हो गया। उस पर पानी छिडका गया। जब होश आया तो सभी कौवोने कहा—ऐसी क्या बात जो तुम बेहोश हुए, न्याय तो तुम्हारे ही माफिक किया गया ? तो वह कौवा बोला—हमें बेहोशी इस बात से हुई कि जो सरपंच निष्पक्ष होता है, परमेश्वरतुल्य होता है उसने भी पक्ष लिया, अन्याय किया। भले ही हमारे अनुकूल न्याय किया, पर पक्ष तो पक्ष ही है। भले ही हमारे अनुकूल न्याय किया, पर सरपंचके अन्यायपर मेरे दिलको चोट पहुंची, इससे मैं बेहोश हो गया। तो एक अज्ञानकी बात कह रहे। जिसके रागद्वेष भरे हैं उसके वचन प्रमाण कैसे हो सकते हैं ? जब रागद्वेषरहित हो तब ही वचन प्रमाणभूत हो सकते हैं। ऐसा जानकर हे भव्य जीव ! जो वाणी रागद्वेषसे रहित हो, रागमे फसाने वाली न हो, ज्ञानको बढ़ाने वाली हो, सत्य हो, मनगढन कथा जैसी न हो, ऐसी जहां कोई वाणी अध्यात्मतत्त्वको प्रकट करने वाली हो उस वाणीका सहारा लें और उन सद्वचनोके सहारे अपने आपके परिणामोको विशुद्ध करे।

(३०७) समीचीन वचनोंकी महनीयता—

देखो समीचीन वचनोका बहुत बडा महत्त्व है। वचनोंसे ही यह जीव उन्नति पाता है और वचनासे ही यह जीव ठुकराया जाता है। धर्मकी तो बडी ऊँची बात है। ब्रह्म-स्वरूपको जानें और उस ही स्वरूपमे मग्न हो जायें, और जो एक बड़ी ऊँची बात है, पर कमसे कम जीवनमे इतनी बात तो आ ही जानी चाहिए कि यह वचनव्यवहार हमारा ऐसा हो कि जो किसीको दुःख करने वाला न हो। कभी किसीसे वैमनस्य भी हो जाय तो भी जब सामने आये तो उससे वचन बोलें आप सत्कारके। सत्कारके वचन बोलनेमे अनेक लाभ हैं। जैसे एक तो अच्छे वचन बोलने वाला जब बुरे वचन बोलेगा तो वह तब बुरे वचन बोल पायगा जब कि वह एक बार अपने मनको पहले तोड दे। और जब किसीसे अच्छे वचन बोलेगा तो वह प्रसन्न रहेगा। अच्छे वचन जिसने सुने उसे अनुराग है तो वह भलेका ही कारण बनेगा और खोटा वचन अगर किसीने बोला तो जिसको बोला वह भी अपना बदला चुकानेकी बात सोचेगा। नो जिसको अपने जीवनमे सुख शान्ति चाहिए उसको यह दृढ़ गाँठ बाँध लेनी चाहिए कि कैसा ही पुरुष मेरे सामने हो, मित्र हो, भाई हो, विदेशी हो, उससे बोलें तो हित, मित, प्रिय वचन बोलें। यह कितने दिनोका समागम है ? कुछ दिनको ये

मिल गए। अब उनमे ही अगर वैर विरोध हो जाय तो उससे तो पापका ही बंध होता है, और फिर उसके उदयकालमे इस जीवको दुःखी होना पडता है। इससे अपना वचनव्यवहार हित, मित, प्रिय होना चाहिए। देखो वचन बोलनेकी पद्धतिके प्रसगमें तीन बातें कही जाती हैं—वचन हितकारी हों, परिमित हो और प्रिय हो। मान लो कोई बहुत हो सच बोले, मगर दिनभर बोला करे तो उसमे एक तो उसको आत्मदृष्टि नही रही, यह हानि रही। और दूसरे उसके बहुतसे लोग विरोधी भी हो जाते हैं।

(३०८) सबको समान मानकर राग द्वेष त्यागकर निज अन्तस्तत्त्वमें तृप्त होनेका संदेश—

कोई किसीको छोटा न समझे कि इससे मेरा क्या भला हो सकता, यह तो एक बडा तुच्छ है। अरे एक दृष्टात देख लो—किसी चूहेको एक शेरने अपने पजोंसे पकड लिया और मार डालना चाहा, तो चूहा बोला—हे वनराज! तुम मुझे न मारो, हमे प्राणदान दे दो, हम कभी तुम्हारे काम आयेंगे। तो शेरने सोचा कि यह तुच्छ प्राणी मेरे क्या काम आ सकता? पर यह सोचकर छोड़ दिया कि इससे कही मेरा पेट थोडे ही भर जायग? आखिर एक बार ऐसी घटना घटी कि वह शेर किसी शिकारीके जालमे फंस गया। वहाँ वह चूहा भी मौजूद था। जब उसने शेरको जालमे फँसा देखा तो जालको अपने मुखसे कुतरकर काट दिया। शेर जालसे निकलकर भाग गया और उस चूहेका बडा आभार माना। तो यहाँ कोई किसीको तुच्छ न समझे। स्वरूपदृष्टिसे देखो तो सब जीव एक समान हैं। अपना व्यवहार हित, मित, प्रिय वचनका रखें। अपने आपपर करुणा करके इन सब प्रकारके व्यामोहोको छोड दीजिए, समस्त परपदार्थोंका लगाव छोड दीजिए और अपने आपको आत्मचिन्तनके कार्योंमे ही लगा लीजिए, तो फिर क्या वजह है कि जो सम्यक्त्व न जगे, अपना ज्ञान न बने? अवश्य बनेगा। तो बस अब तो एक ही कार्य करनेका है जीवनमे कि समस्त परपदार्थों को अपनेसे अत्यन्त भिन्न समझें और तृणवत् असार समझें। जैसे तृण किसी काम तो नही आता, ऐसे ही यह समस्त सग परिग्रह भी किसी काम नही आनेका। यह समस्त संग परिग्रह तो इस जीवके बिगाडके लिए है, पर आत्माके सुधारके लिए यह काम नही आता, तो इस परिग्रहसे व्यामोह तज देना चाहिए और अपने आत्मामे ऐसा अनुभव करें कि मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र एक सहज परमात्मतत्त्व हू। ऐसा जो ज्ञानका अभेद स्मरण है उसमे इतनी सामर्थ्य है कि भव-भवके बांधे हुए कर्म भी इस बलसे कट जाते हैं।

यः कल्पयेत् किमपि सर्वविदोऽपि वाचि,
संदिह्य तत्त्वमसमञ्जसमात्मबुद्धया ।

खे पत्रिणां विचरतां सुदृशेक्षितानां,
सख्यां प्रति प्रविदधाति स वादमन्धः ।। १२५ ।।

(३०९) जिनवाणीमें विवाद उत्पन्न करनेका अज्ञानान्ध पुरुषोंके द्वारा ही यत्नकी संभवता—

वीतराग सर्वज्ञदेवकी वाणीमे संदेह करके जो पुरुष विपरीत तत्त्वकी बात रखते है अथवा उसमे विवाद करते है, उनकी करतून उस प्रकार है जैसे कि अच्छी आँख वाले लोग आकाशमे उडते हुए कुछ पक्षियोकी सख्या बताये कि भाई वे देखो २० पक्षी जा रहे और कोई अधे लोग उनसे विवाद करें कि नही जी, वे तो १० ही पक्षी है या कुछ भी अटपट कह दें। सो वह तो अन्धोकी बात गलत है ना। वे तो ठीक ही कह रहे थे, क्योकि उन्होने उन्हे देखकर ठीक ठीक गिन लिया था। पर अधे लोगोने उनके सामने एक विडम्बना खडी कर दी। ठीक ऐसे ही सर्वज्ञदेवकी वाणीमे कोई छद्मस्थ जीव अज्ञानी जन विवाद कर देते है तो वह एक विडम्बना मात्र है। यह बात यो समझिये कि प्रभुकी वाणीमे सब कुछ बताया गया। ऊर्द्धलोक, मध्यलोक, अधोलोक, कैसे-कैसे नरक है, कैसे स्वर्ग है, कैसे द्वीप है, कैसे चैत्यालय है, इसका स्पष्ट वर्णन आया है, और जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष—इन ७ तत्त्वोका वर्णन है। सब कुछ वर्णन आया है। अब उसमे कोई विवाद उठाये—ऐसा नही, अन्य प्रकार बताये। जैस बहुतसे दार्शनिकोने कहा ही है—जीव, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके मिलनेसे पैदा होता। जीव क्षण क्षणमे नया-नया बनता। जीव वहीका वही कूटस्थ नित्य है, जीव ज्ञानसे शून्य है आदिक अनेक वर्णन अनेक दार्शनिक करते है तो इसी प्रकार कोई जैनागमको मानकर भी कोई विवाद उठाये तो भला यह बताओ कि ये तो छद्मस्थ प्राणी है याने जहाँ तक केवलज्ञान न हो वहाँ तक अज्ञ ही कहा जाता है तो यहाँ तक अज्ञान बसा है और हम प्रभुकी वाणीमे विवाद करें तो यह कल्याणकी बात नही है।

(३१०) जिनवचनोकी प्रबल प्रामाणिकता—

मोटे रूपसे देखो—कोई कहे कि बताओ अच्छा स्वर्ग कहाँ है, दिखा दो ? और कोई कहे अच्छा बताओ कहाँ है नरक ? दिखाओ तो मानेगे ? तो उसे प्रमाण मानने चलने वाले एक यह अनुमान बनायें कि जब भगवानकी वाणीमे वह बात सत्य है और हमारे अनुभवमे सत्य उतरी है, जिसका कि हम अभी ही ज्ञानमे ले सकते है या परीक्षामे ला सकते है, जैसे ७ तत्त्वोका कथन। जीव क्या है, कर्म क्या है ? जीवकी परिणति बध कैसे मोक्ष, जीवका स्वरूप, इन बातोमे जब प्रभुकी वाणीसे चली आयी हुई बात सत्य उतरती है, शत प्रतिशत, रच भी फर्क नही है। तो जो हमारे ज्ञानमे आ सकती है बात वह जब पूर्ण सत्य है तो जो

परीक्षाकी चीज है ज्ञानमे नही आ पाती, लेकिन प्रभुवाणीमे है इसलिए वह भी शत प्रतिशत सही है, ऐसा श्रद्धान करना और उस अनुसार चिंतन करना सो एक धर्मध्यान का अग है, अन्यथा जिसने अपने पिताको नही देखा, मायने बचपनमे गुजर गया पिता, अब वह बडा होने पर यह कहे कि हमारे पिताको तुम आँखो दिखा दो तब हम मानेंगे कि हमारा भी कोई पिता था अन्यथा हम तो नही मानते, तो यो हठ तो नही चलती। यह तो एक भूतकाल की बात है, जो बात आज नही है फिर भी पुराणोमें, शास्त्रोंमे चली आयी उसे हम मानते हैं, फिर जिन ऋषि सतोने, जिनको कुछ पक्ष नही, जिनको कोई स्वार्थ नही, उन वीतराग योगी जनोने जो बात कही उसमे कोई भूल यो नही हो सकती कि भूलके कारण दो हुआ करते है। एक तो जानकारी न हो तब भूल होती, एक कुछ राग लगा हो, स्वार्थ लगा हो तो भूल हो जाती है, पर वीतराग सर्वज्ञदेवकी वाणीमे दोनो ही दोष नही हैं। न वहाँ कुछ राग है और न वहाँ अज्ञान है। यह बात यो कह रहे है कि इस प्रकरणमे वास्तविक धर्मका वर्णन चलेगा। क्या है वह धर्म ? स्वास्थ्य, स्वस्थता याने निज आत्मतत्त्वमे स्थित हो जाना, मग्न हो जाना, अपनेमे तृप्त हो जाना यह ही है धर्म। इस धर्मकी बात कही जायगी बहुत विस्तारसे। सो उसकी पीठिकामे हृदयशुद्धि करा रहे हैं, क्योकि जैसे सिंहनीका दूध स्वर्णपात्रमे ही ठहरता ऐसे ही परमशरण पवित्र स्व सहज अन्त स्वभावमय धर्ममें उपयोगको स्थित कर देने जैसा महान् धर्मपालन शुद्ध हृदय होनेपर ही भव्य आत्मामे ठहर सकता है।

उक्तं जिनैर्द्वादशभेदमङ्ग , श्रुत ततो बाह्यमनलभेदम्।
तस्मिन्नुपादेयतया चिदात्मा ततः पर हेयतयाऽभ्यधायि ॥१२६॥

(३११) विशाल आगममे चिदात्मत्वकी उपादेयताका उद्घोष—

जिनेन्द्रदेवने १२ भेद वाले श्रुतको बताया है, अर्थात् आगम श्रुत जिसमे सर्वविधियाँ, रचनायें स्वरूप सबका वर्णन है, वह सब उपदेश दो भागोमे विभक्त है-(१) अगप्रविष्ट, (२) अग बाह्य याने अगरूप और अगसे दूर। अगप्रविष्टके १२ भेद हैं, जिनका बहुत विस्तार है। जैसे पहला अग है आचाराग, जिसमे साधुधर्मका भले प्रकार वर्णन है। कैसे बैठना, उठना, चलना बोलना, ध्यान करना, सभी बातोका स्पष्ट वर्णन है। ऐसे ही १२ अगोंमे स्वरूपका, चारित्र का, उपयोगी बातोका वर्णन है, जिसमे १२ वाँ जो दृष्टिवाद नामका अङ्ग है उसका बहुत विस्तार है। एक दृष्टिवादाङ्गका जितना विस्तार है उतना ११ अगोका मिलकर भी नही है। दृष्टिवादके ५ भेद हैं—(१) परिकर्म, (२) सूत्र, (३) प्रथमानुयोग (४) पूर्वगत और (५) चूलिका। पूर्वगतका बहुत बडा विस्तार है। ये पूर्व १४ प्रकारके हैं, जिनमे वस्तुस्वरूप

का, त्रिलोकरचनाका, क्रियाकाण्डका, त्यागविधिका बहुत विस्तारसे वर्णन है, और जो अग बाह्य भेद है उसका तो बहुत विषय है, जिसमे मुख्यतासे १४ भेद बताये गए। सामायिक, समतापरिणाम, सामायिक करनेकी विधि, सामायिक की महिमा यह सब वर्णन इस सामायिक नामक अंग बाह्यमें है। अर्थात् २४ तीर्थंकरोका स्तवन और उससे सम्बधित तथ्यों का वर्णन है। इस प्रकार व्यवहारमे करने योग्य अनेक बातोंका इन १४ प्रकारोमें वर्णन है। सो श्रुतका तो बहुत बड़ा विस्तार है। उसे समझनेसे एक पवित्रता विशुद्ध होती है, मगर उपादेय बातमे सबमे क्या बताया गया है कि जो चैतन्यस्वरूप है, अन्तस्तत्त्व है वह उपादेय है। जो लोकरचना बतायी जाय कि यह लोक कितना बडा है, वहाँ क्या-क्या रचनायें है, इन सब उपदेशोका प्रयोजन क्या है कि यह सारे लोकमे अन्य कुछ जीवोके लिए उपादेय नही है। एक चैतन्यस्वरूप अतस्तत्त्व, उसकी दृष्टि, उसका रमण ही एक सारभूत बात है और इसीके लिए द्वादशाङ्गका वर्णन है। तो यह सब परिचय करनेसे इस चैतन्य-स्वरूप अतस्तत्त्वका स्पष्ट बोध होता है, जिससे इसमे स्थित होनेकी विधि बनती है।

अल्पायुषामल्पधियामिदानी कुतः समस्तश्रुतपाठशक्तिः।
तदत्र मुक्तिं प्रति बीजमात्रमभ्यस्यतामात्महितं प्रयत्नात् ॥१२७॥

(३१२) अल्पायु अल्पधी वाले इस भवमें आत्महितका प्रयत्नसे अभ्यास करनेका अनुरोध—देखो आजकल हम सबकी आयु अल्प है। वैसे ही थोडी आयु है, फिर बहुत वर्षों के बाद समझ बनती है, तब थोडी ही आयु रह गयी, जिसमे कल्याण करनेकी विधि बनती है। तो इस समय आयु तो अल्प है और बुद्धि भी अल्प है। विशेष समझनेकी शक्ति प्रतिभा पहले जैसी नही है। यह अवसर्पिणी काल है, इसमे सब बात घटती हुई रहती है। तो बुद्धिमे भी अल्प है, आयुमे भी अल्प है, और द्वादशाङ्गमे जितना वृत्त बताया गया है उसके ठहरनेकी शक्ति कहाँसे आ सकती है? तब ऐसी स्थितिमे उस बीज मात्र उपदेशको ग्रहण करें जो मुक्तिके प्रति एक बीजकी तरह है। जैसे बीज छोटा तो होता है किन्तु उसे विधिसे बो दिया जाय तो महान वृक्ष बनता है। शाखा, पत्ते, पुष्प फलका विस्तार बनता है, ऐसे ही बीजमात्र जो तत्त्व है स्वच्छता, चैतन्यस्वरूप आत्माका जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टिका अभ्यास करें बडे प्रयत्नसे, वही आत्माके हितरूप है और इस प्रयत्नमे इतनी बात तो जान ही लेनी चाहिए जैसे कि मोक्षशास्त्रके पहले जो मगलाचरण पढते है लोग और बतलाते हैं कि तीन काल, ६ द्रव्य, ९ पदार्थ जीवके काय, जीवकी लेश्या, संयम, गति, चारित्र, जो जो प्रयोजनभूत तत्त्व हैं, मोक्षमार्गके बीजभूत हैं उन तत्त्वोका अभ्यास बडे प्रयत्नसे करना चाहिए

तब पदार्थोंके द्रव्य गुणपर्यायोका सही बोध होता है। सर्वपदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ताका स्वतन्त्रता का परिचय होता है तो इस जीवके मोह भावका प्रक्षय हो जाता है और जगतके जीवोंको दु ख देने वाला भाव मोह है और कोई दु ख नही है जीवको। अकेला है, ज्ञानस्वरूप है, कष्टकी क्या बात है ? पदार्थ है। सही परिचय बनायें तो कष्टका कोई काम नही, लेकिन जब व्यामोह होता है तो इसको कष्ट न होते हुए भी कष्टका बडा अनुभव करना पडता है। सो जब वस्तुस्वरूपको सही सही जान लिया गया तो अतरगमे आकुलता नही रहती और मोक्षमार्गके प्रति उसका पौरुष बढता है।

निश्चेतव्यो जिनेन्द्रस्तदतुलवचसां गोचरेऽर्थे परोक्षे,
कार्यं सोऽपि प्रमाणं वदत किमपरेणालकोलाहलेन।
सत्यां छद्मस्थतायामिह समग्रपथस्वानुभूतिप्रबुद्धा,
भो भो भव्या यतध्व दृगवगमनिधावात्मनि प्रतिभाजः ॥१ ८॥

(३१३) सच्चे देव व आगमके निश्चयपूर्वक दर्शनज्ञाननिधि अन्तस्तत्त्वमें रुचि करनेका संदेश—

आचार्यदेव इस छदमे भव्य जीवोका सम्बोधन कर रहे हैं कि हे भव्य जीव आत्म-कल्याण चाहने वाले पुरुषो, आप सबको जिनेन्द्रदेवके विषयमे निश्चय करना चाहिए। अर्थात् कौन आत्मा भगवान हो सकता, कौन देव हो सकता है ? जो आत्मा सर्वगुणसम्पन्न है, जिसमे गुण तो परिपूर्ण हो, और दोष जहाँ रच न हो, ऐसा पवित्र आत्मा ही भगवान कहलता है। तो ऐसे रागद्वेषपर विजय करने वाले जिनेन्द्रदेवके स्वरूपकी सही श्रद्धा बनाओ, और जिनेन्द्रदेवके बताये गए अक्षय विचित्र विषयभूत जो परोक्ष पदार्थ हैं अर्थात् जिन्हे देवने स्वर्ग नरक आदिक जो परोक्ष पदार्थका वर्णन किया है, जो बताया है उसे प्रमाण करना चाहिए। चूंकि वे निर्दोष है, सर्वज्ञ हैं, उनके कथनमे सदेहका क्या काम ? जो जीव गलती करता है तो दो कारणोसे। एक तो उसके सम्बधमे पूरा ज्ञान न हो तो गलती करता है, दूसरे ज्ञान भी हो लेकिन पक्षपात हो, दोष हो, विरोध हो, मलिन आशय हो तो गलती करता है, पर प्रभुमे ये दोनो ही बातें नही है। न तो अज्ञानता है, न रागद्वेषादिक दोष हैं, फिर उनके वचनोंमे अप्रमाणताका क्या अवसर ? तो जिनेन्द्रदेव और जिनेन्द्रदेवके उपदेश इन दोनो का सहारा लें, व्यर्थके कोलाहलसे कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा। तो जब अल्पज्ञ अवस्था है तब क्या करना चाहिए ? जो जैन सिद्धन्त मे बताया गया मार्ग है, उस सिद्धान्तमे प्राप्त हुए अनुभवसे अपनेको प्रबुद्ध बनायें, अपनेको सावधान करें, और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

की विधि यही है, एक आत्मतथ्य, उसमे बडी प्रीतिपूर्वक माने, अपने आपको सोचें कि मै ज्ञानमात्र तत्त्व हूं, मेरा स्वरूप ज्ञानप्रकाश है, जानना मेरा काम है, यही ही मेरा अनुभव और यही मेरी सर्वस्व निधि, इस ज्ञानस्वरूपसे अतिरिक्त अन्य मै कुछ नही हूं और इस ही ज्ञानस्वरूपमे रमनेमे मेरा हित है—इस प्रकारकी श्रद्धा बनायें और ऐसे अपने निष्पक्ष आत्मतत्त्वका परिचय बनाये रहे, तो इसके प्रभावसे दोष दूर होंगे और आत्माका विकास बनेगा। तब देव शास्त्र गुरु इनसे सम्यक्त्व शिक्षा लें और इस ही रत्नत्रयमें अपना प्रयत्न होना चाहिए। देखो हम आप सब अल्पज्ञ कहलाते हैं, छद्मस्थ थोडा थोड़ा ही जानने वाले। तो अल्पज्ञ प्राणियोमे इतनी शक्ति नही है कि वे स्वयं अपनी बुद्धिसे साक्षात् देखते हो जिससे इस परोक्ष पदार्थका निर्णय कर सकें। और है यह जरूर ऐसा तो नहीं है कि जो परोक्ष हो वह है ही नही। मान लो किसीका पिता उसको गर्भावस्थामे ही मर गया याने वह गर्भमे ही था या जन्मते ही उसका पिता मर गया तो उस पुत्रने कभी देखा तो नही अपने पिताको, लेकिन क्या यह कहा जा सकता या वह पुत्र क्या यह कह सकता कि हमने पिता को देखा ही नही तो हमारा पिता कोई था ही नही, हम तो बिना पिताके ही पैदा हुए। ऐसा ही समझिये कि स्वर्ग नरक लोकरचना और जो महापुरुष हुए वे सब हुए है ना ? अब उनको हमने देखा नही तो क्या इसका यह अर्थ है कि वे है ही नही ?

तो जैसे हमने अपने बाबा, पड़बाबा, दादा, पडदादा वगैराको नही देखा, फिर भी समझ जाते हैं कि वे सब हुए, ऐसे ही परोक्षभूत पदार्थ स्वर्ग, नरक, लोकरचना, महापुरुष इनको हमने नही देखा, पर जो जिनेन्द्रदेवके वचन है वे मिथ्या नही हो सकते। जिनेन्द्रदेवके वचनोमे प्रमाणपना तो रागद्वेषरहित सर्वज्ञ होनेके नातेसे है। यद्यपि सर्वज्ञ वीतराग भी इस समय नही हैं, लेकिन उनकी उपदेशपरम्परा अब तक आगम धारा चली आयी है, उससे सब निर्णय होता है, तो जिनागम तो विद्यमान है, उसके द्वारा हम सुबुद्ध बनें, चेतें और आत्मकल्याणमे पुरुषार्थ करें। बात यह कही गई कि ज्ञानाभ्यास बढ़ायें, तत्त्वबोध करें और उस तत्त्वको अपनेमे निरखते हुए अपना कल्याण करें।

तद्ध्यायत तात्पर्याज्ज्योतिः सच्चिन्मयं बिना यस्मात्।
सदपि न सत् सति यस्मिन् निश्चितमाभासते विश्वम्॥ १२६ ॥

(३१४) ज्ञानानन्दमय उत्कृष्ट ज्योतिकी आराध्यता—

आचार्यदेवने सम्बोधन करके यह बात बतायी है कि देखो आयु छोटी है, बुद्धि छोटी है और आगम उपदेशका विस्तार बड़ा है। तो जो बीजमात्र तत्त्व हैं, द्रव्य गुण पर्यायके

स्वरूपकी बात है उसका अभ्यास करें, और उसके बीच-बीच बहुतसी परोक्ष बातोका भी वर्णन है तो उसपर श्रद्धान करें कि जिनेन्द्रदेवके उपदेशमे जो कुछ बताया गया है वह सब यथार्थ है, क्योकि जिनेन्द्रदेव यथार्थ हैं। तो उनकी परम्परासे जो उपदेश अब तक प्राप्त है उस उपदेशके द्वारा अपने आपमे अपने कल्याणकी बुद्धि जगायें। यह बात कहकर अब इस छन्दमे यह बात कही जा रही है कि तात्पर्य यह है कि अपना सहजस्वरूप है अपने सत्त्वके कारण जो कुछ भी अपनेमे स्वभाव है, प्राण है उस चैतन्यस्वरूपका ध्यान करना वह है सच्चिदस्वरूप और ज्ञानबल है। हम आपका स्वरूप क्या है ? प्रतिभास करना। प्रतिभास होता है दो प्रकारसे—सामान्य प्रतिभास, विशेष प्रतिभास। यही है ज्ञानदर्शन। तो जानन, देखन जिसमे पाया जाता है, जहाँ ऐसे इस चैतन्यस्वरूप ज्योतिका ध्यान करें। जो चैतन्यस्वरूप कैसा है ? देखो यदि यह चित्स्वरूप न हो तो इसके बिना यह सारा विश्व विद्यमान रहे तो भी न की तरह रहेगा और जिस चैतन्यस्वरूपके होनेके कारण यह सारा विश्व जैसा है वैसा यथार्थस्वरूपमे प्रतिभासित होता है उस चैतन्यस्वरूपकी बात कह रहे हैं। जो हम आप सब आत्माओमे अनादिसे अनन्तकाल तक रह रहा है और कल्पना करो कि और सब कुछ तो हो दुनियामे मगर एक चैतन्यस्वरूप न हो, जीव न हो तो उसका अर्थ क्या हो गया कि फिर कुछ भी नही है। तो ऐसा एक मुख्य तत्त्व है चैतन्यस्वरूप, उसका ध्यान करें। इस परिच्छेदमे धर्मकी ५ परिभाषायें कही गई थीं—जीवदया धर्म है। श्रावक और मुनिके व्रतसे दो प्रकारका धर्म है—रत्नत्रय धर्म है, उत्तम क्षमा दसलक्षण रूप धर्म है और ५ वी बात बतायी गई है कि मोह क्षोभसे रहित एक विशुद्ध आनन्दमय स्थिति धर्म है। तो इसी ५ वी परिभाषाका कथन चल रहा है स्वस्थता, अपने आत्मामे स्थित होना यह है स्वस्थताका अर्थ। तो इस भूमिकामे यह कह रहे हैं कि उस चैतन्यस्वरूपको छोडकर जिसके बिना विद्यमान भी जगत कुछ नही और जिसके होनेसे यह सारा विश्व सही रूपमे प्रतिभाषित होता है।

अज्ञो यद्भूवकोटिभि. क्षपयति स्वं कर्म तस्माद्बहु।
स्वीकुर्वन् कृतसवर स्थिरमना ज्ञानी तु तत्तत्क्षणात्।
तीक्ष्णक्लेशहयाश्रितोऽपि हि पद नेष्टं तप.स्यन्दनो॥
नेयं तन्नयति प्रभु स्फुटतरज्ञानैकसूतोज्झितः॥१३०॥

(३१५) ज्ञानीके कर्मनिर्जरणके तथ्यका दिग्दर्शन—

देखो जो अज्ञानी जन हैं वे कभी साधु संन्यासी आदि बनकर बडे-बडे ऊँचे तप-

श्चरण करके जैसा कि उनको सुहाता हो पंचाग्नि तप तपना, और वृक्षोंपर औंधे लटके रहना आदिक बहुतसी बातें करते है अथवा दिगम्बर दीक्षा लेकर भी मिथ्यात्व जब तक दूर नही हुआ, आत्माके सहजस्वरूपका अनुभव नही जगा तो ऐसा वह पुरुष जितने कर्मोंको काट लेता है तपश्चरणसे उससे कई गुना ज्ञानी जीवके त्रिगुप्तिके बलसे क्षणमात्रमें कट जाते है। भव भव भी तपश्चरण करके अज्ञानी जितने कर्म काटे, काटता तो कुछ नही मगर काटने पर ही दृष्टि रखें तो जितने कर्म भव-भवमे अज्ञानीके दूर हो सकते है उतने तो ज्ञानीके क्षणमात्रमे त्रिगुप्तिके बलसे याने मन, वचन, कायको वशमे करनेके बलसे झड जाया करते है। उसमें मुख्य कारण क्या है कि ज्ञानी जीवने कर्मरहित दुःखरहित निज सहज चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हू ऐसा अनुभव किया है। स्वास्थ्यधर्म ही अपने इस आत्मामे स्थित हुआ धर्म है, उसके प्रसंगमे यह बात कह रहे है कि स्वास्थ्यमे ही इतनी सामर्थ्य है कि भव भवके बंधे हुए कर्म क्षणमात्रमे कट जाया करते है। तो ज्ञानी जीव अपने मन माफिक तपश्चरण करता तो है और उसमे कुछ कर्म खिरते भी हैं, मगर क्या खिरना ? जितने खिरे उससे अधिक तो वह बांध लेता है। तो खिरनेकी जितनी प्रक्रिया हुई उतनी तो ज्ञानी जीव क्षणमात्रमे दूर कर देता है और कैसा दूर कर देता है कि नये कर्म आ न पायें और पुराने कर्म दूर कर दें, याने सवर सहित निर्जरा करते है। सो ठीक ही है।

(३१६) कर्मनिर्जरणके हेतुभूत तपोरथका सारथी आत्मविज्ञान—

देखो जैसे एक मानो कोई रथ है, जो घोडोसे सज्जित है, घोड़े जिसमें जुते हुए हैं, मगर उस रथपर सारथी नही बैठा है तो सारथीसे रहित वह रथ किस कामका रहा ? अथवा यही देखो जैसे कोई मोटर आदिक अच्छी मशीन है, बढिया चल सकने वाली है और ड्राइवर नही है तो उस मोटरसे क्या सिद्धि हो सकती है ? कोई सिद्धि नही, ऐसे ही समझो कि कोई बड़े तपका रथ है और उस रथमे कायक्लेश आदिक बहुत हो रहे हैं, मगर उस रथको चलाने वाला ज्ञान नही है आत्मस्वरूपका परिचय नही है तो वह रथ चल कैसे जायगा ? उस तपश्चरणका फल मिल कैसे जायगा ? तो जैसे बिना ड्राइवरके मोटर चल नही सकती और उससे कोई अपने इष्टस्थानमे नही पहुंच सकता, ऐसे ही जिसे सम्यग्ज्ञान नही है वह चाहे कितना ही तपश्चरण कर रहा हो फिर भी वह मुक्तिपदमें नही पहुंच सकता। यही तो कारण है कि अज्ञानी जन कितना ही तपश्चरण करें, उनके कर्म नही कटते अथवा जितना भी कटे भव-भवके तपश्चरणसे वे तो ज्ञानीके क्षणमात्रमे कट जाते हैं। अज्ञानी जीव कुछ मद कषाय करें, तपश्चरण करें तो कुछ कर्म खिरते, मगर सम्यक्पूर्वक तो नही खिर

रहे, नवीन कर्म तो आ रहे है, इस कारण वे कर्मरहित नही हो सकते और ज्ञानी जीव उसके आवरण कर्म रुक गए, ज्ञानीने ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमे 'यह मैं हूँ' ऐसा अनुभव किया, कषायो रूप अपना अनुभव नही किया तो अपने आप ही ये कर्म रुक जाते है उनके कर्मोंका बध नही होता। चूकि ज्ञानीने सवर किया है तो पहलेके बाँधे हुए कर्म खिर जायें तो वे खिरते ही हैं। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष शीघ्र ही कर्मोंसे रहित हो जाता है। यह किसका प्रताप है ? यह सब स्वास्थ्यका प्रताप है। यह प्रकरण चल रहा है स्वास्थ्यका। स्वास्थ्य ही वास्तविक धर्म है। स्वास्थ्य मायने आत्माका जो सहज स्वरूप है उस स्वरूपमे उपयोगका जम जाना यह है वास्तविक स्वास्थ्य। तो उसी स्वास्थ्यके बारेमे कहा जा रहा है कि ज्ञानपूर्वक तपश्चरण हो तो आत्मा अपने स्वरूपमे रम सकता है और उसके कर्म कट सकते है। मुक्ति उसकी ही निकट हुआ करती है।

कर्माब्धौ तद्विचित्रोदयलहरिभरव्याकुले व्यापदुग्र-
भ्राम्यन्नक्रादिकीर्णे मृतिजननलसद्वाऽवावर्त गर्ते।
मुक्तः शक्त्या हताङ्गः प्रतिगति स पुमान् मज्जनोन्मज्जना-
भ्यामप्राप्य ज्ञानपोत तदनुगतजडः पारगामी कथं स्यात् ॥ १३१ ॥

(३१७) ज्ञानजहाजका आधार लिये बिना कर्मसमुद्रसे पार होनेकी असंभवता—

देखो यहाँ जितना भी जीवोका भ्रमण चल रहा है, जो कुछ एक संकटमे डूब रहा है वह सब क्या है ? यह कर्मरूपी समुद्र ही तो है। आत्माके एक क्षेत्रमे जो कर्मनृत्य चल रहा है उसमे व्यामुग्ध होनेसे ही तो यह जीव अपने स्वरूपकी बान तजकर कर्मलीलारूप बन रहा है, सो इस कर्मसमुद्रको पार करनेमे ही इस जीवका भला है। तो यह कर्मसमुद्र कैसे पार किया जा सकता ? बहुत कठिन है। इसमे नाना प्रकारके कर्मोंका उदय चल रहा है। क्रोध, मान, माया, लोभादिक बडे क्षोभ मच रहे हैं। यह ही तो उस कर्मसमुद्रमे बडी विकट लहर है। उन लहरोके भारमे यह बडा बोझल व्याप्त बन रहा है कर्मसमुद्र और जिस कर्म-समुद्रमे विपत्तिरूप इधर-उधर घूमने वाले मगरमच्छ आदि विचरते है। जैसे किसी समुद्रमे बड़ी लहर उठ रही हो, मगरमच्छ आदिक बडे जतु घूम रहे हो उस समुद्रको पार करना बहुत कठिन होता है ऐसे ही कर्मसमुद्रको पार करना बडा कठिन है। और भी देखो—जैसे समुद्रमे जन्म मृत्यु ये बडवाग्नि हो, कठिन आग हो, भवरोंके गड्ढे हो, ऐसे गड्ढो वाले समुद्रमे पडा हुआ यह अज्ञानी मनुष्य कैसे पार हो सकता है ? जैसे देखो दिनभरमे कितने ही विकल्प चलते हैं, क्या-क्या लेन-देन चलते हैं, प्रयोजन कुछ नही, जीव जीव सब न्यारे हैं, देह भी अत्यन्त भिन्न है, परमाणु परमाणुमात्र भी मुझसे जुदा

है। ऐसी स्थितिमें लेन-देन किससे क्या सम्बंध है, मगर मोहका ऐसा प्रताप है कि वह उसमें डूबा हुआ है, सो यह अज्ञानी मनुष्य ऐसे कर्मसमुद्रमें बार-बार डूब रहा है, कभी ऊपर भी आता, ऐसा हो रहा है, और इस झुंझलाहटमे इस जीवमें यह सामर्थ्य नही कि ऐसे कर्मसमुद्र को पार तो कर ले। ऐसी स्थितिमे पार किस प्रकार हो सकते सो सोचो। जैसे कठिनसमुद्रमें डूब रहा मनुष्य कैसे पार हो सकता ? जो शिथिल हो गया, तैर नही सकता, और बडी-बडी आपत्तियां हैं, उसके तिरनेका उपाय तो जहाज है। उसे जहाजमें बैठा दिया जाय और पार कर दे, ऐसे ही विकट समुद्रमे डूबे हुए प्राणियोंको पार करनेमे समर्थ है वह ज्ञानजहाज। जैसा वस्तुका यथार्थस्वरूप है उसका जाननहार रहे तो यह उपाय इस कर्मसमुद्रमे डूब रहे जीवको पार कर देनेमे समर्थ है। तो ज्ञानरूपी जहाज जब तक इस जीवको प्राप्त नही होता तब तक यह जीव कर्मरूपी समुद्रसे पार नही हो सकता है। कर्मसमुद्र क्या ? ये क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेषादिक भाव जो भी विचित्र परिणाम हैं ये ही तो कर्मसमुद्र है। इनसे पार होने का तरीका क्या है ? तो ज्ञानका प्रकट हो जाना। जहाँ जाना कि मैं तो यह सहज ज्ञानस्वरूपमात्र हूँ जानना मेरा कार्य है, जानना मेरी अनुभूति है, जानना ही मेरी निधि है और तत्त्वोसे वस्तुसे मेरा क्या प्रयोजन है ? ऐसा यदि अपने स्वरूपकी ओर दृढतासे अपने आपका निर्णय बना लिया जावे तो यह जीव संसारसंकटोसे अवश्य ही पार हो सकता है। तो हम आप लोगोका वास्तविक धन, शरण, सार, रक्षक एक अपने आपके सहजस्वरूपका परिचय है, और कोई दूसरा हमारी रक्षा नही कर सकता। इस कारण यह जानकर कि मैं स्वस्थ होऊँ तो मुक्ति मिलेगी, मैं अपने आपमे स्थित होऊँ तो कल्याण होगा। तो इस स्वास्थ्यके वास्ते, अपने आपके स्वरूपमें स्थित होनेके वास्ते प्रयत्न करें, प्रभुके उपदेशको अपने चित्तमें घटावें और अपने स्वरूपको अपने प्रकाशमे लेवें।

> शश्वन्मोहमहान्धकारकलिते त्रैलोक्यसद्मन्यसौ,
> जैनी वागमलप्रदीपकलिका न स्याद्यदि द्योतिका।
> भावनामुपलब्धिरेव न भवेत् सम्यक्तदिष्टेतर-
> प्राप्तित्यागकृते पुनस्तनुभृतां दूरे मतिस्तादृशी ॥ १३२ ॥

(३१८) जिनवचनदीपक बिना मोहान्धकारव्याप्त लोकमें हेय उपादेयकी विधिकी अशक्यता—

यह संसार, ये तीनो लोक, ये निरन्तर मोहमहान्धकारसे भरे हुए हैं। इस जगत में सर्वत्र देखो—एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय तक चारों गतियोमे निगोदको लो, कीट पतिंगेको

लो, सब जगह मोहांधकार फैला हुआ है। जहाँ अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी सुध नही है और उपयोगमे, विकल्पमे अनेक परपदार्थ ही लदे रहते हैं, ऐसी स्थितिको क्या ज्ञानप्रकाश कहेंगे ? यह तो महान् मोहांधकार है, सो यह तीनो लोकालोक रूप घर है, निरन्तर जो मोहांधकार से भरा है। इस ससारमे यदि यह जिनवाणी न होती जो निर्मल प्रदीपकी कणिका है अगर यह न होती तो समझिये कि पदार्थकी उपलब्धि भली प्रकार कैसे हो सकती थी ? कहते हैं ना स्तुतिमे—जो नहिं होत प्रकाशन हारी, तो किह भाँति पदारथ पाति, कहाँ लहते रहते अविचारी ॥ अगर यह जिनवाणीरूपी दीप कणिका न होती इस महान मोहान्धकारमय लोकके अन्दर तो लोग पदार्थोंका ज्ञान कहाँसे कर पाते ? यह स्व है, यह निज आत्मा ज्ञानस्वरूप यह आत्मतत्त्व है, बाकी सब परद्रव्य हैं, ये कर्म भी पर हैं, कर्मकी जो लीला है वह भी पर है। मैं तो एक ज्ञानस्वरूप मात्र हू। इस तरहका बोध कहाँसे कर पाते और उसका यह बोध नही हो पाता तो फिर यह इष्ट है, यह अनिष्ट है—यह ज्ञान भी जब न हो पाता तो इष्ट को ग्रहण करना और अनिष्टको त्यागना, यह फिर कैसे बन सकता था ? और जब इष्टको ग्रहण करनेकी बात नही बनती, अनिष्टको त्यागनेकी बात न बने तब तो फिर इस जीवका भला होनेका कोई अवसर ही नही। इस तरह इस जिनवाणीके जिनेन्द्र उपदेश जो परम्परासे चले आये हैं उसको यथा रूपसे रखने वाले आचार्य साधु संतोकी जो करुण वाणी है हम आप सब जीवोपर तो यह एक बहुत बडी विभूति है। ज्ञान ही पूर्ण वैभव है। ये धन मकान सग समागम ये कुछ वैभव नही। वैभव है वास्तवमे तो आत्मासे जो सच्चा ज्ञान जगता है जिससे वह अपनी पहिचान करता है, अपने आपमे लगता है, बस यह ज्ञान ही सच्चा वैभव है, तो इस जिनवाणीका कितना आभार माना जाय कि जिसके बलसे हम स्वस्थ होनेका का उपाय आज जान रहे हैं और कर पा रहे हैं।

शान्ते कर्मण्युचितसकलक्षेत्रकालादि हेतौ।
लब्ध्वा स्वास्थ्यं कथमसि लसद्योगमुद्रावशेषम्।
आत्मा धर्मो यदयमसुखस्फीतिसंसारगर्ता—
दुद्धृत्य स्व सुखमयपदे धारयत्मात्मनैव ॥१३३॥

(३१९) आत्माकी स्वयं धर्मरूपता—

कहते है कि कर्मोंके शान्त होने पर पहले बाँधे हुए कर्म जो सत्तामें पडे हैं, जो उदय आनेपर अपना कर्मोदय दिखाता है, अपने आपमे ही दिखाता तो कर्तव्य, मगर जिसका निमित्त पाकर यह जीव अपनेमे विकल्प रचता है ऐसे ये कर्म जो सत्तामे पडे हैं वे जब शान्त

हो जाते हैं और यथायोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इस सम्पत्तिका लाभ होता है तो यह जीव किसी प्रकार इस स्वस्थ धर्मको प्राप्त कर लेता है। धर्म मायने स्वास्थ्य। स्व आत्मामें मे उपयोगके स्थित होनेको स्वास्थ्य कहते है। तो इस स्वास्थ्यको पाकर यह जीव यह आत्मा क्या पाता है, क्या करता है ? इस दुःखसे भरे हुए ससारके गड्ढेसे अपने आपको निकालकर सुखमय शान्त पवित्र स्थितिमे धारण करा देता है। तो आत्माने अपने को दुःखसे निकाला और सुखमय शान्त पदमे धारण कराये, जिसके बलपर अपने आपके ही बलसे ज्ञान बलको ही धारण कराये तब धर्म किसका नाम हुआ ? अरे यही आत्मा साक्षात् धर्म है। धर्म कोई अलग ऐसी वस्तु नही है कि जिसको पकडा जाय, लिया जाय, जिसके द्वारा कुछ क्रिया की जाय, अब ऐसा धर्म अलग नही। यह आत्मा ही साक्षात् स्वय धर्ममूर्ति है। धर्म है सहजस्वभाव। यह सहज स्वभावमय है। यह ही धर्मका रूप है। सो यह आत्मा अपने आपको भ्रान्तिसे हटाकर और अपने सहजस्वभावमे उपयोगको ले जाकर, इस संसारसे उद्धार करा कर मोक्षपदमे प्राप्त करा देता है, तो धर्म किसका नाम हुआ ? धर्म कोई बाहरकी चीज नही। यह आत्मा ही स्वयं साक्षात् धर्मस्वरूप है। यह आत्माका धर्म है, इसीको धर्म करना है, यह ही धर्मका फल पायगा, यह अपनी ही सहज कलासे धर्मको धारण करता है, तो यही आत्मा स्वयं धर्ममूर्ति है, इसकी उपासनामे वह स्वास्थ्य प्राप्त होता है।

> नो शून्यो न जडो न भूतजनितो नो कर्तृभावं गतो,
> नैको न क्षणिको न विश्वविततो नित्यो न चैकान्ततः
> आत्मा कायमितश्चिदेकनिलयः कर्ता च भोक्ता स्वयं।
> संयुक्तः स्थिरता विनाशजननैः प्रत्येकमेकक्षणे ॥१३४॥

(३२०) वस्तुस्वरूपके बोध बिना आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें नाना विवाद—

यह आत्मा क्या है ? इस सम्बन्धमे वर्णन किया जा रहा है। इस आत्माके बारेमे अनेक दार्शनिक अपने मनकी अनेक बाते रखते है। कोई कहते है कि आत्मा तो शून्य है, कुछ नही है। जो लोग इस आत्माको महत्त्व देते हैं, आत्माको मानते है वे ही भटकते है, वे ही ससारमे रुलते है और जो ऐसा समझते है कि आत्मा फात्मा कुछ नही, है ही नही, शून्य ही एक तत्त्व है, ऐसा जो मानते है वे मौजमे रहते हैं, ऐसा एक दार्शनिकका सिद्धान्त है। जैसे क्षणिकवादियोमें एक माध्यमिक मत है। वे कहते है कि आत्मा कुछ नही है। आत्माको मानना ही ससारमे रुलनेका कारण है। और वे दृष्टान्त भी बडा अच्छा देते है। जैसे एक दीपक जला और उस लौमे क्षण-क्षणमे एक एक बूंद जलता है तो क्या है वहाँ ?

दीपक किसका नाम है ? लोग तो यो समझते कि यह दीपक एक घटे तक रहा। अरे वहाँ एक घटे तक कौन रहा ? एक बूद जला, एकदम दूसरा बूद जला, बस खतम। तो वहाँ कोई चीज़ ठहरती तो है ही नही। अब कुछ नही ठहर रहा और ठहरनेका भ्रम बनाया, ऐसे ही यह आत्मा कुछ नही, एक भ्रम बना रखा है कि कोई जीव है, कोई आत्मा है, सो जो आत्मा मानेगा वह ससारमे रुलेगा, ऐसा एक सिद्धान्त है, लेकिन यह बात सही नही है, शून्य नही है आत्मा। अगर शून्य होता तो फिर बोलता ही कौन, सोचता ही कौन ? किस लिए यह भी सोचना कि इस तरह मानेंगे तो मुक्ति मिलेगी ? जब है ही नही आत्मा। तो आत्मा शून्य नही है। अच्छा कोई दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा तो बिल्कुल जड है, जैसे यह खम्भा है, ईंट है, पत्थर है, ये कुछ जानते नही ना, ऐसे ही आत्मा भी कुछ जानता नही, ज्ञान-शून्य है, आत्मामे ज्ञान नही होता। ज्ञान तो एक अलग चीज है। वह ज्ञान आत्मामे जुडता है तो आत्मा जानने लगता है। अगर ज्ञान न जुडे तो आत्माका स्वरूप तो खाली कोरा चेतनामात्र है, ज्ञान नही है, ऐसा एक दार्शनिक कहता है, पर यह बात युक्त नहीं है। आत्मा ज्ञानमय है, जड नही है आत्मा। सब अपना अपना अनुभव कर रहे हैं। अग्नि अगर उष्णतामय न हो तो अग्नि किसका नाम ? ऐसे ही आत्मा यदि ज्ञानमय नही है तो आत्मा किसका नाम ? आत्मा जड नही है।

(३२१) आत्मपरिचयके विना अनेक लोगोंके आशयमे आत्माकी भौतिकताका भ्रम—

आत्माके बारेमे कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा क्या चीज है ? पृथ्वी, जल, अग्नि वायु इनका सयोग हुआ लो जीव बन गया और ये बिछुड गए तो बस जीव विघट गया याने उनके सिद्धान्तमे जीव जन्मसे लेकर मरण तक ही है, न इससे पहले कुछ था, न मरनेके बाद कुछ रहेगा। जो कुछ है सो करेन्ट कहो, बिजली कहो, इन चार भूतोके रहनेसे बन गया है कुछ, ऐसा कोई दार्शनिक कहते हैं, मगर यह भी बात युक्त नही है, ये पृथ्वी आदिकसे उत्पन्न नही हुए हैं, क्योकि ये तो चेतन हैं, जाननहार हैं और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये रूप रस, गध, स्पर्श वाले हैं, ये मिल भी जायें तो भी इनमे जानना तो न बन सकेगा। जो उसमे है सो ही बनेगा। जानना तो इन चारोमे किसीमे नही है, सो ये कितना ही मिल जायें, पर जाना नही हो सकता है। जानने वाला जीव इन भूतोंसे अलग नही है। पर इन चार चीजों के मेलसे कोई जीव बन जाय तब तो फिर बहुत बडी गडबडी मच जायगी। जैसे रसोई-घरमें महिलायें भोजन बनाती हैं तो चाहे स्टील, पीतल आदिक धातुवोके बर्तनोमे बनायें, चाहे मिट्टीके बर्तनोमे बनायें। हमने तो सुना है कि मिट्टीके बर्तनोमे कढ़ी अच्छी बनती। तो

मान लो मिट्टीके बर्तनमे कोई महिला कढी बनाये तो देखो वहाँ मिट्टी है ही, और उसमे जल भरा गया तो जल है ही, आग तो खूब नीचे जल ही रही और हवा भी खूब उसमे भरी हुई है, क्योकि उसपर रखा हुआ ढक्कन भक भक करके उछलता है। इसके ही आधारसे तो ये रेलगाडियोके इंजन बने। तो अब देखो उस कढी बनानेकी प्रक्रियामे चारो चीजें (पृथ्वी, जल अग्नि, वायु) मिल गईं। अब तो उस मिट्टीके भगोनेसे साँप, बिच्छू, शेर, चीता, बाघ आदिक चीजें बन जानी चाहिएँ, क्योकि तुमने इन चार चीजोंके मिलनेसे जीवकी उत्पत्ति मान लिया, पर ऐसा तो नही होता। तो इन भूतोके मिलने से याने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिकके संयोगसे जीव की उत्पत्ति नही होती। जीव तो अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है और अनादि अनन्त काल तकके भवोको धारण करता रहता है, सो उनका यह कहना युक्त नही कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक चार चीजोके संयोगसे जीवकी उत्पत्ति होती है।

(३२२) परमात्माको सृष्टिकर्ता मानकर निजानन्दरसलीनताके अभावका कुछ लोगोंका आशय—

कुछ दार्शनिक कहते हैं कि जीव कर्ता है, ईश्वर कर्ता है, ईश्वर सृष्टि करता है, हम सब जीवोको बनाता है, उनका यह कथन इस कारण युक्त नही है कि अगर एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको करने लगे, बनाने लगे तो उसके मायने यह हुए कि सब शून्य हो गया। इसने उसे किया, यह न रहा, कोई एक रहा, फिर कुछ एक रहा तो पदार्थोंकी यह व्यवस्था है प्रकृतिसिद्ध कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने आपमे अपनी अवस्था बनाया करता है। कोई किसी दूसरेकी अवस्थारूप नही परिणम जाता है। तो इसी प्रकार यह कोई पदार्थ किसी दूसरेका कर्ता नही होता। यह जीव भी इन चीजोका करने वाला नही है।

(३२३) सर्वजीवोंका स्वरूप न मानकर उनके एकत्वका भ्रम—

कुछ लोग कहते हैं कि जीव तो मात्र एक है, अनेक नही है और जगतमे जो कुछ भी दिख रहा है यह कोरा भ्रम है। सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्माद्वैतवादी, पुरुषाद्वैतवादी ऐसा तो जिक्र रखते हैं, लेकिन यह बात सत्य यो नही है कि जब यह सब कुछ दिख रहा है, प्रयोग होता है, सत्ता इसकी है, अवस्थायें बदलती हैं तो इन चीजोको मना कैसे कर दिया जाय कि कुछ भी नही है, मै सब हैं, आत्मा अनेक हैं, एक नही है। आपका जो अनुभव बनता है वह आपमे ही तो बनता है, मुझमे नही आता। मेरेमे जो अनुभव है वह अन्यमे तो नही होता। सब जीव एक ही होते तो एक जीव जो करता, सो ही उसी समय वही सबको करना होता, पर ऐसा कहाँ दिख रहा ? तो जीव एक ही है, ऐसा सिद्धान्त कही नही है।

(३२४) जीवतत्त्वके सम्बन्धमें आत्मपरिचय बिना कुछ और विवादोका दिग्दर्शन—

कुछ दार्शनिक कहते है कि जीव क्षणिक है, केवल एक क्षणको ही रहता है, बाद मे नही रहता। उनका कहना भी सगत नही, क्योकि अनुभव बता रहा है कि अगर यह जीव क्षणभरको न रहता, दूसरे क्षण दूसरा बनता, फिर तीसरा बनता, एक न होता तो कल की खबर किसे रहती ? कौन करता कल ? जिसने कार्य किया वह जीव तो न रहा। अब नया जीव आया तो नया जीव कलकी गुजरी बातको, जानी बातको कैसे जान लेगा ? जीव क्षणिक नही है, क्योकि सबको यह बोध होता है कि मैं वह हू जो १० वर्षोसे चला आ रहा है। जो जन्मसे चलता आ रहा हो सो प्रत्यभिज्ञान होता है। जिससे सिद्ध है कि जीव क्षणिक नही है। कोई कहते कि चीज है तो सही, मगर सारे विश्वमे वह फैला हुआ है। अच्छा यदि सारे विश्वमे फैला हुआ है तो जो पूरा फैला हुआ होता है वह कभी सिकुड सकता क्या ? जुड सकता क्या ? लोग कहते हैं ना—"अधजल गगरी छलकत जाय" जिस गगरीमे पूरा जल भरा है उसमे छलकनेकी गुंजाइश रहती है क्या ? तो जीव अगर विश्वमे पूरा फैला हुआ है तो फिर इस जीवमे हिलने डुलनेकी भी गुंजाइश कहाँसे आयगी ? जैसे जीव फैला हुआ नही है, किन्तु नही है सो अभी आगे कहते है। यहाँ तो कुछ दर्शनिकोकी बात रखी जा रही है कि जीवके बारेमे अनेक प्रकारके लोग भिन्न-भिन्न रूपमे जीवको मानते हैं।

कोई लोग कहते हैं कि जीव नित्य है याने जीवमे कभी कोई परिणमन नही होता। जो परिणमता है वह प्रकृति परिणमती है, प्रकृति करती है, सारे कामोको प्रकृति किया करती है। जीव तो केवल भोगताभर है। ऐसा कुछ लोग कहते हैं, लेकिन ऐसा अन्याय नही है जगतमे कि करे और कोई व भोगे और कोई। करने वाली तो प्रकृति हो, गल्ती तो करे प्रकृति और उसका फल भोगे जीव, ऐसा नही है। जहाँ यह बताया गया है कि कर्मोदय का निमित्त पाकर यह जीव रागद्वेष रूप परिणमता है। वहाँ कोई ऐसी आशंका कर सकता है कि देखो कर्मने तो किया रागद्वेष। रागद्वेष कही जीवके स्वभावमे से तो नही उठे हैं और भोगा जीवने, मगर यह आशका भी ठीक नही। कर्मने जीवमे रागद्वेष नही किया। कर्ममे जो अनुभाग चला था वही खिला, कर्ममे ही कषाय बनी। अब उसका सन्निधान पाकर, प्रतिफलन पाकर यह जीव विकल्प करने लगा। तो विकल्परूप परिणमन जीवने किया, सो उसका दुःखरूप फल जीव ही भोगता है। ऐसा अधेर नही है कि करे कोई दूसरा जीव और भोगे कोई दूसरा। तो उनका भी यह सिद्धान्त सही नही है कि जीव नित्य ही है तब फिर यह जीव है कैसा ? इस आत्माका स्वरूप है क्या ?

(३२५) आत्माकी देहप्रमाणता—

अब बतलाते है कि यह आत्मा देहप्रमाण है। जितना यह देह है, बस उतने ही प्रमाण इस जीवका विस्तार है, जो जिस जीवके देहमे रह रहा, जीव तो अनन्त हैं और सब जीवोंके ससारमे भिन्न-भिन्न शरीर हैं। एक निगोद ही साधारण जीव ही ऐसे हैं कि शरीर एक है और उसके स्वामी जीव अनन्त है। सो वहाँ भी ऐसा ही उदय है। तो वह कार्माण शरीर तो सबका अपना जुदा-जुदा ही है, तो यह जीव देहप्रमाण है। देहसे न कम है, न ज्यादा। जब कभी ऐसा ध्यान हो जाता है, लकवा मार गया या कोई अग काम नही कर रहा, उसमे सुई भी लगाओ तो पता नही पडता। ऐसा बोलकर लोग सोच सकते है कि जीव इस अगमे नही है, बाकी शरीरमे जीवप्रदेश हैं, मगर यह आशंका उनकी सही नही है। अगर उस लकवा वाले अगमे जीवप्रदेश न हो तो वह सड़ जायगा। जीवरहित काय स्थिर नही रहता, सड जाता है। कोई कहे कि तब फिर वह अग सूना क्यो मालूम होता ?

तो भाई इस अवस्थामे यह जीव स्वयं तो ज्ञानसे सोचता और मनसे निरपेक्ष होकर जानने वाला नही है, विकल्प द्वारा जानता है और रागका प्रभाव है सो द्रव्येन्द्रियपर पड गया। एक अगमे हाथ-पैर सब अर्द्धांग लगनेसे भी सूना हो गया तो द्रव्येन्द्रिय द्वारा हो गया। अब किसीको अगर आँखो न दीखे तो यह नही कहा जा सकता कि इन आँखोमे जीव-प्रदेश नही हैं। जीवप्रदेश तो है, मगर वह आँखका पर्दा या झिल्ली खराब हो गई है। अब इस काबिल नही है कि उसका प्रयोग करके वह देख सके। तो जीव देहमें है और देहसे बाहर भी नही है। कोई स्थितियाँ होती हैं ऐसी कि जब यह जीव शरीरसे बाहर हो जाता है तो सदाके लिए बाहर नही होता, ऐसा समुद्घात हुआ करता है। जीवने कषाय की, तेज क्रोध किया तो आपेसे बाहर हो गया याने वे जीवप्रदेश इस देहमे भी है और देहसे बाहर भी निकल गए, ऐसी स्थिति बन जाती है कुछ देरके लिए, थोड़ी देर तकके लिए। ऐसे ही जब वेदना तीव्र होती है तो ये जीवप्रदेश इस शरीरसे बाहर जाते है। जब मरण होता है तो किसी किसीका मरण होनेसे पहले ये जीवप्रदेश उस जन्मस्थानको छू आते हैं और फिर वापिस आता है तो एक साथ शरीरसे निकल जाते हैं तो मरण हो जाता है, ऐसी कुछ स्थितियाँ है। यहाँ तक कि भगवान सयोगकेवलीके भी अन्तिम समयमे, अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें जब आयुकर्म थोड़े रह जाते हैं तो शेष जीव कर्म निकलनेकी स्थितिमे रहते है तो वहाँ समुद्घात होता है याने केवली भगवानके आत्मप्रदेश बाहर निकलते है, क्रम-क्रम देहरूपमें कपाट रूपमे, प्रतररूपमे और लोकपूरणके ढगसे तो फिर वापिस हो जाता है, फिर एक साथ देहसे निकलनेपर निर्वाण हो जाता है। तो कुछ बातें है जिन कारणोसे यह देहसे बाहर भी जीव-

प्रदेश जाते है, मगर उत्सर्गकी बात यह है कि यह जीव देहप्रमाण है ।

(३२६) आत्माकी सच्चिदानन्दरूपता—

यह एक सत् है, चित्स्वरूप है, आनंदमय है, यह चैतन्य ही एक हमारा धाम है, समस्त आत्मा चैतन्यात्मक हैं । यह व्यवहारसे कर्ता भोक्ता है । जब यह मलिन है जीव तो यह विकल्प करता । उसका निमित्त पाकर कर्म बँधते । फल भोगता तो संसार अवस्थामे व्यवहार दृष्टिसे यह कर्ता भोक्ता है और जैसे कि सभी पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे संयुक्त हैं, इसी तरह यह आत्मा भी उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे संयुक्त है । सभी पदार्थोंकी ऐसी स्थितियाँ है कि नई नई अवस्था बनती जायगी, पुरानी पुरानी अवस्था मिटती चली जाय, और वह पदार्थ स्वय वहीका वही बना रहे तो ऐसा यह उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है । काय प्रमाण है, कथचित् कर्ता भोक्ता है, यह केवल एक कल्पना एककी बात नही है । वास्तवमे यह आत्मतत्त्व सद्भूत चैतन्यमात्र आनदमय पदार्थ है ।

> क्वात्मा तिष्ठति कीदृशः स कलितः केनात्र यस्येदृशी,
> भ्रान्तिस्तत्र विकल्पसभृतमना यः कोऽपि स ज्ञायताम् ।
> किंचान्यस्य कुतो मतिः परमियं भ्रान्ताशुभात्कर्मणो
> नीत्वा नाशमुपायतस्तदखिल जानति ज्ञ ता प्रभुः ॥१३५॥

(३२७) आत्मविधि व आत्मनिषेध करने वाले सभी ज्ञाताओमे आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि—

इस छंदमे आत्माके बारेमे जरासे सकेतमे आत्मतत्त्वको समझा दिया । लोग ऐसी शका रखते हैं कि आत्मा क्या है, किसने जाना है, इस प्रकारकी तर्कणा लोग किया करते हैं । उन तर्कणा करने वालो को वे आचार्य कह रहे हैं कि जरा सोचो कि जिसके मनमे इस प्रकार की कल्पना चल रही है, ऐसी भ्रान्ति हो रही है, जिसका मन इस विकल्पमे डूब रहा है, कोई दुःख है, क्या ? कहाँ है, किसने देखा, कैसा है ? इस तरहकी जो समझ बन रही है, भ्रान्ति कर रहा है, विकल्प कर रहा है, तो ऐसा विकल्पसे भरी जिसकी वृत्ति है अरे वही तो आत्मा है, जो ऐसा कहे कि आत्मा कुछ नही है उसका कहना ऐसा है कि जैसे कोई कहे कि मेरे जीभ नही है, तो बताओ वह सच बोल रहा है क्या ? अरे जिस जीभके द्वारा कह रहा है कि मेरे जीभ नही है, बस वही तो जीभ है, ऐसे ही जिस ज्ञानसे यह समझ रहा है कि आत्मा है कहाँ, किसने देखा, कोरी कल्पना है, ऐसी बात जिसके उठ रही हो बस उसीको ही आत्मा जान लीजिए। फिर यहाँ यह भी परख करें कि अन्य पदार्थमे यह भ्रान्ति की बुद्धि जो हुई है सो कैसे हुई ? कोई देहको ही आत्मा मानते हैं, कोई आत्माकी ही मनाही कर रहे हैं ।

तो इस प्रकारका जो भ्रमजाल हुआ है, ऐसा जो विकल्प उठ गया है सो यह बुद्धि कैसे हुई ? यह बुद्धि हुई है मिथ्यात्व नामक पापकर्मके उदयसे । मुग्ध हो गया है जीव, अपने स्वरूपको भूल गया है और जो विडम्बना चल रही है, जो कर्मलीला चल रही है उस ही मे अपनेको जोड डाला है, मैं तो यह हूं और देखो कोई यह बता भी नही सकता कि मैं किसको मान रहा हूं और भ्रम सो बना है सारा का सारा तो यह अशुभकर्मसे भी यह सब भ्रान्ति बन गई तो अब क्या करना ? उसका उपाय बनावें । जैसे कि परपदार्थमे आत्मत्व स्वीकार करनेकी बुद्धि स्पष्ट हो जावे । बन जायेगा उपाय—निजको निज परको पर जान । आत्माको आत्मा ही समझिये और श्रद्धान बनावें कि जो मेरे आत्माका सहजस्वरूप है वह ही वैसा है और हितरूप है, उसका ज्ञान करें और उसही की धुन बनाइये और उपाय करके इस भ्रान्तिको नष्ट करिये जो आत्मा प्रभु बना है ना, वह ज्ञाता प्रभु तो सब तत्त्वोके रहस्य को जानता है और जैसा वह ज्ञाता पुरुष जानता है वैसा ही तो यहाँ हम भी जान सकते हैं, निर्मलता चाहिए । अपने आत्माके सहजस्वरूपकी ही स्वीकारता चाहिए । मैं अन्य कुछ नही हूं, बस मैं सहज ज्ञानप्रकाशमात्र हूं—ऐसी बुद्धि बने तो यह ही तो कहलाता है स्वास्थ्य याने यह आत्मा अपने वास्तविक स्वरूपमे स्थित हो गया, जिसका यह स्वास्थ्य है उसका कल्याण है । स्वास्थ्य धर्म ही इस आत्माको ससारसंकटोसे छुटाकर सुखमय, शान्तस्वरूप उत्तम पदमे धारण कराता है । इसके सिवाय हम आपको कभी भी कुछ भी शरण नही है, अतः भ्रम छोड दे, परिस्थितिवश मानना पड रहा तो उसके ज्ञातामात्र रहें पर व्यामुग्ध न होवें अन्यथा इसकी रक्षा करने वाला कोई है नही । न इसकी रक्षा हो सकेगी । तो स्वास्थ्य धर्मका सहारा लें और अपना कल्याण करें ।

आत्मा मूर्तिविवर्जितोऽपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्षताम्,
प्राप्तोऽपि स्फुरति स्फुट यदहमित्युल्लेखतः संततम् ।
तत्किं मुह्यति शासनादपि गुरोर्भ्रान्तिः समुत्सृज्यता-
मन्तः पश्यत निश्चलेन मनसा तं तन्मुखाब्जव्रजाः ॥१३६॥

(३२८) आत्माकी अहंप्रत्ययवेद्यता—

इस अध्यायमे धर्मको ५ प्रकारसे बतानेका सकल्प किया गया था, जिसमें यह ५वी परिभाषाका ही वर्णन चल रहा है याने मोह क्षोभसे रहित सहज आनन्दमय परिणति धर्म कहलाती है । वह धर्म कहाँ है ? स्वास्थ्यमे अपने आपमे स्थित हो जाय याने उपयोग अपने ज्ञानस्वरूपको ही ज्ञेय बनाये रहे, ऐसी मग्नताको धर्म कहते हैं । तो स्वमे स्थित होना,

स्व मायने आत्मा। उस आत्माकी ही बात बतायी गई थी पूर्व छदोमे, उसी सिलसिलेमे कह रहे हैं कि देखो आत्मा मूर्तिसे रहित है, आत्मामे रूप, रस, गंध, स्पर्श नही हैं और ये शरीर मे ठहरे हुए हैं तो शरीरमे रहकर भी यह कितना दुर्लभसा बन रहा है, अलख निरञ्जन याने जो इन्द्रियसे समझमे न आये, लक्ष्यमे न आये। तो है खुदमे ही, मगर समझमे नही आ रहा। जैसे घी दूधमे है मगर इन आंखोसे समझमे नही आ रहा और है घी दूधमे प्रक्रियासे निकाला जाता है। तो ऐसे ही मेरे इस देहके अन्दर ही वह आत्मा है और उस आत्मामे ही है वह सहज परमात्मात्मतत्त्व और वह दुर्लभतासे प्राप्त है, फिर भी स्पष्ट अह अहं इस बोधसे ज्ञानमे आ रहा है। जिसके लिए 'मैं' कहा जा रहा है। वह आत्मा ज्ञानस्वरूप यहाँ ही मौजूद है, इस ही मे स्थिर हुआ है कि वह स्वास्थ्य बनेगा। तो जो आत्मा जिसमे कि स्थित हुआ है वह यही है, देहमे है और अह अह इस प्रकारके उल्लेखसे ज्ञात होता है तो उसे जानो, उसका अनुभव करो, क्यो वृथा बाह्य वस्तुमे मुग्ध होते हो ? देखो गुरुजन समझा रहे है तो गुरुकी आज्ञासे मान लो, भ्रान्तिको छोड दो, अपने अनुभवसे समझ लो, भ्रान्तिको छोड दो। भ्रमसे जो कष्ट उठाया है उनकी चोट खाकर समझ लो, भ्रान्तिको छोड दो और अपने ही अन्दर अपने इस अतस्तत्त्वको देखो। इस आत्मतत्त्वके अभिमुख होकर इन्द्रियका व्यापार उस आत्माके जाननेके प्रयत्नमे लगा दो। मनकी गति इस आत्माके स्वरूपकी समझमे लगा दो और इन्द्रिय और मन दोनोकी गति परे होकर अपने आत्मामे स्थित हो। व्यर्थके मोहसे क्यो प्राप्त होते हो ? खुद खुदमे है, यही है, स्वय है, उसकी दृष्टि करें और ससारके सकटोसे छूटनेका उपाय बना लें।

> व्यापी नैव शरीर एव यदसावात्मा स्फुरत्यन्यह,
> भूतानन्वयतो न भूतजनितो ज्ञानी प्रकृत्या यतः।
> नित्ये वा क्षणिकेऽथवा न कथमप्यर्थक्रिया युज्यते,
> तत्रैकत्वमपि प्रमाददृढया भेदप्रतीत्याऽहतम् ॥१३७॥

(३२६) जीवके अव्यापित्व, अभौतिकत्व, ज्ञातृत्वकी घोषणा—

पहले छदोमें बताया गया था कि इस आत्माके बारेमे अनेक प्रकारके दार्शनिक अनेक प्रकारकी विचारधारायें रखते हैं। तो उसका ही एक समाधान रूपसे वर्णन कर रहे हैं कि जो लोग मानते हैं कि आत्मा सर्वव्यापक है उनका कथन युक्त नही। सब अपने अनुभवसे समझ सकते है कि यह आत्मा शरीरमे ही व्यापक है, शरीरमे ही रात दिन स्फुरायमान है, ऐसा प्रतीत होता है। आत्मा व्यापक नही, देहसे बाहर भी फैले हुये मे अनुभव

बनता है देहप्रमाण क्षेत्रमे इसमे सुख होता है तो देह प्रमाण क्षेत्रमे देहसे बाहर आत्मा नही । कभी समुद्घातमे हो, यह बात अलग है तो आत्मा व्यापक नही है । कोई लोग मानते थे कि यह आत्मा (जीव) भूतोसे उत्पन्न हुआ, यहा भूतके मायने हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि वायु । वे भूत नही जो तिजारा वगैरहमे रहने वाले कहते है कि यह बात नही, क्योकि इस चेतनका भूतमे अन्वय ही नही, अथवा इन भूतोसे इन पृथ्वी जल आदिकसे जो उत्पन्न होगा, सो जो इस पृथ्वी आदिकमे गुण है उसी ढगकी बात बनेगी उपादानमे जो गुण होते हैं उस अनुरूप ही परिणमन हुआ करता, मगर चेतनका उपादान पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु है, इन चारोंसे जडता ही उत्पन्न होनी चाहिए, चेतता नही । चेतन तत्त्व भिन्न है और ये सब जड हैं । यह जीव तो स्वभावतः ज्ञानमय है ये पृथ्वी आदिक तो जड है । यह न कहा जा सकेगा कि यह जीव इस पृथ्वी आदिकसे उत्पन्न हुआ ।

जो लोग मानते हैं कि जीव नित्य है अथवा क्षणिक है उनके पुरुषमे, एकान्तमें नित्य माननेपर भी जीवकी क्रिया, जीवका व्यापार परिणमन, अवस्था नही बन सकती और जीवको सर्वथा क्षणिक माननेमे भी अर्थक्रिया व्यापार नही बन सकता है । कैसे ? यदि जीव सर्वथा नित्य है, वही है, जरा भी फेरफार नही, परिणमन नहो, अवस्था नही, कूटस्थ नहीं तब फिर विकार कैसे बने ? उत्पादव्यय कहांसे आयगा ? और यदि यह जीव क्षणिक है, क्षणभरमे हुआ तो उसमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य कहांसे आया ? अनादि नित्यमें अर्थक्रिया न ठहरेगी उस अर्थक्रियामे, इसलिए आत्मा न नित्य है और न क्षणिक है ।

जो लोग मानते हैं कि आत्मा एक है, भिन्न-भिन्न नही । जैसे आकाश एक है । जितने बर्तन रखे हैं उन बर्तनोमे वह आकाश जाति मालूम होती है, ऐसे ही जितने ये देह हैं इनमे आत्मा जुदा मालूम होता है । आत्मा एक है, ऐसा कहना उन दार्शनिकोका युक्त नही है, क्योकि प्रमाणसे यह देख लो कि एक कहाँ है ? घट भी तो एक अलग चीज है । कोई आत्मा ही मात्र तो नही है अथवा कोई जीव भिन्न भिन्न अनुभव वाला है, इसलिए एक भी सही नही बनता तब फिर क्या बना ? उत्पादव्यय ध्रौव्य करने वाला अर्थात् बनने बिगड़ने और बना रहने वाला चैतन्यस्वरूप एक पदार्थ है । उस ही मे यह 'मैं मैं' ऐसा उल्लेख हुआ करता है, उस आत्माका जो सहजस्वरूप है चेतनामात्र, बस यही मैं हू, ऐसी आस्था करे, ऐसा ज्ञान बनाये रहे, बस यह ही कहलाता है स्वास्थ्य । स्वास्थ्य ही धर्म है ।

कुर्यात् कर्म शुभाशुभं स्वयमसौ भुङ्क्ते स्वयं तत्फलम्,
सातासातगतानुभूतिकलनादात्मा न चान्यादृश ।

चिद्रूपः स्थितिजन्मभङ्गकलितः कर्मावृतः संसृतौ,
मुक्तो ज्ञानदृगेकमूर्तिरमलस्त्रैलोक्यचूडामणिः ॥ १३८ ॥

(३३०) उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्त आत्माकी समल अमल अवस्थाका सयुक्तिक दर्शन—

यह जीव अपने ही शुभ अशुभ भावोको करता है। और शुभ अशुभ भाव करता हुआ उसके ही फलको भोगता है। करनीका फल इस जीवको तुरन्त मिलता, उसी समय मिलता। और यह तो एक परम्पराकी बात है, निमित्तनैमित्तिककी बात है तो यह कहना कि तपश्चरण तो इस भवमे किया और उसका फल देवगतिमे मिला या आज तो धर्म किया और कुछ समय बाद उसका फल मिला, आज तो पाप करे और फल अगले जन्ममे मिलेगा, यह भी बात सही है, वह किस प्रकार है कि पापका परिणाम किया, उसी समय कर्मबध हुआ। अब कर्मका जब उदय आया, अगले भवमे आया, इस भवमे आया, जो आया उसका यह फल पायगा। तो जो फल पाया सो कर्मोदयका निमित्त पाकर पाया। और वह कर्मबध दूसरे भवका तो उसका फल कई हजार वर्ष बाद पाया। यहाँ कहते है कि वह भी बात युक्त है, पर वस्तुतः देखो तो जिस समय जीव पापका परिणाम करता है उसी समय यह सक्लिष्ट हो जाता, दुःखी हो जाता। जिस समय यह जीव पुण्यभाव करता है उसी समय उसकी एक साता अनुभव करता है और जब धर्मध्यान करता है तो उस ही समय यह जीव एक विशुद्ध आनन्दका अनुभव करता है।

तो उन दोनो बातोसे देख लो—जो करता है सो भोगता है। करे और भोगे और, ऐसी बात नही है। कुछ दार्शनिक मानते है ऐसा कि करने वाला तो है प्रकृति और भोगने वाला है यह आत्मा, पर नही, जो करेगा वही अनुभवेगा। शुभ अशुभ कर्मके फलस्वरूप साता और असाताका अनुभव उसे ही तो होता है जो शुभ अशुभ भाव करता है, दूसरे आत्माको फल नही मिलता। जो करता है उसीको फल मिलता है। यह तो चैतन्यस्वरूप है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित है, आज कर्मसे ढका हुआ है, संसारमे रुल रहा है, उसका ऐसा परिणाम चल रहा है और मुक्त होनेपर मुक्त दशामे वह ज्ञान, दर्शनकी एक मूर्ति रह जाता है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्तिका वह पुञ्ज रहता है और वह तीनो लोकोंका एक चूडामणि हो जाता है। तो हुआ न यही कि जो जिसने किया उसीने भोगा, ससारमे रहना तो ससारका फल भोगना, मुक्तिमे पहुचना तो मुक्तिका फल भोगना। सो द्रव्यदृष्टिसे सब जीव न्यारे-न्यारे अपनी-अपनी सत्तामे हैं और अपने आपके भावका खुद अपने आप फल भोगा करते है।

आत्मानमेवमधिगम्य नयप्रमाणनिक्षेपकादिभिरभिश्रयतैकचिता: ।
भव्या यदीच्छत भवार्णवमुत्तरीतुमुत्तुंगमोहमकरोग्रत्तरं गभीरम् ।।१३९।।

(३३१) नय प्रमाण निक्षेपसे आत्मतत्त्वका निश्चय करके भवार्णवसे पार होनेके लिये एक परमार्थ चित्स्वरूपके आश्रयणका संदेश—

आचार्यदेव इस छंदमे कह रहे है कि हे भव्य जनो ! यदि मुक्तिको चाहते हो, इस संसारसमुद्रको पार करना चाहते हो, जिस ससारसमुद्रमे बडे-बडे मोहरूपी मगरमच्छ विकट विकराल बसे हुए है, ऐसे इस अपार भव समुद्रको पार करना चाहते हो तो देखो नय प्रमाण निक्षेप आदिकसे पहले अपने आत्मस्वरूपका भली-भाँति निर्णय करो, फिर इन उपायो से आत्माको जानकर, फिर एकाग्र मन होकर एक इस ही अतस्तत्त्वका आश्रय करो। लोकमे सार केवल अपने सहजस्वरूपका आश्रय है । कहाँ उपयोग ले जायें कि हमको कष्ट न रहे । वह है आनन्दधाम, यह सहज ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व । यहासे उपयोग हटा, कही भी बाहर लगा, यह पुत्र है, मित्र है, स्त्री है, घर है, कही भी इसने उपयोग लगाया तो बस कष्टका अनुभव करता है और मोहके कारण ऐसे और नवीन कर्मोंका बंध कर लेता है कि आगे भी इसे कष्ट ही रहेगा । सो यदि ससारसकटोसे छूटना है तो नयप्रमाण आदिक उपायो से आत्माको समझ लो । जैसे नयोमे दो नय द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक । द्रव्यार्थिक नय तो आत्माका शाश्वत स्वरूप निरखा जाता है । शाश्वत अनादि अनत ज्ञानमात्र यह आत्मतत्त्व है और पर्यायार्थिक नयसे आत्माकी जो स्थितियाँ बनती हैं, किस गतिमे है या गतिरहित है या कौनसी इन्द्रिय वाला है या इन्द्रियरहित है । गुणस्थान मार्गणा आदिक विधियोसे इस आत्माकी अवस्थाओका परिचय मिलता है । मानो सही, अध्यात्मप्रधान दृष्टिसे निरखो— निश्चयनय, व्यवहारनय ।

निश्चयनय कहता है एक द्रव्यको उस ही द्रव्यमे उसका सर्वस्व निरखना । व्यवहारनय कहता है परपदार्थका निमित्त पाकर जो घटना घटती हो उपादानमे उसका परिचय बने । लक्षण दोनोका मिल रहा है । निश्चयनयने तो एक द्रव्यकी दृष्टि दी, बस इसको ही देखते जावो यह है परिणाम रहा है, जिस समय जैसी योग्यता है उस प्रकार परिणमता रहेगा, परिणमता हुआ चला जा रहा है । बस एक ही बात दिखे और जब कभी उपाधिरहित है तो वहाँ यह जीव केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्तशक्तिमय निरन्तर परिणमता चला जा रहा है और यदि शुद्धनयकी दृष्टि आयी, परमशुद्ध निश्चयनयसे निरखा तो यह जीव शाश्वत मात्र ज्ञानस्वरूप है, अच्छा इसमे स्वभावका ही तो आश्रम बना । अच्छा व्यवहारनयसे यह समझिये कि जीवमे जो यह विकार रागद्वेष उपयोग विकल्प पल रहे है य जीवके

निजके स्वभावसे नही उठ रहे। ये कर्मोदयका सन्निधान पाकर कर्मोदयका प्रतिफलनमे अपना आपा मानकर, उनमे लगाव बनाकर यह जीव विकल्प कर रहा है। ये विकल्प हेय हैं, औपाधिक हैं, स्वरूपसे आये हुए नही है, स्वभावके विपरीत हैं, इनसे हटकर उपेक्षा करें और एक निज अतस्तत्त्वमे उपयोग बने। तो नयोंके विविध वर्णनसे इस आत्मतत्त्वको जानें। प्रमाणसे आत्मतत्त्वको जानें। एक साथ सब नयोंके विषयको एक दृष्टिमे निहार लें ऐसा भी तो जानें, प्रमाणसे, निक्षेपसे इसकी व्यवस्था बनावें। जो चैतन्यस्वरूप है वह आत्मा है। यह आत्मा परिणमता था, परिणमता रहेगा, और एक समयमे उसका एक ही भाव चलता है। सब तरहसे निहार लो और एक आत्माको जानकर फिर इसका जो सहज ज्ञान-स्वरूप शुद्धनयका, ऐसे भूतार्थनयका विषयभूत जो एक शुद्ध ज्ञायक स्वरूप सहज है उसे जानें, उसमे मग्न हो, तृप्त हो, यही स्वास्थ्य है और यही वह धर्म है कि जिस परिणामका निमित्त पाकर भव भवके बांधे हुए कर्म भी कट जाया करते हैं।

भवरिपुरिह तावद्दु खदो यावदात्मन् तव विनिहितधामा कर्मसश्लेष दोषः।

स भवति किल रागद्वेषहेतोस्तदादौ, झटिति शिवसुखार्थी, यत्नतस्तौ जहीहि ॥१४०॥

(३३२) ससारसकटके हेतुभूत रागद्वेष विभावोंको दूर करनेके लिये आत्मज्ञानपूर्वक राग-द्वेषको दूर हटा देनेका सुझाव—

यह ससार इस जीवका शत्रु है। ससार मायने क्या? जो दिख रहा यह नही, किन्तु आत्मामे जो विकल्प चल रहा है, रागद्वेष मोह विभाव उठ रहे है इसे कहते हैं ससार, बाहरी पदार्थोंको ससार नही कहते। ये तो लोकमे रहने वाले पदार्थ हैं। मेरा ससार मेरे रागद्वेष मोह भाव हैं, ऐसे ये भाव शत्रु हैं, ये मेरेको बरबाद करने वाले हैं? आकुलता व्यग्रता उत्पन्न करने वाले हैं, पर ये भवरूपी शत्रु तब तक दुःख देने वाले रहते हैं जब तक कि ज्ञानज्योतिको नष्ट करने वाला यह कर्मबन्धरूप दोष स्थितियोंको प्राप्त है। कर्मबन्ध चल रहा है, रागद्वेष भावका परिणमन चल रहा है— यहाँ, तब ही तक यह बल चलता है। जब तक अज्ञान हैं तब तक इस रागद्वेष मोहपर बल चल रहा है। जहाँ ज्ञान हो गया कि यह तो कर्मानुभाग है और यह उपयोगका विपरिणमन है, मेरा परिणमन मेरेमे व्याप्य है, कर्मका परिणमन कर्ममे व्याप्य है, ऐसा जब भिन्न-भिन्न देख रहे है दोनों पदार्थोंको वहां पर से निवृत्ति और स्वमे प्रवृत्तिकी उमग बनती है। सो जब तक ऐसे सहज आत्मतत्त्वको नही निरखा, इसका घात करने वाला परिणाम उत्पन्न हो रहा है तब तक ही यह भवशत्रु दुःख देता है। सो देखो यह भव, यह जन्म मरण ससारमे भ्रमण होता है रागद्वेषके कारण तब-

यदि मोक्ष प्राप्त करना है तो हे भव्य जीव ! बडे प्रयत्नसे उन रागद्वेषोका परित्याग कर दो । देखो सुनना और बात करना और कहानी सुन रहे पर्वतपर चढ़ो, अमुक जगह जाओ, सुननेमें सब कुछ सुन लिया, सरल लगा और वहाँ जानेका ध्येय भी नही है । और जब जायगा, पर्वत पर चढेगा तब सच्चा पता पडता है कि यह काम तो इस विधिसे होता है, इसमे इतनी कठि-नाइयाँ आती हैं जिनको दूर करना पडता है । तो ऐसे ही सुन लिया रागद्वेष भाव, पर अपने आपमे एक चोट पैदा करके कि क्यो ऐसा ढचरा ही चल रहा, क्यो ऐसा सुन लिया, चले गए, बोल लिया इतना ही मात्र ढचरा क्यो चल रहा ? खुदपर प्रयोग करते जावें । खुद है ना अकेला, सबसे निराला, इसकी तो मोहमे बरबादी है न ? तो राग द्वेषके परिणामसे कोई सिद्धि मिलती है क्या ? सारा काम व्यर्थ है और उस व्यर्थका पता पडता है अन्तमे जब कि वियोग होता है । किसका क्या था ? कैसे कैसे विकल्प करके अपने इस जीवनको बिगाड डाला ? तो भाई अपने आपमे भेदबुद्धि उत्पन्न करें—मैं हू यह ज्ञानमात्र । मेरेको कुछ नही पडा बाहरमे करनेको । अपने आपमे ही अपनी समस्या सुलझानी है । कल्याणमे कुल, जाति, मजहब, ये काम नही आते । इनका लगाव, इनकी दृष्टि आत्मकल्याणमे बाधक है । अरे करना तो इतना ही है ना धर्मके लिए कि मैं जो ज्ञानस्वरूप हू सो मेरे ज्ञानमे जब यह ज्ञान स्वरूप ही बसा करे, दूसरी चीज मेरे ज्ञानमे न आये, किसी बाह्य वस्तुका बोझ न बने, ज्ञान मे ज्ञानस्वरूप समाये । करनी तो यह ही बात है । तो ज्ञानमय ही आत्मा है, कर लो यह बात, पार हो जावोगे । जो करेगा सो पार होगा । यह बात चित्तमे आनी चाहिए और जो गल्ती है उसे गल्ती समझ लेनी चाहिए ।

(२३३) अज्ञान हटाकर ज्ञानप्रकाशमे आनेमें कल्याण—

अनादिसे लेकर अब तक सारा ध्यान गलत ही गलत रहा और गलत होनेपर भी यह जीव मानता रहा कि मैं बिल्कुल ठीक कर रहा हूं । यह इसका मिथ्यात्व मोह रहा । अब अपने आपपर दया करना है तो सारी कुटेवोका परित्याग करना होगा । इसमे कोई ऋद्धि सिद्धि नही बनती । तो अगर मोक्ष सुखकी चाह है तो अज्ञान छोडो, मोह छोडो, रागद्वेष तजो । कुछ भी विकल्प, कुछ भी राग, कुछ भी पार्टी, पक्ष, किसी भी प्रकारका खोटा ध्यान मत लावो । आत्मानुभवमे तत्पर हो यही इस भवभ्रमणको दूर करनेका एकमात्र उपाय है । सो इस उपायको करनेमे कोई विघ्न नही है, कोई असुविधा नही है । यह तो अपने ज्ञानकी बात है । अपने आपको समझ लो, मन है, ज्ञान है, बुद्धि है, यह खुद ही तो है । भला बत-लावो मानो आपको पुत्र मिला है वह कुरूप है कुरूप, मगर उसके प्रति बडा मोह जगता

और जो बालक उससे बढकर सुन्दर है, बडे ज्ञानी, चतुर, आज्ञाकारी हैं, पुण्यवान हैं उन बालकोके प्रति रच भी प्रेमभाव नही उमडता तो यह कितनी तीव्र मोहकी निशानी है ? जो बालक अपने घरमे पैदा हुआ उसे तो मान लिया कि यह मेरा सर्वस्व है और बाकीको गैर मान लिया तो बताओ यह अपने आपके इस आत्मा भगवानपर अन्याय करना है कि नहीं ?

देखो यहां मिलना-जुलना किसीसे कुछ नही, रहना भी यहां किसीके पास कुछ नहीं, पर कैसी मोह की लीला है कि यह जीव उन ही परपदार्थोंमे फस रहा है। लोग तो कहते यह हैं कि मुझे इस घरने जकड रखा, परिवारने जकड रखा है खुद इस जीवने ही। इस जीवने मोहरूपी विषका पान कर रखा है जिससे यह संसारमे रुल रहा है। इस मोह विषका त्याग किए बिना कोई जीव सुखी शान्त हो नही सकता। जिस बातसे दुःख होता है उसी बातको करके ये दुःख मेटना चाहते तो भला बताओ कैसे मिट सकते ? मोहसे ही तो दुःख होता और मोह करके ही दुःख मेटना चाहते तो भला सोचो तो सही कि क्या वह दुःख मिट सकेगा ? नही मिट सकता। इस मोहजन्य दुःखको मेटनेके लिए स्वच्छ ज्ञान जल चाहिए। अब भेदविज्ञानका जो एक धोन है, जल प्रक्षालन है उससे ही कष्ट दूर हो सकता। मोहका कष्ट बाहरी चीजोंसे दूर नही हो सकता। अज्ञानी जीव तो परपदार्थोंमे ही मोह कर करके अपनी सारी आयु व्यतीत कर देते है, पर अतमें उनके कुछ हाथ लगता नही। तो हे आत्मन ! यदि सुख चाहते हो तो जो सदा मुक्त है स्वरूप, स्वभाव सबसे निराला है, कैसा सत्व है, कैसा याण है कि यह यहां ही तन्मय है, यह हटा नही, तो ऐसे अपने आनन्द अनन्त स्वरूपको निरखना, इसहीमे तृप्त होना, इस ही मे आनन्द मानना, यह ही वास्तविक आशीर्वाद है, यही कल्याण रूप है। बाहरमे मेरा कही कुछ नही है, सब बेकार है। बाहरी पदार्थोंका विकल्प तजें, अपने आपका सहज अन्तस्तत्त्वका आश्रय करें, उसमे ही अपने ज्ञानको रमावें, यही समस्त सकटोंसे छूटनेका एक मात्र उपाय है।

> लोकस्यत्व न कश्चिन्न स तव यदिह स्वार्जित भुज्यते क',
> सम्बन्धस्तेन सार्धं तदसति सति वा तत्र को शेषतोषो।
> कायेप्येव जडत्वात्तदनुगतसुखादावपि ध्वसभावा-
> देव निश्चित्य हस स्ववलमनुसर स्थाथि मा पश्य पार्श्वम् ॥१४१॥

(३३४) अत्यन्त विविक्त परप्रसंगसे निवृत्त होनेमे ही कल्याण—

यहां आत्माको सम्बोधित कर रहे हैं कि देख आत्मन् ! तू लोकका कुछ नही है अर्थात् इस लोकमे, जगत मे जो कुछ भी हैं चर और अचर पदार्थ उनका तू कुछ भी नहीं

लगता। सबकी सत्ता न्यारी पडी है। सबका द्रव्य गुण पर्याय अपने अपनेमें है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सबका अपने अपनेमें समाया हुआ है, फिर एक पदार्थका दूसरा पदार्थ कुछ कैसे हो सकता है ? देख तू लोकका कुछ भी नही है और लोक तेरा कुछ भी नही है, क्योकि जब स्वतत्र सत्ता है, सब अपने आपमे ही उत्पाद व्यय किया करते है, कुछ प्रयोजन ही नही: किसी दूसरेसे तो एकका दूसरा क्या लग सकेगा ? तब इस स्थितिमे यही बात है ना तथ्य कि यह जीव अपने द्वारा उपार्जित कर्मके फलको, भावको भोगता है, अन्य कोई नही भोग सकता और ऐसा हो ही रहा है तब ही तो यह बात है कि किसीके साथ किसी दूसरेका कुछ भी सम्बंध नही। जब सम्बंध नही है फिर वे हो तो क्या, न हों तो क्या, उनके होनेपर फिर तुझे रोष या तोष क्यो होता है ? उन उनके न होनेपर तुझे रोष या तोष क्यो होता है ? न होना चाहिए। ये कुटुम्बी, मित्र, पुत्र, स्त्री, अचर पदार्थ ये पुद्गल, धन वैभव कुछ भी तेरे कभी नही हुए तो उसमे संतोष होनेकी क्या बात है और तेरेसे विलग हो जायें तो रोष करनेकी क्या बात ? और इसी तरह देखो यह शरीर भी विनाशीक है, जड है, उससे अगर कोई काल्पनिक सुख माना जाता है तो वह भी क्या है ? माना हुआ है और उसका ध्वस हो जाता है। तो इस जगतमे सार कुछ न रहा। कोई भी पदार्थ मिले उससे आत्माका कोई भला नही होता। हे हंस, हे स्वच्छ ज्ञानस्वरूप ! तू ऐसा निश्चय कर और अपने आत्माके बलका अनुसरण कर, आत्माका बल है सत्य ज्ञान, जिससे धीरता और गम्भीरता होती है, सो अपने बलका अनुसरण कर और किसीको भी अपना मत समझ। कुछ भी स्थायी नहीं है इस लोकमे। एक अपने आपका जो स्वरूप है वही मात्र स्थायी है। प्रत्येक पदार्थ है द्रव्यदृष्टिसे, पर मेरे साथ रहने वाला तो मेरा स्वरूप है। इस कारण बाह्य पदार्थोंमे रति न करें और अपने स्वरूपमे अपने उपयोगको लगा दें और यही अपनी स्वस्थता प्राप्त करें।

> आस्तामन्यगतौ प्रतिक्षणलसद्दुःखाश्रितायामहो,
> देवत्वेऽपि न शान्तिरस्ति भवतो रम्येऽणिमादिश्रिया।
> यत्तस्मादपि मृत्युकालकलयावस्ताद्धठात्पात्यसे,
> तत्तन्नित्यपदं प्रति प्रतिदिनं रे जीव यत्नं कुरु ॥१४२॥

(३३५) पौरुष करनेका उपदेश—

हे आत्मन् ! क्षण क्षणमे होने वाले दुःखोकी साधन हैं तीन गतियां— नरक, तिर्यञ्च और मनुष्य। सो इन तीनोकी बात तो दूर रहो, माने वे तो है ही, उनके सम्बन्धमें अधिक कहना ही क्या है ? मगर आश्चर्य यह है कि देवगतिमे भी शान्ति

नहीं है जहाँ कि अणिमा महिमा आदिक अनेक ऋद्धियाँ हैं, अनेक सुख साता हैं, किसी प्रकारका उनको क्लेश नही है, वहाँ भी यह जीव सुखी नही है, दु खी है, अशान्त है, क्यों कि जब तक मोहकर्मका इस जीवपर आक्रमण हो रहा है तब तक इस जीवको शान्ति कहाँ से मिलेगी ? इसका शत्रु तो इस आत्मामे ही एक क्षेत्रावगाही चल रहा है। तो जब तक अज्ञान है, जब तक परवस्तुके प्रति लगाव है तब तक स्वास्थ्य नही है अर्थात् अपने आपके स्वरूपमे स्थिरता नही है और इसी कारण शान्ति नही है। हाँ तो देवगतिमे शान्ति क्यो नही प्रथम तो तृष्णा लगी है इस कारण वे भी निरन्तर दु खी रहा करते हैं और आखिरी बात यह है कि उस देवगतिसे भी तो मृत्युकालके द्वारा जबरन नीचे गिराये जाते हैं, आयुका क्षय होता है और देव नीचे ही तो आयेंगे, नरक तो उनका होता नही। तिर्यंच हो तो यही तिर्यक लोकमे होते है और मनुष्य हो तो यही आयेंगे। आखिर नीचे ही तो उनका जन्म हुआ, इसे कहते है अवतार होना कोई अच्छी चीज नही, मगर यह अवतार शब्द बहुत प्रसिद्ध हो गया है। झट लोग कह उठते है कि यह तो भगवानका अवतार है। कोई शब्द जब प्रसिद्ध हो जाता तो उसका वास्तविक अर्थ गौण हो जाता है। अवतारका अर्थ है अवतरण, पतन, गिरना, उतरना। जो लोग मानते हैं कि भगवानने यहाँ मनुष्यका रूप रखकर अवतार लिया तो उनका भी अर्थ ठीक उतर गया। तो यह अवतरण हुआ देवगतिसे। तो जब देव मरता है उस समय उसको कितना सक्लेश होता है ? इस बातका कष्ट नही कि हम इस देह से निकल रहे, लेकिन मोहका कठिन दुःख होता है। जैसे यहाँके मनुष्य मरते समय सोचते हैं कि हमने ४०-५० वर्ष तक बडा परिश्रम करके यह फैक्टरी बनायी, दूकान बनायी, इज्जत बनायी, बड़ी शानदार बिल्डिग बनायी, और यह सब छूटा जा रहा है। अब मेरे लिए यह कुछ न रहेगा, यो उस मोहका बडा कठिन दुःख होता हैं। तो ऐसे ही देवगतिमे भी जब वह देव जानता है कि अब मेरा मरण होने वाला है, उनके भी चिन्ह होते हैं, जो अज्ञानी मिथ्या-दृष्टि देव है उनके तो प्रकट चिन्ह प्रकट हो जाते क्या कि शरीरके निशानोकी ही माला बनी रहती है वह मुरझा जाती है। उन्हे मालूम हो जाता कि अब मेरी मृत्यु होने वाली है तो वे सोचते है कि हाय अब मरकर न जाने कहाँ जाना होगा ? देव मरकर देव तो बनते नही तो यह सोचते कि इस हाड मांसके लोथडमे उत्पन्न होना होगा, जहाँ भूख प्यास आदि की बडी दीनता रखनी होगी। एकेन्द्रिय हुए तो जैसे काठ खडा रहता वैसा बन जायगा। देखो इस प्रकरणसे शिक्षा यह लेनी है कि आज कुछ पुण्यका उदय है, कुछ पूछ हो रही है किसी भी कारणसे, अब वहाँ ऊधम मचायें, हठ करें, अभिमान करें, अन्याय करें तो

उसका फल क्या होगा ? दुर्गति होगी उच्च गति तो नही मिलती। तो लोगोको सज्जन बनना चाहिए किसलिए ? अपनी दया करनेके लिए। ढंगसे सदाचार से, विनयसे, सदव्यवहार से दूसरोको महत्त्व देकर अपने आपको नम्र बनाकर जिन्दगीमें रहना चाहिए। यह न सोचें कि मैं क्यो नम्र रहू ? मेरे पास तो धन है, ज्ञान है, कला है, बुद्धि है, प्रतिभा है, शरीर पुष्ट है, क्यो दब कर रहे ? ऐसा तो सोचना निपट मूर्खता है। संसारी इन बातोंको जो महत्त्व दे उसका फल है दुर्गति। तो इसी दुर्गतिकी बात कह रहे हैं कि जब देव भी एक प्रकारसे दुर्गति है देव की, दुःख वहाँ, अशान्ति वहाँ, मरण वहाँ। तो अब भला बताओ संसारमे कौन-सी भली गति है, भली स्थिति है ? चारो गति ही इस जीवके लिए संकट है। इनसे हटें और स्वस्थताका आदर करें। अपने आपके स्वरूपमे जैसे स्थिरता बने वह काम करना चाहिए। तो हे आत्मन् जब सब गतियोकी यह बात है, कोईसी भी स्थिति सुखमय नही है तो तू उस पदका आदर कर जो नित्यपद है, उसके प्रति तू अपना पौरुष बना।

यद् दृष्टं बहिरङ्गनादिषु चिरं तत्रानुरागोऽभवत्,
भ्रान्त्या भूरि तथापि ताम्यसि ततो मुक्त्वा तदन्तर्विश।
चेतस्तत्र गुरो: प्रबोधवसतेः किंचित्तदाकर्ण्यते,
प्राप्ते यत्र समस्त दुःखविरमाल्लभ्येत नित्यं सुखम् ॥१४३॥

(३३६) **बाह्य पदार्थोमें सुखका भ्रम छोड़कर शाश्वत सहज आनन्दका उपाय करनेका अनुरोध—**

हे आत्मन्, हे मन, हे चित् ! तूने बाह्य पदार्थोंमे स्त्री पुत्रादिकमें अपना उपयोग, विकल्प फंसाकर जो कुछ सुख देखा है ना उसमे तू भ्रमवश चिरकाल तक प्रेमी बना रहा, मोही बना रहा। इन्द्रियको जो सुहाये, मनका जिसने मौज माना उस विषयसाधनमे इसने गडबडी की, रति की, मोह किया। इतना मुग्ध रहा कि इसे अपने स्वरूपकी सुध न रही। मुझे किस तरह रहना— यह बात उसकी दृष्टिसे हट गई तो हे चित् ! तूने जो भी सुख देखा भ्रान्तिसे उसीमे तूने मोह किया, अनुराग किया, उसकी प्रीति की, लेकिन तू उससे और अधिक दुःखी रहा, अधिक सताप सहना पडा। जो चीज इस जीवको बडी भली लग रही, इष्ट लग रही, वह अनिष्टकी तरह ही दुःख देने वाली है। यहाँ इष्ट और अनिष्ट क्या ? अगर आपको कोई अनिष्ट चीज मिल जाती है, जिसमे आपका मन नही जमता, ऐसा कोई आपके सामने आ जाता है, जिसे आप अनिष्ट मानते हो और उसके प्रति विचार बना बनाकर अपने आपको जैसे दुःखी करते हो। उससे भी अधिक दुःख होता है इष्ट पदार्थोंके

मिलनेमे । जब तक इष्टपदार्थ साथ है, संग है, समागम है तब तक मूर्ख बनकर याने अपनी करुणासे रहित होकर विकल्प विकल्पमे ही जीवन गुजर गया और यह सोचकर कि यह बहुत सुखी हो जाय, इसको कभी कष्ट न हो, जिसके प्रति मोह है स्त्री पुत्रादिकके प्रति उसका बहुत ध्यान रखते है, तो जब तक सग है तब तक उसे क्लेश है और यह तो निश्चित है कि मरण होगा ही । कभी पिताके आगे पुत्र मर जाता है, कभी पिता पहले मर जाता है, दोनो ही स्थितियोमे इस पिताको दु खी होना पडता है । पहले स्वयं मरा तो हाय मैं ऐसे बच्चों को छोडकर जा रहा हू । उसे ऐसा बडा किया, पाला पोषा, पढाया, ऊँचे ऊँचे ओहदे पर पहुंचाया और जिसके कारण मैं मौज मानता था, हाय अब मैं छोडकर जा रहा हू । दु खी होगा कि नही । जिसका सयोग होगा उसका वियोग तो नियमसे होगा, इसमे कुछ सदेह नही । जिसका वियोग हो जाय उसका फिर सयोग हो या न हो, इसका कोई नियम नही है, लेकिन जिस पदार्थका सयोग हुआ है उसका वियोग नियमसे होगा । तो कष्ट सहना पडेगा न ? तो जरा अपने आपपर दया करो । अभिमानमे मत रहो और इष्ट अनिष्टकी बुद्धिको त्याग दो । जो ढगसे रहेगा सो सुखी रहेगा, शान्त रहेगा और जो बेढगमे रहेगा मोह रागद्वेष मे बढता हुआ रहेगा उसे कठिन दुःख भोगना पडेगा, क्योकि कर्म सबके साथ लगे हैं । दुर्भाव करके जो खोटे कर्म बँध रहे हैं वे आगे दु खके कारण ही तो बनेंगे । इससे जरा अपने आप पर दया करनी चाहिए । अपने आत्माको निरखो, जो शान्ति आनन्दका धाम है उसमे आस्था बनाओ, इन बाहरी सग प्रसगोमे आस्था मत करो । तू इन विषयसाधनोको छोडकर, इस ममताके आश्रयको छोडकर अपने अन्तरात्मामे प्रवेश कर । देख अन्तरात्मामे प्रवेश करनेके बाबत, इन विषयसाधनोको त्यागनेके बाबत जो गुरुजनोंने उपदेश किया है उसमे ऐसा कुछ सुना जाता है, मायने वह बात प्राप्त हो कि जिसके प्राप्त होने पर समस्त सकटोसे छुटकारा मिल जाता है, इसको अविनाशी सुख प्राप्त हो जाता है, तो श्रद्धा रखें अपने आत्मस्वरूपकी उसीसे वास्तविक आनन्द प्राप्त होगा । इन बाहरी पदार्थोंके सगसे, उनके लगावसे केवल कष्ट ही कष्ट प्राप्त होगा ।

किमालकोलाहलैरमलबोध सम्पन्निधे
समस्ति यदि कौतुक किल तवात्मनो दर्शने ।
निरुद्धसकलेन्द्रियो रहसि मुक्तसगग्रह
कियन्त्यपि दिनान्यतः स्थिरमना भवान् पश्यतु ॥१४४॥

(३३७) परिग्रहपिशाचसे छूटकर अन्तरात्मामे प्रवेश करनेमे आत्महित—

हे प्राणी ! तू व्यर्थके कोलाहलसे क्या पायगा और देख यदि निर्मल ज्ञानरूप मूर्तिके बारेमे तुझे कोई कौतुक होता है, मैं आत्मीय ज्ञान और आनन्दको पाऊँ, ऐसा मनमे भाव जगा है, आत्मदत्त्वके दर्शनकी यदि कुछ उमग हुई है तो तू इन बाहरी कोलाहलोको त्याग। इनसे कोई सिद्धि नही है और फिर करें क्या कि इन समस्त इन्द्रियोका निरोध कर दें। ये इन्द्रियाँ जो चाहती हैं मायने इन्द्रियोके जो विषय हैं उनको रोक देना, न भोगना, न चाहना ये सब कुछ। तो तू इन विषयोसे अपने मनको रोक, बाह्य संग परिग्रहका आग्रह छोड और देख कुछ ही दिन, माह दो माह ६ माह तू स्थिर मन होकर अपने आपके अन्दर कुछ निरखनेकी कोशिश तो कर। कितना समय गुजर गया इस मनुष्यभवको पाये हुए और रोज-रोज की चर्या इसने की। वही सुबहका नास्ता पानी, वही चाय, वही खाना पीना, वही विषयभोग के प्रसग, वही कमाई, वही भोगोपभोग, वही गप्प सप्प, बस यही रूटीन चल रहा है। अरे आत्मन् इस तरहकी रूटीनमे चलकर तू देख, अपनेको क्या लाभ प्राप्त कर लेगा ? इससे इस मोहको तज और अपने आपके स्वरूपको तू अपने मनको स्थिर कर तब स्वयं ही देख लेगा कि मेरेमे कैसा आनन्दस्वभाव पडा हुआ है ? सब कुछ है, कृतकृत्य है, पूर्ण है, इसमे कोई कमी है ही नही। जो भी सत् होता है वह परिपूर्ण होता है, अधूरा कुछ नही हुआ करता। जो है सो परिपूर्ण है। मैं हूं तो मैं भी परिपूर्ण हू, मेरे स्वरूपमे कोई अधूरापन नही है जिससे कि मैं चिन्ता करूँ कि हाय मैं पूरा बन नही पाया। अरे अनादिसे ही परिपूर्ण हूं, फिर फिक्र क्या है ? क्यो बाहरी सगमे इतना आग्रह किया जा रहा है ? इसको छोड। कुछ दिन तो अपने ही अन्दरमे स्थिर होकर अपने आनन्दस्वरूपको निरख, अनुभव कर, यह ही स्वास्थ्य है, यह ही वास्तविक धर्म है। तो ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्वमे अपने उपयोगको स्थिर कर देना यही ही है वास्तविक धर्मपालन।

हे चेत: किमु जीव तिष्ठसि कथं चिन्तास्थितं सा कुतो
रागद्वेषवशात्तयोः परिचय: कस्माच्च जातस्तव।
इष्टानिष्टसमागमादिति यदि श्वभ्रं तदावांगतो,
नो चेन्मुञ्च समस्तमेतदचिरादिष्टादि संकल्पनम् ॥१४५॥

(३३८) जीव और मनकी हितके प्रसंगमें खुलकर वार्ता—

अब जरा यहाँ मनकी और आत्माकी बात चल रही है। आचार्य एक इस अलंकार रूपमे इस आत्माको समझा रहे है। क्या बात हो रही है जीवकी और मनकी ? यह जीव कहता है कि हे मन ! तो मन कहता है हाँ जीव, क्या है जीव ? यो मानो एक बडे

मजेसे बात कर रहे हो। जीव कहता है हे मन, तो मन कहता है हाँ हे जीव क्या है ? तो मन कहता कि तुम कैसे स्थित हो, किस स्थितिमे हो, तुम्हारा क्या मिजाज है ? तो यह मन कहता है क्या बतायें, चिन्तामे घुल रहा हूँ। मन और जीवकी बहुत गहरी दोस्ताना की बात चल रही है। जीवने पूछा कैसे रहते हैं आप ? तो मन कहता है कि चिन्तामे घुल रहा हू, चिन्तामे स्थित हू। तो जीव पूछता कि यह चिन्ता कैसे लग गई तुम्हे ? याने कहाँ से यह चिन्ता आ गई ? तो मन कहता है कि राग और द्वेषके वशसे चिन्ता आ गई है। यह राग हुआ कहांसे अर्थात् चिन्ता बनी कहांसे ? द्वेष उमड रहा है तो चिन्ता, राग उमड रहा है तो चिन्ता। यह है, इसका भला हो, यह अच्छा बने, इसको मैं सुखी कर दू इसे बहुत अच्छा बना दू, राग है तो चिन्ता और द्वेष है तो चिन्ता। कैसा मैं इस कारण फंस गया, कब यह मेरेसे अलग हो, कैसे यह मिटे ? उसकी चिंता। तो जीवने यह पूछा कि तुम चिन्ताकी स्थितिमे हो तो यह बात कैसे आ गई ? तो मन उत्तर देता है कि रागद्वेषके वश होकर यह चिन्ता आयी है। रागद्वेषकी आधीनतासे चिन्ता उत्पन्न हुई है। तो अब जीव पूछता है कि तुमको उन रागद्वेषोका परिचय कैसे हो गया ? कैसे तुम उन रागद्वेषोंके आधीन बन गए ? रागद्वेषमे कैसे फस गए ? इन रागद्वेषोसे तुम्हारा परिचय कैसे हुआ ? जैसे कोई खोटे दोस्तसे फंस जाय तो उसका कोई हितैषी कहता है कि तुम उससे फँस कैसे गए ? कैसे तुम्हारी बोलचाल शुरू हुई थी ? ऐसे ही जीव पूछता है मनसे कि तुझको रागद्वेषका परिचय कहां से हुआ ? किस कारणसे परिचय बन गया ? तो मन कहता है कि इन रागद्वेषोंके साथ मेरा परिचय इष्ट अनिष्ट वस्तुओके समागमसे हुआ। इष्टका समागम हुआ तो रागका परिचय बन गया, रागका प्रभाव आ गया। अनिष्ट वस्तुका समागम हुआ तो राग द्वेषका परिचय बन गया, द्वेषरूप प्रभाव आ गया, यह हुआ जीव साहब। तो अन्तमे फिर यह जीव कहता है कि यदि ऐसी बात है याने तुम दुःखी हो, चिन्तामे हो, रागद्वेष होनेसे चिन्ता बना ली है और इसका परिचय इष्ट अनिष्टके समागमसे हुआ है तो देख मित्र! यदि यह बात है और ऐसी तुमने अपनी शक्ल सूरत बना ली है तो हम तुम दोनोको नरक जाना पड़ेगा। कौन कह रहा है ? जीव। देखो नरकमे भी यह मन सगमे रहेगा, यहाँ भी मन है, नारकियोके भी मन होता। तो यह मनने जो ऊधम मचाया है रागद्वेषके आधीन होकर, जो इतनी चिन्ता शल्य लगा रखी है और उससे जो मन दुःखी हो रहा है तो इसके फलमे तो हे भाई हम और तुम दोनोको नरकमे जाना पडेगा। होता है ना ऐसा कि नरकमे जायगा यह जीव तो वहाँ भी मन मिलेगा, अरे तो मन और जीवका वहाँ भी स्वांग चलेगा। तो हे मन यदि

ऐसी बात है तो देख हम तुम दोनों ही शीघ्र नरकको प्राप्त करने वाले हैं, बोल यह तुझे मंजूर है क्या ? हे चिन्तामे रहने वाले मन, हे रागद्वेषके आधीन हुए मन ! जो कुछ तू कर रहा है वह इतना खोटा है कि जिसके फलमे नरक जाना पडेगा। सो मन अकेला है क्या ? हमे तुम्हे (जीव और मन) दोनोको नरकमे जाना पडेगा। तो बोल दोनोकी ऐसी हालत होने वाली है तुझे मंजूर है क्या ? तू चाहता है क्या कि नरकके दु.ख मिलें ? यदि तुझे यह बात इष्ट नही है, तू नरक नही जाना चाहता है तो देख ससारके समस्त इष्ट अनिष्टको तू छोड़ दे। जगतमें क्या इष्ट है, क्या अनिष्ट।

(३३९) वस्तुस्वरूपको जानकर परसे अहितसे असहयोग करके स्वमें रुचि करनेका संदेश—

वास्तवमे तथ्य यह ही है। जीव सब अपनेमे अपनी सत्ता लिए हुए हैं। उन्होंने जैसे अपने पुण्य और पाप कमाया है उसके अनुसार वह फल पाता है। किसीका कोई साथी नही है। किसीके कमाये हुए कर्मके फलको कोई दूसरा भोगता नही है। यहाँ मित्रता क्या ? कषायसे कषाय मिल गई, इसको कहते हैं मित्रता। यहाँकी मित्रतासे कुछ लाभ है क्या ? और जिस धार्मिक मित्रतासे लाभ हैं उसका कुछ महत्व ही नही आंकते, उसकी कुछ परवाह ही नही करते। तुलना करके देखलो—किसीको धर्मात्माके प्रति अधिक अनुराग है या पुत्र स्त्री आदिकके प्रति अधिम अनुराग है तो बस यह निर्णय ही बता देगा कि संसारकी रुचि है या मुक्तिकी। एक सीधी सरल कुञ्जी है जिससे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि हम गल्तीपर चल रहे हैं अथवा हम सही मार्गपर चल रहे हैं। अपनी उसमे प्रीतिके विषयका निर्णय करके निश्चय बना लो, धर्मात्माके प्रति प्रीति उसको होती है जिसको धर्ममे प्रीति होती है। जैसे जिसको जुवा खेलनेमे प्रीति है वह किनसे प्रीति करेगा ? जुवारियोसे। तो यह एक साफ स्पष्ट कुञ्जी है। जिसको धनमे प्रीति है वह धनिकोसे प्रीति करेगा, धनिकोमे अपना सम्बन्ध बनायगा, क्योकि धन बढ़नेके ये ही तो उपाय है। जिसको ज्ञानमे रुचि है वह ज्ञानियोसे प्रीति करेगा, उनमे विनय आदर, आस्था रखेगा। जहांसे जो चीज मिल सकती है या जिस सम्बन्ध से इष्टका लाभ हो सकता है वह उसीमे प्रीति करता है, जिस जिसको धर्ममे रुचि है जगतमें कुछ भी सार नही है, सब निःसार बातें है, ऐसा निर्णय करके जिसको यह रुचि हुई है कि सार तो मेरा मेरे इस अनादि अनन्त चैतन्यस्वरूपके दर्शनमे है। इस धर्ममे जिसको प्रीति हुई है, यह धर्म जो जो पाल रहे हो, इस धर्मकी जो जो साधना कर रहे हो ऐसे मनुष्योमे उसे प्रीति लगेगी। उसका यही निर्णय बन जायगा कि आप मुक्तिमार्गके इच्छुक है या ससार मार्गके। जिसको धर्म और धर्मात्माजनोमे निष्कपट अतरंगमे उल्लासपूर्वक प्रीति होती है

निश्चयसे वह भव्य है और उसका अवश्य उद्धार होगा और जिसको धर्म और धर्मात्माओंसे रुचि नही किन्तु स्त्री पुत्र मित्र धन वैभव आदिक बाह्य चीजोमे ही रुचि विशेष लगी हुई है, उनको ही अपना सर्वस्व मानता है, उनसे ही अपना लाभ समझता है, उसका निश्चय है कि उसे ससारमार्ग प्यारा है तो संसारमे रुलना उसके लिए बहुत आसान बात है। तो भाई स्वस्थता यह ही एक धर्म है, इसका आश्रय करना और इस मनको नियन्त्रित करना, इष्ट अनिष्टके समागमसे हटना और आत्मतत्त्वमे प्रीति करना, रे मन तू ऐसा ही कर। मैं भी ऐसा ही चाहता हू, तो दुर्गतियोंसे बचाव हो जायगा।

ज्ञान ज्योतिरुदेति मोहतमसो भेद. समुत्पद्यते,
सानन्दा कृतकृत्यता च सहसा स्वान्ते समुन्मीलति।
यस्यैकस्मृतिमात्रतोऽपि भगवानत्रैव देहान्तरे,
देवस्तिष्ठति मृग्यता सरभसादन्यत्र किं धावत ॥१४६॥

(३४०) अज्ञानान्धविनाशक, आनन्दमय भगवान अन्तस्तत्वका अपने आपमे दर्शन करनेका पौरुष—

जिन भगवान आत्माकी स्मृतिमात्रसे अर्थात् अपने ही देहमे विराजमान इस चैतन्य पदार्थका जो सहजस्वरूप है उस सहजस्वरूपमे विलास करने वाला है, यह भगवान आत्मा इसका जिसको अनुभव हुआ है उस पुरुषको इसकी स्मृतिमात्रसे ही ज्ञानज्योति उदित होती है। ज्ञानज्योति तो अनादि अनन्त है ही, उसमे उपयोग आनेको उदय कहा करते हैं और इस भगवान आत्मामे स्मृति मात्रमे मोहांधकारका भेद उत्पन्न होता है अर्थात् मोहाधकार दूर हो जाता है जहा ज्ञानमय निज अंतस्तत्त्वकी स्मृति है। स्मृति कब होती, जब अनुभव होता है और स्मृतिमे अनुभव जैसी ही कोई परोक्ष स्थिति बनती है तो ऐसे आत्माकी सुध जहा हो वहा मोह कहाँ ठहर सकता है? और जिस भगवान आत्माकी स्मृतिमात्रसे आनन्द सहित कृतकृत्य बनता है, आत्मीय विशुद्ध आनन्दका अनुभव करता है और जब जाना अपने सहजस्वरूप परिपूर्ण स्वत.सिद्ध आनन्दधाम जिसका किसी अन्यसे कुछ सम्बन्ध नही, किसी अन्यका जिस पर कोई प्रभाव नही, यह तो स्वयसिद्ध है जब ऐसे अन्तस्तत्वकी सुध बनती है तो इसकी दृष्टिमे स्पष्ट आता है कृतकृत्यपना, मेरेको अब करनेको कुछ नही रहा। एक आत्मदृष्टि ही अब तक नही हुई थी वह उपलब्ध हो गई, जिसमे कि यह समझ बन गई कि मैं जगतके अन्य पदार्थोंमे कुछ नही कर सकता।

तो अब मेरेको कृतकृत्यता आ गई। तो जिस भगवान आत्माके स्मरण मात्रसे

अपने अन्दरमें एक निर्भरता अनुभवमे आती है। कहते है कि वह भगवान कही बाहर नही हैं, वह तो इसी देहके अदर है याने देह यद्यपि स्वयं पौदगलिक स्कंध है। वह परमाणु मे नही किन्तु जहां देह पडा है उसी क्षेत्रमे रहता हुआ यह भगवान आत्मा विराजमान है तो बडे वेगसे बड़े प्रयत्नसे अपने ही इस देहमे क्यो नही ढूंढते हो ? बाहर क्यो दौड रहे, क्यो भाग रहे ? अपना आनन्द पानेके लिए बाहरके पदार्थोंमे उपयोग जुडाना यह बाहर भागना ही तो हुआ। आनन्द कही बाहर है क्या ? शान्ति कही बाहर है क्या ? अरे जब ज्ञानको ज्ञानरूपमे ही ज्ञान ने समझ लिया, आनन्द आ गया, कृतकृत्यता आ गई, पवित्रता बन गई, तो बाहर क्यों बड़े वेगसे घूम रहे हो ? अन्दरमे ही अपने इस आनन्दधाम अपनी ज्ञानज्योतिके दर्शन करो।

जीवाजीवविचित्रवस्तु विविधाकारर्द्धिरूपादयो
रागद्वेषकृतोऽत्र मोहवशतो दृष्टाः श्रुताः सेविताः।
जातास्ते दृढबन्धन चिरमतो दुःख तवात्मन्निद
नून जानत एव किं वहिरसावद्यापि धीर्धावति ॥१४७॥

(३४१) **बाह्यपदार्थोंके अनुरागसे क्लेश पाकर भी बाह्यपदार्थमें आसक्त होनेपर खेदप्रदर्शन**—

ये जगतमे दिखने वाले पदार्थ जीव अजीव नाना प्रकारके स्कंध, ये ऋद्धियां, ये वैभव, ये रूपादिक जो कुछ दृष्टगत हो रहे हैं ये सब क्या हैं ? ये सब रागद्वेषके आश्रयभूत हैं, अतएव कह लीजिए कि ये सब रागद्वेषको करने वाले है। सो मोहके पथसे इस जीवने इन सबको देखा, सुना, अनुभव किया, सेवन किया। यही कारण है कि इस जीवका इस देहसे दृढ़ बन्धन हुआ। जीवका बन्धन किस बात का ? जीव तो अमूर्त है, किसीके पकड मे आता नही, शस्त्र इसे छेद सकता नही, पानी भिगो सकता नही, वायु उडा सकती नही, फिर इस जीवको बन्धन क्या है ? जीवने बन्धन अपनी कायरता से स्वय ही कर लिया है। क्या बंधन हो गया ? बस बाह्य पदार्थोंमे राग बसाता, द्वेष बसाता, बस उसके आधीन होकर यह जीव विवश हो जाता है, पराधीन हो जाता। तो बाह्य पदार्थोंमे लगाव रखकर, मोह बसाकर, रागद्वेष करके इस जीवने अपने आपको बंधनमे डाला है, सो यह बन्धन अनादिसे, चिरकालसे चला आ रहा है। तो यह जीव जान रहा है कि ये इष्ट अनिष्ट समागम, ये रागद्वेष, ये लगाव, ये व्यामोह इस आत्माको कष्ट देने वाले हैं। यह जान रहा है। ऐसा जानता हुआ भी कैसा यह व्यामुग्ध बन रहा है कि प्राणियोकी अब तक भी बुद्धि इधर दौड़ लगा रही है।

(३४२) **पञ्च इन्द्रियोंके विषयोंके व्यामोहका दुष्परिणाम**—

पचेन्द्रियके विषयमे कौनसा विषय इस जीवको शान्तिका कारण है जहां एक-एक

इन्द्रियके वश होकर प्राणी अपने प्राण गमायें वहाँ पञ्चेन्द्रियके वश हुआ यह जीव व्याकुल होता ही रहता है। देखो स्पर्शनइन्द्रियके विषयभूत होकर यह हाथी भी शिकारियोके चगुलमे फस जाता है। शिकारी लोग एक बडा गहरा चौडा गड्ढा खोदते, उसपर बाँसकी पचें बिछा कर मिट्टीसे डालकर उसे पाट देते और उसके ऊपर झूठी बुट्टिनी हथिनी बनाते, उस हथिनीके रागमे आकर हाथी उसके पास पहुचता है, फल क्या होता है कि पचे टूट जाती हैं, हाथी गड्ढेमे गिर जाता है, कई दिन तक उसे भूखा प्यासा रखते फिर उसे अकुशके बल से शिकारी लोग अपने वशमे कर लेते है। तो देखो एक स्पर्शन इन्द्रियके वश होकर हाथी जैसे जानवरने अपनेको जोखिममे डाल दिया। अब रसना इन्द्रियकी बात देखो। ये मनुष्य भी तो इस रसना इन्द्रियके अधीन होकर ही तो कायर बन रहे है। स्वादिष्ट खाना खानेकी ही धुन रखना, इससे जीवका हित क्या होता है। कर्म बन्धन, स्वास्थ्य खराब होना और विकल्प बहुत बने तो कष्टकारक है यह विषय, तो भी यह जीव व्यामोहवश कुछ हित अहित नही सोचता। देखो मछली एक रसनाइन्द्रियके वशीभूत होकर अपने प्राण गमती है। शिकारी लोग उस बशीमे केंचुवा आदिकका कोई मांस उसमे बघे काटेमे लगा देते हैं। जब उसको पानीमे डालते तो पानीमे रहने वाली मछली उस मासपिण्डके लोभसे दौडती और उसे निगल कर उसके अन्दर रहने वाले कांटेमे अपने कंठको फसा देती है और शिकारी लोग उसे मार देते हैं। तो मछलीने रसनाइन्द्रियके वशीभूत होकर अपने प्राण गमाया। अब घ्राणेन्द्रियकी बात देखो—लोग तो सोचते कि जरासा सूंघ लिया, सुगध ले लिया तो उसमे प्राण गमाने जैसी क्या बात ? अरे उस भ्रमरको देखो—सुगधका लोभी भ्रमर कमलके फूलो पर बैठकर सुगध लेता, उसमे आसक्त हो जाता, तो परिणाम क्या होता कि सूर्यास्तके बाद कमल बद हो जाता, वह भ्रमर उस कमलके फूलके अन्दर बद हो जाता। जिस भ्रमरमे इतनी शक्ति है कि काठको भी छेद दे वह भ्रमर उस गंधके लोभमे कमलके कोमल पत्तोको भी छेद कर निकल नही पाता, उसीके अन्दर रहकर वह मरणको प्राप्त हो जाता। तो देखिये एक घ्राणेन्द्रियके वशीभूत होकर भ्रमरने अपने प्राण गमाये। अब चक्षुरिन्द्रियकी बात देखो—लोग तो कह सकते कि रूप देख लेनेसे उसमे प्राण गमाने जैसी क्या बात ? सो भाई इस चक्षुरि-न्द्रियके वशीभूत होकर कितने ही मनुष्य भी तो अपने प्राण गमा रहे हैं और इन पतिंगोको तो देखो जो दीपककी रोशनी पर छा जाते हैं। दीपक जल रहा है, उन्हे दीपकका रूप प्रिय लग रहा, वही जाकर वे पतिंगे जलकर अपने प्राण गमा देते हैं। अच्छा कर्णेन्द्रियके वशीभूत होकर भी क्या प्राण गमाये जा सकते ? हां गमाये जाते। देखो सपेरे लोग अपनी बीनसे

सुरीली आवाज बजाते हैं, उस आवाजको सुनकर विषधर सर्प भी आकर मस्त हो जाते और शिकारियोंके चंगुलमें फंस जाते. अथवा ये हिरण भी वीणाकी मधुर तानको सुनकर शिकारियोंके निकट आ जाते और शिकारियोंके चंगुलमें फंस जाते।

(३४३) पांचों ही इन्द्रियोंके व्यामोहीकी दयनीय दशा—

देखो एक एक इन्द्रियके वशीभूत होकर इन प्राणियोंने अपने प्राण गंवाये अथवा अपनेको हैरानीमें डाल दिया तब फिर जो पञ्चेन्द्रियोंमें वशीभूत हो रहे उनकी क्या दशा होगी, इसका तो कहना ही क्या? भले ही आज कुछ पुण्यका उदय है सो अपने मनको स्वच्छन्द बनाकर, इन पञ्चेन्द्रियोंके लोभमें आकर, विषयोंमें पड़कर खूब ऊधम मचा लें, लेकिन उससे जो विकट कर्म बंध होता है उसका फल तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा। आज यहां जो ये सब ठाट बाट दिख रहे हैं ये रागद्वेष मोहके करने वाले हैं और इस ही रागद्वेष मोहके कारण इस जीवने इनको बराबर सुना, देखा, परिचय किया, सेवन किया और इस ही चेष्टामें इसको दृढ़ बन्धन हो गया। तो हे आत्मन तुम जान रहे यह सब बात तो फिर क्यों बुद्धि वहां दौड़ाये जाते हो? अब तो परकी ओरसे बुद्धि हटाकर अपने इस आनन्दधाम ज्ञानस्वरूपमें बुद्धि लगाना चाहिये।

भिन्नोऽहं वपुषो बहिर्मलकृतान्नानाविकल्पौघतः
शब्दादेश्च चिदेकमूर्तिरमलः शान्तः सदानन्दभाक्।
इत्यास्था स्थिरचेतसो दृढतरं साम्यादनारम्भिणः
संसाराद्भयमस्ति किं यदि तदप्यन्यत्र कः प्रत्ययः॥१४८॥

(३४४) परसे विविक्त व स्वरूपमें रत पुरुषके ही वास्तविक निर्भयता—

ये ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपके बारेमें चिन्तन कर रहे हैं कि मैं देहसे भिन्न हूं। कैसा है यह देह? बाहरी मलोंसे उत्पन्न हुआ है मलबीज और मलयोनि। मलोंसे यह देह उत्पन्न हुआ और मलोंको ही यह पैदा किया करता है। माता पिताके रज वीर्य सम्बंधसे इस देहकी उत्पत्ति हुई, यह तो हुआ मलबीज और मलको ही यह उत्पन्न करता है, कितना मल है, छोटे बड़े घिनावने और कुछ शरीरमें यों ही रहने वाले खून आदिक ये भी तो मल हैं। तो बाह्य मलोंसे उत्पन्न हुए इस देहसे मैं निराला हूं। मैं रूपवान नहीं हूं, मैं किसी बन्धनमें आ सकने वाला नहीं हूं, मैं ही रागद्वेषका बंधन बनाता और इस देहसे प्रीति करके यहीं ही रम जाता। इस देहसे मैं निराला हूं। देहसे मेरा क्या संबंध? देह अचेतन, मैं चेतन। देहमें ज्ञान नहीं, मैं ज्ञानस्वरूप हूं। इस देहसे मैं निराला हूं और जो मुझमें नाना विकल्प

उत्पन्न हो रहे हैं इन विकल्पोसे भी मैं निराला हू । क्या विकल्प करना मेरा काम है ? मैं हू ज्ञानज्योति स्वरूप, सो मैं अपने इस ज्ञानस्वभावमे ही रम रहा हूं, ज्ञानस्वभाव ही मेरा स्वरूप है । यहां ही रमूं । यह ही मेरे अकेलेकी पद्धति है, बाह्य पदार्थोंमे रमना यह ही मेरे लिए कलक है । ये विकल्प बाहरी पदार्थोंका आश्रय करके होते हैं, कर्मोदयका निमित्त पाकर होते हैं, ये मेरे स्वभावसे उठे हुए नही हैं । मैं कषाय नही । मैं इन विकल्पोरूप नही और बाहरमे जो शब्दादिक पडे हुए हैं, रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द अनेक प्रकारके विभाव ये तो प्रकट भिन्न हैं, इनसे मैं निराला हूँ, तब मैं क्या हू ? एक चैतन्यमूर्ति । चैतन्य ही जिसका एक शरीर है, ज्ञानशरीरी । ज्ञानसे अतिरिक्त मेरा अन्य कुछ स्वरूप नही । ज्ञ न ही मेरा सर्वस्व है । तो चैतन्य ही है एक मूर्ति जिसकी, ऐसा यह मैं आत्मा निर्मल हूं और ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञान और आनन्द ये मेरे प्राण हैं । जो स्वरूप होता जिसका वही उस वस्तुका प्राण है ।

(३४५) सत्य श्रद्धानीकी निर्भयताका कारण—

मैं सदा आनन्दका पात्र हू, इस प्रकारकी जिनको आस्था है, जिन स्थिरचित्त वाले योगियोको इस प्रकारकी आस्था है अपने बारेमे, अपने स्वरूपमे एकत्वमय हैं, परस्वरूप से अत्यन्त भिन्न है, ऐसा जिन स्थिरचित्त वालोकी आस्था है वे समतापरिणामके कारण कुछ नही करते बाहरमे आरम्भ । अपने आपको ही निरखते रहते हैं । मैं हू और अपने स्वरूपमे हू, इसको भय क्या ? इसको मरण तकका भी भय नही । मरण क्या है ? कोई पुरुष अपने टूटे फूटे मकानसे हटकर अच्छी नई कोठीमे पहुच जाये तो क्या वह खेद मानता है ? क्या वह अपना विनाश मानता है ? नही मानता । ऐसे ही जिसने यह समझा कि मैं तो अतस्तत्त्व हू, अन्य कुछ नही हू तो लो यह इस शरीरमे न रहा, यह पूराका पूरा चलकर अन्य शरीरमे पहुच गया । इसका बिगाड क्या हुआ ? बिगाड होता है मोही जीवका । जब मोह बसा है कि हाय मेरा घर, मेरा धन, मेरा परिवार सब कुछ मेरेसे छूटा जा रहा है, ऐसी जब दुर्बुद्धि जगती है, वस्तुस्वरूपके विपरीत मति बनती है तब इस जीवको कष्ट होता है । अपने को ज्ञानस्वरूप ही माने कोई और अन्यसे अत्यन्त भिन्न समझ ले कि जिसके कुछ भी होनेसे मेरेमे कोई सुधार बिगाड नही, अत्यन्त उपेक्षा हो परकी ओर एक ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको देख रहे हो तो इस देहसे हटकर अन्यत्र जानेमे कौनसा कष्ट होता है ? तो यह ज्ञानी पुरुष है जिसने परसे भिन्न अपने आपके स्वरूपमे एकत्वरत निज अतस्तत्त्वको स्वीकार कर लिया वह पुरुष निर्भय होता है, अब उसे ससारका क्या भय ? अगर ज्ञानी पुरुषको भी भय सताये तो भला फिर अन्य किस जगह जाया जाय ? कोई स्थान नही ऐसा कि जहां

निर्भयता और आनन्द प्राप्त हो सके। निर्भयता, आनन्द, शान्ति, संतोष सब कुछ अपने आपके स्वरूपमे ही मिलेगा। बाहर तो कुछ भी नही है इस जीवका, बल्कि बाहरमे अगर उपयोग लगाया तो उसे कष्ट मिलता है, ससारका परिभ्रमण ही मिलता है, अन्य कुछ हाथ नही लगता।

> किं लोकेन किमाश्रयेण किमथ द्रव्येण कायेन किं
> किं वाग्भि· किमुतेन्द्रियैः किमसुभिः किं तैर्विकल्पैरपि।
> सर्वे पुद्गलपर्यया वत परे त्वत्तः प्रमत्तो भवन्
> नात्मन्नेभिरभिश्रयस्यतितरामालेन किं बन्धनम् ॥१४९॥

(३४६) अप्रायोजनिक परपदार्थोंके सम्पर्कसे संसारबन्धन—जगतके स्वरूपको समझो, अपने आत्माकी सत्ता जानो और वस्तुस्वातन्त्र्यदृष्टिसे सबको निरखो, फिर यह निर्णय करो कि इस सारे लोकसे मेरेको क्या प्रयोजन होता? लोग धनको चाहते है अच्छा ये तीनो लोक के जितने भी पुद्गल है ये तो मुझमे नही आते, जहांके तहाँ ही होते। और मान लो कि सब कुछ मेरा है तो ऐसे इस वैभवके मिलनेसे इसका क्या बनता? बडे बडे करोडपती अरबपती आखिर उनको मिला क्या? यह मोहमे ही सोच रहे है। यह बडे ठाठसे चलता है, बडे ठाठ से रहता है, तो प्रथम तो ठाठका भी पता नही, ऊपरका ठाठ है, भीतरमे बेचैनी है तो सुख शान्ति कहाँ मिली और फिर मान लो यह कल्पित ठाठ कुछ दिनको मिल भी गया तो आखिर इससे पूरा पडेगा क्या जीवको? यह छूटेगा नही क्या? यह छूटेगा। इसको अकेले ही रहना पडेगा। तो इन सब ठाठ बाटोसे इस जीवका क्या प्रयोजन सिद्ध होता? हे आत्मन् बता तुझे इस लोकसे क्या प्रयोजन है? और जो जो तू आश्रय करता है, जिन जिनका जो आश्रय किया जा रहा है, एक सहाय ढूढा जा रहा है इस आश्रयके भावोसे भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? किसका आश्रय ढूढते? कोई किसीको सुखी करने वाला है क्या? अपने द्वारा उपार्जित कर्मोंको छोडकर अन्य कुछ भी इन प्राणियोको सुख दुःखका निमित्त नही बनता। तो क्या प्रयोजन रखा है किसी परका आश्रय करनेमे? और बता आत्मन्! जो ये सब द्रव्य हैं, धन है, वैभव है इनसे क्या प्रयोजन है? ये काम देंगे क्या? ये लोकमे जितने प्राणी हैं इनसे कोई प्रयोजन सिद्ध होगा क्या? वे खुद असहाय है, क्योकि इन बाह्य पदार्थोंमे उपयोग फसा दिया। अतएव यह असहाय हो गया। इसको अब कही भी शान्ति नही प्राप्त होती। आत्माका तो आश्रय है नहा, बाहरी चेतन अचेतन सगोका आश्रय ढूढ रहा है तो उससे कोई प्रयोजन नही बनता। और, देख आत्मन्, जो शरीर मिला है इस शरीरसे भी तेरा क्या

प्रयोजन बनेगा ? देह है तब तक भी दुःखका कारण है, और आखिर इसे छोडकर जाना ही तो होगा। जिस देहमे इतनी ममता हो रही है जीवको, यह जीव यहाँसे हटनेके बाद देखने नही आता सो जाने क्या, मगर इन दूसरोके देहको तो देखा है मरनेके बाद कितना कठिन आगमे जला दिया जाता है। अगर लकडियां गीली हो तो उसपर तैल और घी डाला जाता है ताकि आग पकड ले। शरीर खाक हो जाता, राख हो जाता। हड्डियां भी छोटे-छोटे रूपमे रह जाती। इस देह से भी तेरा क्या प्रयोजन बनेगा ? और मानो इस देहसे ममत्व रखकर कुछ यश, प्रतिष्ठा, सत्कारकी बात सोची जा रही है, पर इससे भी क्या लाभ मिलेगा ? इस देहसे तेरा कुछ प्रयोजन न बनेगा। और, भी देखो इन बचनोसे तेरा कौन प्रयोजन सिद्ध होगा ? दूसरे लोग बोलते है, कभी अच्छा बोल दिया, आशा रखते हैं कि मुझको सब अच्छा ही अच्छा बोलें, प्रशसा ही प्रशसा करें, तो मानो प्रशंसा मिले तो उससे भी क्या सिद्धि है ? और, मानो अन्य कुछ भी प्रसग मिले तो उससे क्या प्रयोजन मिलेगा ? सब बाह्य है, अच्छे वचन हो तो क्या, खोटे वचन हो तो क्या, उनसे अपना कुछ प्रयोजन नही बनता।

(३४७) इन्द्रिय और प्राणोको भी अहित जानकर उनसे विरक्त रहनेमें कल्याण— और भी सोच, हे आत्मन् ! जो तेरेको इन्द्रिय मिली और इन्द्रियोंमे तू इतना आशक्त हो रहा उन इन्द्रियोसे तुझे कुछ मिल जायगा क्या ? शान्ति मिलेगी क्या ? यह शरीर वाला है, ये द्रव्येन्द्रियाँ भी निराली है, इन इन्द्रियोसे भी तेरा कुछ प्रयोजन बनने वाला नहीं। और, की तो बात क्या जो ये प्राण मिले है इन प्राणोसे बडा मोह है इस जीवको। प्राण न चले जायें। प्राण बच गए तो सोचते है कि सब बच गया, इन प्राणोसे भी क्या प्रयोजन बनता ? प्राणोसे भी क्या ? जब तक प्राणोमे लगाव है तब तक दुःख ही तो मिल रहा है। प्राणोसे कुछ प्रयोजन नही। ये प्राण सब नष्ट हो जायें, प्राण रहित हो जायें, यह जीव अपने केवल चैतन्यमात्र रह जाय वह है यह पवित्र अवस्था। प्राणोसे तेरा क्या प्रयोजन बनता ? और समझ। जो विकल्प किये जा रहे हैं अच्छे अथवा बुरे उन विकल्पोसे भी तेरा क्या प्रयोजन बननेका। जब इन सबसे तेरा कुछ प्रयोजन नही बनता, ये सब पौद्गलिक है। बाहरी चीजें है। उन बाहरी चीजोसे-मेरा प्रयोजन क्या ? इन बाहरी चीजोसे जब कुछ प्रयोजन ही नही सिद्ध होता तो तू अपना दृढ निर्णय रख कि इससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं बननेका। ये मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इनसे मैं निराला हू, फिर प्रमाद को प्रप्य होकर क्यो इन विकल्पोको महत्त्व दूँ और अपनेको-क्यो कर्मोके बन्धनमे डालूँ ? निजको निज परको पर जान, इतना ठीक ठीक समझ ले, फिर दुःखका कोई कारण नही है।

सततान्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम् ।
अथपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्त्ववित् ।।१५०।।

(३४८) इन्द्रियजन्य सुख और आत्मज आनन्दमे अश्रेय और श्रेयकी आस्थामें तत्त्ववेदीपना—देखो निरन्तर भोगोमे ही जो रत हैं, भोग ही जिनको प्रिय है ऐसा जिनको अभ्यास बन रहा है उनको भी कभी यह समझ आती है कि ये जो इन्द्रियजन्य सुख है, ससार के सुख हैं ये सब झूठे है । जब भवितव्य अच्छा होता है तब सही निर्णय बनता है, ये सब ससारके सुख झूठे है । और जो आत्मासे उत्पन्न हुआ आनन्द है वह अपूर्व है, इस प्रकारकी आस्था हो चित्तमे जिसके वह तत्त्वज्ञानी कहलाता, एक छोटी सी बात है—इसीका निर्णय करलो कि ये जो ससारके सुख है वे सब कल्पित हैं, मिथ्या हैं और किसी भी बाह्यपदार्थमे बुद्धि न जगे किसी बाह्य पदार्थमे फंसाव न रहे, केवल ज्ञानमात्र अपने आपको जानें वहाँ जो एक सहज आनन्द उत्पन्न होता है, आकुलताओका अभाव होता, एक आत्मीय आनन्द है वह ही अपूर्व आनन्द है । इस प्रकारको जिसको आस्था है चित्तमें वह पुरुष तत्त्वज्ञानी कहलाता, यह ज्ञानी जिसको सही सही अपने निर्णयमे बना लेता है, यह मुख हेय है, ससारका सुख पराधीन है, इसमे शल्य भरी है, चिन्तासे युक्त है और ससारमे रुलाने वाला है । इसका व्यामोह छोडें और आत्माका जो महज अपूर्व आनन्द है उस आनन्दमे अपनी प्रीति करें, यह बात तत्त्वज्ञानियोकी बनती है और वे तत्त्वज्ञानी फिर इस ही आत्मस्वरूप और आनन्द का आश्रय करके आगे अपना विकास करते जाते हैं और बाह्यपरिग्रहोसे निःसग होकर निरारम्भ होकर आत्मध्यानमे रत होकर कैवल्य अवस्थाको प्राप्त कर लेते है ।

प्रतिक्षणमय जनो नियतमुग्रदु.खातुर ,
क्षुधादिभिरभिश्रयंस्तदुपशान्तयेऽन्नादिकम् ।
तदैव मनुते सुख भ्रमवशाद्यदेवासुखम् ,
समुल्लसति कच्छुकारुजि यथा शिखिस्वेदनम् ।।१५१।।

(३४९) खुजलीके रोगमें अग्निसेकसे सुख माननेकी तरह सांसारिक वृत्तोंमे सुखकी कल्पनाका व्यामोह—ससारका यह प्राणी प्रति समय क्षुधा तृषा आदिक दु खोके द्वारा व्याकुल हो रहा है और उन वेदनाओको मिटानेके लिए अन्न जल आदिकका आश्रय करता है और उसको ही भ्रमसे सुख मानता है । परन्तु वास्तवमे वे सब दु:ख ही है । यह तो सुखकी कल्पना करना इस प्रकार है जैसे किसी मनुष्यको खुजलीका रोग हो और वह उस खुजलाहट के मिटानेके प्रसगमे अग्निका सेक करे, लगता होगा अच्छा । जिसको खुजली होती है वह

आगसे तापे तो उसमे कुछ तत्काल अच्छा मालूम होता है लेकिन उसका परिणाम कैसा है ? अन्तमे बहुत संताप होता है, एक तो खुजलीको खुजाकर खुजाये, उस समय न जाने, किन्तु यह मौज मानता है, पर खुजा चुकनेके बाद वह ढीला पड जाता है, कठिन वेदना होती है, ऐसे ही ये वैषयिक सुख भूख प्यास आदिककी वेदनायें इनको शान्त करनेके लिए भोजन किया, पानी पिया, यह सब करता है मगर भ्रमसे दु खसे दुःख सुख मानता है। भ्रम क्यो है ? भ्रम इस कारण है कि इस जीवने आनन्दधाम निजस्वरूपका तो परिचय नही किया और देहमे ही इसको आत्मबुद्धि है, तो जब देहको ही यह सर्वस्व मान रहा है खुद, फिर तो देह के उपचारमे ही यह अपना भला मानेगा ही। भ्रम यह लग गया है, भला कही खा पी करके इस क्षुधा तृषाके रोगसे कही मुक्त हो सकते। उस खाज खुजानेकी तरह थोडी वेदना जैसे शान्त हुई इसी तरहसे इन इन्द्रियविषयके साधनोसे क्षुधा तृषा आदिक वेदनाओसे थोडी देरको शान्ति हुई मगर फिर क्षुधा तृषा है, भव भवान्तरमे है, इससे इन दुःखोसे दूर नही हुआ जा सकता। इन कष्टोसे दूर होना है तो उसका उपाय सर्व वेदनाओसे रहित सहज चैतन्यस्वभाव मात्र अपने आपकी श्रद्धा करें, ज्ञान करें, ऐसा ही ज्ञान बनाये रहे, यह रत्नत्रय इन सब सकटोसे छुटकारा देनेका उपाय है। पर भोग और उपभोगके द्वारा कभी वेदना शान्त नही हो सकती। जैसे क्या कभी ईंधनके द्वारा अग्नि शान्त हुई ? जितना ईंधन डालो उतना ही आग बढे। ईंधनसे अग्नि शान्त नही होती, नदियोसे समुद्र तृप्त नही होता इसी प्रकार इन्द्रियविषयके साधनोसे यह जीव आनन्द नही पा सकता। तो यह जीव अब यह भ्रम छोडे और इसको तो परिस्थिति माने। देखो जब शरीर है तो खायगा, पियेगा, मगर एक तो आशक्तिसे खाये पिये, उससे कर्मबन्ध है, फिर खोटी गति मिलेगी। आज तो मनुष्य है किलो भरमे पेट भर गया मगर यहांसे मरकर हो गए भोटा तो कितने किलो चाहिए और क्या क्या मिलेगा, तो यह भोजनकी जो आशक्ति है वह आशक्ति कर्मबन्धको करती और तत्काल भी आकुलता लगती रहती है। इन भोग सुखोसे उपेक्षा करके आनन्दधाम जो आत्मस्वरूप है ज्ञानमात्र ज्ञानप्रकाश जाननमात्र उसमे स्थित होना चाहिए। यह सब प्रकरण चल रहा है स्वास्थ्यधर्मका अपने आपके स्वरूपमे स्थित हो जाना इसका नाम स्वास्थ्य है और यह ही ही एक धर्म है।

आत्मा स्व परमीक्षते यदि सम तेनैव सचेष्टते,
तस्मायेव हितस्ततोऽपि च सुखी तस्यैव सम्बन्धभाक्।
तस्मिन्नेव गतो भवत्यविरतानन्दामृताम्भोनिधि,

किं चान्यत्सकलोपदेशनिवहस्यैतद्रहस्यं परम् ॥१५२॥

(३५०) **अभेदषट्कारकवृत्तिके विशुद्ध प्रयोगमें आत्मलाभ**—जो आत्मा अपने आप को उत्कृष्टरूपमे देखता है, उत्कृष्ट स्वरूप है, वह ज्ञानमात्र उस स्वरूपके साथ क्रीडा करता है उसीको ही हितरूप समझता और आत्मस्वरूपको निरख निरखकर सुखी होता है। जिसको ससारमे और कुछ न चाहिए, जिसने यह समझ लिया कि मेरे आत्माका जो सहजस्वरूप है बस वही मेरा सर्वस्व है, और ऐसे ही ज्ञानमात्र रहनेमे आत्माका हित है, ऐसी जिसने अपने आपमे आस्था की और ऐसा ही होनेकी धुन बनाता है, ऐसी ही अन्त स्वरूपकी स्थिति होती है तो वह आनन्दरूप अमृतका समुद्र बन जाता है। आत्मा स्वय आनन्दनिधि है, मगर जहाँ भ्रम हुआ, बाहरमे कुछ कल्पना की, क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषाये हुई, ये इस जीव को दु.ख देने वाली हैं मगर जब कर्मका अधकार छा जाता है इस जीवको, इस जीवको अपने आत्माकी सुध नही रहती है तब तो वह कषायोका ही महत्त्व देगा। यह अज्ञानी जीव यह नही सोच पाता कि ससारमे ऐसी कौनसी वस्तु है जो अभिमानके लायक हो ? है कुछ ऐसी चीज ? धन वैभव, शरीररूप, अपनी बुद्धि, कला आदि और कौन सी वस्तु है जो गर्वके लायक हो ? कोई कहे कि भाई गर्वके लायक तो आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप है, उस स्थिति मे आनन्द है। तो जब आत्माके सहज स्वरूपका भान हो जाय तब तो इसके गर्व ही नही उठ सकता। तो इस जगतमे कुछ भी चीज गर्वके लायक नही है, बल्कि जो कुछ पाकर गर्व रखता है उसको पापका उदय जल्दी होता, पुण्यका विनाश होता और तब ही कषाय वाला जीव अपनी कषायोमे तीव्रता कर पाता है। विपत्ति और उस विपत्तिमें फिर कषायोका सिलसिला चलता है। यह ही सिलसिला अनादिकालसे इस जीवका चला आया है। कभी यह बुद्धि नही होती कि जो चला आया है खोटा मार्ग उससे कभी तो मुडें, कभी तो नम्र बनें, कभी तो क्षमाशील बनें, निष्कपट रहे, लोभसे परे रहे और आत्माका जो आनन्दधाम सहज ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टि रखकर स्वानुभव अमृतका पान करें। तो जो आत्माको उत्कृष्ट रूपमे निरखता है वही आनन्दामृतका पान करता है। आगममें ऋषीसतोने जो कुछ भी उपदेश किया है उस सबका सार यही है कि परसे विरक्त होकर आनन्दधाम ज्ञान ज्योति मे रत हो, तृप्त हो, इससे ही बेड़ा पार होगा। कर्म कटेंगे, आनन्द मिलेगा। दूसरा और कोई उपाय नही है ऐसा कि जिससे यह जीव सक्टोसे मुक्त हो सके। तब यह ही निष्कर्ष समझिये कि अपने आपको हित मार्गमे ले जानेके लिए बाहरी सब पदार्थोंसे ममत्व छोडें और एक मात्र अपने आत्मामे लीन होवें। देखो यह कौनसा काम है भीतरका कि जहाँ बस यह

ही एकमात्र है, ज्ञान ज्योति है । यहा खुदमे खुद जगमग रहता । तो यह तो वस्तुस्वरूप है । खुदमे ही कर्ता कर्म करण क्या कहा जाय, एक ऐसी निर्विकल्प स्थिति होती है । वहा जो आत्मीय सहज आनन्द उमड उमडकर आता है बस उसका अनुभव ही तो आत्मानुभव है, कर्म आनन्दके अनुभवसे कटा करते है, कष्टसे कर्म नही कटते । जैसे कोई लोग समझते हैं कि बडे-बडे तपश्चरण करें, कायक्लेश करें, गर्मी सर्दी सहे तो शरीरको इस तरह कष्ट देने से कर्म कटेंगे सो बात नही । फिर आप शका करें कि आगममे फिर क्यो बताया तपश्चरण करने को, कायक्लेश करनेको ? तो ठीक है, कहा तो गया पर जो साधक आत्मा है वह तो इस तपश्चरणमे एक अद्भुत आनन्द पाता है, कष्ट नही पाता । तो जो आत्मीय सहज आनन्दका अनुभव है उससे ही कर्म कटा करते है ।

परमानन्दाब्जरस सकलविकल्पान्यसुमनसस्त्यक्त्वा ।
योगी स यस्य भजते स्तिमितान्तःकरणषट्चरण ॥१५३॥

(३५१) विकल्पक्लेशोसे निवृत होकर आत्मीयानन्दपरसेवनमे ही सच्चा योगीपन— जिस आत्माने अपने इन्द्रिय और मनको वश किया है ? इन्द्रियविषयोसे हटकर जो मनको वश किया करता है, जिसने, सबसे हटकर अपने मनरूपी भ्रमरने एक आत्मीय आनन्दरूप कमलके रसका स्वाद लिया है याने जिस मनने अन्य विकल्प को तो त्याग दिया और एक आत्माके सहज स्वरूपका ही स्वाद लेनेका यत्न किया, जैसे कि कोई भवरा अन्य फूलोको तो छोड देता है और एक कमल कर्णिकामे आकर कमलके स्वाद से ही प्रीति करता है ऐसे ही जिसका मन ऐसा भवरा बन जाय कि अन्य विकल्परूप फोकोको तो छोड दे और आत्मीय जो आनन्द है उस कमलरसका स्वाद ले तो वही पुरुष वास्तवमे योगी कहा जाता है । यह तो सब अपने आपके प्रयोगकी बात है, अपने मनको देखो मनमे क्या समाया हुआ है, भीतरमे क्या श्रद्धा पडी हुई है । क्या जगतका वैभव हो जाय या कुटुम्बीजन इस प्रकार से बन जायें, इनमे महत्त्व है, इनमे सार है, इनसे सुख मिलेगा, क्या ऐसी आस्था है या यह आस्था है कि मेरे आत्माका जो सहज स्वरूप है ज्ञानमात्र बस यह ही मेरे ज्ञानमे रहे तो मेरा कल्याण होगा । इन दो बातोमे जरा छटनी करके निर्णय करके तो बताओ ? अगर आपकी आस्था बाहर बाहर की है । बाहर बाहर का ही सारा हिसाब चल रहा है तब तो समझिये कि हम ससारके रोगी ही है । अभी सकटोसे मुक्ति हो न सकेगी और यदि यह बात समा गई है चित्त मे कि बस मैं तो कृतकृत्य हू, मैं आत्मा कृतार्थ हू, मेरे करनेको बाहरमे कुछ काम ही नही पडा, क्यो नही पडा कि मैं अमूर्त हू, ज्ञानस्वरूप हू, मैं ज्ञानका ही तो परिणमन

किया करता हू । ज्ञानकी अवस्था बनानेके सिवाय बाहरमे मैं किसी पदार्थका कुछ नही कर सकता । कोई पदार्थ मेरे द्वारा किया ही नही जा सकता । न कभी किया गया न कभी किया जा सकेगा । तो विकल्प क्यो करना कि मैं इसको यो कर दू ? ज्ञानी तो अपने अन्दरमे अपने को निर्लेप अनुभव करता है, तो जिसका मन ऐसे आत्माके इस सहज ज्ञानस्वरूपके लिए ही चल रहा है वास्तवमे तो वही योगी कहा जाता है ।

जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथाकौतुकम्,
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च ।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्मशुद्धात्मनः
चिन्तायामपि यातुमिच्छति सम दोषैर्मनः पञ्चताम् ॥१५४॥

(३५२) सहजानन्दमय शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी धुनमें अलौकिक वृत्तियोका प्रकाशन— पुरुषका उपयोग निरन्तर आनन्दस्वरूप शुद्ध आत्माके चिन्तनमे लगता है उसकी वृत्ति अलौकिक हो जाती है । मैं क्या हू यह निर्णय अपने सारे भविष्यका आधार है । जिसने यह अपने मे समझ लिया कि मैं ज्ञानमात्र हू, देखिये जो समझ लेगा, जो अन्तः ऐसा अनुभव बनायगा पार वही होगा । केवल बातसे, गप्पसे एक दिन चर्चा बना ली कि सुनना है जिनवाणी तो इतने मात्रसे पार न हो सकेंगे, किन्तु देखो आप यहाँ ऐसे अकेले ही तो बैठे है, कोई बधनमे तो नही डाले है, आपका मन है, आपका आत्मा है, सबसे निराले है, अकेले ही बैठे है, जो परतत्त्व हैं वे परकी जगह है, आपका जो देहमे अन्तः स्वरूप है वह आपके क्षेत्रमे है, यहाँ ही अगर चिन्तन बनायें कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ज्योति सिवाय मैं कुछ नही हू, ऐसा कोई अनुभव बनाना चाहे, ऐसा चिन्तन बनाये तो बना नही सकना क्या ? यह ही वास्तवमे धर्मपालन है । मन, वचन, कायकी बाहरी क्रियाओको धर्मपालन उपचारसे कहा गया है । वास्तवमे तो आत्माके स्वभावका चिन्तन और उसका उपयोग करना यह ही धर्मपालन है । तो आत्माका उपयोग आनन्दस्वरूपकी दृष्टि, आत्माका चिन्तन हो तो इससे बाहरी सारे रस विरस हो जाते हैं और गोष्ठी कौतूहल ये सब विघट जाते है । कुछ जनोके बीच बैठकर गप्प करनेमे कुछ प्रीति सी थी, आनन्द सा आता था, कुछ हल्का सा मानते थे, ये सब प्रवृत्तिया चल रही थी, कब तक ? जब तक देहको यह मै हू ऐसा मान रहे थे । और, जहाँ आनन्दस्वरूप शुद्ध ज्ञानमात्र निज स्वरूपका अनुभव जगा और वहाँ जो अद्भुत आनन्द पाया उसके बाद फिर तो सब बाहरी चीजें विरस लगने लगती है । विषयोमे प्रीति नही रहती, शरीरमे भी प्रीति नही रहती और इन विषयोसे वे विरक्त रहते है । वचन, मौनको धारण

कर लेता, क्या बोलना ? अरे ज्ञानीकी प्रवृत्ति फिर क्या होती है ? जिसमे आत्माकी बात हो, आत्माका सम्बध हो, आत्मस्वरूपमे लगनेकी जहाँ प्रेरणा हो, कोई साधन हो वहाँ तो यह वचन बोलता है, और जहा किसी भी प्रकार उस आत्मतत्त्वसे सम्बध नही, ऐसी बातोमे उनके मौन रहता है। एक धुनकी ही तो बात है। जिसकी धुन लग जाती है उसे कुछ दूसरी चीज सुहाती है क्या ? ज्ञानीको भी एक सहज ज्ञानस्वरूपको आत्मसर्वस्व माननेकी धुन लग गई है और वास्तविक बात है, लोगोको तो झूठ बातकी धुन लग जाती है, लेकिन ज्ञानीको यथार्थ बातकी धुन लगी है कि मै तो ज्ञानमात्र हू। तब फिर उसे ज्ञानस्वरूपके सिवाय और क्या सुहायेगा ? और, कुछ बात करता है किसीसे तो इस ज्ञानस्वरूपके सम्बधके नाते ही करता है। एक दृष्टान्त दिया गया कि जैसे कोई दो एक पुरुष किसी ससुरालसे आयें तो वह उनकी बडी खातिरी करता है। यद्यपि वे उसकी बिरादरीके नही हैं, उनसे कोई सम्बध नही किन्तु स्त्रीके माता पिताके घरसे आये हुए है, उनका कुछ समाचार सुना देते हैं तो यह उनकी बडी खातिरी व्यवस्था करता। अब बताओ यह खातिरी उन लोगोकी है या स्त्रीके माता पिता वगैरह परिजनोकी ? वह तो स्त्रीके माता पिता वगैरह परिजनोकी खातिरी है न कि सीधा उन आने वाले लोगोका सत्कार है। ठीक यही ज्ञानीकी स्थिति है। ज्ञानी पुरुष किसी साधर्मीका सत्कार करेगा, किसी भी समारोह या घटना या अन्य प्रसगमे चित्त देगा तो वह सब है एक आत्मज्योतिकी उमग लानेके सम्बधसे, न कि शरीरसे डाइरेक्ट प्रीति हैं। प्रीति उसको आत्मस्वभावसे है। उस आत्मस्वभावकी दृष्टिके नातेसे ही वह दूसरोमे वार्तालाप करता है। देव, शास्त्र, गुरु इन सबकी उपासना करता है। तो मूलमे बात क्या रही ? स्वमे स्थित होनेकी उमग है जिससे ऐसी मन, वचन, कायकी चेष्टायें करता है, तो जिसने आनन्दात्मक शुद्ध आत्माके चिंतनमे अपना उपयोग लगाया है उसकी स्थितिया ऐसी हो जाती है। कैसा नीरस हो जाता, कथा कौतूहल नष्ट हो जाता, विषय शार्ण हो जाते, विषयो मे प्रीति नही रहती, वचनोमें मौन हो जाता है, और तो क्या, यह मन अन्य दोषो के साथ साथ मृत्युको प्राप्त हो जाता है, याने जब आत्माके सहज स्वरूपमे उपयोग स्थिर हुआ तो मन भी विलीन हो जाता और जैसे ही मन विलीन हुआ उसके साथ सारे दोष नष्ट हो जाते है, तब यह जीव निर्दोष पावन अपने आपको अनुभव करता है।

आत्मैक. सोपयोगो मम किमपि ततो नान्यदस्तीति चिन्ता-
भ्यासास्ताशेपवस्तो स्थिरपरममुदा यद्गतिर्नो विकल्पे।
ग्रामे वा कानने वा जनजनितसुखे नि सुखे वा प्रदेशे

साक्षादाराधना सा श्रुतविशदमतेर्बाह्यमन्यत्समस्तम् ॥१५५॥

(३५३) **उपयोगस्वरूप आत्माकी धुनका अतिशय**— ज्ञानी पुरुष क्या चिन्तन कर रहा है अपने आपमे स्थिर होनेकी धुन रखने वाला पुरुष कैसी अपनी भावना बना रहा कि यह मैं एक उपयोग वाला आत्मा हू, प्रतिभासमात्र कैसा विलक्षण पदार्थ हूं कि जिसका आश्रय जिसका स्वभाव एक प्रतिभासनका है, ज्ञानज्योतिमात्रका है, वह है सामान्यविशेषरूप तो सामान्यप्रतिभास है दर्शन, विशेष प्रतिभास है ज्ञान। मैं ज्ञानदर्शनस्वरूप हू झलक लेने वाला और जानने वाला हू। इस ज्ञानस्वरूपको, इस चैतन्यस्वरूपको छोडकर मेरा कही कुछ नही है। देखो यह ज्ञानामृतका पान हो जाय तो जीवन सफल है और वही धुन वही ममता और उस ममताके साथ ले रखे कल्पित धर्मकी प्रीति, ये बातें काम न करेंगी। भीतरका अहंकार और ममत्वका विष पूरा वमन करना होगा। परिस्थितिवश घरमे रहते हैं, परिस्थितिवश सब कामकाज चल रहे है, पर मेरा यहा कुछ नही है. केवल ज्ञानदर्शनस्वरूप यह आत्मा है। यह आत्मा ही मेरा सर्वस्व है। ऐसा चिन्तन चल रहा है ज्ञानीका, तो ऐसा जिसका विचार चलता है, उसका अभ्यास बनता है, बारबार सोचता, अपने आपमे रगड करता है कि यही है, यो दृढ अभ्यास बन जाता है जिससे कि समस्त बाह्य पदार्थोंका मोह अस्तको प्राप्त होता है. हट जाता है और फिर आगमके अभ्याससे उसकी बुद्धि निर्मल हो जाती है। निर्मल के मायने क्या ? रागद्वेष मोह लिपटा न हो ऐसा उपयोग निर्मल उपयोग कहलाता। यह बात तब ही बन सकती जब अपने आपमे यह निर्णय बने कि मै ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगवान आत्मा हू, मैं अन्य कुछ नही हू, ऐसा उपयोग बने तब यह कला आ सकती है कि रागद्वेष मोह इसका टल जाय और आत्मामे एक निर्मलता बने। तो ऐसा जो मन बना, उपयोग बना ममता हटी ऐसे साधु पुरुषके मनकी प्रवृत्ति विकल्पमे नही चलती। एक ही ध्यान, दूसरा कुछ उसे दिखता नही। जैसे द्रोणाचार्यने जब अपने शिष्योसे धनुर्विद्याकी परीक्षा देनेके लिए कहा तो एक पेडपर काठकी चिडिया बनाकर टाग दी गई, गुरु द्रोणाचार्यने सभी शिष्यो से बारी बारीसे चिडियाकी आंखमे निशाना लगानेको कहा, और पूछते गए कि बताओ तुम्हे क्या दीखता ? तो सभी शिष्य यही उत्तर देते गए कि हमे तो आप सब लोग दीखते, पेड दीखता, चिडिया दीखती उन सबको फेल कर दिया और जब अर्जुनकी बारी आयी तो गुरु ने पूछा—तुम्हे क्या दीखता ? तो अर्जुनने उत्तर दिया हमे तो बस चिडियाकी आंख दीखती और बांणकी नोक। तो गुरूने अर्जुनको कहा तुम उत्तीर्ण हुए। तो ऐसे ही जिस ज्ञानीको एक आत्माका सहज स्वरूप दिख रहा, वही वही धुन है, उसको सोते हुएमे भी उसी बातके

स्वप्न आते है ।

(३५४) **ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी धुनमे अन्तस्तत्त्वके स्वप्नमे भी दर्शन**—जिसको अपने आत्मस्वरूपके अनुभवकी धुन लगी है उसको स्वप्नमे भी वही बात दिखती है । यह बात कोई कल्पनाकी नही है । सोते हुएमे कही जीव नहीं मर गया, सोते हुएमे मन नही मर गया । सब काम भीतर चल रहा है, पर वह स्थिति ऐसी है कि एक बाहरी बेहोशी है । तो जिसमे धुन हो जाती है उसको वही दिखता है और हमको इस बातका निश्चय और निर्णय हुआ कैसे ? एक घटना क्या घटी कि मैं (प्रवक्ता) भ्रमण करते हुएमें गोहदसे मौ गाँवको जा रहा था । ये गाँव जिला भिण्ड (म० प्र०) मे हैं । करीब १५ मील पैदल चलकर गया था । साथमे एक ब्र० छोटेलाल जी गोहद वाले थे । तो पहुच गया रास्तेमे ब्र० जी के घरपर । वहाँ पहुचने पर रातको प्रवचन भी न किया, थक जानेसे कुछ नीद सी आ रही थी । वही पर ब्रह्मचारी छोटेलाल जी व उनके घरकी बहू वगैरह आ गईं । उनसे छोटेलाल जी कुछ बातें करते जा रहे थे । उधर हमे काफी तेज नीद सी आ गयी, फिर उस नीदमे ही एक स्वप्नसा आया क्या देखा स्वप्नमे कि मैं आत्मध्यान करनेके लिए बैठा हू, ध्यान अच्छा लग गया, वहाँ कोई दो महिलायें देवी रूपमे आयी और अपने भाव भीमे शब्दोमे गान तान करने लगी, उधर मेरा ध्यान अधिकाधिक आत्मध्यानकी ओर खिच रहा था, आत्माका सच्चा स्वरूप ज्ञानमे झलक रहा था और कुछ देर बाद नीद खुल गई, नीद खुलने पर वहाँ देखा कि कही कुछ नही है । तो हमको तो यह विश्वास है कि जिसका जहाँ उपयोग रहता है, जहाँ ज्ञान बना रहता है अधिकतर अहर्निश निरन्तर नीदमे भी उसके भीतरमे खबर रहती है । ज्ञानी पुरुष तो चूँकि साथमे शरीर लगा है तो उसके सम्बन्धकी सारी क्रियाये भी वह करता है मगर उन सब क्रियावोका करना अपना वास्तविक कर्तव्य नही समझता है । वह जानता है कि ये सब क्रियायें तो मुझे परिस्थितिवश करनी पड रही हैं । मेरा वास्तविक कर्तव्य है अपने आपके आत्मस्वरूपमे स्थित होना । ऐसे ज्ञानी पुरुषका बाह्यपदार्थोंके ममत्व और विकल्प सब टूट जाते है, उसका फिर ग्राम हो, वन हो, सुख हो, दु ख हो, सबमे समान बुद्धि रहती है, धीरता रहती है । न तो वह सुखद स्थितियोमे हर्ष मानता और न दु खद स्थितियोमे खेद मानता । उसके सर्वत्र समता बुद्धि रहती है ? क्योकि उसकी दृष्टिमे यह समाया है कि मेरा ज्ञानस्वरूप आत्मा ही सर्वस्व है, इससे न चिगना चाहिए । बाहरमे जो हो सो हो । ये बाह्यको असार मानने वाले और अपने अन्दरमे इस ज्ञानस्वरूपको ही अपना सर्वस्व मानने वाले पुरुष योगी है, ज्ञानी है, निकटकालमे ही वे ससार सागरसे निगम

से पार हो जाने वाले है।

यद्यन्तर्निहितानि खानि तपसा बाह्येन किं फल्गुना,
नैवान्तर्निहितानि खानि तपसा बाह्येन किं फल्गुना।
यद्यन्तर्बहिरन्यवस्तु तपसा बाह्येन किं फल्गुना,
नैवान्तर्बहिरन्यवस्तु तपसा बाह्येन किं फाल्गुना ॥ १५६ ॥

(३५५) आत्मोन्मुख होने व न होने दोनो ही दशावोमें बाह्य तपकी व्यर्थता— स्वास्थ्य नामक धर्मके प्रकरणमे अर्थात् आत्मा अपनेको ज्ञानमात्र जाने, ज्ञानमात्रकी दृष्टिमे ही हित है ऐसी आस्था रखे और ज्ञानमात्र इस अन्तस्तत्त्वमें रमण करे, ऐसा जो स्वास्थ्य है वास्तविक स्वास्थ्य यह ही धर्म है। यदि यह धर्म न आये चित्तमे, उपयोगमें और अन्तरग मे इन्द्रियके विषयोको ही रखें मायने विषयोके साधनभूत बाह्य पदार्थोमे ही मनको रमायें तो फिर इन बाह्य तपोसे क्या प्रयोजन रहा ? क्योकि अन्यसे कुछ भी सुधार उद्धार होनेका नही है। जब तक कि अपने आत्माका सही स्वरूप ज्ञानमे न आये, इन्द्रियके विषयभूत साधन ये जगतके सारे परिकर, ये अपने उपयोगमे न आयें, स्वास्थ्य उपयोगमे रहे और इन्द्रियविषय उपयोगमे न आयें तब तो इस जीवको लाभ है, मगर जहाँ उल्टी ही माया चल रही है कि अपना स्वरूप तो ध्यानमे नही और सब ये विषयभूत पदार्थ जो ये बाहरी पुद्गल हैं ये सब जो इन्द्रिय और मनके विषयभूत है, ये रहे चित्तमे तो बड़े-बड़े तपश्चरणके आडम्बर, बाह्य क्रियाकाण्ड करके भी क्या फायदा ? और जिसके चित्तमें स्वास्थ्यधर्मका महत्त्व है और अंदर मे इन्द्रियके विषयोमे जिनकी प्रीति नही है, विषयोको बाह्य जानकर उनका उपेक्षाभाव चल रहा है और अपने सहज ज्ञानस्वरूपका उपयोग चल रहा है वहाँ भी बाह्य तपसे क्या प्रयोजन ? अर्थात् अन्तस्तत्त्व, ऊँची बात, उद्धारकी बात तो उसके हाथ लग ही गई। यहा निष्कर्ष यह लेना कि अगर आत्मदृष्टि नही, इन्द्रियके विषय ही चित्तमे बस रहे तो बाहरी धर्मके नामपर तपश्चरण करके, क्लेश करके इसको मोक्षमार्ग न मिलेगा और जिसको स्वास्थ्यसे प्रीति है, इन्द्रियके विषय उपयोगमे नही आते उसका तो इस ही कारण भला हो रहा। उसका तो मोक्षमार्ग ही चल रहा। फिर उसको और बाह्य तपोसे क्या प्रयोजन ? इसी तरह ये अतरङ्ग और बहिरङ्ग वस्तु अन्य पदार्थ बाह्य पदार्थ ये अगर चित्तमे बस रहे है तो बाह्य तपसे फिर क्या प्रयोजन ? न तो इन्द्रियके विषयोसे प्रीति हो और न इन बाह्यपदार्थोमे ममता हो, तब तो जीवका उद्धार है और यदि बाह्य पदार्थोमे ममत्व है तो बाह्य तपोसे फिर क्या प्रयोजन मिलेगा और यदि ममत्व नही है बाहरी वस्तुसे तो उसने उद्धारका काम

तो कर ही लिया। उसे भी बाह्य तपोसे क्या प्रयोजन रहा ? अपने ज्ञानस्वरूपको ऐसा साफ निर्मल स्पष्ट अपने ज्ञानमे लें कि फिर उन बाह्य पदार्थोंमे ममत्व न रहे। आप ही सोच लो—जगतमे जीव अनन्तानन्त है या नही ? एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्योको देख लो, कितने मनुष्य है ? अच्छा तो जितने अनन्तानत जीव हैं वे सब मेरेसे निराले हैं ना ? फिर क्या वजह है कि जो आपके घरमे आया, उसे माना पुत्र, उसको ही अपना दिल, अपना सर्वस्व सौप दिया, यह ही मेरा सब कुछ है यह ही एक आधार है, अपनी प्रभुताका विस्मरण कर दिया एक पुत्रको महत्त्व देकर तो भला बतलाओ कि अपने भगवान आत्मापर यह अन्याय है कि नही ? जगतके ये बाह्य परिग्रह ये स्कन्ध, जैसी जरूरत है ये हैं सब हैं, हमसे अत्यत भिन्न हैं, फिर जो पास आये, जिसका ज्ञान जगा, जिसकी इच्छा हुई उसमे क्यो ममता आ गई कि ये मेरे सब कुछ है। अरे परिस्थितिवश राग करना पडे वह बात अलग है और आस्थामे बाह्यपदार्थोंसे प्रीति बनायें तो वह जीव के लिए अत्यन्त अहितकर है।

शुद्ध वागतिवर्तितत्त्वमितरद्वाच्य च तद्वाचक, शुद्धादेश इति प्रभेदजनक शुद्धेतरत्कल्पितम्।
तत्राद्यं श्रयणीयमेव सुदृशा शेषद्वयोपायत, सापेक्षा नयसहृति फलवती संजायते नान्यथा ॥१५७॥

(३५६) **शुद्ध तत्त्वकी वचनागोचरता**—देखो मैं असलमे, वास्तवमे याने अपने आप अपनी सत्ताके कारण मैं क्या हू, मैं हू एक ज्ञानज्योति। शुद्ध तत्त्वके मायने मैं केवल मै ही मैं हू। उपाधिका सम्बध न सोचा जाय, मै सबसे विभिन्न हू, केवल अपने आपके अस्तित्वसे यह कैसा है ? सहज ज्ञानस्वभाव मात्र, इसे कहते हैं शुद्ध तत्त्व। बोलो अन्तस्तत्त्वको समझा देने वाला शुद्ध तत्त्वोको स्पष्ट बता देने वाला कोई वचन है क्या ? है क्या कोई वाणी एसी जो इस शुद्ध तत्त्वको दिखा दे ? यह वचनोके अगोचर है, मगर ज्ञान द्वारा समझा जा सकने वाला है। कितनी हो बातें होती है ऐसी कि जिनको वचनोसे तो कहा नही जा सकता और ज्ञानमे पूरा बैठा हुआ है। लोकमे भी ऐसा ज्ञान हो जाता है कि वचनोसे नही बताया जा सकता। और ज्ञानमे सो समाया है। तो ऐसे ही आत्माका विशुद्ध तत्त्व वचनोसे नही बताया जा सकता, पर ज्ञानमे वह समाया हुआ रहता है। उसका वाचक कहो या जिस प्रकार एक समझ बन जाय ऐसा जो कोई भी वचन है, नय है उसे कहते हैं शुद्धादेश, शुद्ध है तत्त्व और उसको बताने वाला, जानने वाला, समझने वाला है शुद्धादेश। अभी तो यह कहा गया था कि इस शुद्ध तत्त्वको बताने वाला कोई वचन नही, फिर शुद्धनय कैसे बन गया, जिसके द्वारा हमने अपने इस स्वतत्र आत्माके सही स्वरूपको जाना ? बन यो गया कि हम स्वय ज्ञान

वाले है, अपने ज्ञानको, अपने ज्ञानस्वरूपको देखनेमे लगे है तो यहाँसे जो एक आत्मप्रसंग बना उससे इसके बारेमे यही हुई बात भी उलट जाती है। हाँ ठीक है यह, अच्छा ये तो बहुत गम्भीर बातें है, किसीको मानो पेटमे दर्द हो गया तो कोई वचनो द्वारा समझा सकता क्या कि कैसा दर्द हो रहा ? सिरमे दर्द हो गया तो कोई बता सकता क्या कि सिरमे कैसा दर्द है। जैसे हम इन चौकी, दरी, मकान आदिकको बता देते—देखो यह है मकान, यह है चौकी, ऐसा कोई बता देगा क्या कि लो यह है पेटदर्द, लो यह है सिरदर्द। कोई वचनो द्वारा बता सकता क्या ? नही बता सकता। तो फिर वचनोंसे समझा कैसे जाता है ? जैसे कोई कहे कि मेरे सिरमे तो विकट दर्द हो रहा, सिर हिलाया नही जाता, कोई मालिश करे तो सहन नही होता इतना विकट दर्द है मेरे, इतनी बात दूसरा कोई सुनता है तो उसकी समझमे भी झट क्यो आ जाता, यो कि उसके भी सिरदर्द ऐसा हुआ था। जरासी बातमे सब बात समझमे आ जाती है। हाँ यह ठीक कह रहे। हो रहा होगा ऐसा, मगर वचनोसे तो कुछ बताया नही जा सकता। कभी भोगा था खुदने वैसा ही सिरदर्द तभी तो वह जरासे सकेतसे उसे झट समझ जाता। ऐसे ही आत्माके शुद्ध तत्त्वकी बातको केवल वचनो द्वारा बता दे, ऐसे कोई वचन नही है। फिर कैसे समझते ? वचन शुद्धादेश इस नयवचनसे समझते तो हैं ना। लोग समझ जाते हैं सो वे लोग समझ जाते है जिन्होने इस शुद्धतत्त्वको अनुभवमे, ज्ञानमे कुछ अशोमे कभी लिया है तभी तो समझ जाते है कि यह अनुभवीकी कह रहे है बात, अन्य वचनोसे नही। वचनोसे तो वह हालत होती है अज्ञानीकी कि जिसने इस शुद्ध तत्त्वको कभी अनुभवा ही नही वह तो आँखें खोलकर जैसे भेड बकरी होते ना, जैसे वे आँखें खोलकर यो ही देखते रहते खडे होकर, ऐसे ही जब इस तत्त्वको न समझे तो वे आँखें खोलकर बस सुनते है, क्या बोलते हैं, कुछ पल्ले नही पड रहा, कुछ बात ही नही कही जा रही, क्या सुने, वहाँ कुछ मिले तो सुनें। हाँ कैसे मिले ? शुद्ध तत्त्वको कहने वाले वचन हैं ही नही, समझने वाले वचनसे समझ तो लेते हैं, पर वे खुद जानते हैं थोडा-थोडा इस कारण उस सकेतमे समझ जाते है। तो शुद्ध तत्त्व वचनोके अगोचर है और उसका वाचक, उसका कुछ सकेत करने वाला शुद्धादेश है।

(३५७) शुद्धनय व अशुद्धनयके प्रयोगके प्रयोजन—शुद्धादेशसे लक्ष्यमाण शुद्ध तत्त्व के भेद प्रभेद प्रतिबोधार्थ किए जाते है मूलमे अखड है वह चैतन्यस्वभाव। व्यवहारसे देखो—अनन्त गुण है वहाँ। ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण, आनन्दगुण आदि और उनका प्रतिसमय परिणमन है, यह सारी बात व्यवहारनयसे समझी जाती है। देखो अब इस शुद्ध तत्त्व

के वारेमे विस्तारपूर्वक कथन व्यवहारमे होता है और संकेतमात्रमे कथन इस शुद्धादेशसे होता है। तब फिर बात कैसी चलनी चाहिए। देखो ना, वह जो शुद्ध तत्त्व है एक तो ज्ञात हुआ वहा वही। और एक ०म शुद्ध तत्त्वको समझानेके लिए खड करके, गुण पर्यायका भेद करके जो समझाया जाता वह ज्ञात हुआ। क्या समझमे आया ? व्यवहारसे जाना गया वह अखंड नही ज्ञात हुआ सो वह है अशुद्ध तत्त्व। अशुद्ध तत्त्वका अर्थ मलिन बात न लेना, किन्तु अखंड न रहने देना और उसका खंडन कर- करके, भेद-भेद करके बताया गया, इसलिए वह अशुद्ध बन गया। तो यह बात रही शुद्ध तत्त्व और अशुद्ध तत्त्वकी। अशुद्ध तत्त्वके मायने देखो एक बार कह दिया ना—गदा, मलिन, ऐसा अर्थ न करना, किन्तु अखड न रहे, उस अखडको समझानेके लिए कोई गुण भेद किया, शक्तिया बतायी, परिणतिया भिन्न-भिन्न कही जा रही उसे कहते हैं अशुद्ध तत्त्व। वस्तुतः इन दोनोमे आश्रय करने योग्य कौन है जिसकी आराधना करना चाहिए ? वह तत्त्व क्या है ? शुद्ध तत्त्व। आत्मानुभव करना है ना, तो ऐसा अपने आपमे अखण्ड चैतन्यमात्र तो लक्ष्यमे रहना चाहिए तब अनुभव बनेगा। तो शुद्ध तत्त्व आश्रयके योग्य है तब फिर क्या करना ? शुद्ध तत्त्व तो मिला हुआ नही है। जिसको नही मिला वह क्या करे ? तो वह दोनो उपायोसे उनको बात समझाना चाहिए। देखो—सापेक्षनय फलवान होता है और जहा नयोमे सापेक्षता नही वहा फल न प्राप्त होगा, इसलिए केवल निश्चयनयके एकान्तसे भी बुद्धि व्यवस्थित न बनेगी जिससे कि शान्तिका मार्ग मिले और व्यवहारके एकान्तमात्रसे भी बुद्धि व्यवस्थित न हो सकेगी जिससे कि शान्तिका मार्ग हो। तो निश्चय, व्यवहार इन दोनो उपायोसे परिचय बनावें और फिर शुद्धनयका आश्रय लें याने शुद्धनयके विषयभूत केवल निर्विकल्प चैतन्यस्वभावको ज्ञानमे लें तो यह है शान्तिमे बढनेका उपाय।

ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं जीवस्य नार्थान्तरम्,
शुद्धादेशविवक्षया स हि ततश्चिद्रूप इत्युच्यते।
पर्यायैश्च गुणैश्च साधु विदिते तस्मिन् गिरा सद्गुरो-
र्ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः ॥१५८॥

(३५८) **जीवकी ज्ञानदर्शनात्मकता**—देखो आत्मनिर्णय, बस इस ही आधारपर हमारा भविष्य है। हम शान्तिसे रह सकें, भले रह सकें, आनन्दमग्न हो सकें, पवित्र बन सकें, उन्नतिशील बन सकें, तो उसका बीज है आपका सही निर्णय बनाना कि मैं सारे लोकसे निराला, देहसे निराला, कषायोसे निराला, विचारोसे निराला केवल एक निर्विकल्प चैतन्य

ज्योति मात्र हू । यह दृढतासे निर्णय बनावें, बाहरी हठोंसे लाभ न मिलेगा । हठ ही करना है तो अपने आपके स्वभावकी हठ बनावें । सिद्धि होगी, आत्मनिर्णय जिनका सही है, उनका ही भविष्य उत्तम है और जिनके आत्मनिर्णय नही, कषायोको ही अपना लिया, ये ही मैं हूँ, तब ही तो यह अनुभव होता कि जो मै कर रहा हू, क्रोध कर रहा हू, मैं ठीक कर रहा, खण्ड कर रहा वह ठीक कर रहा हू, कपट कर रहा हू मै ठीक कर रहा हूं । तृष्णा कर रहा हू, मै उचित कर रहा हू, इनसे ही मेरा महत्त्व है, इनसे ही मेरेको सुख लग रहा, ऐमी दृष्टि हो जाती है अज्ञान भावमे । उसका भविष्य उत्तम नही है । तो शुद्धनयसे देखा जाय तो ज्ञानदर्शन ही जीवका स्वरूप है । जीवसे पृथक् नही है । प्रतिभास स्वरूप जगमगाता चिलचिलाता भीतरमे झकझकाता एक परम पदार्थ हू, उसे सही रहने दें, कर्मरसमे हम लिप्त न हो, ज्ञानरसका हम आदर करें तो हमको विदित होगा कि मै यह सहज विशुद्ध ज्योतिर्मात्र हूं । मेरेसे सब भिन्न है । कोई कहे कि मैने अपनेको सबसे निराला मान तो लिया । मै अपनेको सबसे निराला ज्ञानमे मानता हू, बस केवल एक स्त्रीमे या पुत्रमे किसी एकमे बस वही ममता रह गई और बाकीकी तो ममता छूट गई तो उसकी यह गपोड बात है । अरे इससे भला तो यह था कि हम सबपर ममता पसार दें, एकमे ममता रोकना पाप है, सबमे पसारो ममता । जितने जीव है सब मेरे स्वरूप है । सबसे प्यार बनायें । जब ऐसी दृष्टि बनती है तो ममता नही रहती वहाँ । और, वह प्यार भी क्या कहलाता प्रसाद, प्रसन्नता । तो अपनी अपनी त्रुटिको देखो ? कि हम अभी कितना पीछे है और शान्तिके कितना विपरीत चल रहे है । क्या रखा है ? आप मोह रखें तो भी वे पदार्थ जैसे रहने हैं सो रहेगे । आपके मोह करनेसे कही उनमे कुछ फर्क न पड जायगा । कोई पदार्थ आपके द्वारा कुछ ठीक बन जाय और न मोह करे तो कही किसीका विनाश न हो जायगा । सब अपनी अपनी सत्ता लिए है । सबके साथ कर्मोदय लगा हैं, सब अपने अपने ढगसे अपने अपनेमे परिणम रहे है । करनेसे तो खुदका ही नुकशान है । दूसरेका न भला है न बुरा । हाँ तो आत्मस्वरूपको निरखो यह ज्ञान दर्शन मात्र है, यह स्वरूप जीवसे पृथक नही । इससे निराला कोई जीवका स्वरूप नही है, जीव ज्योतिर्मय है, इसीलिए इसको चित्स्वरुप कहा । केवल प्रतिभास स्वरूप ।

(३५६) **परमार्थ चित्स्वरूपके जान लेनेपर सब जान लिया, सब पा लिया**—जो ज्ञान दर्शनात्मक चैतन्यस्वरुपमय आत्मस्वरूप है, सो गुरुके उपदेशके माध्यमसे गुण पर्यायोके विस्ताररूप निर्णयसे एक चैतन्यस्वरूपको जान लिया जाय तो समझलो कि मैंने सब कुछ

जान लिया। जिसने आत्माके निराले सहज शुद्ध स्वभाव मात्र अतस्तत्त्वको जान लिया उसने ही सब कुछ जाना और इसके जाने बिना दुनियाकी कितनी ही जानकारी बनावें उस जानकारीसे कुछ उठनेका नही है, आत्माका उद्धार होनेका नही है। जिसने यह अतस्तत्त्व जाना, देखो उसने सब कुछ जान लिया, सब कुछ प्राप्त कर लिया। तो एक निर्णय कर ले कि मुझको तो अपने आपमे ऐसा अनुभव रखना है कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हू, अन्य कुछ नही। अच्छा ऐसा निर्णय कब कहलायगा ? उसकी परीक्षा है यह कि जब कोई अन्य जीव, अन्य पदार्थ किसी तरहका परिणमन कर रहा हो तो उससे अपने मनमे खेद न आने देना तो समझ लीजिए कि उसने अपने अतस्तत्त्वका परिचय पाया। देखो प्रतिकूल कोई नही होता। जितने जीव है सब अपनी कषायसे, अपने भावोसे, अपनी बुद्धिमे अपने आपमे अपनी चेष्टा किया करते हैं। कोई किसीके प्रतिकूल नही हुआ करता। अब यह अज्ञानकी कमी और तेजीकी बात है कि कोई तो अच्छा परिणाम रहे को भी देखकर प्रतिकूल मान बैठते। जैसे कोई शिकारी जगलमे किसी मुनिराजको देख लेता तो उसे वह असगुन समझ लेता। भला बतलाओ वह मुनिराज उस शिकारीके प्रतिकूल है क्या ? मान लो वह शिकारी उन मुनिराजको गाली दे दे अथवा उनकी निन्दा भी करे तो भी मुनिराज उसके प्रतिकूल नही हैं। उसको अपनेमे शान्ति चाहिए। उसके ऐसा ही वेग है, अच्छा है जिससे उसकी ऐसी चेष्टा हो रही है, वह मुनिराज तो वहाँ भी प्रसन्न है। ऐसा सम्यक् बोध जागृत रहे तो समझ लीजिए कि उसने वास्तवमे अपने आत्माके विशुद्ध चित्स्वरूपको पहिचाना।

यन्नान्तर्न वहि स्थित न च दिशि स्थूल न सूक्ष्म पुमान्,
नैव स्त्री न नपुसक न गुरुता प्राप्त न यल्लाघवम्।
कर्मस्पर्शशरीरगन्ध—गणनाव्याहारवर्णोज्झितम्,
स्वच्छ ज्ञानदृगेकमूर्ति तदह ज्योति पर नापरम् ॥१५६॥

(३६०) **परज्योतिका अन्तर्निवास**—मैं क्या हू, यह बात इस छदमे बतायी गई है। मैं उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप हू, उत्कृष्टके मायने जहाँ रागद्वेषकी मलिनता नही, विशुद्ध निर्मल निर्दोष प्रतिभास बस ऐसे स्वरूप वाला हू मैं। यह स्वरूप न तो भीतर स्थित है न बाहर स्थित है। कोई आँखोसे देखकर बाहरमे ढूढे, कहाँ गया मेरा स्वरूप ? इस मकानमे तो नही इस कमरेमे तो नहीं, अच्छा इस तीर्थमे तो नही, इस गगा नदीमे तो नही मिल रहा, इन पर्वतोमे तो नही रखा मेरा स्वरूप, यहाँ मन्दिरमे होगा मेरा स्वरूप, यहां प्रतिमामे दिख जायगा मेरा स्वरूप, औरकी तो बात क्या, समवशरणमे जाय और वहां यह बुद्धि रखे कि

मेरा आत्मा यहाँ मिल जायगा। यहाँ बैठे हैं चतुर्मुखी अरहंत देव, अरे अपनेको अपनेसे बाहर निहारोगे तो आँखोसे न मिलेगा, अच्छा फिर बाहर निहारते क्यों हो ? तीर्थोंमें जाते, मन्दिर मे जाते, मूर्तिदर्शन करते। अरे वह तो एक आलम्बन है कि वहाँ जायेंगे तो स्मृति बनेगी हमे अपने आत्माका बोध बन जायगा। सर्वत्र यह ही बात है। अच्छा यह बाहर तो न मिलेगा, तो मैं अपने देहके भीतर खोजूं आँखोसे ?.... हाँ खोजो.... दिख जायगा क्या ? नही दिखेगा अच्छा तो मैं कुछ विचार बनाऊँ... पता न पडेगा अभी, किन्तु जैसा यह ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्व है उस तरहका ज्ञान बनाकर निरखेंगे तो मेल बन जायगा। विरोध बनाकर मेल नही बनता जैसा आत्माका ज्ञानस्वरूप है उस ही प्रकारका उपयोग बनायें, ढाले अपने ज्ञानको तो उसमे यह परमात्मतत्त्व मिल जायगा, अन्य प्रकारसे देखें तो यह परम ज्योति न भीतर स्थित है न बाहर, अच्छा तो कोई एक दिशामे बढता चला जाय शायद वहाँ बढनेसे वह परम ज्योति मिल जायगी। अच्छा पूरबमे चलें, बढते चले जायेंगे, आँखोंमे भी खूब पसार लिया तो मिल जायगी क्या वह परम ज्योति ? अरे वह परम ज्योति दिशाओमे भी नही स्थित है। अच्छा तो जब मिलेगी तब मिल जायगी। कैसे ? देखो जैसे ये मकान वगैरह दिखते है ऐसे दिखेगी क्या वह परम ज्योति, अरे वह यो न दिखेगी। वह कोइ स्थूल चीज नही है। अच्छा अगर स्थूल चीज नही है तो सूक्ष्म तो होगी ? तो भाई सूक्ष्म तो तुलनामे होता है, यह स्थूल है, यह आत्मा सूक्ष्म है जब ऐसा कहा जाता है तो एक तुलनात्मक दिमाग रहता है नही तो जो कभी स्थूल हो ही नही सकता वह सूक्ष्म कैसे ? यह परम ज्योति स्वरूप अन्तस्तत्त्व न तो स्थूल है, न सूक्ष्म है और न यह पुरुष है न स्त्री है, किसी भी भेषमें नही है। यह तो अन्त: एक प्रतिभासमात्र है, यह परम ज्योति न कोई वजनदार है और न कोई हलकी चीज है।

(३६१) विभावोसे उपेक्षा कर ज्ञानमात्र स्वयंको माननेमें उत्कृष्ट ज्योतिके दर्शनकी संभवता—अच्छा और कहाँ तक कल्पना करें, कैसा विचार बनायें, तो उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप ध्यानमे आये ? भाई ऐसे साधारण विचारमे वह परमज्योति ध्यानमे न आयगा। यह तो कर्म, स्पर्श, शरीर, सख्या, शब्द, रूप, सभीसे यह तो निराला है, ऐसा जो एक अन्तस्तत्त्व जो निर्मल अद्वितीय ज्ञानशरीरी मात्र है बस मै वह हू। इसका परिचय होनेपर मोह नही आता। एक ऐसा ज्ञानी राजा था जिसने अपने राज्यमे यह घोषणा करवा दी थी कि इन अष्टान्हिकाके दिनोमे हमारे राज्यमे कोई भी व्यक्ति हिंसा न कर सकेगा। हिंसा करने वाले व्यक्तिको समुद्रमे फेंक दिए जानेका दण्ड दिया जायगा। आखिर हुआ क्या कि उन दिनोमें हिंसाका काम किया उस राजाके ही पुत्रने तो राजाने उस अपने पुत्रको भी वही दण्ड दिया। उस राजाको वहाँ मोह तो नही आया दण्ड देते समय। आखिर राज्यव्यवस्था वैसी ही थी।

तो ऐसे अनेक प्रसंग होते है कि ज्ञानी जनोको मोह नही होता । हां स्थितियां होती हैं । मोह तो उसका नाम है कि आपका लडका किसी पडोसीके लडकेसे लड जाय तो आप अपने लडके को तो डाटते नहीं, पडोसीके लडकेको डांटते । अरे क्यो डांटते दूसरेके लडकेको ? क्यो लडते पडोसीसे ? अपने ही लडकेको डाटो, सुधारो, मगर करें क्या, मोहविष भीतरमे ऐसा भरा हुआ है कि जिससे अपनेको सम्हाल नही पाते । तो यह तो परम ज्योतिस्वरूप आत्मतत्त्व किसीके बन्धनमे नही है, ऐसा यह मेरा प्रतिभास स्वरूप वही अद्वितीय मैं आत्मतत्त्व हू, ऐसा अपने लिए अभिमुख होकर अनुभव बनाय तो संसारके सर्व संकट दूर हो जायेंगे ।

जानति स्वयमेव यद्विमनसश्चिद्रूपमानन्दवत्,
प्रोच्छिन्नं यदनाद्यमन्दममकृन्मोहान्धकारे हटात् ।
सूर्याचन्द्रमसावतीत्य यदहो विश्वप्रकाशात्मक,
तज्जीयात्सहज मुनिष्कलमह शब्दाभिधेय महः ॥ १६० ॥

(३६२) अन्तःप्रसिद्ध चैतन्यज्योतिका जयवाद—जब अनादिकालसे लगा हुआ यह प्रचुर मोहांधकार सहजज्ञानबलसे नष्ट हो जाता है जिस किसी भी यत्नसे यह मोह दूर हो जाता है तब मनसे रहित अर्थात् मात्र आत्मीय शक्तिसे समस्त तत्त्वोको जानने वाले सर्वज्ञ स्वयं ही जानते हैं कि यह आत्मतत्त्व चैतन्यस्वरूप है और जैसा कि सर्वज्ञ जानते हैं वैसा क्या प्रकट हो रहा है । केवल एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव, जो अनादिसे संयुक्त है याने केवल जानन जानन ही रहा प्रभुके, इसलिए अनन्त आनन्द वाला है और हम आपके क्या जानना, जानना ही चल रहा ? नही चल रहा । कोई विकल्प इष्ट बुद्धि अनिष्ट बुद्धि राग विरोधकी बात चलती है तो आनन्दका घात हो रहा है । आत्मा स्वय साक्षात् आनन्दमय है, स्वय यह आत्मा धर्मस्वरूप है, पर इसकी कोई पहिचान नही तो उसके लिए क्या है ? जैसे घरमे गडी निधि है और उसे कोई जानता नही, तो वह तो गरीब है, और जिसको गडी हुई निधिका पता पड जाय कि मेरे घरमे इस जगह इतना धन गढा है तो वह अभी नही भी निकाल सका तो भी उसको थोडा गौरव हो जाता है । ज्ञानी पुरुष जानता है अपने आपके इस परम पवित्र आनन्दधामको । तो वर्षों हो गए, चारित्रमोह अभी गला नही तो भी उस अनुभव और उसकी स्मृतिसे अन्तरमे निर्व्याकुल रहता है । प्रभु चैतन्यस्वरूप हैं । जो वहाँ प्रकट हुआ है वह आनन्दसे संयुक्त है । तो क्या प्रकट हुआ है ? वह अनादिसे जो तत्त्व था सो ही प्रकट हुआ है, अनादि है, निरन्तर रहने वाला है । तो जानते हैं सर्वज्ञदेव कि यह आत्मतत्त्व सर्व प्राणियोमे रहने वाला यह ज्ञायकस्वरूप । आत्मतत्त्व यह अनादि अनन्त है, निरन्तर रहता है और जिसका विकास सूर्य चन्द्रमाको भी लज्जित करता है । सूर्य कहाँ तक प्रकाश

करेगा ? चन्द्र कहाँ तक प्रकाश करेगा ? और यह ज्ञान, केवलज्ञान, विशुद्ध ज्ञान यह तो तीन लोक और अलोकको जान लेता है। तो सूर्य चन्द्रमाको भी तिरस्कृत करता है याने समस्त जगतका प्रकाश करने वाला है यह अन्तस्तत्त्व। जिसको जाने बिना संसारमे रुलना पडता है उसकी बात कह रहे हैं। यह अन्तस्तत्त्व यह अह शब्दसे कहा जाने योग्य है। इस अहंकी अनुभूतिसे इस अन्तस्तत्त्वका परिचय हो रहा। मैं क्या ? जिसको 'मैं' का अनुभव हुआ वही तो मै अतस्तत्त्व हूं। यह अंतस्तत्त्व स्वाभाविक चीज है, ऐसा यह देव जयवंत हो। देखो—अपना शरण, अपना रक्षक, अपना सर्वस्व, अपना सार, अपना कल्याण सब अपने आपमे है, उसको समझनेकी कला प्रकट हो जाय तो वह साक्षात् अपने स्वरूपमे विदित होता है। ऐसा यह आत्मीय अंतस्तत्त्व देव जयवत हो।

यज्जायते किमपि कर्मवशादसात सातं च यत्तदनुयायि विकल्पजालम्।
जातं मनागपि न यत्र पद तदेव देवेन्द्रवन्दितमहं शरणं गतोऽस्मि ॥ १६१ ॥

(३६३) **निर्विकल्प परम सहजानन्दमय मोक्षपदकी शरण्यता**— ससारमे जो भी सुख दु:ख है वे कर्मके उदयका निमित्त पाकर हैं। देखो जीवमे यह परिणमन हो तो रहा, सुख दु:खका अनुभव कर रहा है, मगर पर निमित्त उपाधिके सान्निध्यमे। यह बात यदि होती हो जीवके ही निमित्त कारणसे तो फिर इसका मिटाना कठिन है। कैसे होगा ? निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय विभाव मिटानेकी उमग दिलाता है। स्वभावमे आनेका रास्ता बताता है। ये रागद्वेष सुख दुःख ये सब नैमित्तिक है, औपाधिक है, मेरे स्वरूप नही, इनसे हटें और अपना देखें स्वरूप ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व। देखो निमित्तनैमित्तिकभावके परिचय बिना और कौन सा ऐसा सही अमोघ उपाय है कि जिससे इस आत्माको रागद्वेषसे ग्लानि हो जाय ? निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय ही इन विभावोसे घृणा करा देनेमे योग्य है, ये बाह्य वस्तु है, ये कर्मकृत है, उनमे क्यो लगूं, मैं इनको क्यो अपनाऊँ, उनसे हट जाता है। संसारमे जितने भी सुख दुःख हैं जीवोको वे उनके कर्मोदयका निमित्त पाकर हैं और उस सुख दुःखका यह अनुसरण करता। ऐसा विकल्पसमूह ?यह भी कर्मोदयका निमित्त पाकर है। अब देखो संसार कितना दुःखमय है। वह दुःख क्या है ? बस विकल्प, नाना तरह के विचार ये ही कष्ट है, ये ही दु:ख है। तो यह दु:ख जहाँ नही है वह बात अच्छी होगी कि बुरी ? संसारसकट, जन्ममरण विपत्ति विडम्बना ये सब जहाँ नही हैं वह है मुक्ति, आनन्द-धाम। तो जिस मोक्षमे, जिस परमपदमे ये कोई संकट नही ऐसे बड़े बड़े विद्वान योगीन्द्र, देवेन्द्र द्वारा बदनीय उस मोक्ष तत्त्वको, उस परम पदके शरणको प्राप्त होऊँ। उस परम-पदकी प्राप्तिकी अभिलाषा रखना, प्रयत्न रखना यह ही उसका शरण गहना है। यह स्वा-

स्थ्य धर्मका प्रकरण चल रहा है। धर्म है वास्तवमे स्वास्थ्य, मायने अपने आत्माका यह सहज स्वरूप है उस स्वरूपमे स्थिर हो जाना यही है स्वास्थ्य और यह ही वास्तविक धर्म है, जिससे कर्मकलंक कटते हैं उस स्वास्थ्यका विकास, सदाके लिए यह स्वास्थ्य परिपूर्ण रहे, सो यह उस मोक्षस्वरूप शरणकी भावना की है।

धिक्कान्तास्तनमडल धिगमलप्रालेयरोचि करान,
धिक्कर्पूरविमिश्रचन्दनरसं धिक् ताञ्जलादीनपि।
यत्प्राप्त न कदाचिदत्र तदिद संसारसतापहृत्
लग्नं चेदतिशीतल गुरु वचोदिव्यामृत मे हृदि ॥ १६२ ॥

(३६४) **गुरूपदेशामृतमे संसारसंतापसहारसमर्थता**—ज्ञानी पुरुष अपने आपकी समालोचना कर रहा है। यदि अपने हृदयमे गुरुवचनसे प्राप्त हुआ दिव्य उपदेश इसको मैंने यदि पा लिया, गुरु उपदेशरूपी अमृतका पान कर लिया तो कोई जगतमे कही जाने वाली जो शीतल चीजोका उपभोग है उसकी फिर क्या आवश्यकता ? लोग संतापसे दूर होनेके लिए शीतल चदनका प्रयोग करते हैं, कपूर लगाते, ठडी चीजोका सेवन करते, चन्द्रकी किरणोका सेवन करते, जो जो कुछ भी बाहरमे लोग उस शीतलताका प्रयोग करते हैं ठडे जलसे भिगोये गए कपडेको सिरपर रखते, जो जो भी बाते जगतमे शीतलताको उत्पन्न करने वाली हैं उनकी अब जरूरत नही रही, क्योकि उस शीतलताको प्राप्त किया है उन्होने जिस शीतलताको ये बातें प्राप्त नही करा सकती। यह दिव्य उपदेश यह अमृतमयी वाणी अन्यत्र कही प्राप्त नही होती। देखो पढकर स्वाध्याय करके ज्ञान तो होता है, मगर गुरु सत्सग, गुरुओ द्वारा अध्ययन करके जो समस्या हल होती है वह केवल बाँचने मात्रसे हल नही होती। एक कथानक कहते है कि एक गुरूने अपने किसी शिष्यको लोहासे सोना बनानेका प्रयोग बताया। कहा कि देखो अमुक चीजें मिलाओ, इस इस विधिसे कम करो, और फिर उसमे नीबूका रस निचोओ। इस विधिसे स्वर्ण तैयार हो जायगा। तो उस शिष्यने सब चीजें ज्यो की त्यो मिलायी, सारी विधि ज्योकी त्यों बनायी, और बादमे चाकूसे नीबूका रस काटकर उसमे निचोया फिर भी स्वर्ण न बना तो वह शिष्य बडा हैरान हुआ और गुरुसे कहा महाराज हमने तो आपके कहे अनुसार सब कुछ करके देख लिया, पर स्वर्ण न बना। तो गुरुने पूछा बताओ कैसे क्या किया ? तो उस शिष्यने सारी बात बतायी। जब चाकूसे बिनारकर निम्बूका रस निचोनेकी बात कहा तो वही गुरुने शिष्यके गालो मे थप्पड लगाया और कहा मैंने नीबूको चाकूसे काटकर बिनारनेके लिए कब कहा था ? देखिये बिनारना कहते हैं काटनेको। वहाँ वह शिष्य झट अपनी गल्ती समझ गया। तो ऐसे ही कोई चीज पढ़ लिया, समझ लिया तो इतने

मात्रसे काम नही चलता किन्तु गुरुदेव स्वय उसका प्रयोग बतायें और उस तरहका रास्ता बताये तो ऋद्धि सिद्धिका मार्ग माफ होता है। तो यह गुरु दिव्योपदेश इतनी शीतलता लाने वाला है कि जिस शीतलताको बाह्य पदार्थोंका सग ला ही नही सकता। किसीको इष्टवियोग हो गया, कोई चिन्ता गड़ गई कोई शल्य हो गई तो वह निरन्तर भीतरमे व्यथित रहता है, उसको चंदनका लेप शीतलता पहुचा देगा क्या? मान लो किसी आदमीको लाख दो लाखका टोटा पड गया और उससे वह निरन्तर चित्तमे खेद मानता रहता, व्याकुल होता रहता, तो उससे कोई कहता है कि भाई अब तुम दुःखी न होओ हम तुम्हारे शरीरमे चंदनका लेप किए देते हैं, तो भला बताओ इस तरहसे कही उसका दुःख दूर हो जायगा क्या? अरे उसका दुःख तो भेदविज्ञान जगे तब दूर होगा और भेदविज्ञान जगनेके ही वचन बोले जायें। अरे क्या है? तू अकेला है, आनन्दका खजाना है, प्रभुके स्वरूपकी तरह है। ये बाहरी चीजे पौद्गलिक हैं। ये तेरे लिए कुछ भी सार नही है। तू अपने ज्ञानस्वरूपको निरख। देख तू आनन्द आनन्दसे ही परिपूर्ण है। अपनी दृष्टि बदल, भेदविज्ञान आये तो इसको उतनी शीतलता मिलती कि जितनी चंदनलेप आदिक या कोई ठडी बरफकी चीजसे नही मिलती। तो गुरु दिव्योपदेश यह ही एक अत्यन्त शीतल वस्तु है तो जिसको गुरुजनोकी कृपासे यह एक दिव्य अमृत मिल गया उसको तो ससारमे शान्तिकी मानी हुई कल्पनाकी चीजोकी आवश्यकता क्या है और इस प्रकार भेदविज्ञान मिल जाय, जिससे अपने चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि जगती है उसमें ज्ञानरत होता है तो यह ही तो वास्तविक स्वास्थ्य है और वही धर्म है।

जित्वा मोहमहाभटं भवपथे दत्तोग्रदुःखश्रमे,
विश्रान्ता विजनेषु योगिपथिका दीर्घे चरन्तः क्रमात्।
प्राप्ता ज्ञानघनाश्चिरादभिमतस्वात्मोपलम्भालय,
नित्यानन्दकलत्रसगसुखिनो ये तत्र तेभ्यो नमः ॥१६३॥

(३६५) **नित्यानन्दमय सिद्ध भगवंतोको नमस्कार**—यह ससारका मार्ग कैसा है जहाँ बडे कठिन कठिन दुःख और श्रम ही भरे पड़े हैं, बतलाओ हर स्थितिमे पुण्यका उदय है, किसीको धन सम्पत्ति खूब मिली हुई है, आखिर उसका उपयोग कैसा बन रहा? दुःखसे अतीत है क्या? श्रम नही कर रहा है क्या? श्रम तो वास्तवमें यह ही है कठिन कि जो भीतरमें इतने विकल्प मचते, तृष्णा जगती, लोभ होता, यह तो बहुत बडा श्रम है और उस श्रममे स्वयं ही तो उसे दुःख होता। तो ऐसे दुःख व श्रम जहाँ भरे पड़े है ऐसे इन संसारसे मोहरूपी महान सुभटको जीतकर जो योगी मुसाफिर निर्जन वनमे शान्त निर्भय होकर निःशंक

होकर अपने आपमे आनन्दनिधिसे मिलता रहता है और इस ज्ञानघनमे सम्पन्न होकर आत्मा की निरंतर उपलब्धि रहे ऐसे अभीष्ट स्थानको प्राप्त होता है उस योगीको अविनाशी सुख प्राप्त होता है। ऐसे अविनाशी सुखसे भरे हुए ये पवित्र आत्मा हैं। उन पवित्र आत्माओको नमस्कार हो। देखो अपनेमे रागद्वेषकी जो मलिनता है, अधकार है, इस अंधकारको हटानेके लिए यह आवश्यक है ज्ञानज्योतिर्मय परमात्मतत्त्वकी उपासना अधिकाधिक बने, यह ही ज्ञान प्रकाश इस राग द्वेषके अधकारको दूर करता है। तो उस ज्ञानप्रकाशका यह जयवाद है। प्रकाशको यहाँ नमस्कार है।

इत्यादिर्धर्म एष क्षितिपसुरसुखानर्घ्यमाणिक्यकोश.
पाथो दुःखानलानां परमपदलसत्सौधसोपानराजि ।
एतन्माहात्म्यमीशः कथयति जगतां केवली साध्वधीता
सर्वस्मिन् वाङ्मयेऽथ स्मरति परमहो मादृशस्तस्य नाम ॥१६४॥

(३६६) **सकलसंकटहारी धर्मकी महिमाके वर्णन किये जा सकनेकी अशक्यता**—धर्म बताया गया है अब तक आत्माको जानो, आत्मतत्त्वकी श्रद्धा बनाओ और इस ही मे अपनी दृष्टि रमाओ, इसमे ही आनन्द पावो, ऐसी जो स्थिति है यह ही है धर्म, सो यह धर्म यह ससारके समस्त वैभवोंसे अग्रणी है, अमूल्य रत्न है। जहाँ अमूल्य रत्नोका खजाना है, जहाँ धर्म प्रकट है उस आत्मामे कुछ कमी हो तो भी स्वर्गसुख, बडे बडे उच्च पदोंके सुख प्राप्त होते है। उन्हे कोई हटा ही नही सकता, और निर्दोष विधिसे धर्म हो जाय याने रागद्वेष मोह दूर होकर मात्र एक ज्ञानानुभव ही निरन्तर बना रहे तो इसका फल तो अविनाशी मोक्षपद है। तो यह धर्म आनन्दकी विधि है, दु खरूपी अग्निको शान्त करनेके लिए जलके समान है। जैसे आग तेज बढ गई है है तो उसपर जल डाल दिया जाय तो अग्नि शान्त हो जाती है ऐसे ही संसारके महान दुःख लग रहे है। यदि धर्मरूपी जल यहाँ आ जाय तो यह दुःख दूर हो जायगा। बात दो हैं मोह और निर्मोह प्रकाश। मोहमे है कष्ट और निर्दोष प्रकाश उस कष्टको नष्ट करने वाला है। तो दोनो विरुद्धकी चीजें हैं ज्ञानका होना व मोहका होना। जहाँ मोह है वहाँ ज्ञानप्रकाश कहाँ, और जहाँ ज्ञानप्रकाश है वहा मोह कहाँ तो यह धर्म यह ज्ञान, यह आत्मविकास, यह दु खरूपी अग्निको शान्त करनेके लिए जलके समान है। यह रत्नत्रय धर्म, यह स्वास्थ्य धर्म आत्माका जो विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप है उस स्वरूपमे स्थिर हुआ यह स्वास्थ्यधर्म उत्तम पद याने मोक्षमहल, उसके प्राप्त करनेके लिए सीढियोंके समान है। जैसे किसी ऊँचे महलमें जाया जाता है सीढ़ियोके बलसे, ऐसे ही उस मोक्ष महलमें पहुचा जायगा धर्मके बलसे। तो यह धर्म सर्व आनन्दोको देने वाला एक अमूर्त तत्त्व

है। ऐसे उस स्वास्थ्य धर्मको, आत्मस्वभावको अल्पज्ञ मनुष्य, मुझ जैसे मनुष्य उसका नाम भी स्मरण करे तो उसका भी उद्धार है जिस विशुद्ध ज्ञानानन्द ज्ञानज्योतिको अब कोई उनके नामका भी स्मरण करता तो कुछ तो प्रभाव होता है तो ऐसे ही आत्माका जो एक स्वभाव है धर्म, उसका नामस्मरण भी हो तो उस नाम स्मरणसे तभी शान्तिकी प्राप्ति होती है।

शश्वज्जन्मजरान्तकालविलसद्दुःखौघसारीभवत्
ससारोग्रमहारुजोपहृतयेऽनन्तप्रमोदाय च।
एतद्धर्मरसायन ननु बुधाः कर्तुं मतिश्चेत्तदा,
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादनिकरक्रोधादि सत्यज्यताम् ॥१६५॥

(३६७) **संसाररोगविनाशक सहजानन्ददायक धर्मरसायनकी प्राप्तिके अर्थ मिथ्यात्व कषायादिके त्यागकी अनिवार्य आवश्यकता**—हे आत्मन्, जरा अपने आपमे निर्णय तो करो देखो यह ससार क्या है जहाँ निरन्तर जन्म जरा मरण आदिक अनेक प्रकारके दुःख है। इस ससारमे सार क्या है ? सारमात्र दुःख है। ऐसे महान रोगका अगर अपहरण करना है या अनन्त आनन्दकी प्राप्ति करना है तो अपनी पुरानी हठको छोड दो। यह धर्म रसायन है। इस धर्मरसायनको पानेकी अगर इच्छा है, किस कारण रसायन कहलाता कि शुद्ध अनन्त आनन्द प्राप्त हो, ससारके ये समस्त सकट दूर हो इसके लिए रसायन है धर्म उस धर्मरसायनको पानेकी अगर इच्छा है तो मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय इनका परित्याग करें। जिन भावोसे कष्ट हो रहा उनको दूर करें यही तो कर्तव्य है। अब देख लो परख लो जहाँ मोह है, मिथ्यात्व है वहाँ कष्ट है कि नही। अभी किसी जगह किसी की सगाईका रोपना हो जाय तो यद्यपि उससे अभी कोई शादी पक्की नही हो गई, अभी छूट सकती है मगर रोपना होते ही उस ससुरालके गाँवसे वहाँके लोगोसे मोह हो जाता है कि नही कि ये मेरे है, और इससे पहले कुछ न थे। अच्छा कोई खोटी खबर आ जाय तो कुछ कष्ट होता कि नही ? क्यों होता कष्ट ? मोह बसा है उसका कष्ट है। मोह स्वयं कष्ट रूप है, क्योकि वह स्वयं अज्ञान ही तो है। जहाँ अज्ञान है वहाँ कैसे कष्ट दूर हो सकता ? मोह छोड़ें, क्रोध छोड, मान, माया, लोभ छोड और अपने आनन्दस्वरूपका एक निरन्तर ध्यान बनायें उसकी ही धुन बनायें तो ये कष्ट दूर हो सकते हैं।

नष्ट रत्नमिवाम्बुधौ निधिरिव प्रभ्रष्टदृष्टेर्यथा,
योगो यूपशलाकयोश्च गतयोः पूर्वापरौ तोयधौ।
ससारेऽत्र तथा नरत्वमसकृद् दुःखप्रदे दुर्लभं,
लब्धे तत्र च जन्म निर्मलकुले तत्रापि धर्मे मतिः ॥१६६॥

(३६८) अनेकों दृष्टान्तपूर्वक नरभव निर्मलकुलजन्म व धर्ममतिकी दुर्लभताका वर्णन— देखिये यह मनुष्यजन्म मिलना कितना कठिन है। उसके लिए एक दृष्टान्त है कि जैसे समुद्र मे कोई रतन फेंक दे तो फिर वह रतन नष्ट ही तो है, उसका मिलना कितना कठिन है ऐसे ही विषय कषायके वश इस ससार समुद्रमे इस मनुष्य जन्मको यो ही खो दें तो इस मनुष्य जन्मकी प्राप्ति फिर हो सकेगी क्या ? बडा कठिन है। आज मिला है तो बडा सस्ता लग रहा, यह तो आदत ही है लोगोकी। जो लखपती है वह यो मानता कि इस वैभव पर तो हमारा अधिकार ही है। हम तो खास है, यह तो कोई खास बात नही। हां करोडपती हो जायें तो वह हमारे लिए बात है। यह तो हमारी एक चीज ही है। जिसको जितना धन मिला है उसको यो समझ है कि कुछ नही मिला, यह तो है ही, हमारी बात ही है। हममें ऐसे लाल गडे ही है कि इतनी चीज मिलनी ही चाहिए यह पता नही कि यह भी तो पुण्योदयसे प्राप्त है, इतनेमे ही सतोष करें। तो जैसे किसी समुद्रमे रत्न गिर जाय तो उसका मिलना दुर्लभ है ऐसे ही तृष्णासे जीवनको व्यर्थ खो दिया जाय तो मनुष्य जीवन मिलना दुर्लभ है अथवा जैसे अधेको निधि मिलना दुर्लभ है ऐसे ही मनुष्यजन्म प्राप्त होना दुर्लभ है। एक दृष्टान्त देखो—जैसे बैलोकी गर्दनमे रखनेका एक जुवां होता है, उस जुवांमे दोनो ओर एक-एक छेद होता है, उन दोनो छिद्रोमे एक एक सैल पडा होता है इसलिए कि वे दोनो बैल कही इधर उधर न जा सके। तो जैसे उस जुवासे वे दोनो सैल निकाल दिए जायें, जुवां समुद्रके पश्चिमी किनारे पर हो और दोनो सैल समुद्रके पूर्वी किनारे पर हो और वे कदाचित् धीरे धीरे लहरोमे वह बह कर एक स्थान पर आ जायें और उन दोनो छिद्रोमे वे सैल ज्यो के त्यो प्रवेश कर जायें, यह जैसे बडी कठिन बात है ऐसे ही इस मनुष्यजन्मका प्राप्त होना बडा कठिन है। करणानुयोगसे देखें तो कितने ही पुद्गल परिवर्तन व्यतीत हो जायें जीवको स्थावरमे रुलते रुलते तब कही दो हजार सागर प्रमाणको त्रस पर्याय मिलती है। फिर उनमें मनुष्योकी सख्या तो अत्यन्त अल्प है। मान लो मनुष्य भी हो गए तो वहाँ बोधिकी निधि मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। बहुतसे लोग यह प्रश्न करने लगते कि क्या बात हैं लोग तो यो कहते कि मनुष्यभवका पाना बडा दुर्लभ है पर आज देखो तो मनुष्योकी कितनी अधिक सख्या बढ रही है। हर १० वर्षमे लाखो करोडोकी सख्या बढ जाती है। तो भाई ऐसे मनुष्य होना दुर्लभ नही कहा जा रहा। यह तो यो समझिये कि दुनियामे अच्छे कर्तव्य करने वाले मनुष्योको मनुष्य बनना था, उन्होने कोई खोटा काम कर डाला तो छांट छांटकर यहाँ मनुष्यभवमे भेजे जा रहे हैं, यो सख्या बढ रही। ऐसे मनुष्योकी सख्या बढना कोई खास बात नही। जैसे सन्मार्ग मिले ऐसे मनुष्यभवकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। तो ऐसा मनुष्यभव

पाकर धर्ममे बुद्धि लगाये । देखिये श्रेष्ठ मनुष्य अब भी मिल गया, श्रेष्ठ समा.म भी मिल गया । अब यदि यहाँ प्रमाद करें तो फिर यहाँसे मरकर न जाने क्यासे क्या कीट पतिंगादि बनते फिरेंगे । इसलिए भ.ई धर्मका आदर करें, आत्माका स्वरूप जानें, उसमें ही स्थिर हो और उसमे ही रमनेका प्रयत्न करे ।

न्यायादन्धकवर्तकीयकजनाख्यानस्य ससारिणा,
प्राप्त वा वहुकल्पकोटिभिरिद कृच्छान्नरत्वं यदि ।
मिथ्यादेवगुरूपदेश–विषयव्यामोहनीचान्वय-
प्रायै प्राणभृता तदेव सहसा वैफल्यमागच्छति ।।१६७।।

(३६८) बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त नर जन्मको मिथ्यात्व विषय.नुरागकरके विफल न करनेका स.देश—अनादि कालसे ससारमे रुलते आये इन प्राणियोको यह मनुष्य पर्याय मिलना ऐसे कठिन है जैसे कि अधेके हाथमे बटेर पक्षीका आना कठिन है । एक तो पक्षीको कोई सूझता तेज चलता हुआ भी पकड नही सकता और फिर कोई अधा उसे पकड ले यह तो एक बडी कठिन बात है ऐसे ही इस मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना बडा कठिन है । कितने ही कल्पकालमे इस मनुष्यभवकी प्राप्ति हो पाती है । कल्पकालके मायने जैसे आजकलका पचम काल चल रहा, इसके बाद छठा काल आयगा तो छठा काल आनेपर अवसर्पिणी खतम हो जायगी, प्रलय हो जायगा भरत ऐरावत क्षेत्रमे आर्यखण्डमे इसके बाद छठा काल आयगा फिर ५ वां, चौथा, तीसरा, दूसरा, पहला और फिर पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाचवां, छठा इस तरह छठेसे बढकर घटकर फिर छठेमे आ जाय तो इतना समय लगता है एक कल्पकालमे याने ६ उत्सर्पिणीके और ६ अवसर्पिणीके इस तरह १२ का एक कल्प हुआ ऐसे कितने ही काल व्यतीत हो जायें तब कही भाग्य हो तो यह मनुष्य पर्याय मिलती है । तथा मनुष्यपर्याय भी शुद्ध देश जाति कुल वाला मिले और वहाँ भी जिनशासनका समागम मिले, बडा दुर्लभ है । तो आप समझो कि यह मनुष्यपर्याय मिलना कितना दुर्लभ है ? अच्छा फिर करोडो कल्पकालोमे किसी भी प्रकार अगर यह मनुष्य पर्याय प्राप्त हो गई जैसे कि आज प्राप्त हो गई तो ऐसा दुर्लभ मनुष्य पर्याय मिला तो है मगर मिथ्या देव, मिथ्याशास्त्र, मिथ्या गुरुके उपदेश, विषयोका अनुराग, नीच कुलमे जन्म, ऐसी खोटी बातें अगर मिली तो फिर यह मनुष्यपर्याय निष्फल हो जाता है । मनुष्य जरासे विषयोके प्रेममे या कुछ यश मोह ममताके प्रेममे यह जीव मिथ्या देव, शास्त्र, गुरु इनका नेह लगा लेता है ।

(३७०) यथार्थ देवकी परख—अब आप परख कर लो देव तो उसका नाम है जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो उसीको भगवान कहते है, ऐसा आत्मा कि जिसमे गुण तो पूरे हो और

दोष एक न रहे उस ग्रात्माको कहते है परम ग्रात्मा, भगवान। ग्रब वीतराग सर्वज्ञ भगवान का तो एक शुद्ध ज्ञान ज्योति स्वरूप है। अगर रागद्वेषके रूपसे किसी मनुष्यमें देवकी कल्पना करें ग्रोर उसे भगवान मानें तो बतलाग्रो यह मनुष्यजन्म जो इतनी कठिनाईसे मिला है उसे निष्फल करना ही तो है। ग्रब कोई कहे कि भगवानका विवाह हो रहा तो भला बतलावो यह कहना उचित है क्या ? भगवानका विवाह भी होता है क्या ? ग्ररे भगवान तो एक ग्रनन्त ज्ञान ग्रौर ग्रानन्दका पुञ्ज है उसका विवाह नही होता। विवाह तो होता है ससारी मोही प्राणियोका। लोग तो भगवानका ऐसा रूपक बनाते कि उनके साथ स्त्री पुत्रादिक बैठा देते, कुछ हथियार भी पास रख देते ग्रौर कहते कि-यह भगवान है। ग्ररे भगवान नाम तो है एक स्वच्छ ज्ञानज्योतिका। यह मनुष्य पर्याय बडी दुर्लभ है। बडा विवेक करना चाहिए। यदि विवेक हट गया तो मनुष्य पर्यायके बाद कीट ग्रादिक पर्यायें प्राप्त होगी। फिर कब इस ससार सागरसे पार होंगे सो तो बताग्रो ? चाहे कोई देवके नामपर कितने ही चमत्कार दिखाये तो यो तो जब बहुत सख्या हो जाती है कुदेव मानने वालोकी तो लगता है कि बडा ग्रच्छा लगता है, मगर स्वरूप तो देखो जिसमे ग्रनन्त ज्ञान हो, ग्रनन्त ग्रानन्द हो उस ज्ञान-ज्योतिका नाम भगवान है। उस भगवानको ग्राप ज्ञाननेत्र द्वारा ग्रन्दरमे देखे तो ग्रपने स्वरूप का ग्रनुभव होगा ग्रौर भगवानका पता पड जायगा कि इसे कहते हैं भगवान। वस्तुत: भगवान का तो नाम भी नही होता। जो भगवान हुये भी हैं जैसे तीर्थंकर भगवान हुए, श्रीराम हनुमान ग्रादिक ग्रनेक भगवान हुए, मगर यह तो व्यक्ति थे मनुष्य थे। इन्होंने ग्रन्तस्तत्त्वकी उत्तम साधना की ग्रौर मनुष्य भवको त्यागकर जब भगवान बन गए तो ग्रब भगवानका वह नाम तो वही है। मगर पहली बात निरखते है तो यह नाम था सो उस नामपर भगवानकी याद करते हैं, पर वास्तवमे भगवानका नाम नही होता। एक जो ज्ञानज्योति है, जो ग्रनन्त ज्ञान ग्रौर ग्रानन्दसे परिपूर्ण है वह है भगवान। तो निज देवकी ग्रास्था रखे, यो हमे एक ग्रादर्श मिला कि जैसे ये हुए वैसा ही मैं भी होऊँ तो मेरा भी कल्याण हो। देवकी भक्तिसे प्रयोजन क्या है ? प्रयोजन यही है कि वह देव जैसे बडे हुए, जो एक बडे ग्रादर्श रूप हैं मैं भी वैसा हो जाऊँ। ग्रब मिथ्यादेव तो ग्रादर्श नही हो सकते। उनको देखकर क्या ऐसा भाव होना चाहिए कि इनका जैसा विवाह मेरा रोज रोज हो क्योकि भगवानका भी तो विवाह हो रहा ? तो क्या यह ग्रादर्श हो जायगा ? ग्ररे हमको तो चाहिए शुद्ध ज्ञान ग्रौर शुद्ध ग्रानन्द, जो कि इन सांसरिक सुखोंसे परे है। तो ऐसा ज्ञानानन्द ग्रगर चाहिए तो ऐसे ज्ञानानन्दके रूपमे भगवान की उपासना करें, ग्रौर, उस स्वरूपको देखें तो भगवानके स्वरूपका परिचय बने, ग्रात्माके

स्वरूपका परिचय बने।

(३७१) यथार्थ गुरु और शास्त्रकी परख—गुरु वही हो सकता है जो भगवान होने के मार्गमे हो। जो सर्वज्ञ होनेके जो वीतराग होनेके मार्गमे लगे, दोष जहाँ एक भी न रहे, जिसके रागद्वेष नही उसे कहते है गुरु। अच्छा जिसके रागद्वेष न हो, ऐसा कोई मनुष्य हो तो बताओ वह कपडे ग्रहण करेगा क्या, वह खेती करेगा क्या ? राग हो तब ही तो खेती करे, राग हो तब ही तो स्त्री-पुत्रादिककी, धन वैभवादिककी सम्हाल करेगा। और अगर द्वेष हो तो कभी किसीसे लडे, कभी किसीको कुछ कष्ट दे, ऐसी जिसकी रुचि हो वह गुरु कहला सकता है क्या ? गुरु वह है जिसने सब कुछ छोडा आत्माके विशुद्ध ज्ञानानन्दको पानेके लिए। जो कुछ न चाहे न घर चाहे, न वैभव चाहे, न लोग चाहे न मित्र चाहे, जिसे कुछ बाहरी चीजकी चाह ही नही है, केवल उस ब्रह्मस्वरूपकी ही धुन लगाये हो उसे कहते है गुरु। अब ऐसा जो परमब्रह्मस्वरूपकी धुन लगा रहा हो वह कही भस्म रमायेगा क्या ? वह कही अपने शरीरका शृङ्गार करेगा क्या ? अरे उसने तो त्यागका सकल्प किया है कि मुझे तो सब कुछ छोडना है। वह है गुरुका स्वरूप और ऐसी ही बात सिखानेका अहिंसाका पाठ पढ़ानेका जहाँ उपदेश हो उसे कहते है शास्त्र।

(३७२) दुर्लभ प्राप्त नरभवमे आकर धर्मधारण द्वारा अपनेको पवित्र करनेका संदेश—यह मनुष्यपर्याय बडी कठिनाईसे मिला। इसको पाकर व्यर्थ न खोना चाहिए। अगर मिथ्यादेव, मिथ्याशास्त्र, मिथ्यागुरु, विषयकषायोका वेग, इनमे ही अगर जीवन गुजरता है तो फिर मनुष्यजन्मका पाना बेकार समझो। अपना बहुत दृढ चित्त होना चाहिए। यह स्वास्थ्य धर्मकी ही बात चल रही है कि यह आत्मा अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमे कैसे स्थित हो ? तो अपनी पहलेकी सारी गडबडियाँ त्यागें। कितने ही लोग ऐसे है कि किसीके बीमार हो जाने पर अनेक कुदेवोकी मनौती किया करते हैं। उससे होता तो कुछ नही, जिसका जैसा होना है होता है, पर मिथ्याबुद्धि होनेसे वे कुदेवोकी उपासना किया करते हैं। एक बारकी बात है कि किसी गाँवमे चेचकका बडा जोर था। उसे लोग शीतलामाताके नामसे कहते थे। कितने ही परिवार उस शीतलामाताके प्रकोपसे नष्ट हो चुके थे। सभी लोग शीतलामाताकी आराधना करते थे। उसी सिलसिलेमे भैसोपर भी यही प्रकोप छा गया, सारा गाँव भैसोसे खाली होने लगा। एक घरमे क्या हुआ कि उसके घरमे १०० भैसें पली हुई थी। प्रतिदिन उसकी ४ ५ भैसें मर जाती थी। धीरे धीरे उसकी ६५ भैसें खतम हो गईं। वह घरका मालिक शीतलादेवीकी मूर्तिकी स्थापना करके प्रतिदिन उसकी उपासना करता, उसका जलसे धोवन

करता, अनेक प्रकारकी मनौती करता, पर उसकी शीतलाने एक न सुनी। जब कुल ५ भैंसें शेष रह गईं तो उसने क्या किया कि शीतलादेवीकी मूर्तिको तोड-ताडकर पानीमे फेंक दिया। समयकी बात कि उसकी वे ५ भैंसें बच गईं। तो देखिये—यह तो सब पुण्य पापका खेल है, जिसका जैसा उदय है उसको वैसा होता है, कहीं कुदेवोकी मिथ्या मनौती बातोंसे कुछ नही होता। और फिर ये सब तो सासारिक चीजें हैं यदि वे सासारिक चीजे चाहिये तो पापोका त्याग करें और पुण्यका उपार्जन करें। यहाँ तो ऐसी स्थिति है कि राजा भी मरकर कीड-मकोडा बन सकता। यहाँ किसी चीजसे कुछ पूरा न पडेगा। पूरा तो पडेगा मुक्तिमे। और उस मुक्तिका मार्ग जो दिखाये वह है धर्म। यह स्वास्थ्य ही वास्तविक धर्म है। अपने आत्मा का जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसमे स्थित हो जाना इसे कहते है धर्म।

लब्धे कथ कथमपीह मनुष्यजन्मन्यङ्ग प्रसगवशतो हि कुरु स्वकार्यम्।
प्राप्त तु कामपि गति कुमते तिरश्चा कस्त्वा भविष्यति विबोधयितु समर्थः ॥१६८॥

(३७३) धर्मधारणमे प्रमाद होनेसे दुर्गतिलाभ होनेपर समझाये जानेकी भी अशक्यता— अपना मनुष्यपर्यायको पाकर भी उत्तम कुलमे जन्म हुआ है और बुद्धि चतुराई भी पायी है, मन भी श्रेष्ठ है और पहले उपार्जित किए गए पुण्यकर्मके उदयसे एक पवित्र जैनशासन भी पाया है। देखो—जैनशासनकी पवित्रता। यहाँ सही बात माननेका दृढ सकल्प रखो। सभी अनुयोगोकी बात सही है। चारित्रसम्बन्धी बात जो पद्मपुराणमे श्रीराम भगवान के सम्बधमे वर्णित है उसमे कितनी उत्कृष्टता बतायी और चारित्र बताया कि हमको कल्याण मिलेगा तो किस तरह ? सही चारित्रमे विश्वास करना, सही प्रवृत्तिमे विश्वास करना, ये सब बातें जैनशासनमे है। कितना पवित्र जैनशासन पाया, जो गुणग्राही है गुणपूजाकी जहाँ प्रधानता है। प्रभुकी पूजा क्या, प्रभुकी गुणपूजा। क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक जो भी गुण हैं उन गुणोको जिसने पाया वही पूज्य बन गया। तो इतनी दुर्लभ चीज पाकर भी यदि संसारसमुद्रसे पार कराने वाले, और वास्तविक आनन्दको दिलाने वाले धर्मको न पाया तो सब कुछ पाकर भी कुछ न पाया। आत्मज्ञान, आत्मरमण, आत्माकी धुन, आत्माको आस्था यदि धर्मको प्राप्त न कर सके, तो यो समझिये कि जैसे हाथमे प्राप्त हो अमूल्य रत्न खोया, ऐसे ही यह मनुष्यभव पाया, उत्तम कुल पाया, जैनशासन पाया, सत्सग भी कितना अच्छा मिलता है, जहाँ त्यागकी प्रधानता है, ऐसे गुरु जनोका सत्संग भी प्राप्त हुआ, सब कुछ प्राप्त होकर यदि धर्मकी रुचि न जगे तब तो समझिये कि यह मनुष्यजन्म ऐसा खोया जैसे अमूल्य रत्नको पाकर कोई दुर्बुद्ध उसे समुद्रमे फेंक दें।

जन्म प्राप्य नरेषु निर्मलकुले क्लेशान्मते पाटव,

भक्ति जैनमते कथ कथमपि प्रागर्जितश्रेयसः।
ससारार्णवतारक सुखकर धर्मं न ये कुर्वते,
हस्तप्राप्तमनर्घ्यरत्नमपि ते मुञ्चन्ति दुर्बुद्धयः ॥१६९॥

(३७४) **नरभवमे निर्मलकुलमें जन्म लेनेपर धर्मपालन बिना हस्तगत रत्नको फेंक देनेकी तरह मूढता**—मनुष्य ऐसा सोचते हैं कि मेरी आयु बहुत लम्बी है, अपनी अपनी आयु के बारेमे सब कोई ऐसा ख्याल बनाता है कि मेरी बडी लम्बी आयु है। मेरा कभी मरण भी आयगा इस बातको ध्यानमे नही रखते। मेरे हाथ पैर आदिक बहुत मजबूत हैं, मेरा बल कहा घटेगा ? यह लक्ष्मी ही मेरे कब्जेमे है, रजिस्टर्ड है, मेरे नाम है। मेरे शरीरके अंग अतिशय दृढ हैं, यह लक्ष्मी मेरे वशमे है, फिर मैं क्यो व्यग्र होऊँ ? मेरेको बहुत आराम है, सुन्दर महल है, सुन्दर कुटुम्ब है, नीरोग हू। अच्छा खाता पीता हू, आमदनी अच्छी है, मैं बडे सुखमे हू ऐसा यह मनुष्य सोचता है और यह भी सोचता कि अभी तो जवान है, उम्र है बल है। जब बूढे होगे, उमर अधिक होगी तब मैं निश्चिन्त होकर अतिशयसे धर्म करूँगा, ऐसा यह विचारता है, मगर खेदकी बात यह है कि ऐसा ही चिन्ता करते करते यह मूढप्राणी कालका ग्रास बन जाता है। सोचता रहता है। जिन्दगी सोचते सोचतेमे जाती है, ऐसा सोचते सोचते जिन्दगी खतम हो जाती है, अब मर गए, दूसरे भवमे पहुचे। इससे क्या शिक्षा लेना है कि अपने आत्माका चिन्तन करें जिससे परम विश्राम मिले।

पलितैकदर्शनादपि सरति सतश्चित्तमाशु वैराग्यम्।
प्रतिदिनमितरम्य पुनः सह जरया वर्द्धते तृष्णा ॥१७०-१७१॥

(३७५) **एक श्वेत केशके देखनेसे ज्ञानियोको वैराग्य किन्तु मोहियोंको बुढ़ापेमें बुढ़ापेकी होड़के साथ तृष्णाकी वृद्धि**—जिनका होनहार अच्छा है ऐसे पुरुष एक भी पका बाल अपने सिरपर देख लें तो उनको वैराग्य हो जाता है। पुराणोमे ऐसी बात आयी है कि किसी राजाने अपने सिरमे एक ही बाल सफेद देखा तो वह झट विरक्त हो गया। मगर यहाँ देखो तो अविवेकी जनोकी तृष्णा प्रतिदिन बढती ही जाती है। ज्ञानीके तो वैराग्यकी वृद्धि और अज्ञानीके तृष्णाकी वृद्धि अर्थात् जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे उत्तरोत्तर उसकी तृष्णा बढती जाती है, बुढापामे देखो सारे अंग शिथिल हो गए, खा पी भी नही सकते, खा पी ले तो कुछ पचता भी नही, फिर भी तृष्णा लगी है कि मै इतना खाऊँ। अच्छा उसे भीतरमे बडा गुस्सा भी आता। कभी देखा होगा कि कोई कमजोर हो तो उनका बडी गुस्सा आती, क्योकि वे विषयोको तो भोग नही सकते, मनमाना खा भी नहा सकते और भीतरमे तृष्णा ऐसी लगी है तो उससे बड़ी गुस्सा आती है। एक तो यो सोचो—आपको

कोई रोटी दालभात खूब भरपेट खिला दे और फिर बादमे रसगुल्ले परोसे तो आपको भी कुछ झुँझलाहट होगी कि नही ? तो समझो कि ऐसी ही बात कमजोर पुरुषोकी है । तो जैसे जैसे वृद्धावस्था बढती है वैसे ही वैसे तृष्णा बढती जाती है । यह स्वास्थ्यधर्मकी बात बता ी जा रही है, इस तृष्णाको पहले दूर करना होगा तब अपने आत्मामे स्थित होनेका मार्ग मिल सकेगा ।

आजातेर्नस्त्वमसि दयिता नित्यमासन्नगासि प्रौढस्याशे किमथ बहुना स्त्रीत्वमालम्बितासि ।
अस्मत्केशग्रहणमकरोदग्रतस्ते जरेयं मर्षस्येतन्मम च हतके स्नेहलाद्यापि चित्रम् । १७२।।

(३७६) बुढापेसे प्रीति बढनेपर भी तृष्णा सौतके अनुरागपर आश्चर्य—इस छन्दमे तृष्णाकी उद्दण्डताका एक दृष्टान्त बताते हैं। जैसे एक दृष्टान्त लो किसी पुरुषको खुदकी स्त्रीमे बडा स्नेह था । वह पुरुष अगर किसी दूसरी स्त्रीसे स्नेह करने लगे तो वह खुदकी स्त्री कितना बुरा मानती है ? उसे तो जीना ही दूभर हो जाता । वह कितनी ही कल्पनायें बनाती और इतनी उसके मनमे बात आती है कि यह पति मुझसे विरक्त होकर परस्त्रीमे कितना आशक्त हो रहा है । उसका दिल उस समय बहुत अधिक दुखता है, उसके लिए खाना न सुहाये, कोई आत्माकी बात नही सुहाती । उसको तो एक विपत्ति जैसी अनुभवमे आती है । यहाँ अलकारमे यो कहा जा रहा है कि दो स्त्री है एक तृष्णा और एक जरा बुढापा । मानो मनुष्यकी एक स्त्री तृष्णा है, उससे तो यह जन्मसे ही स्नेह बना लेता है । छोटे छोटे बच्चे भी बडी तृष्णा रखते है । उन्हे कोई थोडेसे पैसे देकर फुसलाना चाहे तो झट फेंक देते हैं, रोते है, कहते है कि हम तो इतने पैसे नही लेंगे, हमे तो और चाहिए । यो ही हर चीजमे तृष्णा लगी है । तो देखो यह मनुष्य तृष्णारूपी स्त्रीसे कितना स्नेह कर रहा । इस तृष्णाका पति कौन है ? यह मनुष्य ? इसने जवानी तक तो तृष्णासे स्नेह किया । अब यह मनुष्य बुढापेसे स्नेह करने लगा । अच्छा अब बूढा हो गया तो उस तृष्णा स्त्रीसे द्वेष हो गया तो उस स्त्रीको नाराज होना चाहिए कि नही । जैसे दूसरी स्त्रीसे स्नेह करनेपर प्रथम स्त्रीको पतिके ऊपर गुस्सा आता है ऐसे ही इस बुढापा रूपी स्त्रीको अगीकार करनेपर इस तृष्णारूपी स्त्री को तो नाराज हो जाना चाहिए, पर देखो यहाँ कैसी उल्टी रीति चल रही है कि इस मनुष्य ने जरा (बुढापा) से स्नेह कर लिया, फिर भी यह तृष्णा उससे नाराज नही होती, बल्कि अधिक प्रीति करती । वृद्धावस्थामे तृष्णा और बढ़ जाती है । ऐसी तृष्णाका जहाँ बढावा चल रहा है वहाँ धर्म कहाँ ? इससे इस स्वास्थ्य धर्मको अगीकार करो, अपने आत्माको जानो, आत्माका श्रद्धान करो और आत्मामे रमो ।

रङ्कायते परिदृढोऽपि दृढोऽपि मृत्युमभ्येति दैववशतः क्षणतोऽत्र लोके ।

तत्क करोति मदमम्बुजपत्रवारिबिन्दूपमैर्धनकलेवरजीविताद्यैः ॥१७३॥

(३७७) **विनश्वरवैभवके लाभमें अभिमानका अनवसर**—देखो यह संसार क्या है ? पुण्य पापका खेल । तो इस पुण्य पापके खेलमे ही रहना है क्या ? इस पुण्य पापकी लीलामे जो अपना उपयोग फँसाते हैं उनकी क्या दुर्दशा है ? ये कुत्ता, गधा, सूकर आदिक जो दिख रहे हैं यह सब किसका फल है ? पापका, अधर्मका । तो यह है पुण्य पाप । थोडी देरको पुण्य आया, चली प्रतिष्ठा बन गई, कुछ बल आ गया तो उसे देखकर खुश हो रहे, मगर यहाँ खुश होनेकी क्या बात ? राजा भी मरकर यहाँ कीट पतिंगा बन जाता । आजकलकी भी बात देख लो, आज प्रधानमंत्री है या कोई अन्य उच्च पद वाले है और कलको न रहे उस पदपर तो उन्हे कितना बुरा लगता, वे यह नही सोचते कि मैं वह हूं जो पहले था । तो ससारमे एक राजा भी मरकर दैववश कीट पतिंगा हो जाता है या उस ही भवमे रंक हो जाता है । किसी को पुष्ट शरीर मिला है तो कहो वह भी क्षणमात्रमे विनष्ट हो जाय । यहाँ गर्व करने लायक कोई चीज नही है । क्या यह सुन्दरता गर्व करने लायक है ? कोई उस सुन्दरताको हाथसे पकड सकता क्या ? अरे इस सुन्दर रूपका क्या किया जाय ? न वह हाथसे पकडा जा सकता न कोई सूघनेकी चीज है न सुननेकी । दूरसे देखलो । यह मोहग्रस्त प्राणी सुन्दररूपको देखकर उसमे आशक्त होता है, पर वह रूप क्या है ? आखिर मास, रोम, हड्डी आदिक ही तो इसके भीतर भरे है । यहाँ किसका गर्व करना ? लोग इस पाये हुए धनका बडा गर्व करते है, पर धन गर्व करने लायक नही है । यहाँ छोटे बडे होनेके कितने ही अवसर आते हैं । इसी जन्ममे कितने ही धनिक लोग निर्धन होते देखे जाते हैं । लोग कुलका भी बड़ा मद करते, पर यह भी मद करने लायक नही । यह सब ससारकी लीला है, यहाँ घमड करने लायक क्या वस्तु है सो आप बताओ । तो यह ससार प्रकट असार है ? यहाँ कौन सा बुद्धिमान ऐसा होगा कि जो इस विनश्वर धन दौलत आदिकमे अभिमान करे ? जैसे जाडेके दिनोंमे आजकल कमलके पत्तोपर ओसके बिन्दु गिर जायें तो वे टिकेंगे क्या ? न टिकेगें, वे तो सूख जायेंगे । ऐसे ही ये धन वैभव सब विनष्ट हो जायेंगे । इससे विवेकी पुरुष कभी भी अभिमान नही करते ।

प्रादर्दर्भसाग्रकोटिघटितावश्यायबिन्दूत्कर-
प्रायाः प्राणधनाङ्गजप्रणयिनो मित्रादयो देहिनाम् ।
अक्षाणां सुखमेतदुग्रविषवद्धर्मं विहाय स्फुटम्
सर्वं भङ्गुरमत्र दुःखदमहो मोहः करोत्यन्यथा ॥१७४॥

(३७८) **विनश्वर भोगोको स्थायी मानकर धर्मकी सुध छोड़ देनेपर खेद**—पुत्र, मित्र

स्त्री आदिक परिजन ये सब ऐसे विनश्वर है जैसे कि प्रातःकालमे बाँसके पत्तेके अग्रभागपर छोटे छोटे ओसके बिन्दु स्थिर रहते है। बडी समस्या है इन गृहस्थ जनोके सामने। तभी तो कहा है—पुण्य पाप फल माँहि हरख बिलखो मत भाई। याने पुण्य और पापका फल पाते हुए देखकर मनमे हर्ष और विषादकी रेखा न खिचे। ऐसी बात वही तो कर सकता जिसके विवेक होगा। यदि गृहस्थीमे रहकर पुण्य पाप दोनोमे समान बुद्धि रहे तो गृहस्थ जनोको दुःख न होगा। जो पुण्यके उदयमे हर्ष मानते और पापके उदयमे विषाद मानते उनको दुःख हो जाता। जिसके अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान है वही तो इन इष्ट समागमोको विनश्वर जानता है। ये सब दिखने वाली चीजें विनश्वर हैं, इनमे लगाव न होना चाहिए, जो अविवेकी जन है याने इन पदार्थोंमे लगाव रखकर जो मौज मानते हैं वे तो मानो विषका ही पान कर रहे हैं। बाह्यपदार्थोंमे मौज माननेका फल है कष्ट। सभी इन्द्रियविषयोमे रमनेका फल है कष्ट। एक अपने आपको छोडकर बाकी जितने भी पदार्थ हैं उन सबका लगाव कष्टदायी है। धर्मके विना कोई भी सहाय नही। एक धर्म ही हमारा परम शरण है। उसीकी शरण गहे और अपना यह दुर्लभ मानव-जीवन सफल करें।

तावद्वल्गति वैरिणां प्रति चमूस्तावत्परं पौरुषं
तीक्ष्णस्तावदसिर्भुजौ दृढतरौ तावच्च कोपोद्गमः।
भूपस्यापि यमो न यावददय क्षुत्पीडित सन्मुखं
धावत्यन्तरिद विचिन्त्य विदुषा तद्रोधको मृग्यते ॥१७५॥

(३७९) **मरणसे पहिले शीघ्र आत्महितका उपाय बना लेनेका अनुरोध**—यह जगत मे जो कुछ भी हलचल दिख रही है—राजाकी सेना शत्रुपर आक्रमण करनेके लिए प्रस्थान करती है। बडे उमगसे बडे सज धजके बडी आशा रखकर लो एक सेना चढाई करती है परिजनमे कुटुम्बमे लोग बडी उमंगसे बहुत बडे-बडे स्वप्न जैसी बातें किया करते हैं, लोग बहुत बडे बडे लौकिक पुरुषार्थ किया करते हैं, बडे काम, बडे आरम्भ बडी फैक्ट्री बडी व्यवस्था राज्य शासन आदिक जो जो भी जो जो भी बहुत बडे बडे पुरुषार्थ किया करते हैं यह बात कब तक रहती है? यह बात कह रहे हैं इस छदमे और भी देखो—बडे बडे योद्धा बडे बडे हथियारोको लेकर एक अपना बल दिखाते हैं, शूर वीरताका परिचय कराते हैं और देखो बडे बडे मल्ल जरा जरा सी बातमे अपनी-अपनी बाहे ऊँची उठाते हैं। और जीवोको कब तक क्रोध रोषादिक बने रहते हैं जब तक कि यमराजका आक्रमण नही हो जाता। मतलब यह है कि जब सिरपर काल उमडता है, मानो यमराज पकडनेके लिए आ जाते हैं तब यह जीव बडा दीन बन जाता, बड़ा कायर बन जाता। इस जीवकी सब वीरता धूलमे मिल

जाती। ऐसा जानकर क्या करना चाहिए ? जो बुद्धिमान पुरुष हैं उनको यह उचित है कि ऐसा प्रयत्न करें कि यमराजका याने इस मृत्युका फिर कभी आक्रमण न हो याने मरणरहित दशा प्राप्त हो। मरणरहित दशा कौन है ? सिद्धदशा—जहा न जन्म है न मरण उस दशाको प्राप्त करनेका उपाय क्या है कि यहां तपश्चरण आदिक करें। तो तपश्चरण इच्छानिरोध आत्मज्ञान, आत्मसंयम, आत्मतृप्ति ऐसे ज्ञानप्रकाशको लाता कि जिसकी बुद्धि होनेपर फिर ऐसी स्थिति मिल जाय कि फिर मृत्युका भी भय न रहे।

रतिजलरममाणो मृत्युवर्वर्तहस्तप्रसृतघनजरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये।
निकटमपि न पश्यत्यापदा चक्रमुग्रं भवसरसि वराको लोकमीनौघ एष ॥१७६॥

(३८०) **विषयवशीभूत प्राणीके मरणकी निकटताकी भी बेसुधी**—देखो एक उदाहरण लो किसी एक सरोवरका उसमे किसी मल्लाहने एक जाल डाला, उस जालके अन्दर छोटे-मोटे कीट पतिंगे, केंचुवा आदिक कीट बांधे गए। वहा देखो मछलियोके लिए कितनी विपत्तिका योग जुडा। अगर इतनी बडी विपत्तिको भी मछलियोका समुदाय न देखे तो यह मछलियोंके बड़े सकटकी ही तो बात है। उनको मरना पडेगा। यह ही बात इस ससाररूपी सरोवरमे पायी जा रही है। इस संसाररूपी सरोवरमे इस मृत्युरूपी मल्लाहने जाल बिछाया। रोग जरा (बुढापा) यह ही तो इस मृत्यु मल्लाहका जाल है जिसमे जीवोको फसाया जाय। अब किसीका बुढापा आ गया तो यह उस जीवके लिए मरणका जाल ही तो है, किसीको भयंकर रोग हो गया तो वह रोग उस यमराजका मरणका जाल हो तो है। इतनी तो विपत्तिमे पडे हैं ये ससारी प्राणी, मगर ये मछली, ये प्राणी इस विपत्तिको कुछ नही तक रहे हैं और जो कुछ इन्द्रियके विषयसाधन मिलते है। उन विषयोंके भोगनेकी ही बात उनके मन में रहा करती है। चाहिए क्या था कि अपने स्वास्थ्यधर्मकी रक्षा करें। स्वमे चित्त रम जाय, स्थित हो जाय यह बात करनेकी है, मगर उसकी वृत्ति अत्यन्त विपरीत चल रही है। ये संसारी मोही प्राणी इन विषयसाधनोमे ही अपने उपयोगको फसा लेते है। देखिय धर्मके बिना इस जीवकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। ये बाहरी समागम, ये बाहरी बाते सब अपने उपयोगकी कलापर निर्भर हैं। अपने उपयोगको धर्मसाधनामे लगायें या विषयसाधनामे लगाये, राग करें, द्वेष करें ससारमे रुलनेके साधन बनायें या अपने आत्मस्वरूपका विचार करें। अपनी भावना सही रहे तो यह सब ससारसे तिरनेका कारण है।

क्षुद्भुक्तेस्तृडपीह शीतलजलाद्भूतादिका मन्त्रत.,
सामादेरहितो गदाद्गदगणः शान्ति नृभिर्नीयते।
नो मृत्युस्तु सुरैरपीति हि मृते मित्रेऽपि पुत्रेऽपि वा,

शोको न क्रियते बुधैः परमहो धर्मस्ततस्तज्जयः ॥१७०॥

(३७१) मृत्युकी अनिवार्यता जानकर शोक न करके धर्ममे लगनेका सुझाव—देखो ससारमे अनेक प्रकारके क्लेश है और कुछ समय तकके लिए उन क्लेशोको शान्त करनेका उपाय भी देखा जाता है, जैसे क्षुधाको शान्त करनेका उपाय क्या ? भोजन करना। यदिपि यह उपाय कोई एक सही ढगका नही है कि इस जीवको फिर कभी भूखका सामना न करना पडे। हाँ एक बार भोजन कर लिया तो कुछ घटेके लिए वह भूखकी वेदना शान्त होती है। इस भूखकी वेदनाको सदाके लिए दूर करनेका वास्तविक उपाय है तत्त्वाभ्यास करना, ज्ञानार्जन करना। देखा जाता है कि जब भूखकी वेदना हुई तो भोजन करके वह वेदना शान्त कर लिया और प्यासकी वेदना हुई तो शीतल जल पीकर प्यासकी वेदना शान्त कर लिया। और, कभी शत्रुका प्रकोप हो रहा हो तो उसको शान्त करनेका उपाय है साम दाम दड भेद। अच्छा कोई रोग हो गया तो उसको दूर करनेका, शान्त करनेका क्या उपाय है ? औषधियोका सेवन करना। अब जरा आप लोग भी एक बात बताओ इस मृत्युका जो इतना अधिक ऊधम मच रहा है इस ससारमे इसको शान्त करनेका कोई उपाय है क्या ? स्वर्गोके बडे बडे ऋद्धि धारी देव तक भी जब इस मृत्युके आधीन हो जाते है तो फिर हम आपका कहना ही क्या ? इतना जब मृत्युका ऊधम छाया है तो देखो बुद्धिमानो इसमे है कि चाहे किसीका भी मरण हो रहा हो, यहाँ तक कि खुदका भी यदि मरण हो रहा हो तो भी उसमे रच शका न करना। यहाँ शकारी क्या बातो एक बार कोई रईस सेठ किसी अपराधमें कैद कर लिया गया, उसको जेलखाने भेज दिया गया। अब जो व्यवहार वहाँ अन्य कैदियोके साथ किया जा रहा था वही व्यवहार इस सेठके भी साथ किया जाता था जैसे पखा झलना, हाथ चक्कीसे आटा पीसना या सिपाहियोके द्वारा अपशब्द सुनना। वहा वह सेठ यह ख्याल कर करके बडा दुःखी रहा करता था कि देखो मैं कितना बडा सेठ, कितनी बडी मेरी प्रतिष्ठा, कितना बडा ठाठ, फिर भी मुझे यहा इतने कष्ट मिल रहे, तो उस सेठको दुःखी देखकर एक कैदीको सेठपर दया आयी, तो वह कैदी उस सेठसे बोलता है भाई यह तो बताओ कि तुम इस समय कहा रह रहे हो ? तो सेठ बोला भाई इस समय तो हम जेलमे हैं, कैदियोके बीच है। तो बस समझ लो यहा तो यही करना पडता है, यही व्यवहार होता है इसके अन्दर। यहा दुःख माननेकी क्या बात ? यह कोई तुम्हारा घर नही है न तुम्हारी ससुराल। यह बात सुनकर सेठको समझ आ गई और उसका दुःख कम हो गया। तो यह ससार है यहाँ इन जीवोका जन्ममरण चल रहा है। जन्म मरणका ही नाम ससार है। यहाँ का प्राप्त समागम सब विघट जायगा। कोई यहाँ सदा न रहेगा, बताओ आज किसीके बाबाके बाबा पडबाबा आज यहाँ बैठे है क्या

और अगर यहाँ कोई मरता नही तो कही बैठनेकी जगह भी मिल सकती थी क्या ? तो यह संसारकी रीति है, एक न एक दिन मरण सभीका होता है । इस चक्रको देखकर अपने आपमे दुःख होता है । हाँ तो इस संसारके इस भयसे, इस कठिन क्लेशसे मुक्त होना है तो उसका उपाय है धर्मपालन । धर्मसे ही विजय हो सकती है । कभी यह विश्वास न रखें कि धर्मभाव से मेरेको हानि होगी । संसारकी जब यह हालत है तब फिर यहाँ कर्तव्य है सही विधिमे धर्म करें । धर्म नाम है स्वास्थ्यका उसी प्रकरणमे ये सब बातें आ रही है । अपने आत्माका जो सहज स्वरूप है, केवल चैतन्यस्वरूप उसका सही परिचय करें कि मैं केवल अकेला होऊँ, मेरे साथ देह न हो, कर्म न हो, मेरे साथ किसी दूसरे पदार्थका सम्पर्क न हो इस तरहकी बुद्धिसे अपने आपके स्वभावका आश्रय करें और उसीकी आस्था बनावें । मेरा हित है तो इसीमे है, अन्यमे मेरा कुछ हित नही है, ऐसा ज्ञान बनाये रहे तो शान्ति मिलेगी कर्म कटेंगे, बधन दूर होगे । यह ही उपाय है मोक्षमार्गमे बढ़नेका, मोक्षमार्गमे यह ही किया जाता है । इससे बस धर्मपर आस्था बनावें, मेरा जीवन धर्मके लिए ही है, विषयसाधनाके लिए मेरा जीवन नही है । ज्ञान ज्ञानरूप ही अपनेको निरखें, इसमे ही तृप्त हो, इस कैवल्यमे ही आनन्द मानूँ । ऐसा पौरुष करना चाहिए ज्ञानबलसे उसका फल अच्छा है और विषय साधनोमे यदि एक अपना पौरुष लगाया तो उसका फल कीडा मकोडा आदिक दुर्गतियोके घोर दु.ख सहना है । इससे अपना जीवन धर्मके रगमे रग देनेमे ही अपना हित है ।

त्यक्त्वा दूर विधुरपयसो दुर्गतिक्लिष्टकृच्छ्रान्,
लब्ध्वानन्द सुचिरममरश्रीसरस्या रमन्ते ।
एत्यैतस्या नृपपदसरस्यक्षय धर्मपक्षाः
यान्त्येतस्मादपि शिवपद.मानसं भव्यहसा: ॥१७८॥

(३८२) **धर्मके प्रसादसे उत्तरोत्तर उत्तमोत्तम पदकी प्राप्ति**—हे भव्य जीव अनर्थ दुरर्थ, व्यर्थ जो विषय साधनोंका मोह है उसको त्यागकर आनन्दधाम जो निजका स्वरूप है ज्ञानमात्र उस स्वरूपमें दृष्टि लगाना है याने धर्मधारणका पौरुष करना है । वे पुरुष कैसे कल्याण पाते है इसका विवेचन इस छदमे किया जा रहा है । एक दृष्टान्त द्वारा इसको बतला रहे कि जैसे कोई हस पक्षी जिसके उत्तम पख है, ऐसे अच्छे पंख वाले हस पक्षी जहाँ जलसे रिक्त हुआ जलाशय याने जिस सरोवरमे पानी नहा रहा ऐसे सूखे सरोवरको तो छोड देते है और किसी अन्य सरोवरमे जहा जहा पानी मिलता है वहा पहुच जाते है फिर उस सरोवरको भी छोडकर मानसरोवरमे पहुच जाते हैं । दृष्टान्तमे यह बतला रहे है कि हस सूखे जलाशयमे क्यो रहेगे ? उसे छोड देते है और पानी वाले जलाशयमे रहते है । वहा भी

उनका मन नही भरता। उसे भी छोडकर वे मानसरोवरमे पहुच जाते हैं। ऐसे ही ये भव्य जीव! दुर्गतिके क्लेशोसे जहा घोर सताप उत्पन्न होता है, ऐसे नारकादिक गतिरूपी सूखे सरोवरको तो त्याग ही देते हैं और देवगति जहा कुछ दु ख कम हैं, जहा कुछ धर्मका प्रसग है ऐसे सरोवरमे पहुचते है मायने स्वर्गादिकमे जन्म लेते है, पर उन भव्य जीवो का वहा भी मन नही लगता तो ऐसे ही यहा वहा भी उनका मन नही लगता है तो स्वर्गादिकसे मनुष्य होकर निर्ग्रन्थ हो सहजात्मध्यानवलसे चयकर वे अविनाशी मोक्षपदमे जाकर विश्राम करते है। यहा तीन बातें कही गई है— नरकादिक गति दुर्गति और स्वर्गादिक गति सद्गति और आनन्दधाम मोक्ष। तो नरकादिक गतियोको तो कोई नही चाहता। चाहते तो नही मगर कर्तव्य ऐसा करते है कि नरकादिकमे जाना पडता है। तो जो विवेकीजन हैं, भव्य जीव है, जिनको सार असारका विवेक हो गया वे नारकादिक दुर्गतियोमे जन्म नही लेते हैं। देखो क्या करना है? इतना तो सब जानते हैं कि हमने यह जन्म पाया। हमारी यह अवस्था हो गई। एक एक दिन जो व्यतीत होता है तो समझो कि उतना ही हम मृत्युके निकट पहुँच रहे है। और कोई समय ऐसा आयगा कि इस देहसे यह जीव निकल जायगा। इस देहसे लोग इतना प्यार रखते है यह देह लोगोके द्वारा ऐसा जला दिया जायगा कि वहाँ जो हड्डी जल नही सकती वे तो रह जायेंगी, बाकी सारा शरीर खाक हो जायगा, प्रेमी जन इसे बिना जलाये न छोडेंगे। रही जीवकी बात तो मेरे इस जीवको पहिचाने कौन? जो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप सहज अपने चैतन्यस्वरूपके कारण जो मेरा स्वरूप है उस स्वरूपसे प्रीति रखने वाला यहा कोई नही है और अगर होगी किसीको स्वरूपसे प्रीति तो वह स्वय समाधिप्रिय हो जायगा। उनके लिए मैं व्यक्ति अलगसे कुछ न रहा। तो ऐसा जानकर कि यह ससार विनश्वर है, जो कुछ मिला है समागम वह सदा न रहेगा, जो यह मैं हू वह सदा न रहेगा इस भवको छोडकर जाना पड़ेगा। तब फिर यहाके व्यामोहमे रहकर अपनी भावनाको बिगाडना नही। कोई भी बाह्य वस्तुका भीतरमें व्यामोह होना ही न चाहिए। हाँ देखो, परिस्थिति है, घरमे रहना होता है, बच्चोसे बात करनी होगी प्रीतिका व्यवहार करना होगा मगर श्रद्धान यह रखें कि मुझको जगतके अणुमात्रसे भी कोई प्रयोजन नही, ये सब बाहरी चीजें हैं, सब छूट जाने वाली बातें हैं। मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप हू, जिसको ऐसा विवेक जगा वह नारकादिक गतियोमे न जायगा। वह स्वर्गादिकमे जायगा और वहा भी कुछ समय रहकर मनुष्यभव पाकर सयमकी आराधना करके मुक्ति पायगा।

जायन्ते जिनचक्रवर्तिवलभृद्भोगीन्द्रकृष्णादयो
धर्मादिव दिगङ्गनाङ्गविलसच्छश्वद्यशश्चन्दना।

तद्धीना नरकादियोनिषु नरा दुःख सहन्ते ध्रुवं
पापेनेति विजानता किमिति नो धर्मः सता सेव्यते ॥१७९॥

(३८३) धर्म और पापके फलोंका अन्तर जानकर धर्मसेवनमें प्रीति करनेका कर्तव्य— धर्मके प्रभावसे मनुष्य कैसा आनन्द प्राप्त करते हैं और अधर्मसे, पापके प्रभावसे जीव किस प्रकारका कष्ट भोगत है, यह बात इस छदमे कही जा रही है। यह प्रकरण है स्वास्थ्यधर्म का धर्म किसे कहते हैं ? स्वास्थ्यको धर्म कहते हैं—लोग पूछते है—भाई आपका स्वास्थ्य अच्छा है न ? तो वह क्या जवाब देता है ? अगर निरोग है तो वह कहना है कि बहुत बढिया स्वास्थ्य है। अच्छा उसने सही जवाब दिया कि गलत ? तो देखिये पूछने वालेने तो यह पूछा था कि आपका स्वास्थ्य कैसा है मायने आप अपने आत्मामे स्थित रहते है या नही यह बात किस तरह बीत रही है ? तो वह क्या जवाब देता ? इस देहको देखकर कहता बहुत बढिया है। तो वह उल्टा जवाब देता है। वह तो पूछता है आत्माकी बात और वह कहता है शरीरकी बात इसका अर्थ है कि स्वस्थ न रहते हुए भी कह रहा स्वास्थ्य ठीक है। देखिये धर्मके बिना इस जीवका कुछ शरण नही। अपने आत्माके सत्य, स्वरूपको जानकर उसमे ही उपयोग रमाकर तृप्त रहना बस यह है धर्म। तो धर्मके प्रभावसे क्या होता ? देखो जिसकी धर्मकी दृष्टि है उसका जो भाव होता है, पुण्यभाव बढता है, दया, दान, उपकारके भाव बनते है उनको भी धर्म कहा करते है। जैसे किसी बडे राजाके साथ, मत्रीके साथ कोई छोटा पुरुष भी हो तो लोग उसका भी आदर करते हैं, उसे भी अच्छी दृष्टिसे देखते हैं। ऐसे ही आत्माका धर्म है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। जिस जीवके सम्यक्त्व हो गया, सम्यग्ज्ञान भी हो गया और अपनी शक्तिमाफिक सम्यक्चारित्रमे चल रहा, ऐसे जीवके जो शुभ राग होता है प्रभुमे, गुरुवोमे उसे भी धर्म कहा जाता है। वास्तविक धर्म रत्नत्रय है और व्यवहारसे धर्म कहा जाता है इन सासारिक धर्मप्रवृत्तियोको तो धर्मके प्रभावसे जीव चक्रवर्ती आदिक होता है जिसका यश रूपी चदन सदा दिशाओरूपी स्त्रीके शरीरमे सुशोभित होता है। अर्थात् जिसकी कीर्ति समस्त दिशाओमे फैल गई है। तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव, नागेन्द्र नारायण आदिक पद धर्मसे ही प्राप्त होते हैं। तीर्थकर पद क्या कहलाता ? जो तीर्थ मे प्रवृत्ति करता है, जिसने तीर्थंकर प्रकृतिका बध किया वह तीर्थंकर वाले मनुष्यभवमे आता उनके बडे कल्याणक मनाये जाते और जब केवलज्ञान हो जाता तो इन्द्र समवशरण रचता। लोग उनका दिव्यउपदेश सुनते, धर्मकी बडी महिमा फैलती। चक्रवर्ती क्या ? जैसे विशेष पुण्यवान राजा जो भरतक्षेत्रके छह खण्डमे राज्य करें, जैसे कहते है कि इस राजाके हजार गाव हैं ऐसे ही चक्रवर्तीके हजारो लाखो गाव हो जाते हैं, जिनपर इसका अधिकार होता। उसमे जब इतना प्रभाव है तो फिर जो विशुद्ध धर्म है स्वास्थ्यधर्म उसका तो अद्भुत प्रभाव

है । बलदेव क्यों कहलाते ? बलदेव बडे भाई और नारायण छोटा भाई । बलदेव होते हैं शान्तिप्रिय और नारायण होते हैं उग्रताप्रिय । बलदेव मोक्ष भी जाते है, स्वर्गमे भी जाते हैं। छोटे भाई नारायण तीन खण्डके राजा होते है और उनका प्रताप बहुत अधिक फैलता है, तब ही तो लोग नारायणको प्रभुके रूपमे मानने लगे । नारायण प्रभु नही हैं मगर प्रभु बनेंगे । जितने ये सिद्धशिलाके पुरुष है ये सब बडे पुरुष है । तो ये नारायण आदिकके पद धर्मके प्रतापसे प्राप्त होते हैं । धर्मसे रहित कोई मनुष्य हो तो निश्चत है कि वह तिर्यञ्च, नरक आदिक गतियोका भाजन होता है । कितने ही सागरो पर्यन्त तकके लिए इतनी खोटी गतियोका बध हो जाता है जिसका घोर दु.ख इस जीवको सहना करना पडता है ।

स: स्वर्ग: सुखरामणीयकपद ते ते प्रदेशा परा:
सारा साच विमानराजिरतुलप्रेङ्खत्पताकापटा ।
ते देवाश्च पदातय परिलसत्तन्नन्दन ता: स्त्रिय
शक्रत्व-तदनिन्द्यमेतदखिल धर्माय विस्फूर्जितम् ॥१८०॥

(२८४) धर्मके प्रकाशमें उत्तम अवस्थावोका लाभ—धर्मके प्रतापके सम्बंधमे चर्चा चल रही है । धर्म शब्दसे मतलब है रत्नत्रयधर्म और रत्नत्रयधारीके जो शुभभाव होते हैं उन्हें भी धर्म उपचारसे करते हैं । इसमे तो आप धर्मकी और अधिक महिमा समझें कि जब धर्मके साथ रहने वाले पुण्यका इतना प्रभाव है तो फिर धर्मके प्रतापका तो कहना ही क्या ? तो ऐसे ऐसे उच्च स्वर्गादिकके पद, जो कि सुखके द्वारा रमणीक हैं वे सब एक धर्मके प्रतापमे प्राप्त होते हैं । वे भी उत्कृष्ट हैं, जैसे स्वर्गादिकके वैमानिक देव हैं, ऐसी ऐसी उच्च स्थितियां धर्मके प्रतापसे प्राप्त होती हैं । देखो हम आपके पास तो आज इस भवमे कुछ भी वैभव नही है, उससे कितने ही गुणा वैभव पिछले भवोंमे प्राप्त हुए होंगे, पर आज वे कुछ काम दे रहे क्या ? सब बिघट गए । ऐसे ही ये आजके प्राप्त समागम भी सब विघट जायेंगे । इनमे व्यामोह करनेका फल है दुर्गतिका पात्र होना । देखिये यहांके बडे बडे ध्वजविस्तारसे सुशोभित देव सैनिकोसे शोभायमान बडे बडे ऊँचे पद धर्मके प्रसादसे प्राप्त होते हैं । धर्मका तो तत्काल फल होता । जब आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपमे वैसा ही ज्ञान जगे, उसका ही अनुभव बने, बाहरी पदार्थोंका कुछ भी विकल्प नही हो ऐसी उपयोगकी स्थिति बने तो देखो तुरन्त शान्ति मिलती कि नही ? कषायोंसे शान्ति नही मिलती । यहां तो लोग जरा जरासी बातमे कषाय कर बैठते, उसका फल क्या होता कि खुद भी परेशान होते और दूसरे लोग भी परेशान होते । कभी-कभी तो ऐसा देखनेमे आता कि किसी किसीको ऐसा ऐसा गुस्सा आ जाता कि उस गुस्सेमे वह जहर खाकर मरणको भी प्राप्त हो जाता, इन कषायोके कारण कितने ही अनर्थ रोज रोज

जगह जगह देखनेको मिलती हैं । इन कषायोके कारण खुद भी दुःखी रहते दूसरे लोग भी दुखी हो जाते । ये क्रोध, मान, माया, लोभादिक चारो प्रकारकी कषायें इस जीवके अनर्थके लिए हैं। यदि इस अनर्थसे बचना है और अपना वास्तविक आनन्द पाना है तो एक इस धर्म का ही शरण गहे । धर्म ही एक अपना वास्तविक सहारा है, दूसरा और कोई सहारा नही।

यत्षट्खण्डमही नवोरुनिधयो द्वि.सप्तरत्नानि यत्,
तुङ्गा यद्द्विरदा रथाश्च चतुराशीतिश्च लक्षाणि यत् ।
यच्चाष्टादशकोटयश्च तुरगा योषित्सहस्राणि यत्,
षड्युक्ता नवतिर्यदेकभुवदा तद्धाम धर्मप्रभोः ॥१८१॥

(३८५) **धर्मके प्रसादसे लोकोच्च अभ्युदय**—इस ग्रन्थमे इस प्रथम परिच्छेदमे धर्म का स्वरूप कहा जा रहा है । धर्मका स्वरूप ५ परिभाषाओंमे बतानेका सकल्प किया था । जीवदया धर्म है, दूसरी परिभाषा यह है कि मुनिधर्म और श्रावकधर्मके भेदसे धर्म दो प्रकार का है । तीसरी बात रत्नत्रयधर्म है याने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र धर्म है । चौथी बात उत्तम क्षमा आदिक दसलक्षण धर्म है और ५वी बात मोह क्षोभसे रहित विशुद्ध आनन्द-मय परिणति धर्म है । यहाँ चार परिभाषाओका वर्णन हो चुकनेके बाद ५ वें स्वास्थ्य नामक धर्मका प्रकरण चल रहा है धर्म है वास्तविक अर्थात् यही स्वास्थ्य, अपने आपके स्वरूपमे स्थिर हो जाना । तो इस स्वास्थ्यधर्मके वर्णनमे कुछ प्रसंगवश ऐसा वर्णन आ रहा है कि धर्मके रहते हुए जो थोडी सी गल्ती हो जाती है याने शुभ राग हो जाते हैं वे भी उपचारसे धर्म कहे जाते हैं और उस धर्मभावकी याने इस पुण्यभावकी क्या क्या महिमा है उसका प्रक-रण यह चल रहा है । यह धर्म प्रभुकी महिमा है याने जो धर्मधारण करता है उसकी यह महिमा है कि वह जीव चक्रवर्ती जैसी विभूतिको प्राप्त करता है । देखो पुण्यका फल तो जब-रदस्ती मिलता है । जैसे पापका फल जबरदस्ती मिलता है ऐसे ही पुण्य भी कहाँ जाय ? उदयमे आये तो वैसे ही सग समागम प्राप्त होते है जिसमे यह जीव साताका अनुभव कर सके लेकिन यह तो विचारो कि छह खण्डका सारे लोकका वैभव भी सामने आ जाय तो भी उस वैभवसे आत्माको मिलता क्या है ? विकल्प दुःख क्लेश । और एक वैभवकी निःसारता जान कर उससे उपेक्षा कर जो अपने आपके स्वरूपमे मग्नता होती है वहाँ जबरदस्ती सहजआनन्द प्राप्त होता है । याने यह उपादेय धर्म है, उपादेय स्थिति है, तो इस धर्मके होते हुए जो भक्ति का अनुराग रहता, दान दया परोपकारका अनुराग रहता वह भी एक व्यवहारधर्म है और उसका भी फल देखो कितना बडा है । छह खडकी पृथ्वी प्राप्त हो जाती । चक्रवर्ती ६ खण्डके राजा होते हैं, जैसे भरतक्षेत्रमे छह खण्ड हैं—१ आर्यखण्ड, ५ म्लेच्छखण्ड । उन सबमे इसका

हुकुम चलता है। इसी तरह ऐरावत क्षेत्रमें भी छह खण्ड हैं, वहाँ भी चक्रवर्तीका पूरा अधिकार है और भरतक्षेत्रके बाद एक हिमवान पर्वत निकलनेके बाद दूसरा क्षेत्र आता है वह भोगभूमि है, फिर दूसरा क्षेत्र आता है वह भोगभूमि है। विदेह क्षेत्रमे मेरुके आस पास तो भोगभूमि है और पूरब पश्चिमकी ओर कर्मभूमि है, जहासे सदा मुनिजन मोक्ष जाते रहते है तो वहा भी एक एक नगरसे यहो, देशमे कहो छह छह खण्ड पाये जाते हैं वहा भी चक्रवर्ती रहते है, तो छह खण्डकी पृथ्वी मिल जाना यह पुण्यका प्रसादसे होता है, यहा इतनी बात ध्यानमे रखना कि जैसा जो यथार्थ है उनका वर्णन किया जा रहा है। धर्मका महिमा है मुक्ति, पुण्यकी महिमा है लौकिक सुखकी प्राप्ति। ऐसा पुण्य जो धर्मकी ओर दृष्टि रखाये रहे यह ज्ञानी जनोके ही होता है। तो ज्ञानी पुरुषके धर्मभावके रहते सते जो कभी शुभ राग हो जाता है उसकी भी कितनी महिमा है।

(३८६) पुण्यफलमे उपेक्षाभाव रखकर धर्मभावमे बढनेका कर्तव्य— पुण्यकी महिमा जानकर भी बुद्धिको यो सावधान रखो कि सारे लोकका वैभव भी मेरे निकट आये तो भी मुझे उसमे कोई प्रयोजन नही। आत्मा तो अपने प्रदेशोमे अपने ज्ञानपरिणमनसे सुख दुख स्वय पाता है। बाह्य विभूतिसे मेरेमे कुछ आता जाता नही। जो मिला है सब छोड जाना है। अब उसका उपयोग भला बनाकर छोडा जाय तो उसमे आगे भी धर्म प्राप्त करनेकी आशा है और जो यहाँ ही रम जाते हैं उनका भविष्य सीधा नही है कि वे आगे धर्म पा सकें। निजको निज परको पर जान यह भाव अगर आता है तो समग्र वस्तुओका ज्ञानद्वारा त्याग हो गया। एक बुन्देलखण्डकी घटना है, राजा छत्रसाल जब बच्चे थे तो इस बच्चेपनमे ही दीन दु.खियो की मदद करना इसका स्वभाव था। एक बार उसकी माँ ने पूछा कि बोलो बेटा यह जो सामने पहाड है इस पहाडके बराबर हीरोका खजाना तुम्हारे पास रख दे तो तुम उस खजाने को कितने वर्षोंमे दान कर सकते हो ? तो वह बालक बोला कि मा, मैं तो इतने पहाडके ढेर बराबर जो हीरा रत्नोका समूह होगा मैं तो एक क्षणमे ही दान कर दूंगा, त्याग दूगा, अब उठाने वाले उसे कितने ही वर्षोंमें उठायें यह उनकी बात है। याने भावकी बात कही गई, जिसने अपने अन्तः यह समझ लिया कि मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हू। मेरा मेरे प्रदेशोस बाहर कुछ नही है ऐसा जिसने जान लिया उसको फिर बोझ कहा है, कष्ट कहा है ? ऐसे जीवके जो शुभराग, पच परमेष्ठियो की भक्ति, साधर्मी जनोमे वात्सल्य आदिक शुभराग रहते है उनकी महिमा देख लो कितनी बडी है और उससे पहिचान करलो कि फिर धर्मकी महिमा कितनी बडी होगी।

(३८७) पुण्यकर्मविपाकनिष्पन्न चक्रीवैभवका सक्षिप्त दिग्दर्शन—धर्मके प्रसादसे यह

जीव छह खण्डकी पृथ्वी प्राप्त करता है व ६ महान निधियाँ प्राप्त करता है जो निधियाँ चक्रवर्तीके हुकममे रहती हैं और बड़ासे बडा कार्य ये निधिया कर देती हैं। धर्मके प्रसादसे १४ रत्नोकी प्राप्ति होती है। जैसे उत्तम सलाहकार, उत्तम पटरानी और गृहपति उत्तम आदि चेतन और अचेतन इन सभीको रत्न कहा गया है। रत्न मायने केवल पत्थर ही नही, वह भी है, जो जो जिस जातिमे श्रेष्ठ होता है उस उसको रत्न कहा करते है। जैसे यहा किसीको जैनरत्नकी उपाधि दे दी गई तो क्या कोई यह कहेगा कि देखो पत्थरकी उपाधि दे दी ? रत्न पत्थरको नही कहते, किन्तु जो श्रेष्ठ हो जिस जिस जातिमे जो श्रेष्ठ हो उसे रत्न कहते। तो १४ रत्नोकी प्राप्ति धर्मके प्रसादसे होती। ऊँचे बडे-बडे हाथी और रथ ८४ लाख हाथी और उतने ही रथ, इनका लाभ इस धर्मात्मा जीवके होता है। देखो "जब जब धर्मात्माके ये लौकिक वैभव मिलते हैं" ऐसा कहा जाय, तो यह ध्यानमे रखना कि वास्तविक धर्म जो रत्नत्रय है उसके रहते जो भक्ति अनुराग दया परोपकार शुभ भावसे पुण्य कमाया उस शुभ भावका, पुण्य कर्मका यह फल है। चक्रवर्तीके १८ करोड घोड हुआ करते है। छह खण्डका राज्य है, अनेक जगह थाने तहसील और और सब फैले हुए है तो सबके घोडे मिलावो और खुदकी राजधानीमे जितने घोडे हैं वे सब १८ करोड घोडे है, इतनी बडी विभूति धर्मके प्रसादसे प्राप्त होती है। अच्छा यही देखलो छह खण्ड कितना बडा होता है ? भरत क्षेत्रमे जितना आर्यखण्ड हैं उसमे बहुत छोटे हिस्से आजकी परखी गई सब दुनिया आ गई लो आर्यखण्ड भी अभी कई हिस्से बचा रहा ऐसे ऐसे म्लेच्छ खण्ड भी ५ है, इन सबमे जो सरकारी आफीसर होते होगे सबके मिलकर क्या १८ करोड हो नही सकते ? अच्छा यह छोटी सी दुनिया अमरीका, रूस, जापान आदिक अच्छा बताओ इतनी जगह मेकितने घोड़े मिलेंगे ? लाखोकी सख्या तब भी होगी, तो ये १८ करोड घोडे, चक्रवर्तीका वैभव यह सब धर्म प्रभुके प्रसादसे है और ९६ हजार रानिया और एक छत्र राज्य इन सबकी प्राप्ति यह सब धर्मके प्रसादसे है, अर्थात् वास्तविक धर्मके रहते हुए जो शुभ भाव बनता, पुण्यकर्म बनता उसका ही फल है।

धर्मो रक्षति रक्षितो ननु हतो हन्ति ध्रुव देहिनां,
हन्तव्यो न तत स एव शरण ससारिणा सर्वथा।
धर्म प्रापयतीह तत्पदमपि ध्यायन्ति यद्योगिनो,
नोधर्मात्सुहृदस्ति नैव च सुखी नो पण्डितो धार्मिकात् ॥१८२॥

(३८८) धर्मकी रक्षासे धर्मपालककी रक्षा व धर्मके घातसे धर्मघातकका घात–देखो यदि रक्षित धर्म है अर्थात् धर्मकी रक्षा की गई हो तो ऐसा वह धर्म प्राणियोकी रक्षा करता

है। हम-धर्मकी रक्षा करेंगे तो धर्म नियमत. हमारी रक्षा कर देगा अर्थात् हम अपने भले भाव रखेंगे तो उसके प्रति भी यह ही व्यवहार बनेगा। तो रक्षा किया हुआ धर्म प्राणियोकी रक्षा करता है और घाता गया धर्म प्राणियो घातता है अर्थात् जो जीव धर्मसे हीन है तो उन्होने मानो धर्मको ही खत्म किया। तो यह खत्म किया गया धर्म इस जीवको बरबाद कर देता है, तब ऐसा जानकर कर्तव्य यह है कि धर्मका घात न करना चाहिए, कारण कि ससारी प्राणियो की सर्व प्रकारसे रक्षा करने वाला धर्म ही है। ससारके बडे-बडे नेता बन गए, ऊँचे ऊँचे ओहदे पर पहुच गए, अन्तर्राष्ट्रीयके भी कार्यकर्ता बन गए, इतना हो जानेपर भी इन बडोसे पूछो तो सही, उनके समीप निवास करके देखो तो सही क्या वे सुखी है, क्या वे निराकुल है ? नही हैं। एक कथानक है कि एक राजा रात्रिमे अपनी प्रजाके कर्तव्य और प्रजाकी स्थिति देखनेके लिए निकला । घूमता हुआ जब वह कुम्हारकी झोंपडीके पास आया तो वहाँ क्या देखा कि एक कुम्हार बड़े-खुर्राटे लेकर सो रहा था, नीद ले रहा था और जमीनपर ही पडा था, सिरहना भी हाथका ही लगाये हुए था। ऐसा देखकर राजा सोचने लगा कि सुखी तो यह है, मैं काहेका सुखी ? जिसको नीद न आये, बडे झझट लगे वह काहेका सुखी। अच्छा यह तो लौकिक घटना है, साधारण बात है। यहाँ तो अनुभवसे विचारो कि यदि आत्माका श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप धर्मकी रक्षा की जाती है तो देखो विकल्प हट गए ना ? बाह्यपदार्थका विकल्प रहा नही, तो ऐसी स्थितिमे आनन्द जाये कहाँ ? विवश होकर उस आनन्दको यही रहना पडेगा। तो धर्मकी रक्षा हो तो रक्षित धर्म प्राणियोकी रक्षा करता है। और, धर्मको हटा देवे, कोई धर्मको नष्ट करदे तो वह प्राणियोको नष्ट करता। इसलिए ससारी जीवोको एक मात्र धर्म ही शरण है।

(३८९) **धर्मके प्रसादसे सदाके लिये ससारसंकटोका प्रक्षय**—यह धर्म मोक्षपदको प्राप्त कराता है। आखिर एक सिलसिला ही तो है। जैसे देहातोमे प्राइमरी पाठशालाओमे जब छोटे छोटे विद्यार्थियोको अक्षर एवं गिनतियाँ गुरुजनोसे पढते हुए देखते है तो वहाँ ऐसा लगता कि यह क्या खेल हो रहा है ? यह क्या पढाया जा रहा ? जिसके विवेक नही है और अपने आपकी करतूतमे ही एक बुद्धिमानी मान रखी है वह यो सोचेगा मगर जो आज कल एम ए. हो गए, डाक्टरेट प्राप्त हो गए उनकी जड बहुत मूलमे कहाँ बनी थी ? वह एक इसी अक्षरविद्या और अकविद्यामे बनी थी, तो ऐसे ही मोक्ष पदकी प्राप्तिके लिए जो यह धर्म किया जाता है उससे अभी तो मोक्ष न हो जायगा मगर यहाँ रहेंगे, ऐसी दृष्टि रहेगी तो भविष्यमे भी इस धर्मका साथ मिलेगा और कही यदि एक दृढ सहनन हुआ तो उत्तम ध्यान करे वह मोक्ष पदको प्राप्त कर लेगा। तो यह धर्म मोक्षपदकी प्राप्ति कराता है। इसलिए हे

योगीजनो यह निर्णय करो कि धर्मसे अन्यत्र याने धर्मको छोडकर जगतमे कोई भी मित्र नहीं है, धर्मको छोडकर दूसरा कोई रक्षक नही है । धर्मात्माको कही क्लेश नहीं, क्योंकि उसके लिए उस ही का धर्मभाव सुखका कारण है । धर्मके सिवाय अन्य अन्य भावोमे रहने वाले जीव न तो सुखी हो सकते और न वे विवेकी कहलाते, भीतरमे दुःख पावेंगे । जिसने ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वरूप अपना निर्णय किया है उसका कितना स्पष्ट छेदन भेदन हो जाता है परभावोकी सधियोका । तो धर्म जिसने पाया है ऐसा ही पुरुष वास्तवमे सुखी है ।

नानायोनिजलौघलङ्घितदिशि क्लेशोर्मिजालाकुले,
प्रोद्भूताद्भुतभूरिकर्ममकरग्रासीकृतप्राणिनि ।
दुःपर्यन्तगभीरभीषणतरे जन्माम्बुधौ मज्जतां
नो धर्मादपरोऽस्ति तारक इहाश्रान्तं यतध्वं बुधाः ॥१८३॥

(३९०) **जन्मजलधिसे उत्तीर्ण करनेका धर्ममे सामर्थ्य**—इस छदमे यह बताया जा रहा है कि इस जीवका उद्धार करने वाला धर्म ही है । धर्मको छोडकर अन्य कोई भाव ऐसा नही कि जो जीवकी रक्षा कर सकने वाला हो । देखो एक दृष्टान्त द्वारा बतला रहे है कि मानो किसी सरोवरमे जहाँ बड़ी लहरे उत्पन्न हो रही हों, पुरुष मगरोके द्वारा खा लिए जाते हो, जो बडी गहरी है, जिनका पार पाना कठिन है, भयानक है, ऐसे जन्मरूपी समुद्रमे डूबते हुए प्राणियोंका उद्धार करने वाला धर्मको छोडकर अन्य कोई नहीं है, धर्म मायने मै ज्ञानमात्र हू ऐसा अपने आपमे विश्वास बने और ऐसा ही ज्ञान रखना और इस ज्ञानको निरन्तर बनाये रहना यह ही हुआ सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र । तो यह धर्म जब नहीं है तब यह जीव ससार समुद्रमे डूबता है । जैसे भयानक समुद्रमे कोई चाहे कि मैं निकल जाऊँ तो उसका निकलना कठिन है ऐसे ही इन ८४ लाख योनियोमे जो कि एक बडा समुद्र है वहाँ यह जीव डूबा हुआ है, जहाँ क्लेशकी बडी बडी लहरें उठा करती है ऐसे अत्यन्त गम्भीर भीषण जन्म रूप समुद्रमे जो डूब रहे हो उनको पार करने वाला धर्मके सिवाय अन्य कुछ नही है । यहीके यही अदाज सब बनाते जावो—भाव करो याने ज्ञानके विकल्प दूसरोको दुःखी करनेके हो तो बोलो यह खुद भी दुःखी हो जाता कि नही । ऐसे ही किसीकी निन्दा करनी हो तो अपने आपको बडी हिम्मत बनानी पडती, कुछ भीतर भयसा होता है, और किसीकी प्रशंसा करने खडे हो तो बडे मौजमे प्रसन्नताके साथ वह प्रशसाका कार्य कर लेगा और जो दूसरोके गुणो की प्रशसा करता है तो कुछ समझ तो है ना उस सम्बन्धमें तो वह प्रशंसक बडे आरामसे रहता, निन्दक बड़े कष्टमे रहता । यह सब संसार सारा कष्टोसे भरा है । सुख मिला हैं वह भी कष्ट, दुःख मिला हैं वह भी कष्ट । मात्र एक ज्ञाता द्रष्टा रहना ऐसा जो धर्मपालन है बस वही

एक आनन्दका उपाय है। तो ऐसे भयानक ससार समुद्रमे जहां क्लेशकी लहरें उठ रही हैं और जहां बडे बडे मगर फिर रहे हैं, अनेक प्राणियोको उन्होने ग्रास कर लिया है, ऐसे अत्यन्त गम्भीर जन्मरूपी समुद्रमे डूबने वालेको धर्म ही शरण है। धर्मको छोडकर अन्य कुछ शरण नही, इस कारण हे बुद्धिमान पुरुषो, एक इस धर्मके धारणमे पूरा प्रयत्न करो।

जन्मोच्चै कुल एव सपदत्रिके लावण्यवारां निधि-
र्नीरोग वपुरादिरायुरखिल धर्माद्ध्रुव जायते।
सा न श्रीरथवा जगत्सु न सुख तत्ते न शुभ्रा गुणा
यैरुत्कण्ठितमानसैरिव नरो नाश्रीयते धार्मिक ॥१८४॥

(३९१) **धर्मके प्रभावसे उच्चकुलजन्म, सम्पन्नता, नीरोगता, परिपूर्णायुष्कता निर्मलगुण आदिका लाभ**—धर्मका यह प्रताप है। धर्मभावके रहते हुए शुभभाव करने वाला दान, पूजा, स्वाध्याय तपश्चरण आदिक उचित चेष्टाओका करने वाला पुरुष क्या-क्या लाभ प्राप्त करता है, उसका कथन इस छदमे किया गया है। जो धर्मप्रिय पुरुष है, जिसको धर्म स्फुरायमान हुआ है उसको धर्मके ही प्रसादसे उच्च कुलमे जन्म होता है। उच्च कुल और नीच कुल दोनो कही एक नही हो सकते। जैसे आजकल इसकी बडी कोशिश की जा रही कि सभी कुलके लोग एक समान हो जायें, मगर ऐसा हो नही सकता। हाँ यह हो सकता कि उनमे भेद व्यवहार न बने। जैसे सब कोई चलते-फिरते मदद कर रहे हैं उस प्रकारसे जानो। तो ऐसे धर्मके प्रसादसे उच्च कुलमे जन्म होता। हाँ यह बात जरूर है कि किसी नीच कुल वालेको घृणाकी दृष्टिसे न देखें। अब इस तरहसे तो चलता ही रहेगा कि व्यवहारमे कोई बडा है, कोई छोटा है, कोई हुक्म चलाने वाला है, कोई हुक्म मानने वाला है, ऐसा भेद तो सर्वत्र मिलेगा। चाहे कोई कितना ही साम्यवाद ला दे, चाहे कम्युनिस्ट हो जाय जब सब हो जायगा, जब उनमे यह ईर्ष्या चलेगी, तो यह कोई लाभकी चीज नही, फिर भी पापके उदयसे उच्च कुल न मिलेगा। तो यह धर्मका प्रसाद है कि उच्च कुलमे जन्म हो, सम्पत्ति अधिक मिले, सुन्दर शरीर हो, निरोग शरीर हो। जिसके शरीरमे कोई रोग न हो तो इतना समझ लो कि कमसे कम ·००) महीना तो मुफ्तमे कमा रहे। कैसे कमा रहे ? यदि रोग होता तो डाक्टर, वैद्य, हकीम और दवा इनका खर्च बताओ कितना है ? बहुत अधिक है, और अगर नीरोग रहे तो उतना खर्च वैसे ही बच गया। वह सुख सातामे रहा। तो नीरोग शरीर होना, आयु सम्पूर्ण मिलना, बीचमे मरण न हो जाय ये सब बातें निश्चयसे धर्मके प्रसादसे प्राप्त होती हैं। वैसे देखो जगतमे ऐसी कौनसी श्री है, लक्ष्मी है, ऐसा कौनसा सुख है, कौनसा गुण है जो धार्मिक पुरुषको प्राप्त न हो। जिसमे उपयोग लगानेपर जो एक आत्मा

मे स्थिरता होती है, धैर्य जगता है वह सब धर्मका ही प्रताप है। धर्मी जीवको समस्त सुख है, लक्ष्मी है, उत्तम उसमे गुण होते है, ऐसा जानकर हे भव्य जन ! इस ही एक अपूर्व धर्म का सेवन करो। बात देखो थोडीसी है करनेके लिए और फल इतना है कि संसारका परिभ्रमण मिट जाय। धर्म और दूसरी तरह नही होता। क्या है वह धर्म ? अपने आपमे अपना ध्यान बनावे, चिन्तन बनावें, मैं ज्ञानमात्र हू, बस यही मैं सर्वस्व हू, इससे बाहर मैं क्यो उपयोग लगाऊँ ? हाँ परिस्थितिवश अगर करना पडता है वह तो ठीक है। वहाँ भी तो हृदय मे आशक्ति नही है, मगर सर्वत्र देख लो शुभ अशुभ भाव होगे तो वहाँ भी दुःख है और शुभाशुभ भाव जहाँ नही हैं, केवल एक आत्मीय आनन्दका ही उपभोग है वहाँ सब सुख है। कहते हैं ना कि धर्मके प्रसादसे सर्व सिद्धियाँ होती है, तो यह ठीक बात है, क्योकि धर्म जब चित्तमे आयगा तो यह बात समा जायगी कि जगतका कोई भी पदार्थ ग्रहण करने योग्य नही है। जब यह ध्यानमे आये तो अपने आप बाहरी पदार्थोंसे उपेक्षा होगी, और अपने आपके आनन्दधाम ज्ञानज्योतिस्वरूपमे प्रवेश होगा। यह ही है धर्मपालन यदर्थ मन, वचन, कायसे चेष्टायें की जा रही है। मतलब यह है कि धार्मिक पुरुषोको बडी-बड़ी लक्ष्मी, सुख, गुण ये सभी ऐसी उत्सुकतासे प्राप्त होते है कि जैसे उनको एक उत्कठा हुई कि मैं इस धार्मिक पुरुष का आश्रय लू याने उसे ये सब ऋद्धियाँ सिद्धियाँ प्राप्त होती है। हाँ तो बात यह कही जा रही थी कि जैनधर्म पाया, इच्छारहित, विकाररहित एक आनदधाम चैतन्यस्वरूपकी अनुभूति पायी उसकी जो धुन रखता है वह जगतमे किसी पदार्थकी चाह नही करता। तो चाह नही की उसीके मायने सिद्धि प्राप्त की। तो धर्मात्मा पुरुषको सर्वसिद्धि हो जाती है मायने किसी भी पदार्थकी चाह न रहे तो समझो कि सब कुछ मिल गया उसे। अगर चाह रहती है और बहुत कुछ मिला भी तो उसे सर्वसिद्धि नही कही जा सकती। तो जो धर्म है अपने आत्मस्वरूपका श्रद्धान करना, ज्ञान करना और उस ही स्वरूपमे रमण करना यह ही है स्वास्थ्य, जिसकी परिभाषामे यह सब अन्तिम कथन चल रहा है।

भृङ्गाः पुष्पितकेतकीमिव मृगा वन्यामिव स्वस्थली
नद्य. सिन्धुमिवाम्बुजाकरमिव श्वेतच्छदा· पक्षिणः।
शौर्यत्यागविवेकविक्रमयशः सम्पत्सहायादयः
सर्वे धार्मिकमाश्रयन्ति न हित धर्मं विना किञ्चन ॥ १८५ ॥

(३९२) **शूरवीरताका आश्रयधाम धार्मिक पुरुष**—जगतमे जितने भी श्रेष्ठ अङ्ग हैं, श्रेष्ठ तत्त्व है वे सभी धार्मिक पुरुषोका आश्रय करते है—जैसे शूरवीरता जिन जीवोने पूर्वभव मे धर्मसाधन किया, पुण्य बध किया, दान, दया, परोपकार आदिक करके जिन्होने विशिष्ट

पुण्य उपार्जित किया, ऐसे पुरुष शूर वीर बनते है। शूरता आना और क्रूरता होना उन दोनो मे बडा अन्तर है। कोई बलवान भी हो और क्रूर है तो भले ही वह कुछ विचित्र काम कर दे, किन्तु वह शूर नहीं। जो बलशाली हो, विवेक रखता हो, गरीब की रक्षा करता हो, अपना सतुलन रखता हो ऐसे पुरुषको कहते हैं शूर। तो यह शूरता धार्मिक पुरुषोका आश्रय करती है। अर्थात् धार्मिक पुरुष, पुण्यवान पुरुष शूर हुआ करते हैं। पुराणोमे पढा होगा, बडे-बडे पुरुष कोटिभट और बडे-बडे बलवान लोग आखिर पुण्यवान ही तो हुए। इस प्रकरणमे धर्म शब्दसे वास्तविक धर्मके साथ जो शुभ भाव लगे हैं—दया, दान, परोपकार, भक्ति आदिक वे ग्रहण किये जा रहे हैं। परमार्थधर्मके साथ होनेसे उनको भी धर्म शब्दसे व्यवहृत किया गया है। यह है व्यवहारधर्म, उपचरित धर्म और वास्तविक धर्म है स्वास्थ्य। सभी जीवोके लिये आचार्य, सतोकी करुणा होती है सो सबके सत्पथमे लगनेके लिये सभी प्रकारकी बातें कही जा रही हैं, क्योकि लोग जिनको हितका उपदेश दिया जा रहा है, अनेक प्रकारके होते हैं। कैसे भी वे धीरे-धीरे सन्मार्गमे आयें, उस तरहकी आचार्य सतोकी दया होती है।

(३६३) त्याग विवेक यश आदि गुणोंका आश्रयधाम धार्मिकपुरुष—त्याग भी धार्मिक पुरुषोका आश्रय करता है। त्याग वह कर सकता जिसको कुछ धर्म बुद्धि है। जिसके धर्म बुद्धि तो नही, किन्तु अन्य किसी कारण लोकमे मेरी पूजा हो या अन्य कोई भाव लेकर करे तो वह त्याग ही नही हैं। त्याग वास्तविक जो है वह धर्मके साथ ही मिलता है, विवेक क्या करना, क्या बोलना, कैसे चलना, इसका विवेक होना यह धर्मके साथ ही हो सकता है। जिसका हृदय पापिष्ठ है, धर्मके विरुद्ध है, क्षमा विनय आदिक गुणोमे समर्थ है ऐसे पुरुषको विवेक कहाँसे जग सकता है? तो विवेक नामका श्रेष्ठ तत्त्व धार्मिक पुरुषोका ही आश्रय लेता है। विक्रम पराक्रम यह भी धार्मिक पुरुषोमे ही मिलता है। वैसे बलवान तो बहुत होते हैं, हाथी भी बलशाली होता, सिंह भी बलशाली होता, भोटे भी बडे बलशाली देखे जाते, मगर उनका बल कोई बल नही कहा गया, क्योकि जिसके साथ ज्ञानबल न रहता हो वह बल कुछ बल नही है, वह तो अनर्थके लिए है। श्रेष्ठ तत्त्व कही अनर्थके लिए नही हुआ करता, इसी प्रकार जो अच्छे आचरणसे रहना है उसकी यश कीर्ति होती ही है। भले ही यो तो जब महावीर स्वामी थे उस वक्त भी लोग उनकी निन्दा करने वाले थे। यह मायावी है, छली है आदिक बातें तीर्थंकरोको भी लोग कहा करते थे मगर अविवेकी मूर्खों द्वारा कोई निन्दा हो तो वह निन्दा नही कहलाती, यदि कभी समझदारोके द्वारा भी निन्दाकी बात आ जाय तो समझो कि वहा यश नही है। यशकी प्राप्ति एक धर्मके साथ है। धन सम्पत्ति होना यह भी धार्मिक पुरुषोका आश्रय करती है। लोग कुछ ऐसी कल्पना करने लगे हैं कि आजकल तो

जो जितना अन्याय करता है हृदयमे लोग क्रूर हो, असत्य हो वे अधिक धन वैभव वाले देखे जाते, लेकिन एक तो उत्तर यह समझना कि व्यवहारमे सच्चाई समझ कर ही तो लोग उनको धन सौंपा करते है। दूसरी बात यह जानना कि जो कुछ यह दिखने वाला वैभव मिला है यह कोई वैभव नही है। चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदिक जो बडी बडी विभूतिके पद है यह पद जिन्होने धर्मसाधना किया, विशिष्ट, पुण्य उपार्जन किया उनको ही प्राप्त होती है। लोग सहायक बन जायें, दूसरोकी भी कुछ थोडी मदद करें, चिन्ता रखें, यह धर्मके साथ है। कोई पुरुष धर्मके विरुद्ध हो जाता है तो उसकी जिम्मेदारी कोई नही ले सकता, हाँ सदाचार से हो धर्मके साथ रहता हो, क्षमा, विनय, सरलता, निर्लोभता आदिक गुण हो, ऐसे पुरुषके सभी सहायक हुआ करते हैं। लोग सहायक बनें यह भी धर्मके साथ निभती है। जैसे उदाहरणमे देखिये भ्रमर होते है वे फूले हुए केतकीके वृक्षोका आश्रय लेते है, क्योकि उन भ्रमरोको वहा कुछ प्राप्त होता है उन्होने जिस बातसे मौज मान रखा वह मौज मिलता रहता है ना, तो वे भ्रमर केतकी वृक्षका सहारा लेते हैं. जहाँ निभाव हो सके, कुछ लाभ हो सके आश्रय तो वहा ही हुआ करता है। जैसे हिरण जगलमे जो उनकी निवास स्थली है, जहा उनका समूह रहता है ऐसे स्थानको मृग प्राप्त होते हैं। नदियां जिस समुद्रको प्राप्त होती हैं वहा ही जाकर उनकी अतिम स्थिति होती है अथवा जैसे हस पक्षी सरोवरका आश्रय लेते हैं, उन्हे अन्यत्र कही सतोष नही होता। इसी तरह यहा जितने भी श्रेष्ठ तत्त्व बताये गए है विवेक आदिक वे धार्मिक पुरुषोका आश्रय लिया करते है। बात सही है। धर्मके बिना इस जगतमे किसीको कोई कुछ नही है। धर्म वहा ठहरता है जहाँ अज्ञान न हो। जिसको वर्तमानमे पाये हुए समगपर अभिमान है मुझे अच्छे महल मिले, मेरी अच्छी आजीविका है, मेरा अच्छा वैभव है, मेरा बडा पुण्यका ठाठ चल रहा है। मैं बहुत ऊँचा हू, मैं सबसे उत्कृष्ट हू, क्यो किसीके आगे नम्र बनूं? ऐसी जिसकी भावना रहती है ऐसे पुरुषके हृदयमे धर्म नही ठहरता। जैसे खूब जोते हुए खेतमे बीज अकुरित होते है ऐसे ही विनयसे खूब जोते गए हृदयमें धर्मका अकुर उगता है। इस जीवका धर्मके सिवाय अन्य कोई सहायक नही।

सौभागीयसि कामिनीयसि सुतश्रेणीयसि श्रीयसि
प्रासादीयसि यत्सुखीयसि सदा रूपीयसि प्रीयसि।
यद्वानन्तसुखामृताम्बुधिपरस्थानीयसीह ध्रुवं
निर्धूताखिलदुःखदापदि सुहृद्धर्मे मतिर्धार्यताम् ॥१८६॥

(३९४) **सर्वापत्तिविनाशक धर्मके आश्रयसे अभीष्ट सिद्धि**— आचार्य सत सर्वसाधारण जनोको सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे भव्य जीव ! यदि तुम सौभाग्यसे रहना चाहते

हो, सबको प्रिय रहना चाहते हो, उत्तम भविष्यकी इच्छा करते हो तो धर्ममे बुद्धि लगाओ। यहाँ यह बात ध्यानमे रखियेगा कि धर्म तो वास्तवमे स्वास्थ्य ही है, जिसके प्रसगमे यह सब वर्णन चल रहा है याने आत्माके सहज स्वरूपका श्रद्धान होना मायने यही हित है, इस प्रकार की आस्था होना, उसका ज्ञान होना और उस ही की धुन रखना, उसमे ही रमण करना यही है स्वास्थ्य। उत्कृष्ट वास्तविक धर्म तो यही है, पर इस धर्मका जहाँ थोडा भी प्रादुर्भाव हो, जिसने इसका रास्ता समझा, ऐसे पुरुषको जो शुभ भाव हुआ करता है पचगुरुभक्ति, दीन दुखियोंपर दया, धर्मात्मा जनोंको देखकर प्रमोद आदि सब शुभ भाव भी धम कहे जाते है। यह व्यवहार धर्म है। अथवा जब स्वास्थ्यमे कोई ठहर नही पाता तब उसको क्या करना चाहिए ? ऐसा एक प्रश्न हो तो उसके उत्तरमे जो आये उसे भी धर्म सज्ञा दी गई है, क्योंकि आचार्य जन सबके हितकी बात चित्तमे रखते हैं। सभी जीव जो अत्यन्त विपरीत हो रहे हैं वे किस-किस प्रकारसे आ-आकर वास्तविक धर्ममें आयें ? तो यो सभी जीवोके प्रति दृष्टि रख कर कहा जा रहा कि हे भव्य जीव ! यदि तुम सौभाग्यकी इच्छा करते हो तो धर्ममे बुद्धि लगाओ। यदि तुम लौकिक सुखोकी इच्छा करते हो, निरन्तर आज्ञाकारिणी विनयशील स्त्री प्राप्त हो ऐसी बात चाहते हो तो धर्ममे बुद्धि लगाओ। देखो जैसे किसी बडे मिनिस्टरके साथ चपरासी भी रहता हो तो लोग उस चपरासीका भी आदर किया करते हैं तो ऐसे हो धर्मके साथ जो शुभभाव हुआ करते हैं वे शुभभाव भी इस लोकमे आदरके योग्य बनते हैं। और इसी तरह यहाँ आचार्यदेव कह रहे है कि हे भव्य जीव ! यदि तुम विनयशील पुत्रसमूहकी इच्छा करते हो यदि लक्ष्मी चाहते हो, सुख चाहते हो, तो धर्ममे बुद्धि स्थापित करो। जो जो लोकमें शुभ सुन्दर मनोज्ञ बातें समझी जाती हैं वे कही पापकार्य करनेके कारण नही मिलती, यह यहाँ ध्यानमे रखना है। ये सब हेय हैं। तो बात सही है कि ये सब वैभव यश, सुन्दर परिवार ये सब कुछ चीज नही हैं। आत्माके लिए हेय है, मगर यह तो बताओ कि ऐसा चीज क्या पाप करनेसे मिलती है ? बस यही एक सकेत इस छदमे दिया गया है। पाप करने से वैभव, सुन्दर परिवार आदिक नही मिला करते हैं, किन्तु पुण्यसे मिला करते हैं। और पुण्य कहाँ होता है, जहाँ थोडी बहुत धर्मकी बुद्धि हो, यह बात सर्व साधारण जनोको दृष्टि मे रखकर कही जा रही है। ससारके सुखोकी यदि इच्छा करते हो व रूप, प्रीति आदिक किसी भी लौकिक सुखकी इच्छा करते हो तो धर्ममे बुद्धि करो और अन्तमे यह कह रहे हैं कि यदि अनन्त आनन्दरूप अमृतके समुद्र ऐसे मोक्षकी इच्छा करते हो तो धर्ममे बुद्धिको लगाओ। देखो अपना कल्याण करनेके लिए केवल एक ही बात है। भीतरमे ऐसा दर्शन करो, अनुभव करो, ज्ञान बनाओ कि मैं सहज ज्ञानमात्र हू। ज्ञानके सिवाय और मैं कुछ नही हू। ऐसी जब

बुद्धि नही रहती और उपयोग बाहर-बाहर घूमता है तो यह जीव बड़े कष्टमें आ जाता है। जिसे कहते हैं स्वच्छन्दता, मनचाही प्रवृत्ति करना। अहो, देखो अज्ञानी जनोका भाव कि मन-चाही प्रवृत्ति करें स्वच्छंद रहें तो उसमे अपनेको बडा ऊँचा समझते है। तो जहाँ अहंकार होता है वहाँ ऐसी दुर्बुद्धि होती है और जो बडे पुरुष होते हैं, धर्मात्माजन होते है, वैभवशाली होते है ऐसे पुरुष प्रकृत्या विनयशील हुआ करते हैं। तो ये सब संसारके जितने भी सुख है ये धर्मके प्रसादसे है, और वस्तुतः वास्तविक धर्मका प्रसाद तो अनन्त आनन्दमय पद है, मुक्तिका स्थान है। तो यदि सर्वोत्कृष्ट आनन्द चाहते हो तो आत्माका जो धर्म है चैतन्यस्वरूप, ज्ञान-मात्र, उस स्वभावमे आदर करो, उस स्वभावमें रुचि बनाओ, वहाँ ही आस्था बनाओ, वहाँ ही रमकर अपनेको कृतार्थ समझो।

संछन्न कमलैर्मरावपि सरः सौधं वनेऽप्युन्नतम्
कामिन्यो गिरिमस्तकेऽपि सरसाः साराणि रत्नानि च।
जायन्तेऽपि च लेपकाष्ठघटिताः सिद्धिप्रदा देवताः
धर्मश्चेदिह वाञ्छितं तनुभृतां किं किं न सम्पद्यते ॥१८७॥

(३९५) **धर्मप्रभावसे अनेक अतिशयकारी लाभ**—आचार्य महाराज इस छंदमे कह रहे हैं कि यदि चित्तमे धर्म बस रहा है तो इन प्राणियोको, इन धर्मप्रेमी जीवोको क्या-क्या नही वैभव प्राप्त होते है? यह सब धर्मका प्रसाद है। धर्मके प्रभावसे मरुभूमिमे भी कमलो से व्याप्त सरोवर बन जाते हैं। मरुस्थल एक रजस्थान कहलाता है। अपने भारत देशमे एक प्रदेशका नाम है राजस्थान। उसे चाहे राजस्थान कहो, चाहे रजस्थान कहो दोनो ठीक हैं। राजस्थान का अर्थ है जहां बहुत राजा रहते हैं और रजस्थानका अर्थ है जहा धूल ही धूल पायी जाती है। तो जहा रज पायी जाती उसे कहते हैं मरुस्थल। वहां सरोवरका क्या काम, मगर धर्म का ऐसा प्रभाव है कि कोई धर्मात्मा पुरुष उत्पन्न हो ऐसे स्थानमे तो कहो मरुभूमिमे भी तालाबकी रचना बन जाय। हो ही जाता है ऐसा कि जहां आज पर्वत है कहो कालान्तरमे वहाँ समुद्र बन जाय और जहा आज समुद्र है कहो कालान्तरमे वहाँ पर्वत बन जाय। आप लोगोने धनकुमारकी कथा सुनी होगी, वह जब उत्पन्न हुआ तो उसकी नाल माने नाभिसे जो थोडीसी जुडी रहा करती है, उसे जहां गाडनेके लिए खोदा जाय वहीसे धन निकले। उसके ऐसा पुण्यका प्रताप था। अनेक लोग कहा करते है कि जब यह बच्चा गर्भमे आया तब ही से बडी सम्पदा प्राप्त हुई। तो सबका पुण्य अलग अलग है। पुण्यकी बात हुआ करती है तो धर्म के प्रभावसे मरुस्थल भी सरोवरसे युक्त हो जाते हैं। धर्मके प्रभावसे जगलमे भी उत्तम प्रसाद (महल) बन जाया करते हैं। देखो श्रीराम जब कपिलके घरसे चलकर बादमे जहा पहुचे ता

देवताओंने वहा नगरीकी रक्षा कर दी। कही पर्वतपर ही बहुत सुन्दर रचना बन गई। तो धर्मका प्रभाव ऐसा है। धर्म शब्द सुनकर दोनो ही बातें चित्तमें रखना। वास्तविक धर्मकी महिमा तो गायी जाती ही है, मगर उस थोडे बहुत वास्तविक धर्मके साथ जो शुभभाव होते हैं—भक्ति, दया, दान, पूजा आदिक ये सब भाव भी धर्म कहलाते हैं। तो लोगोको आचार्य सत किसी भी प्रकार शुभभावमे और शुभभावसे आगे बढकर शुद्ध भावमे लगाना चाह रहे हैं। धर्मके प्रभावसे पर्वतशिखरपर भी आनन्ददायक बल्लभायें प्राप्त होती हैं व श्रेष्ठ रत्न भी प्राप्त हो जाते हैं। राम लक्ष्मणके बनवासके बीच भी राजा लोग अपनी कन्याका विवाह करनेकी प्रार्थना करते थे और किसी-किसी प्रकार अनेक विवाह हुए. तो यह सब क्या है? यह सब धर्मका प्रसाद है। देखिये धर्म शब्दका अर्थ सही-सही रूपसे दोनो तरफकी बात सम्हालकर सुनना है। इसके अतिरिक्त और जितने अतिशय हैं जिनके धर्म है उनको प्राप्त होते हैं। देवता, मूर्तियाँ ये सब भी सिद्धिदायक होते है धर्मके प्रभावसे। कोई पुरुष अपने आत्माको तो निर्मल बनाना न चाहे और सिद्धिकी वांछा करे तो यह कैसे हो सकता है? तो यहाँ यह कह रहे कि धर्मके प्रसादसे सब प्रकारके अभीष्ट सिद्ध होते हैं, अत. धर्ममे बुद्धि लगाओ। इसके अतिरिक्त यह बताओ कि शुभभावमे शुद्ध भावमे, धर्ममे उपयोग न लगाये तो किस तरहसे दिन व्यतीत करना है सो तो बताओ? स्त्री-पुत्रादिकके बीच रहकर भी आनन्द न पायेंगे, ऊब जायेंगे। ससारके जितने भी सुख हैं उन सुखोको पाकर कोई निरन्तर भोग नही सकता, ऊब जायगा। वे सुख सदा रहते भी नही, किन्तु धर्म एक ऐसा पवित्र तत्त्व है कि इसमे रहते हुएसे मनुष्य कभी ऊबता नही, निरन्तर रहा करता है और वास्तविक धर्म जो आत्मस्वरूप चैतन्यभाव सहज ज्ञानस्वरूप है उसमे तो अनन्तकाल तक रमा जाता है। संसारके सुख ये यद्यपि सुख कुछ नही हैं, ये कष्ट हैं, मगर लोकमे माने गए जो वैभव उत्तम परिवार, विद्याका पाना, लोकमे यश आदिक ये सब पापके उदयमे तो नही मिलते। उसी बातको यहाँ समझाया जा रहा है। और सर्व साधारण जनोको पापकर्मसे हटाया जा रहा है।

दूरादभीष्टमभिगच्छति पुण्ययोगात् पुण्याद्विना करतलस्थमपि प्रयाति।
अन्यत्पुन· प्रभवतीह निमित्तमात्र पात्र बुधा भवत निर्मलपुण्यराशे· ॥१८८॥

(३९६) **पुण्ययोगसे अभीष्ट सिद्धि एवं पुण्य बिना हस्तगतकी भी हानि**—देखो पुण्यके योगसे जो-जो अभीष्ट पदार्थ हैं वे बहुत दूर हो तो भी धर्मात्मा जनोके पास, पुण्यवानोंके पास आ जाते है। देखो करणानुयोगमे बताया है—साता वेदनीयके उदयमे होता क्या है? तीन बातें होती हैं, जो इस पुरुषको अभीष्ट हैं, ऐसी वस्तुवें दूर हो तो मैं इसके निकट हो जाती हैं। क्या उपाय बनता है, कैसा योग बनता है? वह सब बनने लगता है। दूसरी बात

इन्द्रिय द्वारा सहज स्वरूपका अनुभव होता है । इसी तरह जब इसके साताका उदय होता है तो अभीष्ट चीजें दूर भी हों तो भी उसके निकट हो जाती हैं । यह खुद अनिष्टके पास पहुंच जाय या अनिष्ट इसके निकट आ जाय और तीसरी बात इन्द्रिय द्वारा सुखरूप अनुभव होना है, यह पुण्ययोग ही तो है । तीर्थंकर प्रभु जन्मते हैं, तो कहां तार लगा है कि वहां स्वर्गके इन्द्रके आसन कम्पायमान हो जायें, भवनवासी व्यन्तरके भवनोमे शंख, घटे बजने लगते और नारकी जीव भी क्षणमात्रको दुःखसे विराम पा जाते, यह सब क्या है ? इसका कौन रहस्य जानता ? पुण्य योगसे दूरसे भी अभीष्ट बात प्राप्त हो जाती है । कमसे कम इतनी बात तो भली है । पाप करना अच्छा नहीं है, उससे तो पुण्यमे लगा रहे कोई तो उस पापसे तो भला है, मगर उस पुण्यसे भी कोई आत्माका पूरा न पडेगा । उस पुण्ययोगसे ऐसा प्रसंग तो मिलेगा कि धर्मात्मा जनोका सत्सग भी मिले, वहां धर्मात्मा जनोकी बात भी सुननेको मिले और आगे बढ़ सके तो पुण्ययोगसे अभीष्ट बाहरी पदार्थ भी प्राप्त हो जाते हैं और पुण्य न हो तो हाथमे स्थित पदार्थ भी चले जाते है । कितनी ही घटनायें सुनी जाती हैं—अमुक आदमी २०-२५ हजार रुपये बैंकमे जमा करनेके लिए ले जा रहा था । कही उसकी कही ऐसी बुद्धि हो जाय कि वह अपना ही थैला किसी दूसरेको सौंप दे । तो हाथमे स्थित पदार्थ भी पापके उदयमे चला जाता है । इससे संसारके विषयोकी, वैभवोकी तृष्णा न करना, किन्तु अपने भावोको निर्मल बनाना । हाथ-पैरका चलाना यह धनार्जन नही करता, किन्तु जिसके धर्मभाव था, पुण्यभाव था, निर्मलभाव था उसके उदयका वह फल है कि धनार्जन उसको आसानीसे हो जाता है । तो कर्तव्य यह है कि अपने भावोको सम्हालें, तृष्णा न करें । तृष्णा करनेसे वस्तु पास नही आती, किन्तु धर्मभाव, पुण्यभाव करनेसे आती । अपने आपके समीप जो पुण्यबध हो उसके उदयमे ये सब अनायास प्राप्त होते हैं ।

(३८७) पुण्ययोगसे समृद्धिलाभ होनेपर भी लोक वैभवसे उपेक्षा होनेपर ही शाश्वत आनंदका लाभ— कोई पुरुष अपने शरीरकी छायाको पकड़ना चाहे, उसके पीछे दौड लगाना चाहे तो छाया पकडमे न आयगी, वह तो दूर ही भगती जायगी और कोई उस छाया की उपेक्षा कर दे, उससे दूर भगे तो वह छाया उसके पीछे-पीछे फिरेगी । तो ऐसे ही समझो कि ये सब ससारके वैभव, यह लक्ष्मीसयाग ज्ञानियोकी दृष्टिमे तो जीर्णतृणवत् है, फिर भी जो लोग चाहते हैं तो उनको ये तृष्णा करनेसे नही प्राप्त होते । अपने भाव निर्मल हो, भावो की सभाल हो तो ऐसा पुण्यबध होता कि ये स्वयमेव प्राप्त होते । आज ये मनुष्य थोड़े थोड़ेसे वैभवके लिए ललचा रहे है । अगर न ललचायें और धर्ममे बुद्धि रखें, धर्मात्माजनोका आदर रखें तो उसके ऐसा विशिष्ट पुण्य बँधता कि मरणके बाद तुरन्त ही अन्तर्मुहूर्तमे देवताओकी

ऊँची ऋद्धि सिद्धि, लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है। तो यहाँका यह सग तृष्णासे नही मिलता, किन्तु भावोकी निर्मलतासे ये ससारके संग प्राप्त हुआ करते हैं, ऐसा जिसके पुण्य है उसके पुण्य योगसे अभीष्ट पदार्थ दूर भी हों तो भी उसको प्राप्त हो जाते हैं पुण्यके बिना पाया हुआ भी सब कुछ नष्ट हो जाया करता है। ऐसी स्थितिमे वास्तविकता तो यह है लेकिन जो ऐसा समझा जा रहा है कि इसने उसकी सहायताकी तो वह सब केवल बाह्य निमित्त कहलाता है। समयसारमे बधाधिकारमे भली-भाँति समझाया है कि हे पुरुष तू व्यर्थका मिथ्या अध्यवसान मत कर कि मैं इसे सुखी करूँ, मैं इसको दुःखी कर दूँ...ये मिथ्या कल्पनायें हैं, क्योकि उन जीवोका जैसा पुण्य पापका उदय है, उसके अनुसार ही तो उन्हे सुख दुःख होगा। किसी दूसरेके कुछ सोचनेसे उन्हे कुछ नही होता। तू किसीका सुख सोचता है और उसके पापका उदय आये तो वह कैसे सुखी हो जायगा? तो यह सब हो रही पुण्य पापके प्रभावसे जीवोको सुख दुःखकी बात। पुण्य बंधसे यह सब ठाठ मिला है। ये जो माता पिता बधु मित्र आदिक विषयोके साधनोकी प्राप्तिके सहयोगी माने जाते हैं वे केवल बाह्य निमित्त हैं। वास्तविक बीज तो पुण्यकर्म है, ऐसा जानकर हे भव्य जीव! अपने निर्मल पुण्यरसके पात्र होओ। देखिये— पुण्य भी वास्तवमे वहा होता है जहाँ धर्मका प्रकाश मिल रहा। कोई पुण्यकी आशासे पुण्य करे तो क्या पुण्य बँध जायगा? नही बँधता क्योकि वह पुण्य नही करता? जहाँ यह आशा लगी है कि मैं अमुक धर्मकार्य करूँ तो मेरेको पुण्य बँध जाय, जिसका यो विपरीत आशय है भीतरमे अज्ञान बसा है उसके पुण्यबध कहाँसे हो सकता? हाँ कोई थोडा सा पुण्य काय कर दे जैसे किसी कुत्तेको रोटी दे दिया या चिडियोको कुछ दाने खिला दिया तो ऐसे लघु पुण्यकी बात नही कह रहे, किन्तु जो एक विशिष्ट पुण्य है वह धर्मके बिना नही प्राप्त होता। जिसके ज्ञान जगा है, धर्ममे बुद्धि जगी है उस पुरुषके शुभभाव हो तो उन भावोके फलमे विशिष्ट पुण्यका बध होता है। सो कह रहे हैं कि हे भव्यजनो तुम निर्मल पुण्य रसके पात्र बनो।

कोऽप्यन्धोऽपि सुलोचनोऽपि जरसा ग्रस्तोऽपि लावण्यवान्
नि प्राणोऽपि हरिर्विरूपतनुरप्याघुष्यते मन्मथः।
उद्योगोज्झितचेष्टितोऽपि नितरामालिङ्ग्यते च श्रिया
पुण्यादन्यमपि प्रशस्तमखिल जायेत यद्दुर्घटम् ॥१८६॥

(३६८) पुण्यविपाकमे समस्त श्लाघ्य दुर्लभ पदार्थोंकी प्राप्ति—पुण्यके प्रभावसे कैसा अतिशय और लाभ होता है इसका वर्णन इस छन्दमे किया है। कोई पुरुष अन्धा हो उसे भी अच्छे नेत्र प्राप्त हो जाते है पुण्यके योगसे, ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते है। पहिले न दिखता था, अब दिखने लगा। समवशरणमें तो अंधे भी आख वाले हो जावें लूले भी पैर वाले हो

जावें, कोई पुरुष अंधा हो तो वह भी अच्छे नेत्र वाला हो जाता है। यह सब पुण्यका प्रभाव है। यदि किसीके पापका उदय है तो यह सब उल्टा ही काम करता है। देखो जब द्वारिकापुरी भस्म हो रही थी उस समय श्रीकृष्ण और बलदेव दोनो भाइयोने चाहा कि हम अपने माता पिताको भी इस नगरीसे निकाल लें। जब लिए जा रहे थे माता-पिताको तो द्वारके फाटक एकदम स्वयं बंद हो गये। दोनो भाइयोने फाटक खोलनेका बडा प्रयत्न किया, पर खोल न सके, अन्तमे यह आवाज आयी कि ऐसे श्रीकृष्ण और बलदेव तुम दोनो भाई यहांसे भाग निकलो, तुम दो के सिवाय यहां कोई जीवित नही बच सकता है। बस श्रीकृष्ण और बलदेव निकल गए। तो जो लोग कुछ पुण्यका उदय पाकर अहंकार बसा लेते है उन बेचारोके इतना अज्ञान छाया है कि उन्हे यह पता नही कि इस पुण्यके फलका महत्त्व क्या है? पता नही आज मिला है, कल क्या दशा होगी? तो यद्यपि पुण्यका फल विश्वासके योग्य नही, फिर भी जगतमे जो कुछ प्रभाव यह सब देखे जा रहे है वह सब पुण्यका धर्मरुचि वाले मनुष्य का प्रभाव है। कोई मनुष्य बुढापेसे ग्रस्त हो गया तो वह भी सुन्दरताको धारण कर लेता है पुण्यका भाव हो तो होता है ऐसा। यही लोग जवानीभर तो रोगी रहे, दुबले पतले रहे और जवानी मिटी, बुढापा आया, अच्छे परिणाम वाला हो, पुण्यका उदय हो तो जवानीसे अच्छी अवस्था स्वस्थता बुढापेमे हो जाती है। और कोई मनुष्य वृद्ध है, समाधिमे लीन है उसके चार प्रकारके कर्म दूर हो गए, अरहंत हो गया तो अरहन्त होते ही बुढापा दूर हो जायगा और एकदम जवानकी तरह सुन्दर शरीर होता है। तो पुण्यका ऐसा प्रताप है कि कोई बुढापेसे ग्रस्त हो तो भी पुण्यके प्रतापसे सुन्दर शरीर वाला हो जाता है। पुण्यके प्रतापसे कोई निर्बल प्राणी है तो वह भी सिंहके समान बलवान हो जाता है। ये सब पुण्य पापके ठाठ है। कोई मनुष्य सदा बीमार रहता है, कोई दुर्बल रहता है, किसीके कोई चिन्ता लगी है तो यह सब पापका फल है, पुण्यका उदय हो तो सिंहके समान बलिष्ठ हो जाय, चिन्ता शल्य न रहे, यह सब पुण्यके प्रभावमे हो जाता है। और पुण्य भी कैसा? धर्मसहित पुण्यकी बात चल रही है साधारण पुण्यकी बात नही कह रहे। जिस पुरुषको वास्तविक धर्मरुचि है व सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रसे जो रुचिवान है उसके कोई शुभभाव होता है देवभक्ति, गुरुभक्ति, तो वहाँ जो पुण्य उपार्जित होता है उसका ही प्रभाव दिखाया कि इतना अतिशयशाली होता है। कोई पुरुष शिथिल शरीर वाला है, पीला चेहरा हो गया, हड्डियां निकल आयी, नशाजाल दिखने लगे, ऐसा ही पुरुष हो और उसका पुण्योदय हो तो वह कामदेवके समान सुन्दर हो जाता है याने सुन्दर देह वाला हो जाता है कोई पुरुष निरुद्योगी है इस कारण बडा दुःखी है, पुण्यका उदय आये तो वह पुरुष मालोमाल, लक्ष्मीवान हो जाता है। एक दो की बात क्या?

जगतमें जो कुछ भी प्रशसनीय पदार्थ है वे सब यहाँ दुर्लभ प्रतीत होते हैं, लेकिन वे सब दुर्लभ दुर्लभ पदार्थ भी पुण्यके उदयमे प्राप्त हो जाते हैं। यह चर्चा पुण्यकी जो चल रही है यह साधारण जनोंको पापसे हटानेके लिए और धर्मकार्यमें उमग दिलानेके लिए चल रही है।

बन्धस्कन्धसमाश्रितां सृणिभृतामारोहकाणामल
पृष्ठे भारसमर्पणं कृतवतां सचालनं ताडनम्।
दुर्वाच वदतामपि प्रतिदिन सर्वं सहन्ते गजा
निस्थाम्नो वलिनोऽपि यत्तदखिलं दुष्टो विधिश्चेष्टते ॥१६०॥

(३६६) **पापकर्मके फलमे अनेक क्लेश व अपमान**—अब जरा यहाँ पापके फलका चित्रण कर रहे हैं। देखो खोटे भाग्यकी, पापकी कैसी लीला है ? हाथी कितना बलवान जानवर होता है। उस सिहमे हाथीसे भी अधिक बल है मगर सिंहमे फुर्ती है, सिंहमे कला है। सिंह चंचल है सो हाथीसे कुछ कम वल वाला होकर भी हाथीके शरीरको अपने नखोंसे छिन्न-भिन्न कर देता है। इस कारण सिंहको बलवान कहा करते हैं, पर सिंहको भी शरीरके बलकी दृष्टिसे देखें तो हाथी विशिष्ट बलवान है। तो ऐसा बलवान हाथी भी देखिये कितने बधनमे पड जाता है। उसके पापका ही तो उदय है। बनमे रहता तो मनचाहे खेलता, वृक्षोंको उखाड फेंकता, मस्त रहता और किसी शिकारी द्वारा वह हाथी पकड लिया गया तो उसकी कितनी दुर्दशा है। उस हाथीके ऊपर महावत बडा बोझ रखता, उसे जहाँ चाहे इशारेसे बैठाकर उसके कान पकडकर सूडसे चढता, उसपर अकुशके प्रहार भी करता खोटे वचन भी बोलता। देखिये वह बेचारा हाथी कितना आधीन हो गया ? यहाँ बलवान हाथीका उदाहरण दिया जा रहा है। हाथी कितना बडा बलवान होता है फिर भी कैसा पापका उदय कि वह बडा साधारण कमजोर मनुष्यके भी आधीन होकर दुःख सहता है। ऐसे ही भैंसोमे (झोटोमे) भी बडा बल होता है मगर वे भी पापके उदयसे छोटे छोटे बालकोके आधीन भी बने फिरते हैं। तो यह संसार पुण्य व पापकर्मकी लीलाका फल है। ऐसा जानकर ससारके किसी भी पदार्थमे आसक्त न हो, मुग्ध न हो, सच सच बात समझते रहे। देखो वह तो जो करेगा सो पायगा। जो अपने ज्ञानमे ऐसी बुद्धि बनाले कि ससारके इन सारे समागमोंसे मेरेको क्या प्रयोजन मिलता ? कुछ नही, सबसे उदास हो, अपने आपके स्वरूपमे दृष्टि लगायें, वहाँ अनुभव करें अहपनेका मैं यह हू सहज ज्ञानमात्र, उसका तो उद्धार हो जायगा किन्तु जो इष्ट अनिष्ट समागमोमे विकल्प मचाकर हर्ष अथवा विषाद मानते है उनका भला नही होनेका। यह ससार पुण्य पापकी लीलाका स्थान है। देखो बडे बड़े बलवान हाथी भी एक दुर्बल महावतके आधीन हो जाते हैं। ऐसा जानकर पापसे चित्त हटाओ। पापका परिणाम स्वप्नमे भी न जगे, निष्पाप हृदय बने, किसी

का दिल न दुखायें, किसीको बुरे बोल न बोलें, किसीकी चीज न चुरायें, परस्त्रीपर कुदृष्टि न करें, लालच तृष्णा न रखें, ऐसा निष्पाप बनकर रहे कोई जीवनमे तो इस जीवनमे अगर दरिद्रता आये और दुःख आये तो उसके लिए एक परीक्षणके समान है। इन कठिनाइयोसे दबकर भी धर्मको न छोडता हो वह मनुष्य तो बडा एक विशिष्ट पुण्यवान बनता है। तो पापकर्मसे बचना यह हर स्थितिमे कर्तव्य है।

सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पदामायते
संपद्येत रसायनं विषमपि प्रीति विधत्ते रिपुः।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनस· किं वा बहु ब्रूमहे
धर्मो यस्य नभोऽपि तस्य सततं रत्नैः परैर्वर्षसि ॥१६१॥

(४००) **धर्मके आश्चर्यकारी प्रभाव**—धर्मात्मा प्राणीके लिए विषैला साँप भी हार बन जाता है। कथानक भी तो है सती सोमाका, उसका चित्त धर्ममे रहा करता था। जैन शासनके कथनानुसार वह अपनी चेष्टा रखती। दिनमे खाना, रात्रिभोजन न करना, देवदर्शन का नियम, जल छानकर काममे लेना। पर व्याही थी वह धर्मरहित पुरुषके यहाँ। वहाँ उसे रात्रिमे खानेके लिए जोर दिया जाता और और भी पापकार्य करनेके लिए जोर दिया जाता मगर उस सोमाने अपना मन विचलित न किया। आखिर पतिने क्या किया कि एक सपेरे से कहकर किसी एक घडेमे विषैला सर्प रखवा दिया और घडेको ढका दिया, उसको फूल पत्तोसे खूब सजा दिया और सोमासे यह कहा कि देखो इस घडेके अन्दर हार रखा है वह तुमको पहननेके लिए रखा है। अब सोमाको प्रतीति तो थी भगवानकी और आत्माकी प्रतीति थी ही। णमोकार मंत्र बढकर उसने घडेमें हाथ डाला तो उसके अन्दरसे सुन्दर हार निकला। उस विषधर सर्पका वहां पता नही। तो ऐसे ऐसे अतिशय भी देखे जाते है धर्मके प्रतापसे। कोई विष पी ले तो कहो धर्मके प्रतापसे वह भी अमृतका काम करे। हमने किसी को सुना है कि कोई बडा रोगी था उसने बडी बडी औषधियां की, पर उसका रोग दूर न हुआ। आखिर अन्तमे उसने मिट्टीका तेल पी लिया तो उसका वह सारा रोग दूर हो गया। तो आखिर यह उसके पुण्योदयकी ही तो बात है। धर्मके प्रतापसे शत्रु भी प्रीति करने लगते है। देखिये रावणका भाई विभीषण पहले श्रीरामका कितना बडा शत्रु था। जब उसने सुना कि हमारे भाई रावणकी मृत्यु जनककी पुत्री और दशरथके पुत्र द्वारा होगी तो विभीषणने यह प्रतिज्ञा किया कि मैं दशरथ और जनक दोनोका सिर उडा दूँगा तब फिर न और म होगे, न सीता होगी और न मेरे भाई रावणकी उनके द्वारा मृत्यु होगी। यह सोचकर निकल पडा दशरथ और जनकका सिर उडानेके लिए। उधर मंत्रियोने यह मंत्रणा की कि राजा दश-

रथ और जनकको कही छिपा दिया और उनके ठीक ठीक उसी शक्लके लाखके पुतले बनवा कर रख दिया। विभीषण वहां पहुचा और उन्ही पुतलो दशरथ व जनक जानकर उनका सिर उडा दिया और उनके सिरको समुद्रमे फेंक दिया। और यह समझ लिया कि दशरथ तथा जनक अब जीवित नही रहे। वही विभीषण रिपु अन्तमे सीताहरणके प्रसंगमे अपने भाई रावणका पक्का विरोधी बन गया और श्रीरामसे आ मिला। श्रीरामकी बडी मदद की। तो पुण्यके उदयमे शत्रु भी प्रीति करने लगते हैं।

(४०१) **हित मित प्रिय वचन बोलनेका पवित्र कर्तव्य**—देखो मनुष्यका हर परिस्थितिमे यह कर्तव्य है कि सदा हित मित प्रिय वचन बोले। चाहे बीमार हो तो, राजा बन जाय तो, दीन हो तो, नेता बन जाय तो, साधु हो तो, कुछ भी स्थिति हो, बोलें तो हितकारी और प्रिय वचन बोलें। जरा इसीकी ही गांठ बांधकर तो जीवनमे कोई चल ले। कितना आनद पायगा। भैया यदि जीवनमे क्रोध उमडे तो उससे अपने दिलको दुखी कर डालें, मगर दुर्वचन न बोलें। अपना दिल अपने पास है दुखी कर दिया तो क्या हुआ? कुछ समय बाद दिलको समझा लिया जायगा, दुःख दूर हो जायगा, मगर खोटे वचन बोलकर, दूसरोके हृदय मे बाणकी तरह वेध दिया तो आखिर जीव तो दूसरा भी है, वह क्या जवाब न देगा? फिर और लोग क्या जवाब न देंगे? तो हर स्थितिमे मुख्य कर्तव्य है कि वह हितकारी और प्रिय वचन बोले। फिर तो शत्रु भी प्रीति करेंगे। और की तो बात क्या? जो धर्मात्मा पुरुष होते है उनके वशमे देव भी प्रसन्न चित्त वाले रहा करते हैं। देव हुक्म माना करते है धर्मात्मा पुरुषोका। इस जीवनमे एक धर्म ही अपना रक्षक है। धर्म क्या? आत्माका सहज सत्य स्वरूपका श्रद्धान करना, इसमे आस्था बनाना कि मेरा हित इसीमे है। जो अपनेको ऐसा स्वीकार करले कि मैं तो एक सहज ज्ञानमात्र हू, और और रूप जो बन गए है यह कर्मकी लीला है, मेरा स्वरूप नही। अपने स्वरूपसे अपना लगाव बने, उसके विशिष्ट पुण्यका बध होता है शुभ भाव होनेपर। तो ऐसे पुरुषके प्रति देव भी प्रसन्न चित्त होकर वशमे रहा करते हैं, और तो बात ही क्या कही जाय? बहुत कहनेसे क्या?

(४०२) **धर्मके प्रभावसे अनचिन्ते लोकश्रेष्ठ पदार्थोका लाभ**—जो-जो भी श्रेष्ठ श्रेष्ठ चीजें हैं वे सब धर्मात्मा पुरुषोका आश्रय करती है। जिसके पास धर्म है उसके ऊपर आकाश भी सुन्दर रत्नोकी वर्षा करता है। धर्मकी ही तो बात है। एक लकडी ढोने वाला पुरुष था उसे मुनि महाराज मिल गए जगलमे। वह बडी प्रीतिसे, विनयसे बैठ गया। मुनि महाराजने उसे उपदेश दिया और कहा—देखो तुम णमो अरिहताण यह जाप जपा करो, इसीका ध्यान किया करो। उसके मनमे बात समा गई। वह घर आया तो उससे जो कोई कुछ कहे वह यह

कहे—णमो अरिहंताणं। वह अब न जंगल लकडियाँ बीनने जाये न कोई कामकी फिकर। स्त्री कहती—अरे ऐसे कैसे काम चलेगा। बच्चे क्या खायेंगे ? तो वह लकडहारा कहता—णमो अरिहंताणं। यों स्त्री जो जो कुछ कहे बस लकडहारा यही कहे—णमो अरिहंताणं। इस तरहसे दो-चार दिन बीत गए। एक दिन स्त्रीने खीर बनायी, उसे खानेके लिए कहा तो वह बोला—णमो अरिहंताणं, जब परोस दिया खीर और कहा कि खा लो खीर तो फिर वह बोला—णमो अरिहंताणं। अब तो स्त्रीको ऐसा गुस्सा आया कि जलती हुई अधजली लकडी (लूगर) उठाकर उस लकडहारेके सिरपर मारा। लकडी फट गई और उसमेंसे बीसों रत्न बरसे। यों लकडहारा मालोमाल हो गया। अब तो वह करोडोंका धनिक बन गया। एक दिन पासकी किसी सेठानीने लकडहारेकी स्त्रीसे कहा—बहिन यह तो बताओ कि तुम इतनी जल्दी धनिक कैसे बन गई ? तो उसने सारा हाल सेठानीसे कह सुनाया कि हमारे पति को एक बार णमो अरिहंताणं की धुन हो गई, उनसे कुछ भी कहे तो वह कहते—णमो अरिहंताणं। मैंने एक बार खीर बनायी, खानेके लिए कहा तब भी बोले—णमो अरिहंताणं। मुझे गुस्सा आया तो जलती हुई अधजली लकडी उसके सिरपर मारी तो हुआ क्या कि वह लकडी फटी और उसमेसे बीसो रत्न बरसे, तबसे मैं मालोमाल हो गई। अब सेठानीके मन मे आया कि यह तो धनिक होनेका बडा अच्छा तरीका मिला। ऐसा ही मैं भी करूँगी। यह सोचकर सेठानीने सेठसे कहा—मुझे बडी जल्दी धनिक बननेका एक उपाय मिल गया। अब तुम ऐसा करो कि मैं जो कुछ कहू सो तुम णमो अरिहंताणं कह दिया करो, बस मैं काम बना लूंगी।....ठीक है। अब सेठानी जो कुछ कहे तो सेठ कहे—णमो अरिहंताणं। सेठानी ने खीर बनायी, खानेको कहा, तो सेठ बोला—णमो अरिहंताणं। सेठानीने सेठके सिरपर लूगर मारा, पर वहाँ रत्न कहाँ थे ? वहाँ तो कोयला बरसा। अब भला बताओ कहीं किसी की नकल करनेसे रत्न बरस सकते। पुण्यका उदय हो तो बरसें। जब पुण्यका उदय होता तो आकाश भी रत्नोंकी वर्षा कर देता।

> उग्रग्रीष्मरविप्रतापदहनज्वालाभितप्तश्चिरं
> यः पित्तप्रकृतिर्मरौ मृदुतरः पान्थः पथा पीडितः।
> तद् द्राग्लब्धहिमाद्रिकुञ्जरचितप्रोद्दामयन्योल्लसत्
> धावेश्मसमो हि संसृतिपथे धर्मो भवेद्देहिनः ॥१६२॥

(४०३) दृष्टान्तपूर्वक संसारकार्यमे प्राणीके लिये धर्मकी संतापहारिता—धर्मके प्रताप से लौकिक और पारलौकिक अनुपम सुख प्राप्त हुआ करते है। देखो मरुभूमिमे भी चलने वाला कोई सुकुमाल पथिक हो, जब कि भयकर ग्रीष्मके दिन हो, वैशाख जेठके दिनोका तप्ता

यमान सूर्यका ताप निकल रहा हो, ऐसी बडी ज्वालामें संतप्त होकर बहुत देरमें मार्गमें चल रहा है तो अब देखो उसको कितना कष्ट है ? एक तो मरुभूमिमें जा रहा, नीचे बडी गर्म रेत, दूसरे बहुत देरसे चल रहा तो श्रम भी करता है, तीसरे दोपहरकी धूप थी, ऐसे दुःखमें पडे हुए मनुष्यको अगर चलते चलते हिमालय पर्वतकी लताओंसे निर्मित फव्वारोंसे कोई शीतल जलकी किरणें बरषें तो एक अपूर्वसुखका अनुभव होगा, ऐसे ही ससारमार्गमें चलते हुए प्राणीके लिए अपूर्व सुखका अनुभव धर्मसे होता है । जिसने सच्चाई समझ ली कि जगतके सब पदार्थ स्वतत्र है, अपनी अपनी परिणतिसे परिणमते हैं । किसीका सत्य किसी अन्यमें नही है । सब स्वतत्र है । सभी अपनी अपनी परिणतिके धनी है । मेरा अन्य कौन है और दूसरा मेरेको क्या आनन्द दे देगा ? सत्य जिसने जान लिया है अपने आत्माके अन्तः बसे हुए धर्मका आश्रय करता है और ऐसे प्राणीको अभूतपूर्व सुखका अनुभव होता है ।

संहारोग्रसमीरसंहतिहतप्रोद्भूतनीरोल्लसत्
तुङ्गोर्मिभ्रमितोरुनक्रमकरग्राहादिभिर्भीषणे ।
अम्भोधौ विधुतोग्रवाडवशिखिज्वालामराले पतज्-
जन्तो· खेऽपि विमानमाशु कुरुते धर्मः समालम्बनम् ॥१६३॥

(४०४) विषम समुद्रमे गिरने वाले जन्तुके लिये धर्मका विमानके समान अवलंबन—देखो एक दृष्टान्त दे रहे हैं—घटना बतला रहे हैं कि किसी पुरुषको समुद्रमे पटक दिया जाय और वह कैसा समुद्र कि जिसमें तेज वायुके चलनेसे ५–७ फिटकी ऊँची लहरें उठती हैं और उस जलमे ऐसी तरगें उठती कि उसमे रहने वाले मगरमच्छ भी ऊँचे उठ वैठने हैं । ऐसा खूब लहरोसे व्याप्त कोई समुद्र है जिसमे मगरमच्छ आदिक हिंसक जलके क्रूर जीव बसे हैं, बड़ा भयानक है वह समुद्र और जिसमे यत्र तत्र बडवाग्नि उत्पन्न होती है याने समुद्रमे अग्निकी तरह सताप होता है, ऐसी अग्निकी तरह बडवाग्नि होती है । जलकी अग्निसे ही तो पनचक्की चला करती है । पानीसे चलने वाली चक्की पहले ऐसे ही चलती थी और अभी भी कुछ जगह ऐसे ही चलती हैं । तो जैसे कही नहर है, वहाँ तेज पानी गिर रहा है उनसे चला करती है पनचक्की तो जलकी रगडसे ही देखो कैसा एकताप उत्पन्न होता है कि चक्की चल उठती है । यह तो कोई बडी बात नही है, मगर समुद्रमे बहुत तेज बडवाग्नि होती है तो बडवाग्निकी ज्वालासे भयानक ऐसे समुद्रमे किसी मनुष्यको पटक दिया जाय तो बताओ आशा है क्या उसके बचनेकी ? नही है आशा, लेकिन अगर वह धर्मात्मा पुरुष है तो शीघ्रता से आकाशमे एक विमान बन जाता, वहाँ सिहासन हो जाता । वह समुद्रमे नही मरता । एक कथानक है कि किसी चाण्डालने चतुर्दशीके दिन जीववध न करनेका नियम ले रखा था ।

अष्टान्हिकाके दिन थे सो वहांके राजाने अपने राज्यमे यह घोषणा करा दी कि इतने दिनोमें कोई भी व्यक्ति किसी जीवका बध न कर सकेगा। आखिर उसकी आज्ञाका उल्लंघन उसके ही पुत्रने कर दिया तो राजाको राज्यके नियमानुसार अपने पुत्रको भी वही दण्ड देना पडा जो नियम सबके लिए था। राजाने उस चाण्डालको हुक्म दिया कि ऐ चाण्डाल तू मेरे इस पुत्रको शूलीपर चढाकर मृत्युदण्ड दे दे तो वह दिन था चतुर्दशीका सो चाण्डाल बोला—महाराज, आज तो मैं यह हिंसात्मक कार्य नही कर सकता क्योकि आजके दिनका तो मेरा नियम है कि मैं चतुर्दशीको हिंसा न करूँगा। तो राजाने क्रोधमे आकार उस चाण्डालको तथा अपने उस पुत्रको दोनोको भयकर समुद्रमे गिरवा दिया। फल क्या हुआ कि वह पुत्र तो मर गया और उस चाण्डालको सिहासन मिला। तो जहां धर्म है ऐसे पुरुषको तो ससार सागरमे कोई डूब रहा है तो उसका धर्म ही उद्धार करता है। जैसे यहां सागरमे गिर गए चाण्डालको उस के पुण्यने ही तो मदद की। तो यह स्वास्थ्यधर्मका प्रकरण चल रहा है। इस परिच्छेदमें धर्म की ५ परिभाषायें कही गई थी जीवदया धर्म है, गृहस्थ और मुनिधर्मके भेदसे दो प्रकारका धर्म है रत्नत्रय धर्म है, उत्तमक्षमा आदिक दस लक्षण धर्म है और मोह क्षोभसे रहित आत्माकी विशुद्ध आनन्दमय परिणति मेरा धर्म है। इस ही वास्तविक धर्मकी व्याख्याका प्रसग है। उपसहार रूपसे लोगोकी रुचि बने इस तरहका व्याख्यान चल रहा है कि पुण्यके प्रतापसे जगतमे कौन कौनसा सुख असम्भव है जो इसे न मिले। इसकी प्रत्येक आकांक्षायें पूर्ण हो जाती हैं, अतिशय प्राप्त होते हैं और अन्तमे पुण्य पापसे हटकर एक वीतरागधर्मको प्राप्त करके यह आत्मा मुक्तिको भी प्राप्त कर लेता है।

उह्यन्ते ते शिरोभि· सुरपतिभिरपि स्तूयमानाः सुरोघै-
र्गीयन्ते किन्नरीभिर्ललितपदलसद्गीतिभिर्भक्तिरागात् ।
बम्भ्रम्यन्ते च तेषां दिशि दिशि विशदाः कीर्तय: का न वा स्यात्
लक्ष्मीस्तेषु प्रशस्ता विदधति मनुजा ये सदा धर्ममेकम् ॥१६४॥

(४०५) **धार्मिक पुरुषोको सर्वविधसमृद्धिलाभ**—स्वास्थ्यधर्मके बारेमे वर्णन बहुत पहले से चला आ रहा है। अब उपसंहारके रूपमे कुछ उपदेश चलेगा। आचार्यदेव कहते हैं कि जो मनुष्य सदा अद्वितीय धर्मका आश्रय लेते है उनकी देवसमूह स्तुति करते हैं। वह अद्वितीय धर्म क्या है? आत्माके सहज स्वरूपका जानना, उसकी आस्था होना और उसहीमे रमण होना यही है अद्वितीयधर्म। जो इस अद्वितीयधर्मका आश्रय करते है उन्हे इन्द्र भी नमस्कार करते हैं और देवोके समूह उनकी स्तुति करते हैं। भला यह बतलाओ कि जब अरहंत भगवान होते है, समवशरणमे विराजमान है क्या वजह है कि मनुष्य भी भाग भागकर समव-

शरणमे उपदेश सुनने पहुचते है, मुनि अर्जिका भी, चारों प्रकारके देव भी और तो क्या ये मेढक, ये पशु पक्षी गाय, भैंस, हस आदिक सभी उस समवशरणमें पहुंचते हैं। तो इतना जो आकर्षण है, देव जो इतना आकर्षित होते हैं अरहत भगवानके प्रति, तो उसका कारण क्या है ? वह आत्मा वीतराग सर्वज्ञ सर्व दोषोंसे रहित है और ऐसा ही सबका स्वरूप है, इसी कारण सब अपना-अपना भला चाहने वाले देव वगैरह समवशरणमे पहुंचा करते हैं, क्योकि उन्होने अद्वितीय धर्मका पालन किया था। प्रभुका अद्वितीयधर्म मायने प्रभुका सहज ज्ञानस्वरूप, उसमे ही आदर, रुचि, वोध, मग्नता यह है अद्वितीयधर्म। यही प्रभुने किया था जिसका फल उन्हे प्राप्त हो गया। वे स्वयं धर्ममूर्ति कहलाने लगे। ऐसे धर्ममूर्तिके प्रति किसका आकर्षण नही होता। जीवका स्वभाव वडा महत्त्वशाली है। अन्तमे जीवको सतोष होता है तो अपने आपके स्वरूपके दर्शनमे सतोष होता है। वाहर कितना ही सग प्रसग मिल रहा हो, खूब सुखके साधन भी मिल रहे हो फिर भी जी (मन) ऊब जाता है और प्रसगोमे जो-जो भी कष्ट आते हैं उनसे घबडा जाते हैं। सांसारिक सुखके साधनोमे इसका हित नही है। इसका हित है अद्वितीय धर्मके आश्रयमे जिसकी तुलनाका और कोई तत्त्व नही हो सकता। ऐसे अनाकुल स्वरूप सहज चैतन्यमात्र तत्त्वमे जिनकी बुद्धि रहती है, ज्ञानोपयोग रहता है उन्हे इन्द्र सिरपर धारण करते हैं, देव लोक उनकी स्तुति किया करते हैं और जो देवियां है, किन्नरियां है वे सुन्दर सुन्दर वचनोसे उत्तम उत्तम जो गीत हैं उनके द्वारा भक्ति पूर्वक गुणगान करती है। देखो एक अपने आपके स्वभावका परिचय हुआ उसको ये सब ऋद्धियां स्वय प्राप्त हो जाती हैं। वह कुछ नही चाहता। वह तो अपने आपके अन्तःस्वरूपकी धुन रखता है। उसके परिणाममे खुदको अनन्त आनन्द आया यह तो उसके लिए हैं मगर जगतके और जीव भी उनका गुणगान करके पुण्यबध किया करते है। जिन्होने अद्वितीय धर्मका आश्रय लिया उनके लिए कौन-कौन सी शुभ लक्ष्मी नही प्राप्त होती ? सर्वप्रकारकी श्रेष्ठ लक्ष्मी धर्मका आश्रय लेने वाले जीवोको प्राप्त होती है, ऐसा जानकर एक निर्णय यह ही पक्का बनाओ कि जगतमे और कुछ भी हृदयमे धारण करने योग्य है नही। एक अपने आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप यह ही उपादेय है, अन्य परिकर्म तो परिस्थितिवश अगर वे इस धर्मकी पात्रता बनाये रहते हैं तो वह व्यवहार धर्म है और यदि पात्रता नही रख सकते है ऐसा उल्टा भाव बनाते हैं तो वह ही कहलाता है पाप, अशुभभाव। अशुभसे तो बिल्कुल हटना है और शुद्ध तत्त्वकी दृष्टि रखनेमे शुद्धतत्त्वकी दृष्टि रखते हुए, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति यदि करनी होती है तो उसका शुभ कार्योंमे उपयोग रख लेना।

धर्म श्रीवशमन्त्र एव परमो धर्मश्च कल्पद्रुमो
धर्मः कामगवीप्सितप्रदमणिर्धर्मः परं दैवतम् ।
धर्म· सौख्यपरम्परामृतनदीसभूति–सत्पर्वतो ।
धर्मो भ्रातरुपास्यता किमपरैः क्षुद्रैरसत्कल्पनैः ॥१९५॥

(४०६) धर्मकी श्रीवशमन्त्ररूपता एवं कल्पद्रुमरूपता—धर्म और आत्मा पृथक् नही है। आत्माका स्वभाव है सो आत्माका धर्म है और उस स्वभावकी दृष्टि रखना सो धर्मका पालना है। तो इस ही रत्नत्रयधर्मकी बात कही जा रही है। यह उत्कृष्ट धर्म लक्ष्मीको वशमे करनेके लिए वशीकरण मंत्रके समान है, लक्ष्मीवश है उसके। तीर्थंकरोने घर छोडा, साम्राज्य छोडा, जंगलमे भागे तो केवलज्ञानलक्ष्मी उनको प्राप्त हुई यह तो उनके भीतरकी बात है और बाहरमे समवशरणकी रचना हुई, प्रातिहार्य आदिक अनेक प्रकारके शृङ्गार उस समवशरणके हुए। तो देखो छोड दिया था उन्होने, मगर यह लक्ष्मी पीछे चल रही है और वहां भी यह लक्ष्मी पिण्ड नही छोडती। वह भगवान बन गए, समवशरणमे हैं, कुछ प्रयोजन नही उन्हे, मगर यह लक्ष्मी यह शृङ्गार यह सम्पदा यह शोभा वहां पर जाकर अपनेको कृतार्थ मानती है। मानो यह उत्कृष्ट धर्म लक्ष्मीको वश करनेके लिए मंत्रके समान है। देखो यह सब फल है प्रभाव है मगर उन प्रभावोकी आशा रखकर कोई धर्मकार्य करे, तो नहीं बनता धर्म। धर्म करने वालेको तो लौकिक बातोंका तो लक्ष्य ही नही जाता ध्यान ही नही रहता ऐसा उत्कृष्ट धर्म जिसका बने वह जब तक ससारमे रहता है तब तक लक्ष्मी इस तरहसे घेरे रहती जैसे कि मानो उसे वशीकरण मत्रसे वश कर लिया हो। यह उत्कृष्ट धर्म कल्पवृक्षके समान इष्ट पदार्थों को देने वाला है। लोग कभी यह शंका कर सकते कि वह कल्पवृक्ष क्या और उससे कुछ मिल कैसे जाता है। तो देखो वहाँ देव या भोगभूमिमे जो हो तो इन देवोके इतना विशिष्ट पुण्य है कि वे जो चाहते है सो उनके सामने हाजिर हो जाता है। उन्हे पृथ्वीकायिक कल्प वृक्षसे ही सब कुछ मिल जाता है। यह तो कोई आश्चर्य नही। यहां भी तो देखा होगा—किसीको सर्पने काट लिया तो मत्रवादी लोग मत्र पढते है उसका विष दूर होता है तो कैसे दूर होता यह भी तो शङ्का रखना चाहिए। यहाँ क्यो नही शङ्का होती अनेक प्रकारके मत्र होते—उच्चाटन वशीकरण आदिक और वहाँ उस प्रकारकी परिणति बनती है तो कैसे वह परिणति बन गई इस मंत्रवादीने वह परिणति नही किया। मंत्रवादी अपने स्थानसे हटकर वहाँ जाय, विष दूर करे ऐसा नही है वह तो अपनेमे अपनी चेष्टा कर रहा है, ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है कि यह तो अपनेमे अपनी चेष्टा कर रहा और वहा विष दूर हो रहा। तो जब यह बात यहा ही अपनेको दिखती है तब फिर देव स्वर्गोंमे कल्पवृक्षोसे मनचाहे आभूषण

या और और चीजें जो चाहे उन्हे सब मिल जाये, इसमे कौनसा आश्चर्य है ? जो इस उत्कृष्ट धर्मका आश्रय लेता है वह उत्कृष्ट पदार्थोंको पा लेता है ।

(४०७) धर्मकी सर्वाभीष्टप्रदवस्तुरूपता— यह धर्म—कामधेनु, अथवा चिन्तामणिके समान अभीष्ट वस्तुओंको प्रदान करने वाला है । देखो जितने भी नाम बोले जायें—कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदिक ये सब क्या है ? ये सब आत्माकी प्रगति वाले भाव हैं । क्या बाहरमे कही कोई चिन्तामणि पत्थरके रूपमे रखी है । अगर कही रखी हुई आप लोगोंने देखा हो तो हमे भी बता दो, हम भी उठा लें हम भी उससे मुक्ति चाह लेंगे, पर ऐसा नही है । आत्माका जो निर्मल परिणाम है वही औषधि है, वही कामधेनु है, वही कल्पवृक्ष है, किन्तु जीवको जो कुछ प्राप्त होता है वह सब जीवके भावोंके अनुसार प्राप्त होता है । यह धर्म उत्तम देवताके समान है । आत्माका बोध आत्माका श्रद्धान, आत्माका रमण ये सब धर्म देवताके समान है । यो धर्म सब परम्परारूप अमृत नदीको उत्पन्न करनेके लिए, बहानेके लिए उत्कृष्ट पर्वतके समान है । यह उत्कृष्ट धर्म है । जैसे पर्वतसे नदी बहती है, ऐसे ही पुण्य धर्म वालेको ये सब इष्ट पदार्थ अपने आप प्राप्त होते हैं । इस कारण अन्य क्षुद्र मिथ्या कल्पनाओंको त्यागकर इस धर्मकी आराधना करें । इतना दृढ श्रद्धान होना चाहिए उस दुर्लभ मानव-जीवनको पाकर कि मेरेको प्रयोजन है निज आत्मस्वभावसे । और इसीलिए प्रभुभक्ति है । मुझे यह स्थिति चाहिए, मैं ज्ञाता द्रष्टा मात्र रह जाऊँ, अन्य मुझे कुछ न चाहिए, ऐसी दृढ श्रद्धा जिसकी है वह कभी कुदेव, कुगुरुकी श्रद्धा कर सकेगा क्या ? न करेगा । जैसे कभी कुछ संकट आया, बच्चोपर आया तो कही शीतला, कही भवानी और ऐसे-ऐसे कुदेवताओंके नाम धरे जो बडे अटपट उनको पूजनेसे, उनकी रुचिसे पापका ही बंध होता है । यह तो पूर्वकृत पुण्यका फल है कि नाना प्रकारके समागम मिल जायें, मगर वर्तमान जो करनी हो रही है उसके कारण नही मिल रहा । धर्म—आत्माका स्वास्थ्य ही एक ऐसा अपूर्व धर्म है कि जो समस्त अर्थोंकी सिद्धि कर दे, इसलिए क्षुद्र बातें छोड दो, झूठी कल्पना छोड दो और जो आत्माका यह अंतस्तत्त्व है, धर्म है उसका आश्रय करो ।

> आस्तामस्य विधानतः पथि गतिर्धर्मस्य वार्ताऽपि यैः,
> श्रुत्वा चेतसि धार्यते त्रिभुवने तेषां न काः संपदः ।
> दूरे सज्जलपानमज्जनसुखं शीतैः सरोमारुतैः,
> प्राप्तं पद्मरजः सुगन्धिभिरपि श्रान्तं जनं मोदयेत् ॥ १९१ ॥

(४०८) दृष्टान्तपूर्वक धर्मकी वार्तासे भी सम्पदालाभका वचन—यह स्वास्थ्यधर्म आत्माके स्वरूपका परिचय पाना, सहज ज्ञानस्वभावमात्र आत्माकी आस्था रखना, उसमे रमण

करना यह ही है मात्र एक धर्म। धर्म दो नही होते, १०-२० नही होते। धर्मका रूप एक ही होता है और वह रूप यह है– अपने सहज स्वभावमे मैं हू इस प्रकारका अनुभव बनावें। झूठा काम न करें सुख मिल जायगा सीधा निष्कर्ष है, तो ऐसा यह उत्कृष्ट धर्म, इसका जो अनुष्ठान करता है, पालन करता है सो इस अनुष्ठानसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है, यह तो ठीक ही है, उचित ही है, लेकिन जो इस उत्कृष्ट धर्मकी बातको भी सुन लेता और सुनकर चित्तमें धारण करता है उसको भी तीन लोककी कौन सी सम्पत्ति नही प्राप्त होती ? जिसने इस उत्कृष्ट धर्मकी बात भी सुन ली, उसके प्रति प्रीतिचित्त होकर वार्ता भी सुनी हो वह भी निश्चित भव्य है ऐसा तो निर्णय रखें ही रखें और वह भविष्यमे निर्वाणपदको प्राप्त करेगा। जैसे कही उत्तम जल वाला सरोवर मिल जाय तो उस जलके पीनेसे और उसमे स्नान करनेसे सुख प्राप्त होता है यह तो ठीक ही है, किन्तु उस तालाबकी शीतल और सुगधित वायुसे कमलकी धूल भी अथवा बालू भी स्पर्शमे आयी हो तो वह भी विकल्पसे थके हुए मनुष्यको आनन्द उत्पन्न करता है। या शारीरिक रोगसे थके हुए पुरुषको सरोवरसे आयी हुई हवा भी आनन्द प्रदान करती है ऐसे ही समझिये कि धर्म धारणकी इतनी धुन होनी चाहिए कि केवल ज्ञानस्वभाव ही अपने उपयोगमे रहे, यह हूं मैं, बाहरमे झझट हजार हैं और बाहरकी बातमे लगकर मैं इसको यो सुधार दूं तो मेरा कल्याण है, इसको यो बता दूं, इस तरह बाहर बाहरमें बुद्धि दौडाता फिरे तो उससे कुछ लाभ नही होनेका। अन्तर्दृष्टि करें और अपने आपको यह मान लें कि मैं ज्ञानस्वरूपमात्र हू, जो ऐसा मानते हैं उनका चिन्ह क्या है ? कुटुम्बमे मोह नही, वैभवमे मोह नही, मकानमे मोह नही। किसी बातमे उसे मोह रहता ही नही है। उसकी दृष्टिमे यह सहज ज्ञानस्वरूप ही बसा करता है, इसलिए जिन पुरुषोके चित्तमे यह धर्म बसा हुआ है उसको तो अनन्त आनन्द प्राप्त होता है, सो बात ठीक ही है, मगर जो इसकी वार्ता भी सुन लें उनको भी सर्व सम्पत्ति, सर्वसिद्धिया प्राप्त होती है। एक निर्णय बनाकर रहो कि धर्म ही मेरा रक्षक है और कोई रक्षक नही। कुटुम्बी जन मित्रजन एक भी तो मेरा रक्षक नही, मेरा भाव बढिया रहे, निर्मल रहे तो वह मेरी रक्षा करेगा। यहाँ मेरी रक्षा करने वाला कोई दूसरा नही है।

यत्पादपङ्कजरजोभिरपि प्रणामात्, लग्नै. शिरस्यमलबोधकलावतार:।
भव्यात्मनां भवति तत्क्षणमेवमोक्षं, स श्रीगुर्रुदिशतु मे मुनिवीरनन्दी ॥१९७॥

(४०९) ग्रन्थकर्ता द्वारा स्वगुरुका अभिनन्दन—यह ग्रन्थ पद्मनन्दि आचार्यका बनाया हुआ है। उनके गुरु वीरनन्दी मुनिराज थे, सो ग्रन्थकार अपने गुरुका स्मरण कर रहे है। सो मे मुनि वीरनन्दी गुरु मुझे मोक्ष प्रदान करें। वे मोक्ष तो न दे देंगे, मगर भक्तिका बात है,

मुझे श्रीसम्पन्न करें । वे खुद नही करते, ऐसा दूसरेमें, मगर गुरुभक्तिके प्रतापसे स्वयमेव ही अपनी प्रगति होती है । कैसे है ये वीरनदी मुनि ? जो भव्य जीव इन मुनिराज वीरनंदीको नमस्कार करते है तो उनके सिरमे जो चरण कमलोकी धूल लग गई, गुरुको नमस्कार किया सिर पृथ्वीपर रखकर तो उसपर धूल लग गई, उस धूलसे भव्य जीवोको तत्काल निर्मल सम्यग्ज्ञानरूपी कलाकी प्राप्ति होती है । देखो गुरूसे अध्ययन करना, गुरुसे तत्त्व सुनना यह बहुत बड़े महत्त्वकी बात है । कोई सोचे कि ग्रथ जो तुमने रखे हैं उन ग्रथोको ही पढते रहो, पढ लीजिए वह भी लाभदायक है मगर कोई ऐसा नुक्ता कोई ऐसी सूक्ष्म कुञ्जी जो स्वाध्यायसे प्राप्त नही कर सकते, किन्तु गुरुवोके साथ रहे तो उनके मन, वचन, कायकी चेष्टासे उनके प्रति जो भक्ति बनती है उस भक्तिके प्रसादसे निर्मल सम्यग्ज्ञान स्वयमेव प्रकट हो जाता है । करेगा वह ही जीव जिसको सम्यग्ज्ञान हुआ है मगर गुरुभक्तिका और गुरुके गुणोमे अपना चित्त रमानेका अतुल प्रताप है । ऐसे ये पद्मनन्दी मुनिराज हम सबको श्री प्रदान करें अर्थात् हमारी उन्नति करें । उन्नति क्या ? बस दो बातोमे उन्नति मानी जाती है । दोष न रहे गुण पूरे प्रकट हो अथवा एक ही कह लो, उसमे दूसरा आ ही जाता । फिर भी सुगमतया समझ बने तो बस दो ही तो काम करना है दोष मुझमे एक न रहे और गुण मुझमे पूरे प्रकट हो जायें, ऐसा करनेके लिए थोडा मनका नियन्त्रण भी कर लीजिए । मेरेमे दोष बिल्कुल न रहे ऐसी कोई भावना तो भाये और दूसरे जीवोंके दोष देखे, दोष ही हृदयमे विराजमान करे तो यह बतलावो कि दोषोकी झलक इस उपयोगमे है ना, तो यह उपयोग कैसा बन गया उस झलकमे ? दोषमय बन गया । जैसे दर्पण है, उसके सामने कोइ रग बिरगा कपडा या कागज रखा हो तो दर्पणमे भी अब वह झलक हुई तो दर्पण ही खुद मलिन सा बन गया । वह स्वभावमे मलिन नही है लेकिन वर्तमानमे उसकी स्वच्छता ढक गई ना । पहले बडी चीज हो और छोटा दर्पण उसके सामने है तो सारा ही दर्पण ढक गया, यो ही समझ लीजिए कि उपयोग तो हमारा है दर्पण और यह बाहरी इष्ट अनिष्ट लोक इसको चेष्टायें इसकी झलक होती है । जब तक इस जीवमे अज्ञान है तब तक वहाँ झलक होती है तो बोलो सारा उपयोग दोषमय हो गया कि नही ? दोष ही दोष झलक रहा है तो उस उपयोगको क्या कहेगे ? तो अगर दोषोंसे हटना है तो अपना ज्ञानबल बढायें जिसके प्रसादसे दोष दूर होगे । तो दोषोका दूर होना और गुणोका पूर्ण प्रकट होना बस यह ही है अपनो उन्नति, सो यह बातें लावो मनमे । मानो खूब कमा लिया धनिक हो गए और बन धनमे ही तृष्णा बसा रहे तो उससे इस आत्माका क्या लाभ है ? थोडा बडप्पनका किसीने आदर दे दिया, सभा सोसाइटीमे कुछ प्रशसा कर दी गई या किसी तरह उनके यशका गान कर दिया तो इसमे ये लोग दे क्या जा-

येंगे ? बल्कि वे तो इसके मनको बोझिल बनाकर अपनी गैल नाप जायेंगे और फल भोगना पड़ेगा इसको, इससे आप सावधानी रखें जीवनमें। किसीसे अप्रिय वचन न बोलें, किसीसे अहितकारी वचन न बोलें। किसीको पीडा हो ऐसे वचन न बोलें, यह सावधानी रखना और निरन्तर गुणियोंके गुणोपर दृष्टि देना इससे होगा क्या कि हमारे उपयोगमें हमारे गुणोका आकार तो झलक जायगा सामने वही गुणस्वरूप वह तो अपने आपमे आ जायगा तो लो हमारा उपयोग ज्ञानमय हो गया। तो यह निर्मल सम्यग्ज्ञान क्या है ? बस ऐसा ही विचार, ऐसा ही ज्ञान उपयोगमे रहे इसीको कहते हैं सम्यग्ज्ञान। सो हे वीरनंदी मुनि हम सबको ऐसे सम्यग्ज्ञानरूपी श्री की प्राप्ति होवे।

दत्तानन्दमपारसंसृतिपथश्रान्तश्रमच्छेदकृत्
प्रायो दुर्लभमत्र कर्मपुटकैर्भव्यात्मभिः पीयताम्।
निर्यातं मुनिपद्मनन्दिवदनप्रालेयरश्मे परं
स्तोकं यद्यपि सारताधिकमिदं धर्मोपदेशामृतम् ॥१९८॥

(४१०) **धर्मोपदेशामृतकी सम्यक् श्रोतव्यता**—यह धर्मोपदेशरूपी अमृत आनन्दको देने वाला है। देखिये सबसे अधिक शीतल दुनियामें क्या है ? ठडा, सुखदायी चंदन नही है ऐसा जो शीतल बना दे। चन्द्रकी किरणें नही हैं ऐसी जो इसे अधिक शीतलता उत्पन्न करें। कोई ठडा गंगा आदि नदीका जल भी इसको शीतल नही कर सकता, किन्तु ज्ञानी पुरुष द्वारा जो सद्वचन निकलते हैं, प्रिय, हित, मधुर वचन निकलते है वे अलौकिक शीतलताको उत्पन्न करते है। तो यह धर्मोपदेश यह ही तो वचन है। कोई कष्टमे आता है तो यह धर्मोपदेशरूपी अमृत शान्तिको देने वाला है और अपार संसारके मार्गमे थके हुए मुसाफिरको, इस ससारी जीवकोइसके परिश्रमको दूर करने वाला है, धर्मोपदेश बहुत दुर्लभ तत्त्व है। अभी यही देखो आजकी इस दुनियामें लोग तृष्णामे बढ रहे हैं, अहंकारमे बढ रहे हैं और वर्तमानमे जो परिस्थिति मिली है उसमे अपनेको बडा बुद्धिमान अनुभव कर रहे हैं। धर्मोपदेश कितनोंको मिल पाता है ? बहुत थोड़े जीव होते हैं जो धर्मोपदेश पाते हैं। तो यह धर्मोपदेशरूपी अमृत पथिको के परिश्रमको दूर कर देता है, यह बहुत दुर्लभ है। कुछ गहरा विचार करके अपना प्रोग्राम बनाना चाहिए कि किस प्रकार इस मुझ आत्माका कल्याण हो, देह तो देह है, यह तो जलेगा, गडेगा। इसको तो पक्षी चोट खायेंगे, कुछ भी हालत होगी। इस देहके खातिर इस देहको पुष्ट करनेके लिए इस देहका जो बडा श्रृङ्गार, सजावट करते है और अनेक प्रकारके पाप देह के लिए ही तो किए जा रहे हैं ? तो जिसके लिए ये पाप किए जा रहे हैं वह देह कुछ मदद न देगा। लो इस देहमेसे आस्थाको त्यागें और जो अत्यन्त दुर्लभ धर्म है यह रत्नत्रय स्वरूप,

इसका पालन करनेमे अपना उपयोग लगायें। सो ऐसे इस धर्मोपदेशको भव्य जीव कर्णरूपी अजुलियोसे पी लेते है। जैसे पानी पीनेके लिए दोनो हाथ इकट्ठे कर देते हैं तो अंजुलि बन जाती है, ऐसे ही धर्मोपदेश सुननेके लिए हमारे ये दोनो कान अजुलिरूप हैं। तो धर्मोपदेशको इन कानोसे सुना। मुनि वीरनन्दी आचार्यके मुखसे निकला हुआ उपदेशामृत यद्यपि थोडा है फिर भी श्रेष्ठताकी अपेक्षासे तो बहुत अधिक है। शिक्षा यह लें कि जब मैं हू तो मेरा कोई स्वभाव भी है और स्वभाव निरपेक्ष है, अन्यके सम्बधके बिना है, शाश्वत है। उसे ही माने कि यह मै हू, ऐसा आग्रह करके रहे तो यह जीव अन्तरमे अवश्य ही यह अन्त प्रकाशमान चैतन्यमहाप्रभुके दर्शन करता हुआ सहज आनन्द पायगा। देखो विचार गुप्त ही तो चलते। जरा इसका भी ज्ञान गुप्त करने लगो, मायने दूसरेको दिखेंगे नही और अन्तः करने लगो। तो ऐसे इस धर्मका आश्रय करो, धर्मकी प्रीति रखो। देखो यह ही अनन्त सुखका देने वाला है। जैसे अमृत दुर्लभ है ऐसे ही यह उपदेश भी दुर्लभ है और जैसे कहते हैं कि चद्रसे अमृत निकला तो यहाँ यह कहा कि पद्मनन्दी महाराजके मुखसे धर्मोपदेशरूपी अमृत निकला। सो यद्यपि थोड़े ही ये छद हैं, पर श्रेष्ठताकी दृष्टिसे देखें तो अधिकाधिक लाभ देने वाले हैं, सो हे भव्य जीवो, इस उपदेशको अमृतके समान जानकर इस धर्मका पालन करो और अपने आपके स्वरूपका मनन कर पवित्र सहज आनन्दका अनुभव करो।

॥ इति पद्मनंदिपञ्चविंशतिका प्रवचन १, २ भाग समाप्त ॥

वास्तविकता

१—१०४२ जगतमे अनन्त आत्मा हैं और उससे अनन्तगुणे जड परमाणु हैं।

२—१०४३ वे सभी आत्मा व सभी अणु अनादि कालसे हैं अनन्तकाल तक रहेगे।

३—१०४४ प्रत्येक आत्मा व अणु अपने आप सत् हैं, किसीकी कृपा या असरसे नही।

४—१०४५ प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी परिणतिसे ही परिणमते हैं, दूसरोकी परिणतिसे नही।

५—१०४६ आत्माकी दो अवस्थाएँ होती हैं, पहली अशुद्धावस्था, दूसरी शुद्धावस्था।

६—१०४७ जहां आत्माके परमें आत्मबुद्धि है, अपनी या परकी पर्यायमे रुचि है, वह उसकी अशुद्धावस्था है।

७—१०४८ जब आत्मा सकल्प विकल्पसे रहित हो जाता है ज्ञातामात्र रहता है वह उसकी शुद्धावस्था है।

८– १०४९ प्रत्येक आत्मा व अणु परस्पर अत्यंत भिन्न है। किसीके स्वरूपमे किसी अन्यका प्रवेश नही है।

९—१०५० शरीर और आत्माका सम्पर्क होते हुये पशु, पक्षी, मनुष्यादिके रूपमे होना अज्ञान दशाका फल है।

१०– १०५१ अणुओंका काठ, पत्थर, ईंट, लोहा, सोना, चाँदी, शरीर आदि स्कंध रूपमे होना उनकी विकार परिणतिका फल है।

११– १०५२ आत्मा निर्विकार होकर फिर कभी विकारी नहीं होता। परन्तु अणु निर्विकार होकर भी विकृत हो सकता।

१२– १०५३ आत्माके विकारका कारण पूर्व विकार है, अणुके विकारका कारण अणुके स्निग्ध रुक्ष गुणका परिणमन है।

१३—१०५४ किसी भी आत्मा या स्कधके साथ अपना समवाय समझना अज्ञान है, दुःखका कारण है।

१४—१०५५ आत्मामें उठने वाली राग द्वेषादि तरंग स्वभावसे नही है, इसीलिये नाशवान है व दुःख स्वरूप हैं।

१५– २०५६ पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है, जिसमें सामान्य अंश तो ध्रुव है, विशेष अंश अध्रुव है।

१६—१०५७ द्रव्यके त्रैकालिक, एकाकार (अखण्ड) स्वभावको 'सामान्य' कहते है, और उसकी प्रति समयकी अवस्थाओंको विशेष कहते है।

१७– १०५८ 'सामान्यकी दृष्टिमे विकल्प नहीं, विशेषकी दृष्टिमे नाना विकल्प हैं।'

१८–१०५९ जीवके गुणोका सामान्य स्वभावके अनुकूल विशेष (अवस्था) होना मोक्ष है, मुक्तात्माओमे इसी कारण परस्पर विलक्षणता नही होती।

१९—१०६० मुक्तात्मा पूर्ण समान है, पूर्ण सर्वज्ञ है, जिनकी सत्य उपासना होनेपर उपासकके उपयोगमे कोई व्यक्ति नही रहता।

२०– १०६१ जिस भावमें व्यक्ति नही उस भावमे परमात्मा एक है, वह भाव है— शुद्ध चैतन्यभाव।

२१– १०६२ कोई भी आत्मा परमात्मा होकर शुद्ध चैतन्यभावरूप ब्रह्ममे मग्न हो जाता, उससे विपरीत सत्ता वाला नही रहता।

२२– १०६३ चित्स्वरूप ब्रह्म, यही एक सत्य है, यही कल्याण है, यही "ॐ तत् सत्" यही सत् चित् आनन्द" यही "सत्यं शिवं सुन्दरं" है।

आत्मनिवेदन

अहं व्रत श्रावकके पालो, बिन व्रत पशु सम जीना है ।
पाले व्रत श्रावकके जिनने, मुक्ति रमाको चीना है ॥ टेक ॥

पञ्च अणुव्रत सप्त शील ये बारह व्रत है सुखदाई । तिनके प्रथक्-प्रथक्,
अब वर्णन सुनो भव्य दे चित्त लाई ॥ प्रथम अहिंसा अणुव्रत पालो,
त्रस हिंसाका त्याग करो, बिना प्रयोजन स्थावरका भी नही कभी विध्वस करो ॥१॥

हित मित वचन मधुर नित बोलो, अहित वचनका त्याग करो । अप्रिय कटुक-
कठोर शब्दका कभी नही उपयोग करो ॥ बिना दिये रक्खी या भूली-
अन्य वस्तु मत ग्रहण करो । परनारी परपुरुष देहमे रचमात्र नहि नेह करो ॥२॥

खेत मकान सुवर्ण दाम भोजन सबका परिमाण करो । मर्यादासे हीन
रहे तो भी न कभी सक्लेश करो ॥ पर वैभव लख चाह करो मत
विस्मयका नहि भाव करो । पी करके संतोष सुधारस आकुलताका ताप हरो ॥३॥

दिग्व्रत देश अनर्थदण्ड व्रत, ये तीनो गुणव्रत भाई । तिनके प्रथक् प्रथक्
अब वर्णन सुनो भव्य दे चित्त लाई ॥ आजीवन कछु देश क्षेत्रकी
अवधी ले व्यवहार करो । बाह्य क्षेत्रमे पत्री तकसे भी न जरा सम्बध करो ॥४॥

वर्ष मास दिन घडी पक्ष तक क्षेत्रोकी मर्यादा लो । ले मर्यादा बाह्य क्षेत्रमे
जानेका परिहार करो । करो पाप उपदेश कभी नहि हिंसाके हथियार न दो ।
गर कोइ हिंसक मागे केवल, मिष्ट वचन कह विदा करो ॥ ५ ॥

नही विचारो किसी जीवको, किसी तरहकी हानी हो । सुनो नही जो हिंसा कारक,
पुण्य विनाशक वानी हो ॥ हिंसक जीव न पालो बिन मतलब
न कभी कछु कार्य करो । जैनमार्ग अनुसार प्रवर्तो दुष्ट कर्मका नाश करो ॥ ६ ॥

सामायिक प्रोषध अनशन उपभोग भोगका नियम तथा । अतिथि दान ये,
चौ शिक्षाव्रत कहू कही मुनि नाथ यथा ॥ सुबह दुपहर सध्याकी वेला
सामायिकसे ध्यान करो । एकाशन उपवास अष्टमी चतुर्दशीके दिवस करो ॥७॥

भोजन वाहन वस्त्रादिककी, मर्यादा जितनी कर लो । उतने ही मे काम चलाकर,
तृष्णा खाईसे बच लो । मुनि श्रावक आर्यिका श्राविकाका समुचित सत्कार करो ।
औषधि शास्त्र अहार दान दो, विपदाका परिहार करो ॥ ८ ॥

रोगी दुखी दीन विधवायें, अरु अनाथपर दया करो । भीत जीवको
शरण देकर, अभय दानसे तुष्ट करो ॥ इन व्रतका फल स्वर्ग विभव है,
परम्परासे मुक्ति लहे । कहे 'मनोहर' सौख्य हेत भवि जीव धर्मको नित्य गहे ॥९॥